

# वीर सेवा मन्दिर दिल्ली



क्रम मख्या

काल नं०

ग्रन्थ

श्रीमदाशाधरविरचितं  
सागारधर्मामृतं  
( स्वोपज्ञभव्यकुमुदचन्द्रिकासहितं )

भाषान्तरकार,  
कल्लप्पा भरमप्पा निटवे.

१२लोकवासी चिरंजीव याणिकचंद  
याचे स्मरणार्थ प्रकाशक,  
जोतीचंद दलुचंद पंढरपुरकर.

जैनेन्द्र छापखाना कोल्हापूर.

जानेवारी सन १९१५.

किंमत २ रुपये.



## सागारधर्मामृत.

पंडित आशाधर यांनी; धर्मामृत नांवाचा मोठा ग्रंथ लिहिला, त्यापैकी हा सागारधर्मामृत ग्रंथ एक प्रकरण आहे. पंडितांनी काय काय ग्रंथ लिहिले; हे, त्यांनीच ग्रंथाच्या शेवटी लिहिले आहे व या ग्रंथाचा कालहि लिहिला आहे. पंडितांच्या ग्रंथांपैकी फक्त हे सागारधर्मामृत, जिनयज्ञकल्प, नित्यमह, महाभिषेक व सहस्रनामस्तोत्र हे पांचच आज उपलब्ध आहेत. बाकीचे ग्रंथहि वाङ्मयाच्या व प्रभावनेच्या दृष्टीने फारच महत्त्वाचे असतील; पण आमच्या दुर्दैवाने त्यांचे दर्शन होणे दुरापास्त झाले आहे! पंडितांनी या सागारधर्मामृतावर भव्यकुमुदचंद्रिका नांवाची एक टीका लिहिली आहे, ती या पुस्तकांत दिली आहे. त्यांनीच आणखी एक ज्ञानदीपिका नांवाची पंजिका लिहिलेली आहे; तीहि आमचेजवळ होती, तिच्यांतले बरेच उतारे टीपेत ठिकठिकाणी दिले आहेत. ती पंजिका स्वतंत्रच या ग्रंथाच्या शेवटी जोडणार होतो; पण, आमचे दुर्दैवाने सागारधर्मामृताचे प्राचीनपुस्तक अग्नीचे भक्ष्य झाले! दुसरी प्रत आज मिळत नाही, त्यामुळे लिहून तयार असलेला ग्रंथ छापण्यांत आला. सुदैवाने या ग्रंथाची पुनरावृत्ति काढण्याचा प्रसंग आल्यास, कोटून तरी ती पंजिका संपादन करून प्रसिद्ध करण्याची आशा बाळगतो.



स्वामी समन्तभद्र वगैरे प्राचीन आचार्यांनीं रत्नकरंडक वगैरे श्रावकाचाराचे बरेच ग्रंथ लिहिले आहेत. त्यांच्या मतास अनुसरूनच हा ग्रंथ लिहून पंडितांनीं हल्लींच्या जगावर फार मोठे उपकार करून ठेविले आहेत. कारण; रत्नकरंडक वगैरे ग्रंथ सूत्रप्राय आहेत, त्यांच्या टीकाहि इतर विद्वानांनीं लिहिल्या आहेत, पण आह्मासारख्या मंदमतींना व्हावें तसें ज्ञान होत नाहीं. ह्मणून पंडितांनीं श्रम घेऊन हें सागारधर्मामृत स्वकृत-टीकांसह सुबोध व स्पष्ट केलें इतकेंच नव्हे तर श्रावकाचारांत याच्या तोडीचा दुसरा ग्रंथ नाहीं. याचा लाभ महाराष्ट्र वाचकांना व्हावा ह्मणून पूर्वी मराठी भाषांतर व पंजिकेंतील उतारे देऊन जैनबोधक मासिकपुस्तकांतून हें अमृत पाजण्यांत आलें. त्याची रुचि आवडल्यामुळें आणखी पुष्कळ सम्यग्दृष्टि वाचकांची मागणी आल्यावरून “श्रीयुत जिनवाङ्मयजीर्णोद्धारक दोशी रावजी सखाराम सोलापूर” यांच्या प्रयत्नानें ही आवृत्ति संस्कृतटीकेसह छापली आहे. हा ग्रंथ छापण्याचे कार्मी मुख्य श्रेय “स्वस्ति-श्रीलक्ष्मीसेन भट्टारक पट्टाचार्य स्वामी संस्थान मठ करवीर” यांचेकडे आहे. कारण, श्रीर्नीच हें अमृत प्रथम मला पाजलें व याचा सर्वत्र वर्षाव करण्याकरितां प्राचीन शुद्ध ताडपत्र ग्रंथ आपल्या श्रीश्रुतभाण्डारांतून दिला याबद्दल मी श्रीचा अत्यन्त ऋणी आहे.

करकृतमपराधं क्षन्तुमर्हन्तु सन्तः

कोल्हापूर.

साध शुद्ध ५

संके १८३६

}

भाषांतरकार,

कल्लप्पा भरमप्पा निटवे,

नांदणीकर.

# विषयानुक्रमणिका.

## अध्याय पहिला.

| क्रम. | विषय.   | पृष्ठ. | श्लोक. |
|-------|---|--------|--------|
| १     | टीकेचें मंगलाचरण.                               | १      | १-२    |
| २     | मूलग्रंथ-मंगलाचरण व प्रतिज्ञा.                  | १      | १      |
| ३     | सागरांचें लक्षण.                                | २      | २      |
| ४     | सागरांचें दुसरें लक्षण.                         | ४      | ३      |
| ५     | सागारत्व व अनगारत्व यांचीं कारणें.              | ६      | ४      |
| ६     | मिथ्यात्वाचे तीन भेद.                           | ८      | ५      |
| ७     | सम्यक्त्वाचें साधन.                             | १०     | ६      |
| ८     | सद्गुरूच्या दुर्मिळतेचा खेद.                    | १३     | ७      |
| ९     | भद्रपुरुषाच्या अस्तित्वाची प्रार्थना.           | १५     | ८      |
| १०    | भद्र व अभद्र पुरुषाचें लक्षण.                   | १६     | ९      |
| ११    | सम्यक्त्वहीन असूनहि मान्य कोण                   | १७     | १०     |
| १२    | सागारधर्माचरणाचा अधिकारी.                       | १८     | ११     |
| १३    | सागारधर्माचें लक्षण.                            | ३२     | १२     |
| १४    | अत्रती सम्यग्दृष्टीचाहि उत्कर्ष.                | ३३     | १३     |
| १५    | यशाची आवश्यकता.                                 | ३७     | १४     |
| १६    | सँयतासँयत पद ( देशविरत. )                       | ३९     | १५     |
| १७    | यतिधर्माची इच्छा करणाऱ्या<br>श्रावकाची प्रशंसा. | ४१     | १६     |
| १८    | श्रावकाच्या ११ प्रतिमा.                         | ४३     | १७     |
| १९    | षट्कर्मदोष निवारण्याचा उपाय.                    | ४५     | १८     |
| २०    | पक्ष, चर्या व साधन यांचीं लक्षणें               | ५०     | १९     |
| २१    | पक्षादिकांच्या अपेक्षेनें श्रावकाचे<br>तीन भेद. | ५२     | २०     |

| क्रम. | विषय                             | पृष्ठ. | श्लोक. |
|-------|----------------------------------|--------|--------|
|       | अध्याय दुसरा.                    |        |        |
| १     | गृहस्थधर्म स्वीकारण्याची संमति.  | ५४     | १      |
| २     | श्रावकाचे आठ मूलगुण.             | ५६     | २      |
| ३     | मूलगुणांत मतभेद.                 | ५८     | ३      |
| ४     | मद्यपान त्यागाचीं कारणें.        | ६०     | ४      |
| ५     | मद्यपानाचें फळ.                  | ६१     | ५      |
| ६     | मांसभक्षण दोष.                   | ६४     | ६      |
| ७     | स्वयंमृत जीवाचेंहि मांस खाऊं नये | ६५     | ७      |
| ८     | मांसत्यागाचीं विशेष कारणें.      | ६७     | ८      |
| ९     | मांसाची इच्छा करण्याचा दोष       | ६८     | ९      |
|       | व त्यागाचा गुण.                  |        |        |
| १०    | मांस खाण्यांत दोष नाहीं म्हणणा-  | ६९     | १०     |
|       | रास उत्तर.                       |        |        |
| ११    | मधाचे दोष.                       | ७२     | ११     |
| १२    | नवनीत त्याग.                     | ७४     | १२     |
| १३    | पंचोदुंबर त्याग.                 | ७५     | १३     |
| १४    | रात्रिभोजन वं अगालितजलत्याग.     | ७६     | १४     |
| १५    | रात्रिभोजन त्यागाचें फळ.         | ७८     | १५     |
| १६    | पाक्षिकास व्रताभ्यासाचा उपदेश.   | ७८     | १६     |
| १७    | जुगाराचा निषेध.                  | ७९     | १७     |
| १८    | प्रकारांतरानें आठ मूलगुण.        | ८१     | १८     |
| १९    | जिनधर्मश्रवणाचा अधिकारी.         | ८२     | १९     |
| २०    | भव्यजीवाचे दोन भेद.              | ८४     | २०     |
| २१    | भव्याची प्रशंसा.                 | ८६     | २१     |
| २२    | शूद्रास श्रावक होता येतें.       | ९२     | २२     |
| २३    | पाक्षिकाचा आचार.                 | ९४     | २३     |

| क्रम. | विषय.   | पृष्ठ. | श्लोक. |
|-------|---|--------|--------|
| २४    | जिनपूजामात्म्य.                                 | ९६     | २४     |
| २५    | नित्यमह.  | ९७     | २५     |
| २६    | अष्टाभ्दिक व ऐन्द्रध्वज.                        | ९८     | २६     |
| २७    | महामह.  | ९९     | २७     |
| २८    | कल्पवृक्षमह.                                    | १००    | २८     |
| २९    | बलिस्नपन वगैरेचा नित्यमहांत<br>अंतर्भाव.        | १००    | २९     |
| ३०    | जलादिपूजेचें फळ.                                | १०१    | ३०     |
| ३१    | पूजेचा विधि व फळ.                               | १०३    | ३१     |
| ३२    | व्रती श्रावकास पूजेचें फळ.                      | १०५    | ३२     |
| ३३    | जिनपूजेस विघ्न न येण्याचा उपाय                  | १०६    | ३३     |
| ३४    | जिनपूजेकारितां बाह्यशुद्धि.                     | १०७    | ३४     |
| ३५    | जिनचैत्यालय वगैरे निर्माण कर-<br>ण्याचें पुण्य. | १०९    | ३५     |
| ३६    | कलीचा धिकार.                                    | १११    | ३६     |
| ३७    | कलिकालांत जिनचैत्यालयाची वि-<br>शेष आवश्यकता.   | ११२    | ३७     |
| ३८    | मठाची आवश्यकता.                                 | ११३    | ३८     |
| ३९    | पाठशाळेची आवश्यकता.                             | ११४    | ३९     |
| ४०    | सत्रादिकाची आवश्यकता.                           | ११५    | ४०     |
| ४१    | जिनपूजेचें फळ.                                  | ११६    | ४१     |
| ४२    | सिद्धादिकांची पूजा.                             | ११७    | ४२     |
| ४३    | श्रुतपूजा.                                      | ११८    | ४३     |
| ४४    | श्रुतपूजक हे जिनपूजक होत.                       | ११९    | ४४     |
| ४५    | गुरुपूजा.                                       | ११९    | ४५     |
| ४६    | गुरुपासनेचा विधि                                | १२०    | ४६     |
| ४७    | गुरुविनयाचा प्रकार.                             | १२१    | ४७     |

| क्रम. | विषय.  | पृष्ठ. | श्लोक. |
|-------|--|--------|--------|
| ४८    | दानविधि.   | १२२    | ४८     |
| ४९    | नित्य केलेल्या दानतपांचें विशेष फल.                  | १२३    | ४९     |
| ५०    | दानाचे हेतु.   | १२४    | ५०     |
| ५१    | धर्मपात्रसंतर्पण.                                    | १२५    | ५१     |
| ५२    | जैनत्वगुणाची प्रशंसा.                                | १२८    | ५२     |
| ५३    | जैनावर अनुग्रह करण्याचें श्रेय.                      | १२९    | ५३     |
| ५४    | पात्र जैनांचे चार भेद.                               | १३०    | ५४     |
| ५५    | भावजैनप्रीतिफल.                                      | १३१    | ५५     |
| ५६    | कन्यादानाचें पात्र                                   | १३२    | ५६     |
| ५७    | कन्यादानहेतु.  | १३३    | ५७     |
| ५८    | कन्यादानविधि.  | १३४    | ५८     |
| ५९    | कन्यादानाचा मोठा लाभ.                                | १३८    | ५९.    |
| ६०    | कुलस्त्रीचा उपयोग.                                   | १४१    | ६०     |
| ६१    | स्त्रीविरहितास न देण्याचे पदार्थ.                    | १४२    | ६१     |
| ६२    | साधर्मिकास विषयविरत करणें.                           | १४३    | ६२     |
| ६३    | दात्याचा संशयनिरास.                                  | १४४    | ६३-६६  |
| ६४    | उत्तमादि पात्रदानांचीं फळे.                          | १५०    | ६७     |
| ६५    | भोगभूमीतील अवस्था.                                   | १५५    | ६८     |
| ६६    | मुनिदानाचे पदार्थ.                                   | १५७    | ६९     |
| ६७    | अन्नादिदानाचें फल.                                   | १५७    | ७०     |
| ६८    | मुनीची उत्पत्ति करणें.                               | १५९    | ७१     |
| ६९    | मुनीची उत्पत्ति करणें व्यर्थ आहे<br>क्षणणारास उपदेश. | १६०    | ७२     |
| ७०    | आर्यिकांचा सत्कार.                                   | १६१    | ७३     |
| ७१    | कार्यपात्रानुग्रह.                                   | १६२    | ७४     |
| ७२    | दयादत्ति.  | १६४    | ७५     |

| क्रम.         | विषय.  | पृष्ठ. | श्लोक. |
|---------------|--|--------|--------|
| ७३            | आश्रितपोषणादि व रात्रिप्रत्याख्यान               | १६५    | ७६     |
| ७४            | सेव्यपदार्थांच्या व्रताचा काल व<br>फल.           | १६७    | ७७     |
| ७५            | यथाशक्ति तप.                                     | १६८    | ७८     |
| ७६            | व्रतरक्षणादि.                                    | १६९    | ७९     |
| ७७            | व्रत ह्यणजे काय ?                                | १६९    | ८०     |
| ७८            | जीवरक्षणाचा विधि.                                | १७०    | ८१     |
| ७९            | सांकल्पिक हिंसात्याग.                            | १७१    | ८२     |
| ८०            | हिंसादि जीवहिंसेचा निषेध.                        | १७२    | ८३     |
| ८१            | पाक्षिकांची कर्तव्ये.                            | १७५    | ८४     |
| ८२            | कीर्ति कां मिळवावी ?                             | १७६    | ८५     |
| ८३            | किर्तीचा उपाय.                                   | १७६    | ८६     |
| ८४            | यतिधर्मस्वीकार.                                  | १७७    | ८७     |
| अध्याय तिसरा. |  |        |        |
| १             | नैष्ठिक लक्षण.                                   | १७९    | १      |
| २             | दर्शनिकादिकांचें गृहित्व वगैरे.                  | १८५    | २-३    |
| ३             | नैष्ठिकास पाक्षिक केव्हां ह्यणावें ?             | १८७    | ४      |
| ४             | द्रव्यभावाच्या अपेक्षेनें श्रावकांची<br>प्रतिमा. | १८८    | ५      |
| ५             | देशसंयमाचे ३ भेद.                                | १८९    | ६      |
| ६             | दर्शनिकांचें लक्षण.                              | १९०    | ७-८    |
| ७             | मद्यविक्रयनिषेध.                                 | १९२    | ९      |
| ८             | मद्यादिविरतिभंगाचीं कारणें.                      | १९३    | १०     |
| ९             | मद्यविरतीचे अतिचार.                              | १९४    | ११     |
| १०            | मांसविरतीचे अतिचार.                              | १९५    | १२     |

| क्रम.        | विषय.                             | पृष्ठ. | श्लोक. |
|--------------|-----------------------------------|--------|--------|
| ११           | मधुविरतीचे अतिचार.                | १९६    | १३     |
| १२           | पंचोदुंबरविरतीचे अतिचार.          | १९७    | १४     |
| १३           | रात्रिभोजनत्यागाचे अतिचार.        | १९८    | १५     |
| १४           | जलगालनाचे अतिचार.                 | १९८    | १६     |
| १५           | सप्तव्यसनापासून अपाय.             | १९९    | १७     |
| १६           | व्यसनाची निरुक्ति.                | २०१    | १८     |
| १७           | द्यूतविरतीचे अतिचार               | २०२    | १९     |
| १८           | वेश्याविरतीचे अतिचार.             | २०३    | २०     |
| १९           | चौर्यविरतीचे अतिचार.              | २०४    | २१     |
| २०           | मृगयाविरतीचे अतिचार.              | २०५    | २२     |
| २१           | परस्त्रीत्यागाचे अतिचार.          | २०६    | २३     |
| २२           | व्रतशुद्धीचा नियम.                | २०६    | २४     |
| २३           | दर्शनिकाचा लोकाचार.               | २०८    | २५     |
| २४           | पत्नीस धर्ममार्गी लावणे.          | २०९    | २६     |
| २५           | स्त्रियांच्या विरोधाचे कारण.      | २०९    | २७     |
| २६           | स्त्रीने पतीशी कसे वागावे.        | २१०    | २८     |
| २७           | परिमित कामसेवन.                   | २११    | २९     |
| २८           | सत्पुत्राची आवश्यकता.             | २१३    | ३०-३१  |
| २९           | व्रतिकप्रतिमा केव्हां स्वीकारावी. | २१७    | ३२     |
| अध्याय चवथा. |                                   |        |        |
| १            | व्रतिक कोण ?                      | २१८    | १      |
| २            | शल्यत्रयत्यागाचे कारण.            | २२१    | २      |
| ३            | शल्यसहित व्रतांचा धिक्कार.        | २२२    | ३      |
| ४            | श्रावकाचे उत्तर गुण.              | २२३    | ४      |
| ५            | अणुव्रतांचे लक्षण व भेद.          | २२५    | ५      |

| क्रम. | विषय.                                       | पृष्ठ. | श्लोक. |
|-------|---|--------|--------|
| ६     | स्थूल या विशेषणाचें प्रयोजन.                | २३०    | ६      |
| ७     | अहिंसाणुव्रत कोणास होतें.                   | २३१    | ७-९    |
| ८     | गृहस्थाचें अहिंसाणुव्रत.                    | २३६    | १०     |
| ९     | एकेंद्रियाचाहि वध न करणें.                  | २३७    | ११     |
| १०    | सांकल्पिकी हिंसा.                           | २३९    | १२     |
| ११    | हिंसात्यागाचा प्रयत्न.                      | २४०    | १३     |
| १२    | अहिंसाणुव्रती.                              | २४०    | १४     |
| १३    | अहिंसाव्रताच्या भावना.                      | २४१    | १५     |
| १४    | अहिंसेच्या अतिचाराचें विवेचन.               | २४७    | १६     |
| १५    | अतिचाराचें स्वरूप.                          | २५२    | १७     |
| १६    | अतिचारपदाचा स्पष्ट अर्थ.                    | २५४    | १८     |
| १७    | अतिचार टाळण्यास जपणें.                      | २५५    | १९     |
| १८    | अहिंसाणुव्रत कसें ध्यावें.                  | २५६    | २०     |
| १९    | हिंस्य, हिंसा व हिंसक.                      | २५६    | २१     |
| २०    | अहिंसाव्रत निर्मल ठेवणें.                   | २५७    | २२     |
| २१    | गृहस्थास अहिंसा अणुव्रत अशक्य<br>ह्मणणारास. | २५९    | २३     |
| २२    | रात्री न जेवण्याचें कारण.                   | २६१    | २४     |
| २३    | सत्री जेवणारास.                             | २६१    | २५     |
| २४    | रात्री जेवण्याचा परिणाम.                    | २६३    | २६     |
| २५    | रात्री न जेवण्याविषयीं लौकिक<br>संवाद.      | २६५    | २७     |
| २६    | रात्रिभुक्तित्यागामुळे श्रावकाचे<br>भेद.    | २६६    | २८     |
| २७    | रात्रिभुक्तित्यागाचें विशेष फल.             | २६७    | २९     |
| २८    | भोजनाचे अंतराय.                             | २६८    | ३०-३३  |
| २९    | मौनव्रत.                                    | २७०    | ३४     |



| क्रम. | विषय.                        | पृष्ठ. | श्लोक. |
|-------|------------------------------|--------|--------|
| ३०    | मौनव्रताचा उपयोग.            | २७२    | ३५-३६  |
| ३१    | मौनव्रताचें उद्यापन.         | २७४    | ३७     |
| ३२    | मौनाच्या वेळा.               | २७६    | ३८     |
| ३३    | सत्याणुव्रतरक्षण.            | २७६    | ३९     |
| ३४    | लोकव्यवहारानुरूप भाषण.       | २७९    | ४०     |
| ३५    | सत्यासत्यादित्रयीचें स्वरूप. | २८०    | ४१     |
| ३६    | असत्यासत्य.                  | २८३    | ४३     |
| ३७    | असत्यविवेचन.                 | २८४    | ४४     |
| ३८    | सत्याणुव्रताचे अतिचार.       | २८८    | ४५     |
| ३९    | अचौर्याणुव्रत.               | २९२    | ४६     |
| ४०    | अचौर्यव्रताचा भंग कसा होतो.  | २९३    | ४७     |
| ४१    | राजद्रव्य.                   | २९४    | ४८     |
| ४२    | अग्राह्य द्रव्य.             | २९५    | ४९     |
| ४३    | अचौर्याचे अतीचार.            | २९६    | ५०     |
| ४४    | स्वदारसंतोषव्रत.             | ३०४    | ५१     |
| ४५    | स्वदारसंतोषी कोण.            | ३०५    | ५२     |
| ४६    | स्त्रीसंभोगाचे दोष.          | ३०८    | ५३     |
| ४७    | परस्त्रीसंभोगांत सुखाभाव.    | ३१०    | ५४     |
| ४८    | स्त्रीसंभोगानें हिंसा.       | ३११    | ५५     |
| ४९    | ब्रह्मचर्याचें महत्त्व.      | ३१२    | ५६     |
| ५०    | पतिव्रतेची योग्यता.          | ३१३    | ५७     |
| ५१    | ब्रह्मचर्याचे अतीचार.        | ३१३    | ५८     |
| ५२    | परिग्रहपरिमाण.               | ३२१    | ५९     |
| ५३    | अंतरंगपरिग्रहत्याग.          | ३२२    | ६०     |
| ५४    | बाह्यपरिग्रहत्याग.           | ३२३    | ६१-६२  |
| ५५    | परिग्रहाचे दोष.              | ३२५    | ६३     |
| ५६    | परिग्रहपरिमाणाचे अतीचार.     | ३२६    | ६४     |

| क्रम. | विषय.                                    | पृष्ठ. | श्लोक. |
|-------|--|--------|--------|
| ५७    | परिग्रहपरिमाणार्थे फल.                   | ३३३    | ६५     |
| ५८    | अणुव्रती जीवांचा प्रभाव.                 | ३३४    | ६६     |
|       | अध्याय पांचवा.                           |        |        |
| १     | गुणव्रते.                                | ३३६    | १      |
| २     | दिग्व्रत.                                | ३३६    | २      |
| ३     | दिग्विरतीने अणुव्रताचे महत्त्व.          | ३३७    | ३-४    |
| ४     | दिग्विरतीचे अतीचार.                      | ३३९    | ५      |
| ५     | अनर्थदण्डव्रत.                           | ३४२    | ६      |
| ६     | पापोपदेश.                                | ३४३    | ७      |
| ७     | हिंसादान.                                | ३४४    | ८      |
| ८     | दुःश्रुति व अपध्यान.                     | ३४५    | ९      |
| ९     | प्रमादचर्या.                             | ३४६    | १०-११  |
| १०    | अनर्थदण्डाचे अतीचार.                     | ३४८    | १२     |
| ११    | भोगोपभोगपरिमाण.                          | ३५१    | १३     |
| १२    | भोग व उपभोग यांचे लक्षण.                 | ३५३    | १४     |
| १३    | अभक्ष्यपदार्थ.                           | ३५४    | १५-१८  |
| १४    | भोगोपभोगपरिमाणाचा उपयोग.                 | ३६०    | १९     |
| १५    | भोगोपभोगपरिमाणाचे अतीचार.                | ३६१    | २०-२३  |
| १६    | शिक्षाव्रते.                             | ३७७    | २४     |
| १७    | देशावकाशिक.                              | ३७८    | २५     |
| १८    | देवावकाशिकव्रती कोण.                     | ३७८    | २६     |
| १९    | देशावकाशिकाचे अतीचार.                    | ३८०    | २७     |
| २०    | सामायिक.                                 | ३८२    | २८     |
| २१    | सामायिकाचा काल.                          | ३८५    | २९     |
| २२    | सामायिकव्रतीने परीषदाचे वेळीं काय करावे. | ३८६    | ३०     |

| क्रम.         | विषय.                       | पृष्ठ. | श्लोक. |
|---------------|-----------------------------|--------|--------|
| २३            | सामायिकाच्या सिद्धीचा उपाय. | ३८७    | ३१     |
| २४            | सामायिक दुष्कर ह्मणणारास.   | ३८८    | ३२     |
| २५            | सामायिकाचे अतीचार.          | ३८९    | ३३     |
| २६            | प्रोषधोपवास.                | ३९३    | ३४     |
| २७            | मध्यम व जघन्य प्रोषधोपवास.  | ३९४    | ३५     |
| २८            | प्रोषधोपवासाचें शास्त्र.    | ३९५    | ३६-३९  |
| २९            | प्रोषधोपवासाचे अतीचार.      | ३९९    | ४०     |
| ३०            | अतिथिसंविभागव्रत.           | ४००    | ४१     |
| ३१            | अतिथि कोणास म्हणावें.       | ४०१    | ४२     |
| ३२            | पात्राचें स्वरूप व भेद.     | ४०२    | ४३-४४  |
| ३३            | दानविधि.                    | ४०३    | ४५     |
| ३४            | निर्दोषद्रव्य.              | ४०५    | ४६     |
| ३५            | दात्याचें लक्षण.            | ४०६    | ४७     |
| ३६            | दानाचें फळ.                 | ४०८    | ४८     |
| ३७            | मुनिदानाचें सामर्थ्य.       | ४०९    | ४९     |
| ३८            | मुनिदानाचें फळ.             | ४१०    | ५०     |
| ३९            | अतिथीचें अन्वेषण.           | ४१२    | ५१-५२  |
| ४०            | ग्रहणादिनिमित्तदाननिषेध.    | ४१३    | ५३     |
| ४१            | दानाचे अतिचार.              | ४१५    | ५४     |
| ४२            | महाश्रावकत्व.               | ४१७    | ५५     |
| अध्याय सहावा. |                             |        |        |
| १             | प्रातःस्मरणादि.             | ४२०    | १-५    |
| २             | चैत्यालयगमन.                | ४२४    | ६      |
| ३             | ध्वजालोकोत्सव.              | ४२५    | ७      |
| ४             | जिनमंदिरप्रवेश.             | ४२६    | ८-९    |

| क्रम.         | विषय.                              | पृष्ठ. | श्लोक. |
|---------------|------------------------------------|--------|--------|
| ५             | जिनमंदिरांतील क्रिया.              | ४२८    | ११-१३  |
| ६             | जिनमंदिरांत निषिद्ध क्रिया.        | ४३१    | १४     |
| ७             | द्रव्यार्जन.                       | ४३२    | १५     |
| ८             | लाभालाभाविषयी समता.                | ४३३    | १६     |
| ९             | उपजीविका.                          | ४३४    | १७-२०  |
| १०            | माध्याह्निकदेवपूजा.                | ४३८    | २१     |
| ११            | जिनस्नपनादिविधि.                   | ४३८    | २२-२३  |
| १२            | भोजन.                              | ४४२    | २४-२५  |
| १३            | भोजनोत्तरक्रिया.                   | ४४४    | २६     |
| १४            | सायंकालची क्रिया व शयन.            | ४४५    | २७     |
| १५            | उत्तररात्री भावना.                 | ४४६    | २८-३४  |
| १६            | स्त्रीत्यागाचें काठिन्य.           | ४५३    | ३५-३६  |
| १७            | सामायिकभावना.                      | ४५५    | ३७-४३  |
| १८            | प्राचीनश्रावकांची प्रशंसा.         | ४६३    | ४४     |
| १९            | व्रतिकप्रतिमेचें फळ.               | ४६३    | ४५     |
| अध्याय सातवा. |                                    |        |        |
| १             | सामायिक प्रतिमा.                   | ४६५    | १      |
| २             | निश्चयसामायिकाचा उपदेश.            | ४६६    | २      |
| ३             | उत्कृष्टसामायिकाची प्रशंसा.        | ४६७    | ३      |
| ४             | प्रोषधोपवासी.                      | ४६८    | ४      |
| ५             | प्रोषधोपवासी श्रावकाचें महत्त्व.   | ४६९    | ५      |
| ६             | प्रोषधोपवासाचें व्रतत्व.           | ४७०    | ६      |
| ७             | उत्कृष्ट प्रोषधोपवासीयाची प्रशंसा. | ४७१    | ७      |
| ८             | सचित्तविरत कोण.                    | ४७१    | ८-९    |
| ९             | सचित्तविरताची प्रशंसा.             | ४७४    | १०     |

| क्रम. | विषय.                           | पृष्ठ. | श्लोक. |
|-------|---------------------------------|--------|--------|
| १०    | सचित्तविरतीचें व्रतत्व.         | ४७५    | ११     |
| ११    | रात्रिभक्तव्रत.                 | ४७६    | १२     |
| १२    | रात्रिभक्तव्रतिकाची प्रशंसा.    | ४७७    | १३     |
| १३    | विरक्तांची मंदकामेच्छा.         | ४७८    | १४     |
| १४    | रात्रिभक्ताचें मतांतर.          | ४७९    | १५     |
| १५    | ब्रह्मचर्यप्रतिमा.              | ४८०    | १६     |
| १६    | ब्रह्मचाऱ्याची प्रशंसा.         | ४८१    | १७     |
| १७    | ब्रह्मचर्याचें माहात्म्य.       | ४८२    | १८     |
| १८    | ब्रह्मचर्याश्रम                 | ४८३    | १९     |
| १९    | वर्णाश्रम.                      | ४८५    | २०     |
| २०    | आरंभविरत.                       | ४८६    | २१-२२  |
| २१    | परिग्रहविरत.                    | ४९१    | २३     |
| २२    | परिग्रहविरताची सकलदत्ति.        | ४९१    | २४     |
| २३    | सकलदत्तीचे वेळीं पुत्रास उपदेश. | ४९२    | २५-२७  |
| २४    | त्यागक्रम.                      | ४९५    | २८-२९  |
| २५    | अनुमतिविरत.                     | ४९७    | ३०     |
| २६    | अनुमतिविरताचा आचार.             | ४९८    | ३१     |
| २७    | अनुमतिविरताची भावना.            | ४९८    | ३२-३३  |
| २८    | गृहत्यागविधि.                   | ५००    | ३४     |
| २९    | विनय व आचार.                    | ५०१    | ३५     |
| ३०    | अनुमतिविरतीचा उपसंहार.          | ५०२    | ३६     |
| ३१    | उद्दिष्टविरत.                   | ५०३    | ३७     |
| ३२    | उद्दिष्टविरताचे भेद.            | ५०४    | ३८-४७  |
| ३३    | दुसरा उद्दिष्टविरत.             | ५१२    | ४८-४९  |
| ३४    | अनुक्तविषयाचें कथन.             | ५१३    | ५०-५९  |
| ३५    | देशसंयतास उपदेश.                | ५२०    | ६०     |
| ३६    | साधकत्वाचा अधिकारी.             | ५२२    | ६१     |

| क्रम. | विषय.                              | पृष्ठ. | श्लोक. |
|-------|------------------------------------|--------|--------|
|       | <b>अध्याय आठवा.</b>                |        |        |
| १     | साधक कोण.                          | ५२३    | १      |
| २     | सामग्रीस अनुसरून मोक्षसाधन.        | ५२४    | २      |
| ३     | जिनर्लिगाचें कारण.                 | ५२५    | ३      |
| ४     | जिनर्लिगस्वीकाराचें माहात्म्य.     | ५२५    | ४      |
| ५     | शरीराची अपेक्षा व उपेक्षा.         | ५२६    | ५      |
| ६     | देहाचें पोषण, उपचार आणि त्याग.     | ५२७    | ६      |
| ७     | शरीररक्षणार्थ धर्मविच्छेद न करणें. | ५२८    | ७      |
| ८     | आत्मघातशंका-निरसन.                 | ५२९    | ८-१०   |
| ९     | भोजनत्यागाचें कारण.                | ५३२    | ११     |
| १०    | सल्लेखनेचा काल.                    | ५३२    | १२     |
| ११    | देहाविषयी निर्ममत्व.               | ५३३    | १३     |
| १२    | भोजनत्यागाचा काल.                  | ५३४    | १४     |
| १३    | समाधिमरणोद्योग.                    | ५३५    | १५     |
| १४    | मरणकाली धर्मरक्षणाचें फल.          | ५३६    | १६     |
| १५    | धर्मरक्षण न केल्याचें फल.          | ५३७    | १७     |
| १६    | समाधिमरणाविषयी शंकासमाधान.         | ५३८    | १८-१९  |
| १७    | भोजनत्यागाचे प्रसंग.               | ५४०    | २०     |
| १८    | समाधिमरणार्थ शरीरसंस्कार.          | ५४१    | २१     |
| १९    | कषाय कृश करून देह कृश करावा.       | ५४२    | २२     |
| २०    | कषायांची दुर्जयता.                 | ५४२    | २३     |
| २१    | इष्टपदार्थत्यागाची प्रेरणा.        | ५४३    | २४     |
| २२    | समाधिमरणाचें विशेष फल.             | ५४४    | २५     |
| २३    | निर्विघ्न समाधिमरणास उपाय.         | ५४५    | २६     |
| २४    | समाधिमरणाची प्रशंसा.               | ५४६    | २७-२८  |
| २५    | संन्यासाचें स्थल.                  | ५४७    | २९     |
| २६    | संन्यासस्थलीं जातांना मृत्युआल्यास | ५४८    | ३०     |

| क्रम. | विषय.                        | पृष्ठ. | श्लोक. |
|-------|------------------------------|--------|--------|
| २७    | क्षमा व क्षमापन.             | ५४९    | ३१     |
| २८    | क्षमेचें फल.                 | ५५०    | ३२     |
| २९    | पातकें कबूल करणें.           | ५५१    | ३३     |
| ३०    | शय्यारोहण.                   | ५५१    | ३४     |
| ३१    | अचेलक्यालिंग.                | ५५२    | ३५     |
| ३२    | कोणास महाव्रत मिळत नाहीं.    | ५५४    | ३६     |
| ३३    | नम्रपणास अयोग्य.             | ५५५    | ३७     |
| ३४    | स्त्रियांचा लिंगधारणाचा काल. | ५५६    | ३८     |
| ३५    | आत्मचिन्तनोपदेश.             | ५५७    | ३९     |
| ३६    | बन्ध होऊं नये ह्मणून.        | ५५७    | ४०     |
| ३७    | समाधीनें शुद्धता व विवेक.    | ५५८    | ४१     |
| ३८    | शुद्धीचे ५ भेद.              | ५५९    | ४२     |
| ३९    | विवेकाचे ५ भेद.              | ५६०    | ४३     |
| ४०    | महाव्रतभावनेचा न्यूनाधिकभाव. | ५६१    | ४४     |
| ४१    | संस्तरारोह करणारास महाव्रत.  | ५६२    | ४५     |
| ४२    | निर्यापकाचार्याचें कर्तव्य.  | ५६३    | ४६     |
| ४३    | भोजनासक्तीचा निषेध.          | ५६४    | ४७     |
| ४४    | भक्ष्य सोडविण्याचा क्रम.     | ५६५    | ४८-५७  |
| ४५    | समाधिमरणाचे पांच अतीचार.     | ५७२    | ५८-६५  |
| ४६    | आहारजलत्यागप्रकार.           | ५७६    | ६३-६९  |
| ४७    | संघाचें कर्तव्य.             | ५७९    | ६६     |
| ४८    | निर्यापकाचार्याचा उपदेश.     | ५८०    | ६७-९०  |
| ४९    | निश्चयाराधना.                | ५९८    | ९१-९३  |
| ५०    | श्रुतज्ञानोपदेश.             | ६०१    | ९४-१०८ |
| ५१    | निर्यापकाचार्याचा आशीर्वाद.  | ६१२    | १०९    |
| ५२    | आराधनायुक्तमरणार्थें फल.     | ६१२    | ११०    |
| ५३    | ग्रन्थकर्तुः प्रशस्तिः       | ६१३    | १-२४   |

नमो वीतरागाय.  
सटीकं  
सागारधर्मामृतम् ।

श्रीवर्द्धमानमानम्य ।  
मन्दबुद्धिप्रबुद्धये ॥  
धर्मामृतोक्तसागार- ।  
धर्मटीकां करोम्यहम् ॥ १ ॥  
समर्थनादि यन्नात्र ।  
ब्रुवे व्यासभयात्काचित् ॥  
तज्ज्ञानदीपिकाख्यैत- ।  
पञ्जिकायां विलोक्यताम् ॥ २ ॥

अथ चतुर्थाध्याये—सुदृग्बोधो गलद्वृत्तमोहो विषयनिःस्पृहः ।  
हिंसादेर्विरतः कात्स्न्याद्यतिः स्याच्छ्रावकोऽशतः । इत्युक्तम् । अतो  
मध्यमङ्गलविधानपूर्वकं विनेयान्प्रति सागारधर्मामृतं प्रतिपाद्यतया  
प्रतिजानीते—

अथ नत्वाऽर्हतोऽक्षूण- ।  
चरणान् श्रमणानपि ॥  
तद्धर्मरागिणां धर्मः ॥

सागाराणां प्रणेष्यते ॥ १ ॥

टीका—प्रणेष्यते प्रतिपादयिष्यतेऽस्माभिः । कः उक्तकर्मता-  
पन्नः धर्मः । एकदेशविरतिलक्षणं चारित्रम् । केषां ? सागाराणां



वक्ष्यमाणलक्षणानां गृहस्थानाम् । किंविशिष्टानां तद्धर्मरागिणां  
 तेषां श्रमणानां धर्मे सर्वविरतिरूपे चारित्र्ये रागिणां संहननादि-  
 दोषादकुर्वतामपि प्रीतिमताम् । यतिधर्मानुरागरहितानामगारिणां  
 देशविरतेरप्यसम्यग्रूपत्वात् । सर्वविरतिलालसः खलु देश-  
 विरतिपरिणामः । किं कृत्वा प्रणेष्यते नत्वा शिरःप्रव्हीकरणा-  
 दिना विशुद्धमनोनियोगेन च पूजयित्वा । कान् अर्हतस्तीर्थ-  
 करपरमदेवान् । किंविशिष्टान् अक्षूणचरणान् । अक्षूणं सम्पूर्णं  
 सकलमोहप्रक्षयादाविर्भूतत्वेन नित्यं निर्मलं चरणं यथाख्यातचारित्रं  
 येषां ते अक्षूणचरणास्तान् । न केवलमर्हतो नत्वा श्रमणानपि  
 नमस्कृत्य श्राम्यन्ति बाह्यमाभ्यन्तरं च तपश्चरन्तीति श्रमणा  
 आचार्योपाध्यायसाधवस्तान् । किंविशिष्टान्? अक्षूणचरणान् । अक्षूणं  
 भावनाविशेषबलादनतिचारं चारित्रं क्षायोपशामिकसंयमपरिणामो  
 येषां ते तान् । कथं अथ । अथेतिशब्दो मङ्गलार्थः अधिकारार्थो  
 वा । इतः सागारधर्मोऽधिक्रियते इत्यर्थः ॥ १ ॥

अर्थ— अखंड व निर्मल चारित्र ज्यांचें आहे अशा  
 तीर्थकर परमदेवांस व निरतिचार चारित्र पाळणाऱ्या  
 दिगंबर मुनींस शुद्धभावानें मंगलार्थ नमस्कार करून;  
 मुनिधर्माच्या ठिकाणीं अनुराग बाळगणाऱ्या गृहस्थांचा धर्म  
 ( श्रावक-धर्म ) प्रतिपादन केला जातो. आपण गृहस्थ  
 असून मुनिधर्मात प्रीति ठेवणारा श्रावक योग्य होय असें  
 ग्रंथकाराचें ह्मणणें आहे.

किलक्षणाः सागारा इत्याह—

आतां सागांचें लक्षण सांगतों.

अनाद्यविद्यादोषोत्थ- ।

चतुःसंज्ञाज्वरातुराः ॥

## शश्वत्स्वज्ञानविमुखाः ।

### सागारा विषयोन्मुखाः ॥ २ ॥

टीका—अत्र भवन्तीति क्रियाध्याहारः । भवन्ति के सागाराः । अगारं गृहं सकलपरिग्रहोपलक्षणं । सह अगारेण वर्तन्ते इति सागाराः । एतदेव अनाद्यविद्येत्यादिविशेषणत्रयेण स्फुटयति । किं-विशिष्टाः सागारा भवन्ति शश्वत्स्वज्ञानविमुखाः शश्वदनवरतं स्वज्ञाने “एगो मे सांसदो आदा णाणदंसणलक्खणो । सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥१॥” इत्यादिपरमागमप्ररूपिते स्वात्मावबोधे विमुखाः पराङ्मुखाः । तत्र मुख्यतयाऽनुपयुक्ता इत्यर्थः । पुनः किंविशिष्टाः विषयोन्मुखाः विषयेष्विष्टेषु सक्कामिन्यादिष्वनिष्टेषु च दुर्भोजनदुर्व्वसनादिषु उन्मुखाः रागात् द्वेषाच्च व्यापृताः उद्युक्ताः । कुत एतदिति हेतुं प्रथमान्तत्वेन निर्दिशति । पुनः किंविशिष्टाः अनाद्यविद्यादोषोत्थचतुःसञ्ज्ञाज्वरातुराः । अविद्या अनित्याशुचि-दुःखानात्मसु विपरीतरूपातिः । यस्मात्पूर्वं नास्ति स आदिः । नास्त्यादिर्यस्याः साऽनादिः । अनादिश्चासावविद्या च अनाद्यविद्या । सैव दोषो वातपित्तकफानां वैषम्यम् । उत्थानमुत्था उद्भूतिः । अनाद्यविद्यादोषादुत्था येषां ते अनाद्यविद्यादोषोत्थाः । सञ्ज्ञाः आहाराद्यभिलाषानुभवनसंस्काररूपाश्चतस्रः । तथा ज्वराः प्राकृतो वैकृतश्चेति द्वौ प्रत्येकं साध्योऽसाध्यश्चेति चत्वारः । सञ्ज्ञा एव ज्वरा मोहसन्तापरूपत्वात् सञ्ज्ञाज्वराः । चत्वारश्च ते सञ्ज्ञाज्वराश्च चतुःसञ्ज्ञाज्वराः । अनाद्यविद्यादोषोत्थाश्च ते चतुस्सञ्ज्ञाज्वराश्च अनाद्यविद्यादोषोत्थचतुःसञ्ज्ञाज्वराः । तैरातुराः कदर्थिताः । यत एवम्भूतास्ततः शश्वत्स्वज्ञानविमुखाः । अत एव च नित्यं विषयो-न्मुखाः स्वपरप्रकाशात्मकत्वादात्मनो विमुखाः ॥ २ ॥

अर्थः— सागार ह्यणजे सकल परिग्रहांनीं युक्त असें जें

घर तेथें वास करणारे अर्थात् प्रपंचलुब्ध जीव हे सांगार होत. हे अनादिकालच्या अविद्यारूपी वात-पित्त-कफांच्या दोषांपासून ज्यांची उत्पत्ति आहे अशा चार प्रकारच्या संज्ञारूपी चार प्रकारच्या ज्वरांच्या योगानें त्रासलेले आणि ह्मणूनच सदोदित आत्मज्ञानाविषयीं विमुख व पुष्पमाला कामिनी वगैरे विषयांच्या ठिकाणीं अनुराग ठेवणारे असे असतात.

भङ्ग्यन्तरेण तानेवाह —

पुढील श्लोकात प्रकारांतरानें त्यांचेंच लक्षण सांगतों.

अनाद्यविद्यानुस्यूतां ।

ग्रन्थसञ्ज्ञामपासितुम् ॥

अपारयन्तः सागाराः ।

प्रायो विषयमूर्च्छिताः ॥ ३ ॥

टीका— अत्रापि भवन्तीति क्रियाध्याहारः । एवमश्रूयमाणं क्रियापदं पुरस्तादप्यध्याहार्यम् । भवन्ति के ते सागाराः । किंविशिष्टा विषयमूर्च्छिताः कामिन्यादिविषयेषु ममेदं भोग्यमहमस्य स्वार्मात्येवं

१ अनित्य पदार्थास नित्य समजणें, अशुचि पदार्थास शुचि मानणें, दुःखास सुख मानणें आणि जे पदार्थ ( देह, कलत्र, पुत्र वगैरे ) आपले नव्हेत ते आपले समजणें याचें नांव अविद्या.

२ संज्ञा ह्मणजे एक प्रकारची ममत्वबुद्धि. संज्ञा चार प्रकारची आहे १ आहार, २ भय, ३ मैथुन आणि ४ परिग्रह.

३ ज्वर ह्मणजे अंगांत संताप वगैरे उत्पन्न करणारा एक प्रकारचा रोग. हा चार प्रकारचा आहे. १ साध्यप्राकृत, २ असाध्यप्राकृत, ३ साध्यवैकृत, ४ असाध्यवैकृत.

ममकाराहङ्कारविकल्पपरतन्त्रतयाऽध्यवसिताः । कथं प्रायो बाहु-  
ल्येन सुदृष्टयोऽपि चारित्रावरणकर्मोदयवशादेवं पर्यवसन्नाः सम्य-  
ग्दृष्टयः । ये तु केचिज्जन्मांतराभ्यस्तरत्नत्रयानुभावात्साम्राज्यादिश्रि-  
यमप्यनुभवन्तोऽसंतीनाथोपभोगन्यायेन तत्त्वज्ञानदेशसंयमप्रणिधान-  
परत्वेन भुञ्जाना अप्यभुञ्जानवदवभासन्ते तद्यभिचारप्रदर्शनार्थं  
प्राय इत्युच्यते । किं कुर्वन्तस्ते तथा भवन्तीत्याह अपारयन्तः  
अशक्नुवन्तः । किं कर्तुं अपासितुं निराकर्तुं । कां ग्रन्थसञ्ज्ञां,  
ग्रन्थे परिग्रहे सञ्ज्ञा ममेदमिति मूर्च्छापरिणामस्तां । किंविशिष्टां  
अनाद्यविद्यानुस्यूतां, अनाद्यविद्ययाऽनुस्यूता बीजाङ्कुरन्यायेन  
सन्तत्या प्रवर्तमाना ताम् ॥

अर्थ—अनादि अशा अविद्येने अनुस्यूत ह्यणजे बीजाङ्कुरे  
न्यायाने सतत चालत आलेला जो परिग्रहांचा अभिलाष  
तो नाहीसा करण्याकरिता असमर्थ असे सागार प्रायः

१ धात्रीबालासतीनाथपाद्मिनीचलवारिवत् ।

दग्धरज्जुवदाभाति भुञ्जानोऽपि न पापभाक् ॥ १ ॥

२ बीजापासून अंकुर उत्पन्न होतो व अंकुरापासून बीज  
उत्पन्न होतें याला बीजाङ्कुरन्याय ह्यणतात. त्याप्रमाणें अविद्येमुळें  
परिग्रहांचा अभिलाष उत्पन्न होतो व पुनः परिग्रहांच्या अभि-  
लाषामुळें अविद्या उत्पन्न होते.

३ प्रायः या शब्दाने ग्रंथकारांनी सागरांत विकल्प दाखविला  
आहे ह्यणजे कित्येक सम्यग्दृष्टि सागार चारित्रमोह-कर्मोदयामुळें  
विषयांच्या ठिकाणी आसक्त असतात. आणि कित्येक सागार  
जन्मांतरांत अभ्यस्त अशा रत्नत्रयाच्या प्रभावामुळें जारिणी स्त्रीच्या  
पतीप्रमाणें साम्राज्यपदाचाहि अनुभव घेत असतात. ह्यणजे रत्न-  
त्रयाच्या प्राप्तीमुळें चारित्र पाळून परिमित विषयांचें सेवन उदास-  
वृत्तीनें करीत असतात.

(बहुतकरून) विषयांच्या ठिकाणीं मूर्छित झालेले असतात.

एवं सागारान् लक्षयित्वा तद्भावाभावनिदानयोरविद्याविद्ययोर्बी-  
जोपदेशार्थमिदमाह —

ह्याप्रमाणें सागरांचें लक्षण सांगून; आतां सागारत्व  
असणें आणि तें नसणें ह्यांना विद्या ( सम्यक्त्व ) आणि  
अविद्या ( मिथ्यात्व ) हींच कारणें अनुक्रमें आहेत असें  
पुढील श्लोकांत सांगतों:—

नरत्वेऽपि पश्यन्ते ।

मिथ्यात्वग्रस्तचेतसः ॥

पशुत्वेऽपि नरायन्ते ।

सम्यक्त्वव्यक्तचेतनाः ॥ ४ ॥

टीका—पश्यन्ते हिताहितविवेकविकलतया पशव इवाचरन्ति ।  
के ते मिथ्यात्वग्रस्तचेतसः मिथ्यात्वेन विपरीताभिनिवेशेन ग्रस्त-  
माविष्टं चेतो मनो येषां ते । क सति नरत्वेऽपि । नरा हि प्रायो  
विचारचतुरचेतसः किल प्रसिद्धास्तत्त्वेऽपि सति किं पुनस्तिर्यगादि-  
भवे इत्यपिशङ्कार्थः । एवमविद्यामूलकारणं मिथ्यादर्शनं विभाव्य  
विद्यामूलकारणं सम्यग्दर्शनं भावयितुमाह पशुत्वेऽपीत्यादि । नरा-  
यन्ते हिताहितविचारचतुरतया नरा इवाचरन्ति । के ते सम्य-  
क्त्वव्यक्तचेतनाः सम्यक्त्वेन तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणेन सम्यग्दर्शन-

१ मूर्छितांचें लक्षण—

वपुर्गृहं धनं दाराः पुत्रमित्राणि शत्रवः ॥

सर्वथान्यस्वभावानि मूढः स्वानि प्रपद्यते ॥ १ ॥

अर्थः—देह , घर , धन , स्त्री , मित्र व शत्रु वगैरे हे सर्व  
अन्य असून यांना आपले समजणारा जो; तो मूर्छित होय.

परिणामेन व्यक्ता प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिक्यानुभावैः प्रतीतियोग्या कृता चेतना चैतन्यसम्पद येषां ने । क सति पशुत्वेऽपि, पशव-स्तिर्यञ्चस्ते चात्र सञ्ज्ञन एव । जात्या तिर्यग्भावेऽपि सति सम्यक्त्व-माहात्म्याद्धेयोपादेयतत्त्वज्ञाः पशवोऽपि भवन्ति किं पुनर्मनुष्यादय इत्यपिशब्दार्थः ।

अर्थः—मिथ्यात्वानें ( विपरीत अभिनिवेशानें ) ज्यांचें मन घेरिलें आहे असे जीव मनुष्य असूनहि पशूप्रमाणें अर्थात् विचारशून्य होतात. आणि सम्यग्दर्शन-परिणामानें प्रशम, संवेग, अनुकंपा व आस्तिक्य हे गुण ज्यांचे प्रकट झाले

१ प्रशमाचें लक्षण—

रागादिषु च दोषेषु चित्तवृत्तिनिर्बर्हणम् ॥

तं प्राहुः प्रशमं प्राज्ञाः समन्ताद्भूषणम् ॥ १ ॥

अर्थः—राग, द्वेष वगैरे दोषांत आपलें चित्त न ठेवणें याला प्रशम क्षणतात. हा प्रशम गुण सर्व व्रतांस भूषण आहे.

२ संवेगाचें लक्षण—

शारीरमानसागन्तुवेदनाप्रभवाद्भवात् ॥

स्वप्नेन्द्रजालसंकल्पाद्धीतिः संवेग उच्यते ॥ २ ॥

अर्थः—शारीर ( देहासंबंधी ) मानस ( मनासंबंधी ) आणि आगंतुक ( आकस्मिक ) अशा प्रकारची दुःस्वें जेथें वारंवार उत्पन्न होतात आणि ज्याची स्थिति स्वप्नाप्रमाणें किंवा इंद्रजाल-प्रमाणें अस्थिर आहे अशा संसाराला भिऊन असणें याचें नांव संवेग.

३ अनुकंपेचें लक्षण—

सत्वे सर्वत्र चित्तस्य दयार्द्रत्वं दयालवः ॥

आहेत असे जीव पशु जरी असले तरी ते मनुष्यच होत. तात्पर्य, ज्याला सम्यक्त्व आहे तो ज्ञानी अर्थात् मनुष्य; आणि जो मिथ्यात्वी आहे तो अज्ञानी अर्थात् पशु होय. ह्मणजे सम्यक्त्व हें विद्येचें कारण आणि मिथ्यात्व हें अविद्येचें कारण होय.

एवं सामान्यतो मिथ्यात्वानुभावं प्रदर्शयेदानीं तस्य त्रिविधस्याप्यनुभावमुपमानैरनुभावयितुमाह—

याप्रमाणें मिथ्यात्वाचा प्रभाव सांगून, आतां त्याचेच तीन भेद, त्यांच्या प्रभावासह उपमानांनीं सांगतों.

केषाञ्चिदन्धतमसा- ।

यतेऽगृहीतं ग्रहायतेऽन्येषाम् ॥

मिथ्यात्वमिह गृहीतं ।

शल्यति सांशायिकमपरेषाम् ॥ ५ ॥

धर्मस्य परमं मूलमनुकम्पां प्रचक्षते ॥ ३ ॥

अर्थः—अनेक योनींत फिरून फिरून दुःख पावणाऱ्या प्राणिमात्रावर दया करणें याला दयाळु मुनि अनुकंपा ह्मणतात. अनुकंपा हें धर्माचें मुख्य मूल आहे.

३ आस्तिक्याचें लक्षण—

आप्ते श्रुते व्रते तत्त्वे चित्तमस्तित्वसंयुतम् ॥

आस्तिक्यमास्तिकैरुक्तं युक्तं युक्तिधरेण वा ॥ ४ ॥

अर्थः—आप्त ह्मणजे यथार्थ उपदेश करणारा सर्वज्ञ वीतराग परमेश्वर, शास्त्र, व्रत आणि जीवादिक तत्त्वे यांच्याविषयी जी अस्तित्वबुद्धि याचें नांव आस्तिक्य.

टीका—अन्धतमसायते घोराज्ञानविवर्तहेतुतया निबिडांधकारव-  
दाचरति । किं तत् मिथ्यात्वं । किंविशिष्टमगृहीतं परोपदेशमन्तरेण  
प्रवृत्तत्वादनुपात्तं । अनादिसन्तत्या प्रवर्तमानस्तत्त्वारुचिरूपश्चित्प-  
रिणाम इत्यर्थः ॥ केषां तत्तथा स्यादित्याह । केषाञ्चित् एकेन्द्रिया-  
दिसञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्यन्तानां । क इह संसारे । तथा ग्रहायते विविधा-  
कारकारितया ग्रहवदाचरति भूतावेशवद्विवर्तत इत्यर्थः ॥ किंतत्  
मिथ्यात्वं । किंविशिष्टं गृहीतं परोपदेशादुपात्तमतत्त्वाभिनिवेशलक्षणं  
चिद्वैकृतं । केषां अन्येषां सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां । तथा शल्यति बहु-  
दुःखहेतुत्वाच्छरीरान्तःप्रविष्टकाण्डादिवदाचरति । किं तत् मिथ्यात्वं  
किमाख्यं सांशयिकं मिथ्यात्वकर्मोदये सति ज्ञानावरणोदयविशेषव-  
शात् किमिदं जीवादि वस्तु यथा जैनैरनेकान्तात्मकमुच्यते तथा  
स्यादुतस्विदन्यथेति चलिता प्रतीतिः संशयः । संशये भवं सांशयिकं  
कचिदप्राप्तनिश्चयमात्मस्वरूपं । केषां तत्तथा स्यादित्याह परेषां  
इन्द्राचार्यादीनाम् ॥

अर्थः—मिथ्यात्वाचे प्रकार तीन. अगृहीत, गृहीत आणि  
सांशयिक. अनादि संततीने पुनः पुनः चालू असणारा  
तत्त्वाविषयी अरुचि रूपाचा जो आत्म्याचा परिणाम ते  
अगृहीत मिथ्यात्व होय. हें इतरांच्या उपदेशावांचून  
असतें, ह्मणून याला अगृहीत ह्मणतात. इतरांच्या  
उपदेशानें प्राप्त झालेला अतत्त्वश्रद्धान रूपाचा जो बुद्धीचा  
विकार त्याला गृहीतमिथ्यात्व ह्मणतात. आणि  
मिथ्यात्व—कर्माचा उदय झाला असतांना व तशाच एक  
प्रकारच्या ज्ञानावरणीय कर्माचा उदय झाला असतांना  
त्यामुळे “जिनानें जें जीवादिक पदार्थांचें लक्षण सांगितलें  
आहें, तें तेंच कीं आणखी कांहीं आहे” अशा प्रकारचा जो



बुद्धीचा चलपरिणाम त्याला संशय ह्मणतात. संशयापासून जें उत्पन्न होतें तें सांशयिक होय. या संसारांत हें अगृहीत मिथ्यात्व, घोर अशा अज्ञान अवस्थेत असणाऱ्या कित्येकांस ( ह्मणजे एकेंद्रिय आदिकरून संज्ञिपंचेंद्रिय वगैरे जीवांस ) गाढ अंधकाराप्रमाणें दुःख देत आहे. दुसरें गृहीत मिथ्यात्व तें कित्येकांस (ह्मणजे संज्ञिपंचेंद्रिय जीवांस) दुष्ट ग्रहाप्रमाणें (पिशाचाप्रमाणें) अनेक प्रकारचे विकार करणारें आणि तिसरें सांशयिक मिथ्यात्व, तें कित्येकांस ह्मणजे श्वेतांबरमताचे इंद्राचार्यासारखे जे जीव त्यांस हृदयांत घुसलेल्या शल्याप्रमाणें दुःख देतें.

नन्वविधामूलमिथ्यात्वनिर्मथनसमर्थस्य सम्यक्त्वपरिणामस्य कतमा प्रादुर्भावनसामग्रीत्यनुयोगे सतीदमुच्यते—

आतां; अविद्येचें मूल कारण जें मिथ्यात्व त्याचें निर्मूलन करण्यास समर्थ असा जो सम्यक्त्वपरिणाम तो उत्पन्न होण्याची सामग्री कोणती आहे हें सांगतों.

आसन्नभव्यताकर्म- ।

हानिसञ्ज्ञित्वशुद्धिभाक् ॥

देशनाद्यस्तमिथ्यात्वो ।

जीवः सम्यक्त्वमश्नुते ॥ ६ ॥

टीका— अश्नुते प्राप्नोति । कोऽसौ जीव आत्मा । किं तत् सम्यक्त्वं तत्त्वार्थश्रद्धानं । किंविशिष्टः सन् ? आसन्नभव्यताकर्महानि-सञ्ज्ञित्वशुद्धिभाक् भव्यो रत्नत्रयाविर्भावयोग्यो जीवः । आसन्नः कतिपयभवप्राप्यनिर्वाणपदः । आसन्नश्चासौ भव्यश्चासन्नभव्यस्तस्य

भाव आसन्नभव्यता । कर्महानिर्मिथ्यात्वादीनां सम्यक्त्वप्रतिबन्धक-  
कर्मणां यथासम्भवमुपशमः क्षयोपशमः क्षयो वा । सञ्ज्ञा शिक्षा-  
क्रियालापोपदेशग्राहित्वं सञ्ज्ञाऽस्यास्तीति सञ्ज्ञी । सञ्ज्ञिनो भावः  
सञ्ज्ञित्वं । श्लोकः—मनोऽवष्टम्भतः शिक्षाक्रियालापोपदेशवित् ।  
येषां ते सञ्ज्ञिनो मर्त्या वृषकीरगजादयः ॥ १ ॥ शुद्धिर्विशुद्धप-  
रिणामः । आसन्नभव्यता च कर्महानिश्च सञ्ज्ञित्वं च शुद्धिश्चेती-  
तरेतरयोगे द्वन्द्वे सति ताश्चतस्रो भजते सेवते ततो नापैतीति तद्भा-  
गन्तरङ्गसम्यग्दर्शनादिभावकारणसम्पन्न इत्यर्थः । पुनः किंविशिष्टः ।  
देशनाद्यस्तमिथ्यात्वः देशना सम्यगुरूपदेशः सा आदिर्यस्य जाति-  
स्मरणाजिनप्रतिमादर्शनादेर्बहिरङ्गकारणकलापस्य स देशनादिः तेन  
अस्तं निराकृतमुपशमाद्यवस्थां नीतं मिथ्यात्वं दर्शनमोहाख्यं कर्म  
तद्धेतुको वा सर्वथैकान्ताभिनिवेशो यस्य स तथोक्तः ॥

अर्थः—आसन्न ह्मणजे कांहीं भवांनीं ज्याला निर्वाण  
पद प्राप्त व्हावयाचें आहे, आणि त्यामुळे जो भव्य ह्मणजे  
रत्नत्रयाचें ग्रहण करण्यास योग्य झाला आहे, व ज्याच्या  
सम्यक्त्वप्रतिबंधक कर्माची हानि झाली आहे ह्मणजे  
सम्यक्त्वाला प्रतिबंधक अशा मिथ्यात्व वगैरे सप्तप्रकृति-  
रूप कर्माचा उपशम, क्षयोपशम आणि क्षय या तीर्हींपैकीं

१ कर्म असून त्याचा उदय न होणें याला उपशम ह्मणतात.  
उदाहरण— पाण्यांत गाळ असला तरी त्यांत निवळीचें बीं टाक-  
ल्यास तो गाळ खाली जाऊन असून नसल्यासारखा दिसतो.

२ कर्म असून त्याचा उदय न होणें आणि थोडा थोडा क्षय  
होत जाणें याला क्षयोपशम ह्मणतात. उदाहरण— अर्धें  
स्वच्छ असलेलें पाणी.

एक प्रकार झाला आहे, आणि ज्याला संज्ञा आहे, ज्याचे परिणाम शुद्ध आहेत, “अर्थात् ही वर सांगितलेली सम्यक्त्व प्राप्त होण्याची अंतरंग कारणे (मुख्य सामग्री) ज्यास प्राप्त झाली आहेत” असा असून; सद्गुरूचा उपदेश, जिनप्रतिमेचे दर्शन, पूर्वभवांचे स्मरण इत्यादि बाह्य कारणांनी ज्याचे मिथ्यात्व नाहीसे झाले आहे, असा जो जीव त्याला सम्यक्त्व प्राप्त होतो. तात्पर्य; आसन्नभव्यता,

३ संपूर्णपणे कर्म नाहीसे होणे याला क्षय क्षणतात. उदाहरण— भांड्यांत ठेवलेले निर्मळ पाणी.

१ मनोऽवष्टम्भतः शिक्षाक्रियालापोपदेशवित् ॥

येषां ते संज्ञिनो मर्त्या वृषकीरगजादयः ॥ १ ॥

अर्थ— शिक्षा, क्रिया, आलाप आणि उपदेश हे दृढपणाने ( विस्मरण न होण्यासारखे ) जाणणारे असे मन ज्यांचे असते ते जीव संज्ञी होत. संज्ञी जीव मुख्यत्वेकरून चार प्रकारचे आहेत. ते हे, मनुष्य, बैल, शुक आणि हत्ती. जेणेकरून हित होईल ते करावे आणि अहित होईल ते करूं नये. अशा प्रकारचा बोध ज्या पासून होतो त्याला शिक्षा क्षणतात. ही शिक्षा ग्रहण करण्यास मनुष्य समर्थ आहे. हात, पाय व मस्तक वगैरे हलविणे याला क्रिया क्षणतात. ही क्रिया बैलास शिकविल्यास तो शिकू शकतो. ( उदाहरणः— नंदीबैल, घोडा इ० ) श्लोक पद्य वगैरे पाठास आलाप क्षणतात. हे आलाप शुकासारख्या जीवांस शिकविल्यास ते क्षणू शकतात. उपदेश क्षणजे कांहीं खुणेचे शब्द हे शब्द हत्ती, कुत्रा वगैरे जीवांस शिकविल्यास कळतात. अशा प्रकारच्या संज्ञा ज्या जीवांस आहेत त्यांना उपदेश वगैरे सामग्री मिळाल्यास सम्यक्त्व होतो.

कर्महानि, संश्लित्व आणि शुद्धपरिणाम ही सम्यक्त्व प्राप्त होण्याची अंतरंग (मुख्य) सामग्री होय. आणि सद्गुरूचा उपदेश, जिनप्रतिमादर्शन, पूर्वभवस्मरण वगैरे ही बाह्यसामग्री जाणावी.

साम्प्रतं योऽयं सम्यक्त्वसामग्र्यां सत्यां सम्यग्गुरूपदेशोऽवश्यं-  
मृग्यस्तस्येदानीमत्र समुपदेष्टृणां प्रविरलत्वानुशोचनद्वारेण दुर्लभत्वं  
लक्षयति--

आतां, ह्यापैकीं उपदेश हा सद्गुरूवांचून प्राप्त होत नाही.  
पण, या कार्लीं सद्गुरू दुर्मिळ असल्याबद्दल खेद प्रदर्शित  
करतो.

कलिप्रावृषि मिथ्यादि- ।

ओघच्छन्नासु दिक्ष्वह ॥

खद्योतवत्सुदेष्टारो ।

हि द्योतन्ते क्वचित्क्वचित् ॥ ७ ॥

टीका— द्योतन्ते प्रकाशन्ते आत्मानं दर्शयन्ति दृश्यन्ते इत्यर्थः  
के ते सुदेष्टारः सु शोभनं निर्बाधं सम्पूर्णं वा जीवादितत्वं दिशन्त्युपादि-  
शन्तीति सुदेष्टारः सम्यग्गुरवः । क्वचित्क्वचित् कापि कापि न सर्वत्र ॥  
कस्मिन् इह भरतक्षेत्रे । किं वत् खद्योतवत् ज्योतिरिङ्गणा यथा । कासु  
सतीषु दिक्षु सदुपदेशेषु ककुप्सु च । किंविशिष्टासु मिथ्या सर्वथैकान्त-  
विषयत्वादसत्या दिशो बौद्धादिवाद्युपदेशास्त एव मेघा दिशामिवाने-  
कान्तोपदेशनावारकत्वात् तैश्छन्नासु छादितासु प्रतीत्यविषयीकृतासु  
कदा कलिप्रावृषि कलिः दुष्प्रमाण्यः पञ्चमकालः स एव प्रावृड् वर्षा-  
कालस्तत्र । अयमर्थः यदा वर्षाकाले मेघाच्छादितासु दिक्षु सूर्यादि-  
प्रकाशाभावे क्वचित्क्वचित्प्रदेशे खद्योता द्योतन्ते तथेह दुःप्रमाणां क-

चित्कचिदार्यदेशे सदुपदेष्टारः प्रकाशन्ते । न पुनः कृतयुगादिवद्यत्र-  
तत्रश्रुतकेवलिनः केवलिनो वा दृश्यन्ते इति । हि शब्देन कष्टार्थे-  
नान्तस्तापमभिव्यनक्ति ॥

अर्थः—या आपल्या भरत क्षेत्रांत कलिकाल ह्यणजे पंचमकाल रूपी पावसाळ्यांत मिथ्यात्वोपदेशरूपी मेघांनीं सदुपदेशरूपी दिशा झाकून टाकिल्या असतां मोक्षमार्गाचा उपदेश करणारे गुरु खद्योताप्रमाणें ( काजवा ) कचित्च ह्यणजे कोठें तरी एखाद्या ठिकाणीं व तेहि कधींतरी दिसून येतात. तात्पर्य, चतुर्थ कालांत जसे जिकडे पहावें तिकडे केवली, श्रुतकेवली वगैरे उपदेशकर्ते मोक्षमार्गाचा प्रकाश करीत विहार करणारे दिसून येत असत, तसे सूर्य या कालीं कोणी नाहींतच. पण काजव्यासारखे ह्यणजे अल्प प्रकाश करणारे जे कोणी आहेत, तेहि कचित्च ह्यणजे एखादे ठिकाणीं व कधींतरी आढळतात.

१ विद्वन्मन्यतया सदस्यतितरामुद्दण्डवाग्दम्बराः ।

शृंगारादिरसैः प्रमोदजनकं व्याख्यानमातन्वते ॥

ये ते च प्रतिसन्न सन्ति बहवो व्यामोहविस्तारिणो ।

येभ्यस्तत्परमात्मतत्त्वविषयं ज्ञानं तु ते दुर्लभाः ॥ १ ॥

अर्थ— आपण विद्वान् आहों असें समजून मोठा आडंबर करून सभेंत शृंगार वगैरे रसांनीं संतोष उत्पन्न होईल असें व्याख्यान देऊन लोकांस मोहांत पाडणारे उपदेशक घरोंघर आहेत. पण, ज्यांच्यापासून परमात्मतत्त्वाचें ज्ञान होईल असे जे उपदेशक ते मात्र दुर्लभ होत.

इह दुष्पमासमयसामर्थ्याद्देशिकवद्देश्यानामपि दर्शनमोहोदयाक्रान्तचित्ततया देशनानर्हत्वात्प्रायो भद्रका अपि पुरुषा देशनायां भूयासुरित्याशास्ते—

आतां या कलिकालाच्या सामर्थ्यामुळे उपदेशक जसे विरळा आहेत, तसेच उपदेश ऐकण्यास योग्य असे पुरुषहि विरळाच आहेत. ह्मणून आह्मी अशी आशा करितों किं,

नाथामहेऽद्य भद्राणा- ।

मप्यत्र किमु सदृशाम् ॥

हेमन्यलभ्ये हि हेमाश्म- ।

लाभाय स्पृहयेन्न कः ॥ ८ ॥

टीका—नाथामहे भद्रका अपि जीवा देशनार्ही भूयासुरित्याशास्महे । के वयं । केषां भद्राणामपि । किमु किं पुनः । सदृशां सदृष्टीनां विशेषतो नाथामह इत्यर्थः । क अत्र क्षेत्रे । कदा अद्य अस्मिन्काले अमुमेवार्थमुत्तरार्धेन समर्थयते । हि यस्मादर्थे । को न स्पृहयेत् नाभिलषेत् । कस्मै हेमाश्मलाभाय सुवर्णोपलप्राप्त्यर्थे । क सति हेमि सुवर्णे । किंविशिष्टे अलभ्ये लब्धुमशक्ये ॥

अर्थः—या भरत क्षेत्रांत आज ह्मणजे या पंचम कार्लीं निदान भद्र पुरुष तरी होवोत अशी आह्मी आशा करितों. असें जर आहे तर सम्यग्दर्शनी पुरुषांची अधिकच आशा करूं. सोनें मिळत नसल्यावर सोन्याचा दगड जरी मिळाला तर त्यास कोण इच्छिणार नाहीं काय ? इच्छीलच. तद्वत् सम्यक्त्वी नाहीं तर भद्र पुरुष तरी होवोत अशी आह्मी आशा करितों.

भद्रकस्य लक्षणमुक्त्वा तस्यैव द्रव्यतया देशनार्हत्वमाह—

आतां भद्रपुरुषाचें लक्षण सांगून तोच पुढें सम्यक्त्वी  
होण्याला योग्य असल्यामुळें उपदेशार्ह आहे असें सांगतों.

कुधर्मस्थोऽपि सद्धर्म ।

लघुकर्मतयाऽद्विषन् ॥

भद्रः स देश्यो द्रव्यत्वा- ।

ज्ञाभद्रस्तद्विपर्ययात् ॥ ९ ॥

टीका— भण्यते । कोऽसौ भद्रः । किं कुर्वन् अद्विषन् द्वेषवि-  
षयमकुर्वन् । कं सद्धर्मं सन् समीचीनः प्रमाणोपपन्नो धर्मोऽभ्युदय-  
निःश्रेयसोपायस्तम् । कया लघुकर्मतया लघु अल्पं कर्म सद्धर्मद्वेषनि-  
मित्तं मिथ्यात्वं यस्य सोऽयं लघुकर्मा तस्य भावस्तत्ता तया लघुकर्म-  
तया । किंविशिष्टोऽपि कुधर्मस्थः प्रमाणबाधिते धर्मे आसक्तः । न  
केवलमुभयोर्मध्यस्थ इत्यपिशब्दार्थः । किं पुनरसावित्याह देश्यः धर्मे  
व्युत्पादनीयः । कोऽसौ स भद्रः । कस्मात् द्रव्यत्वात् आगामिसम्य-  
क्त्वगुणयोग्यत्वात् । न पुनर्देश्यः । कोऽसावभद्रः कुधर्मस्थः सद्धर्मं  
गुरुकर्मतया द्विषन् । कस्मात् तद्विपर्ययात् आगामिसम्यक्त्वगुणयो-  
ग्यत्वाभावात् ॥

अर्थः—आपण कुधर्माच्या ठिकाणीं आसक्त असूनहि  
सद्धर्माच्या ठिकाणीं द्वेष उत्पन्न होण्यास कारण असें जें  
मिथ्यात्व नांवचें कर्म तें ज्याचें अल्प असल्यामुळें जो स्वर्ग  
मोक्ष साधण्याचा उपाय अशा सद्धर्मांत आसक्त जरी नाहीं,  
तरी पण त्या सद्धर्माचा द्वेष करीत नाहीं अशा पुरुषास  
भद्र पुरुष म्हणतात. त्याला पुढें सम्यक्त्वगुण प्राप्त होणार  
म्हणून उपदेश केला पाहिजे. आणि जो कुधर्मांत

आसक्त असून सद्धर्माचाही द्वेष करितो आणि ह्मणूनच जो सम्यक्त्वगुण प्राप्त करून घेण्यास योग्य नाही असा जो तो अभद्र होय.

इदानीमाप्तोपदेशसम्पादितशुश्रूषादिगुणः सम्यक्त्वहीनोऽपि तद्वा-  
निव सद्भूतव्यवहारमाजां प्रतिभासते इति निदर्शनेन प्रव्यक्ती-  
करोति—

आतां सम्यक्त्वहीन असूनही गुरुपदेशानें शुश्रूषा वगैरे  
गुण ज्याला प्राप्त झाले आहेत असा मनुष्य सम्यक्त्वी-  
प्रमाणें सत्पुरुषांस मान्य कसा होतो हें दाखवितों.

शलाकयेवाप्तगिराऽऽप्तसूत्र- ।

प्रवेशमार्गो मणिवच्च यः स्यात् ॥

हीनोऽपि रुच्या रुचिमत्सु तद्वद् ।

भूयादसौ सांव्यवहारिकाणाम् ॥ १० ॥

टीका— यः पुरुषः स्यात् भवेत् । किंविशिष्टः आप्तसूत्रप्रवेश-  
मार्ग एव । चशब्दस्यात्रावधारणार्थस्य योजनात् । सूत्रं परमा-  
गमः । प्रवेशमार्गः शुश्रूषादिगुणः । सूत्रस्य प्रवेशमार्गोऽन्तस्तत्त्व-  
परिच्छेदनोपायः सूत्रप्रवेशमार्गः । आप्तः प्राप्तः सूत्रप्रवेशमार्गो  
येन स तथोक्तः । कया आप्तगिरा सद्गुरुवाचा । कयेव शलाकयेव  
छिद्रकरवज्रसूचिकया यथा । किंवत् मणिवत् यथा मणिः शला-  
कया आप्तप्रवेशमार्गः स्यात् आप्तः सूत्रस्य तन्तोः प्रवेशमार्गः  
छिद्रं येन स तथोक्तः । असौ भूयात् प्रतिभासेत । किंवत्  
तद्वत् रुचिमानिव । केषां सांव्यवहारिकाणां सुनयप्रयोक्तृणाम् ।  
केषु मध्ये रुचिमत्सु सदृष्टिषु दीप्तिमन्मणिषु च मध्ये । किं-



विशिष्टोऽपि हीनोऽपि रिक्तोऽल्पो वा । कया रुच्या शुष्का दीप्त्या च । किं पुना रुचिसम्पन्न इत्यपिशब्दार्थः । एतेनाव्युत्पन्न-सम्यक्त्वानां सदृष्टिषु मध्ये गणनीयतोपदिष्टा । सदृष्टिवत्तेऽपि सतां मान्या भवन्तीति भावः ॥

अर्थः— जसा वज्राच्या सूचीने ( सुई ) ज्याला आंत दोरीचा प्रवेश होईल असे छिद्र प्राप्त झाले आहे असा मणि कांतिहीन असला तरी तो कांतियुक्त अशा मण्यांमध्ये त्यांच्यासारखा भासतो; त्याप्रमाणे गुरुच्या उपदेशाने ज्याला तत्त्वज्ञान प्राप्त होण्यास उपाय असे जे शुश्रूषा वगैरे गुण ते प्राप्त झाले आहेत असा जो पुरुष तो सम्यक्त्वहीन असला तरी तो सत्पुरुषांस सम्यक्त्ववीजनांच्यामध्ये त्यांच्यासारखा सम्यक्त्ववान् भासतो.

एवं देश्यदेशकौ व्यवस्थाप्य सागारधर्माचारिणमगारिणं लक्षयितुमाह—

आतां सागारधर्माचे आचरण करण्यास गृहस्थ कसा असावा हे सांगतो.

न्यायोपात्तधनो यजन् गुणगुरून् सद्गीस्त्रि-  
वर्गं भज- । न्नन्योन्यानुगुणं तदर्हगृहिणी-  
स्थानालयो ऱ्हीमयः ॥ युक्ताहारविहार आर्य-  
समितिः प्राज्ञः कृतज्ञो वशी । शृण्वन् धर्म-  
विधिं दयालुरघभीः सागारधर्मं चरेत् ॥११॥

टीका— चरेत् । तृज्वाश्चाह इत्यनेनाहं सप्तमी । चरितुमर्ह-  
तीत्यर्थः । विधौ वा । यथोक्तगुणेन गृहिणा सागारधर्मश्चरितव्य

इत्यर्थः । अत्र पूर्वो भद्रक उत्तरो द्रव्यपाक्षिक इति विभागः ।  
चरेत् अनुतिष्ठेत् । कोऽसौ न्यायोपात्तघन इत्यादिविशेषणैश्चतु-  
र्दशभिः समस्तैर्व्यस्तैर्वा विशिष्टो गृही । कं सागारधर्ममिति  
वाक्यार्थः । इतो विशेषणानि व्याख्यायन्ते । न्यायोपात्तघनः  
स्वामिद्रोहमित्रद्रोहविश्वसितवञ्चनचौर्यादिगर्हार्थोपार्जनपरिहारेणार्थो-  
पार्जनोपायभूतः स्वस्वर्णानुरूपः सदाचारो न्यायः तेनोपात्त-  
मुपाजितमात्मसात्कृतं धनं विभवो येन स तथोक्तः ॥ १ ॥ यजन्  
गुणगुरुन् । गुणाः सदाचारसौजन्यौदार्यदाक्षिण्यस्थैर्यप्रियपूर्वक-  
प्रथमाभिभाषणादयः स्वपरोपकारिण आत्मधर्मास्तान् पूजयन् बहु-  
मानप्रशंसासाहाय्यकरणादिना समुल्लासयन् । तथा गुरवो माता-  
पितरावाचार्यश्च तानपि पूजयन् त्रिसन्ध्यप्रणामकरणादिनोपचरन् ।  
तथा गुणैर्ज्ञानसंयमादिभिर्गुरवो महान्तो गुणगुरवस्तानपि यजन्  
सेवाञ्जल्यासनाभ्युत्थानादिकरणगणेन मानयन् । गुणाश्च गुरवश्च  
गुणगुरवश्चेति विगृह्यैकशेषेण गुणगुरवस्तान् ॥ २ ॥ सद्गीः सती  
प्रशस्ता परावर्णवादपारुष्यादिदोषरहिता गीर्वाग्यस्यासौ सद्गीः ॥ ३ ॥  
त्रिवर्गं भजन्नन्योन्यानुगुणं परस्परेणानुपघातकं त्रिवर्गं धर्मार्थ-  
कामान् भजन् सेवमानः ॥ ४ ॥ तदर्हगृहिणीस्थानालयः गृहिणी  
कौलीन्यादिगुणालङ्कृता पत्नी । स्थानं पुरग्रामादि वास्तु च ।  
आलयो गृहं । गृहिणी च स्थानं च आलयश्च गृहिणीस्थानालयाः ।  
तदर्हास्त्रिवर्गयोग्या गृहिणीस्थानालया यस्य सः तथोक्तः ॥ ५ ॥  
ऋषिभ्यः लज्जाया निवृत्त इव लज्जाभूयिष्ठो वा ॥ ६ ॥ युक्ताहार-  
विहारः युक्तौ शास्त्रविहितावाहारविहारौ भोजनविचरणे यस्य सः  
॥ ७ ॥ आर्यसमितिः आर्येषु सदाचरणैकप्राणेषु । न तु कितव-  
धूर्तविटभट्टभण्डनटादिषु । समितिः सङ्गतिर्यस्यासौ ॥ ८ ॥ प्राज्ञः  
ऊहापोहात्मकमतिज्ञानातिशयवान् ॥ ९ ॥ कृतज्ञः कृतं परोपकृतं

जानाति न निन्दते ॥ १० ॥ वशी इष्टेष्वर्थेष्वनासक्त्या विरुद्धे  
 वाऽप्रवृत्त्या स्पर्शनादीन्द्रियविकारनिरोधकोऽन्तरङ्गादिषड्वर्गनिग्रह-  
 परश्च ॥ ११ ॥ शृण्वन् धर्मविधिं धर्मस्याभ्युदयनिश्रेयसहेतोर्विधिः  
 युक्त्यागमाभ्यां प्रतिष्ठा तं शृण्वन् प्रत्यहमाकर्णयन् ॥ १२ ॥  
 दयालुः दुःखितदुःखप्रहाणेच्छालक्षणां दयां शीलयन् । धर्मस्य  
 मूलं दयेति श्रुतेस्तामवश्यं कुर्वाणः ॥ १३ ॥ अधर्मीः अधात्पापात्  
 दृष्टादृष्टापायफलात्कर्मणश्चौर्यादिर्मद्यपानादेश्च बिभ्यत् पापभीरुरित्यर्थः  
 ॥ १४ ॥ एषा संक्षेपतो व्याख्याऽत्र कृता । विस्तरतो धर्ममृतपाञ्जि-  
 कायां ज्ञानदीपिकासंज्ञिकायां कृता सा सर्वाऽत्र द्रष्टव्या ॥

अर्थः—१ न्यायाने द्रव्य मिळविणारा, २ सद्गुण व  
 गुरु यांची पूजा करणारा, ३ सत्य व मधुर भाषण करणारा,  
 ४ धर्म अर्थ व काम या तीन पुरुषार्थास परस्पर विरोध न  
 आणितां सेवणारा, ५ वरील पुरुषार्थ साधण्यास योग्य  
 अशा नगरांत किंवा गांवांत व तेथेहि चांगल्या घरांत कुल-  
 बधूसह वास करणारा, ६ मर्यादेने वागणारा, ७ योग्य  
 आहार विहार करणारा, ८ सज्जनाची संगती करणारा,  
 ९ विचारवान्, १० केलेले उपकार जाणणारा, ११ अंतरंग  
 जे सहा शत्रु त्यांना स्वाधीन ठेवणारा, १२ धर्मविधि  
 ऐकणारा, १३ दयाळू आणि १४ पापभीरू असा जो मनुष्य  
 तो सागारधर्म चालविण्यास योग्य होय.

स्पष्टीकरण.—१ न्यायोपार्जन — स्वामिद्रोह (मालकाशीं  
 विरोध), मित्रद्रोह, विश्वासघात, चोरी इत्यादि निंदकृत्ये  
 सोडून देऊन आपापल्या जातिधर्मास अनुसरून लोकमान्य  
 असा व्यवहार करून जे द्रव्य मिळविणे त्याला न्यायोपार्जन  
 म्हणतात. न्यायाने जे द्रव्य मिळविले जाते ते इहलोकीं

व परलोकीं सुखावह होतें. कारण, आपण त्याचा पाहिजे तसा विनियोग करण्यास व आपल्या मित्रबंधु वगैरे जनांस विभाग करून देण्यास कोणत्याच प्रकारची शंका येत नाही. चोरी वगैरे निंद्यकृत्यें करून मिळविलेलें द्रव्य वापरण्यास जसें भय असतें तसें भय यांत नाही. अन्यायानें द्रव्य मिळविणारांस राजा शिक्षा करितो, शिवाय लोकांत अपमान होऊन आणखी पुष्कळ प्रकारची दुःखें भोगावीं लागतात. ह्मणून न्यायानेंच द्रव्य मिळविलें पाहिजे. तेणेंकरून इहलोकीं सुख होतें. न्यायानें मिळविलेलें द्रव्य सत्पात्रीं देऊन व दीन लोकांवर करुणा करून तें खर्चिल्यास परलोकींहि सुख होतें. द्रव्यावांचून

१ सर्वत्र शुचयो धीराः सुकर्मबलगर्विताः ॥

स्वकर्मनिहितात्मानः पापाः सर्वत्र शङ्किताः ॥ १ ॥

अर्थः—आपल्या कर्तव्यांत निमग्न झालेले आणि सत्कर्माच्या बलानें पुष्ट झालेले असे धीर पुरुष सर्वाठिकाणीं स्वच्छ अंतःकरणांनें वागतात. आणि पापी लोक सर्वत्र संशयितवृत्तीनें असतात.

२ अन्यायोपार्जितं वित्तं दशवर्षाणि तिष्ठति ॥

प्राप्ते त्वेकादशे वर्षे समूलं च विनश्यति ॥ २ ॥

अर्थः—अन्यायानें मिळविलेलें द्रव्य फार तर दहा वर्षे टिकतें. अकराव्या वर्षीं तें सर्व समूल नष्ट होतें.

३ यान्ति न्यायप्रवृत्तस्य तिर्यञ्चोऽपि सहायताम् ॥

अपन्थानं तु गच्छन्तं सोदरोऽपि विमुञ्चति ॥ ३ ॥

अर्थः—न्यायानें वागणारास पशूदेखील सहाय करितात. आणि अन्यायानें वागणारास बंधूदेखील सोडून देतो.

गृहस्थधर्म चालत नाही ह्मणून येथें प्रथम त्याचेंच वर्णन केलें आहे. २ गुणपूजा ह्मणजे आंगीं सद्गुण धारण करणें व जे गुणी आहेत त्यांचा सन्मान करणें. सौजन्य, औदार्य, दाक्षिण्य ( दुराग्रह नसणें ) प्रियभाषण आणि सदाचार हे सर्व सद्गुण होत. गुरुपूजा.— माता, पिता आणि आचार्य हे तिघे गुरु होत. माता आणि पिता यांची पूजा ह्मणजे रोज तीन वेळ त्यांना नमस्कार करणें, त्यांचा सदुपदेश ऐकणें, त्यांचे आवडते पदार्थ प्रेमानें आणून देणें, ही त्यांची पूजा होय. आचार्य ह्मणजे विद्या शिकविणारा गुरु; त्यांची सेवा करणें, ते आले असतां हात जोडून उभें राहणें इत्यादि. ३ सत्य व मधुर भाषण— परनिंदा, अपमान, कठोरता इत्यादि दोषरहित

१ लोकापवादभीरुत्वं दीनाभ्युद्धरणादरः ॥

कृतज्ञता सुदाक्षिण्यं सदाचारः प्रकीर्तितः ॥ १ ॥

अर्थः—लोकापवादास मिणें, दीनांचा उद्धार करण्यांत प्रीति ठेवणें, दुसन्यांनीं केलेले उपकार जाणणें आणि दाक्षिण्य ठेवणें ह्मणजे कठोरपणा किंवा दुराग्रह न करणें याला सदाचार ह्मणतात.

२ यन्मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम् ॥

न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि ॥ २ ॥

अर्थः—आपण जन्मास येतो त्या वेळीं आपले आईबाप जो क्लेश सहन करितात त्याचे उपकार फेडूं झटल्यास शंभर वर्षे त्यांची सेवा केल्यानेंहि ते फिटणार नाहीत.

२ यदिच्छसि वशीकर्तुं जगदेकेन कर्मणा ॥

परापवादसस्येभ्यो गां चरन्तीं निवारय ॥ २ ॥

अर्थः—एकाच उपायानें सगळें जग जर वश करावें ह्मणशील

जें भाषण त्याला मधुर भाषण ह्मणतात. ४ धर्म-अर्थ-काम-ज्यापासून अभ्युदय ह्मणजे देवेंद्र-नागेंद्र-चक्रवर्ती इत्यादि पद आणि निःश्रेयस ह्मणजे मोक्षपद यांची सिद्धि होते, तो धर्म. ज्यापासून सर्व प्रकारच्या कार्याची सिद्धि होते तो अर्थ, ह्मणजे धन. आपल्यापुढें श्रेष्ठ कोणीच नाही अशा प्रकारचा परस्पर अभिमान बाळगणारीं जीं इंद्रियें त्यांची जी रसाविषयीं प्रीति त्याचें नांव काम. याप्रमाणें हे जे तीन पुरुषार्थ आहेत यांना त्रिवर्ग ह्मणतात. या त्रिवर्गाचें नित्य सेवन करावें. पण त्यांपैकीं एकाच्या सेवनानें दुसऱ्याची हानी होऊं नये. ह्मणजे धर्म व अर्थ

तर तो उपाय हा कीं, तुझी वाणी रूपी गाय परनिंदा रूपी पीक चरत असल्यास तिला तेथून परतीव. ह्मणजे परनिंदा करूं नको.

३ परपरिभवपरिवादादात्मोत्कर्षाच्च बध्यते कर्म ॥

नीचैर्गोत्रं प्रतिभवमनेकभवकोटिदुर्मोचम् ॥ ३ ॥

अर्थ:—भाषणानें दुसऱ्याचा अपमान व निंदा करणें आणि स्वतांची प्रशंसा करणें यापासून नीच गोत्रांचें कर्म बांधतें. ह्मणजे असा पापी जीव प्रतिजन्मीं नीच चांडालादि कुलांत जन्म पावतो. जन्म मरण कोटिवेळां झालें तरी त्या नीचगोत्रापासून त्याची सुटका होणें कठीण.

१ यस्य त्रिवर्गशून्यानि दिनान्यायान्ति यान्ति च ॥

स लोहकारभस्त्रेव श्वसन्नपि न जीवति ॥ १ ॥

अर्थ:— धर्म, अर्थ व काम या तीन पुरुषार्थांच्या सेवनावांचून ज्याचे दिवस येतात व निघून जातात तो मनुष्य लोहाराच्या मात्याप्रमाणें श्वासोच्छ्वास करीत असूनहि मेल्याप्रमाणें होय.

यांचा सर्वथा नाश करून, विषय सुखाचा अनुभव घेऊं नये. जो केवळ कामसेवनांतच आसक्त होतो तो धर्मभ्रष्ट होतो. त्याच्या जवळचें द्रव्य सगळें नाहींसैं होतें, शिवाय त्याच्या देहाची हानी होते. धर्म व काम यांचा अतिक्रम करून केवळ धनच जो मिळवितो तोहि मूर्खच होय. कारण आपण मिळविलेलें द्रव्य धर्मकृत्याकडे न खर्चिले-मुळें त्याला अन्यजन्मीं सुखाचें साधन राहिलें नाहीं व आतांहि त्याचा उपभोग न घेतल्यामुळें तें तसेंच राहून आपल्या पश्चात् दुसऱ्याच्या हवालीं होतें. आपण मात्र केवळ पापाचा अधिकारी होतो. याकरितां मनुष्यानें धर्म संभाळून व योग्य तितकें कामसेवन करून धन मिळवावें. अर्थ व काम यांचा अतिक्रम करून केवळ धर्ममार्गानें वागणें हें यतीचें कर्म आहे. गृहस्थानें धन मिळविलेंच पाहिजे. धर्माचा सर्वथा त्याग करून अर्थ व काम यांचें सेवन करूं नये. पीक पुष्कळ आलें तरी बींज न राखून ठेवणारा शेतकरी जसा कष्ट पावतो तसा पुष्कळ प्राप्ति शाली तरी त्यांतला कांहीं भाग धर्मकृत्याकडे खर्च न करणारा मनुष्य

१ पादमायान्निधिं कुर्यात्पादं वित्ताय खट्वयेत् ॥

धर्मोपभोगयोः पादं पादं भर्तव्यपोषणे ॥ १ ॥

अर्थः—आपल्या उत्पन्नाचे चार विभाग करावे. त्यांतून एक भाग शिलकेंत ठेवावा. दुसरा भाग भांडवलांत घालावा. तिसरा भाग धर्मकृत्यें व स्वतांकरितां खर्चावा. जाणि चवथा कुटुंबपोषणाकडे खर्च करावा.

आयाद्धै च नियुज्जीत धर्मे समधिकं ततः ॥

पुढें दुःखी होतो. जो परलोकसंबंधी सुखास विघ्न न आणितां इहलोकींचें सुख भोगितो तो सुखी. जो द्रव्य सगळें खर्च करून केवळ धर्म व काम सेवितो तो विपत्तींत पडतो. कामसेवन न करून केवळ धर्म व अर्थ सेवणारांस गृहस्थपणा संभवत नाहीं. तादात्विक, मूलहर आणि कदर्य असे धनिकांचे तीन भेद आहेत. या तिघांच्या हातून धर्मरक्षण व कामसेवन होत नाहीं. जो पुढचा मागचा कांहींच विचार न करून मिळविलेल्या द्रव्याचा दुर्व्यय करितो तो तादात्विक होय. जो वडिलानें मिळवून ठेविलेलें द्रव्य अन्यायानें खाऊन टाकितो, तो मूलहर जाणावा. आणि स्वतांस व आपल्या सेवक लोकांसहि पुष्कळ त्रास देऊन द्रव्य मिळवून ठेवितो व कोणत्याच कामाकडे त्याचा व्यय करीत नाहीं तो कदर्य होय. या तिघापैकीं तादात्विक आणि मूलहर या दोघांजवळचें द्रव्य खर्चून गेल्यामुळें त्यांना धर्म व काम हे दोन पुरुषार्थ साधत नाहीत. त्यामुळें त्याचें कल्याण होत नाहीं. कदर्याचें द्रव्य राजा किंवा चोर वगैरे घेऊन जातात त्यामुळें तो इहपरलोकींच्या सुखास मुक्तो. ह्मणून धर्म, अर्थ व काम या तीनही पुरुषार्थांस परस्पर बाधा न आणितां त्यांचें सेवन करावें.

---

शेषेण शेषं कुर्वीत यत्ततस्तुच्छमैहिकम् ॥ २ ॥

अर्थ:—आपल्या उत्पन्नाच्या अर्घ्यापेक्षां कांहीं अधिक भाग धर्मकृत्याकडे खर्च करावा. आणि मग बाकी राहिल त्यांतून कसेंहि करून प्रपंच चालवावा. कारण ऐहिकसुख हें तुच्छ आहे ह्मणून त्यांत अधिक द्रव्य खर्चू नये.



जेव्हां दुर्दैववशात् बाधा येते तेव्हां उत्तरोत्तर बाधेच्या वेळीं त्याच्या पूर्वपूर्व अर्थाची बाधा दूर करावी. ह्यणजे काम नांवाच्या पुरुषार्थास जेव्हां बाधा येते तेव्हा धर्म व अर्थ यांचें रक्षण करावें. कारण या दोहोंपासून केव्हांहि कामसिद्धि होण्यासारखी आहे. जेव्हां काम व अर्थ या दोहोंस बाध येतो, तेव्हां धर्मरक्षण करावें. कारण धर्म हें सकल पुरुषार्थांचें मूल आहे. या प्रमाणें धर्म अर्थ आणि काम या त्रिवर्गाचें सेवन करावें.

५ गृहिणी, स्थान, आलय.—जी आपल्या समानकुळांत जन्मलेली असून मातापिता, गुरु व सभ्यजन यांच्या समक्ष जिनें आपलें पाणिग्रहण केलें आहे, जी सदाचारानें चालणारी आहे अशी स्त्री गृहिणी होय. गृहिणी ह्यणजे घरची मालकीण. घरांत अशी स्त्री असली ह्यणजे धर्म,

१ अभ्युत्थानमुपागते गृहपतौ तद्भाषणे नम्रता ।

तत्पादार्पितदृष्टिरासनविधौ तस्योपचर्या स्वयं ॥

सुप्ते तत्र शयीत तत्प्रथमतो जह्याच्च शय्यामिति ।

प्राज्ञैः पुत्रि निवेदिताः कुलवधूसिद्धांतधर्मा इमे ॥ १ ॥

अर्थः—( सीता श्वशुरगृही चालली असतांना जनकराजा तिला उपदेश करितो. ) हे पुत्रि ; पति आला असतांना त्याचा सन्मान राखण्याकरितां उठून उभें राहावें. आपली दृष्टि त्याच्या पायांकडे असावी. अर्थात् नम्रदृष्टि असावी. उद्धतपणानें पतीच्या तोंडाकडे पहात राहूं नये. त्याचें भाषण आपण नम्रपणें ऐकावें, शयनकाली त्याची पदसेवा करावी. त्याला झोंप लागल्यावर आपण शयन करावें. पति उठण्याच्या पूर्वी आपण उठावें, हे सर्व कुलवधूचे ठरलेले धर्म आहेत.

अर्थ व काम हे पुरुषार्थ चांगले साधतात. आणखी स्त्री अशी असावी कीं, तिने पतीशीं कपटाचरण करूं नये, जावा व नणदा ह्यांशीं नम्र असावे, सासूची सेवा करावी, बंधुजनाशीं स्नेहांने असावे, सेवकावर दया करावी, सपत्नीशीं विरोध करूं नये, इत्यादि सद्गुणांनीं युक्त अशी स्त्री असावी. आपण ज्या गांवांत किंवा नगरांत राहतो, तेथें जिनमंदिर, सेंटपुरुष वगैरे धर्मवृद्धीचीं साधनें असावीत. आपला प्रपंचनिर्वाह चांगला चालून द्रव्य संपादनहि होईल अशी अनुकूलता असावी. अशा गांवांत आपण आपलें घर करावें. त्या घरांत कोणत्याहि ऋतूंमध्ये आपणास त्रास न होईल अशा प्रकारें तें बांधलेलें असावें. अशा घरांत जिनप्रतिमा ठेवण्याकरितां व धर्मध्यान स्वाध्याय वगैरे करण्याकरितां एकांत व स्वतंत्र अशी जागा असावी. ६ मर्यादेनें वागणें.— मर्यादा ह्मणजे लज्जा. ह्मणजे आपलें ऐश्वर्य, वय, अवस्था, देश, काल व आपलें कुल यांला अनुसरून वेष करणें. जो लज्जावान् आहे तो आपल्या देश कुल व जातीस निघ असें आचरण करीत नाही. ७ आहार ह्मणजे भोजन. धर्मशास्त्रांत ज्या पदार्थांचा निषेध केला आहे ते पदार्थ खाऊं नयेत. शिवाय वैद्यशास्त्रास अनुसरून भोजन करावें.

१ यदि सत्सङ्गनिरतो भविष्यसि भविष्यसि ॥

अथ सङ्गानगोष्ठीषु पतिष्यसि पतिष्यसि ॥ १ ॥

अर्थ:— जर तूं सज्जनाची संगत करशील तर सरोस्वर चांगल्या ज्ञानांच्या गोष्ठींत पडशील. ह्मणजे विचारवान् होशील.

विहार ह्यणजे आरोग्यदायक व्यायाम. आपल्या प्रकृतीस अनुकूल असा व्यायाम नित्य करावा. ८ आर्य-समिति ह्यणजे सज्जनांची संगति. मिथ्यात्वी, मायावी, व्यसनी हे सगळे दुर्जन होत. यांची संगति करूं नये. ९ प्राज्ञ ह्यणजे विचारवान्. जो विचारवान् असतो तो बलाबलाचा विचार करितो, आणि तो दीर्घदर्शी असतो, व सर्वापेक्षां विशेष जाणतो. हें बळ चार प्रकारचें आहे. द्रव्यबळ, क्षेत्रबळ, कालबळ आणि भावबळ. हें बळ आपलें किती व दुसऱ्याचें किती याचा विचार करणें याला बलाबल विचार म्हणतात. बलाबलाचा विचार न करून कोणतेंहि काम करणारांस विपत्ति येते. आज एकादें काम करून त्यापासून पुढें म्हणजे पुष्कळ कालानें लाभ होईल किंवा तोटा होईल हें ज्याला समजतें किंवा याचा जो विचार करितो तो दीर्घदर्शी होय. वस्तूंत,

१ इदं फलमियं क्रिया करणमेतदेष क्रमो ।

व्ययोऽयमनुषङ्गजं फलमिदं दशैषा मम ॥

अयं सुहृदयं द्विषत्प्रयतदेशकालाविमा- ।

विति प्रतिवितर्क्यन्प्रयतते बुधो नेतरः ॥ २ ॥

अर्थः—हें फळ आहे, हें उत्पन्न करण्यास अमुक क्रिया करावी लागते, त्या क्रियेचें साधन अमुक, व त्याचा क्रम असा, पण माझी दशा अमुक प्रकारची आहे, हा माझा शत्रू व हा माझा मित्र, हल्लींचा देश असा, व काल अशा प्रकारचा या सर्व गोष्टींचा विचार करून कोणतेंही काम शहाणा जो आहे तोच करितो. हें मूर्खास साधत नाही.

कृत्यांत व अकृत्यांत, आपल्यांत व दुसऱ्यांत विशेष अंतर काय हें ज्याला कळतें तो विशेषज्ञ. बळाबळाचा विचार, दूरदर्शीपणा आणि विशेषज्ञान हीं ज्याला आहेत तो प्राज्ञ.

१० कृतज्ञ— जो दुसऱ्यांनीं केलेले उपकार जाणतो, त्यांचें हित इच्छितो तो कृतज्ञ. जो कृतज्ञ असतो तो लोकांस प्रिय होतो. सर्व लोक पाहिजे तेंव्हां त्याला मदत करितात. ११ वशी — इष्टार्थांत फार आसक्ति न ठेवणारा, विरुद्ध अर्थांत प्रवृत्त न होणारा, पंच इंद्रियांच्या विकारांस आवरणारा व अंतरंग शत्रूस प्रतिबंधांत ठेवणारा असा जो पुरुष तो वशी जाणावा. काम, क्रोध, लोभ, मान, मद आणि द्वेष हे सहा अन्तरंग शत्रु होत. विवाहित अगर अविवाहित अशा परस्त्रीचा अभिलाष करणें अथवा संग करणें याचें नांव काम. स्वतांच्या किंवा

१ प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत नरश्चरितमात्मनः ॥

किन्तु मे पशुभिस्तुल्यं किन्तु सत्पुरुषैरिति ॥ १ ॥

अर्थः—मनुष्यानें प्रतिदिवशीं आपल्या आचरणाचें चांगलें अवलोकन करून असा विचार करावा कीं, माझे आचरण पशू-प्रमाणें आहे कीं सज्जनाप्रमाणें आहे.

२ विधित्सुरेनं तदिहात्मवश्यं । कृतज्ञतायाः समुपैहि पारम् ॥

गुणैरुपेतोऽप्यखिलैः कृतघ्नः । समस्तमुद्वेजयते हि लोकम् ॥ २ ॥

अर्थः—जर तूं सगळ्या लोकांस प्रिय होऊं पाहतोस आणि त्यांना वश करून ध्यावें क्षणतोस तर कृतज्ञ हो; कृतघ्न होऊं नको. कारण कृतघ्न जो आहे तो सर्व लोकांस त्रास देऊन अप्रिय होतो.

दुसऱ्याच्या अपायाचा विचार न करून कोप करणें याचें नांव क्रोध. सत्पात्रीं दान न देणें व निष्कारण परद्रव्य घेणें याचें नांव लोभ. गर्व करणें किंवा युक्तवचन न मानणें व इतरांस तुच्छ समजणें याचें नांव मान. कुल, बल, ऐश्वर्य, रूप व विद्या इत्यादि संपत्तीनें मस्त होणें अथवा अहंकार करणें याचें नांव मद. विनाकारण दुसऱ्यास पीडा करून व जुगार शिकार वगैरे पाप कृत्यें करून खुष होणें याला हर्ष ह्मणतात.

१२ धर्मविधि ऐकणारां — अभ्युदय व निश्चयस सुख प्राप्त होण्यास जो हेतु तो धर्म; त्याचा जो विधि ह्मणजे युक्ति व आगम यांच्या आधारानें त्याची स्थिति ह्मणजे धर्ममार्ग, तो ऐकणारा. १३ दयाळु—दुःखितांचें दुःख

१ भव्यः किं कुशलं ममेति विमृशन्दुःखाद्भृशं भीतवान् ।

सौख्यैषी श्रवणादिवुद्धिविभवः श्रुत्वा विचार्य स्फुटम् ॥

धर्म शर्मकरं दयागुणमयं युक्त्यागमाभ्यां स्थितिं ।

गृह्णन्धर्मकथाश्रुतावधिकृतः शास्यो निरस्ताग्रहः ॥ १ ॥

अर्थः—माझे हित कोणतें असा विचार करणारा, संसार-दुःखास भिणारा, मोक्षसुखाची इच्छा करणारा, शास्त्र ऐकण्यास चतुर व तें ऐकून त्याचा चांगला विचार करून युक्ति व आगमानें सिद्ध अशा व सुखकर अशा दयाधर्माचा स्वीकार करणारा असा व दुराग्रह न करणारा इत्यादि लक्षणांनीं युक्त जो भव्य तो धर्मशास्त्र ऐकण्यास अधिकारी होय. त्याला उपदेश केला पाहिजे.

१ प्राणा यथाऽऽत्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा ।

आत्मौपम्येन भूतानां दयां कुर्वीत मानवः ॥ १ ॥

दूर करण्याची इच्छा ज्याला आहे तो दयाळु. दया हें धर्माचे मूळ आहे. ज्याला दया नाही त्याला जैनधर्मानें चालण्याचा अधिकार नाही. शत्रु जरी असला तरी त्याच्यावर दया करावी. जो दयाळु आहे तो सर्व सद्गुणांचा निधि आहे. १४ पापभीरु-हिंसा, चोरी, लबाडी व मद्यपान वगैरे दुष्कर्मास जो भिणारा तो पापभीरु होय. याप्रमाणें चौदा गुण ज्याच्या ठिकाणी आहेत तो सागारधर्म चालविण्यास योग्य होय. सागारधर्म ह्मणजे विकलचारित्र. सकल चारित्र हें यतीला असतें.

अर्थ:—आपले प्राण जसे आपणास आवडते आहेत तसेच सर्व जीवजंतूंसही आपआपले प्राण आवडते आहेत. ह्मणून मनुष्याने प्राणिमात्रावर दया करावी.

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम् ।

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥ २ ॥

अर्थ:—धर्मातील मुख्य सार तुम्ही ऐका; आणि ऐकून त्या प्रमाणें वर्तन करा. तो सार हाच की, आपणास दुःख ह्मणून जें वाटतें तें दुसऱ्यांस होऊं देऊं नका.

अवृत्तिव्याधिशोकार्ताननुवर्तेत शक्तिः ।

आत्मवत्सततं पश्येदपि कीटापिपीलिकाः ॥ ३ ॥

अर्थ:—ज्यांना अन्न मिळत नाही व जे व्याधी, शोक इत्यादिकांपासून पीडित झाले आहेत अशा जीवांवर दया करून त्यांना दुःखापासून दूर करा. किडा, मुंगी वगैरे जीवांस आपल्याप्रमाणें पाहवें.

साम्प्रतं मन्दमतिविनेयानां सुखस्मृत्यर्थं सकलसागारधर्मं  
सङ्गृह्णाति—

याप्रमाणे सागारधर्मं चालविण्यास योग्य कोण हें  
सांगून आतां पूर्ण सागारधर्माचें लक्षण सांगतों.

सम्यक्त्वममलममला- ।

न्यणुगुणशिक्षाव्रतानि मरणान्ते ॥

सल्लेखना च विधिना ।

पूर्णः सागारधर्मोऽयम् ॥ १२ ॥

टीका— भवति । अयं श्रूयमाणः । सागारधर्मः । किंविशिष्टः  
पूर्णः समग्रः किं किमित्याह । सम्यक्त्वं तावत्किंविशिष्टं अमलं  
शङ्कादिदोषरहितं । तथा अणुगुणशिक्षापूर्वाणि व्रतानि अणुगुणशि-  
क्षाव्रतानि अणुव्रतानि गुणव्रतानि शिक्षाव्रतानि च । किंविशिष्टानि  
अमलानि निरतिचाराणि । न केवलं निरतिचारतत्त्वार्थश्रद्धान-  
पूर्वाणि निरतिचाराणुव्रतादीनि किं तर्हि, मरणान्ते विधिना  
सल्लेखना चेत्ययं सम्पूर्णः श्रावकधर्मः । शेषविशेषणानां यथास्वमन्त्रै-  
वान्तर्भावादनुक्तसमुच्चयार्थेन चशब्देन समुच्चयनाच्च । तत्र मरण-  
मेवान्तो मरणान्तस्तद्भवमरणं नत्वावीचिमरणं । तस्य प्रतिक्षणं  
सर्वप्राणिषु भावात् । सल्लेखना सम्यक् लाभाद्यनपेक्षत्वेन लेखना  
बाधेनाभ्यन्तरेण च तपसा कायकषायाणां कृशीकरणम् । विधिस्तु  
सप्तदशाध्याये वक्ष्यते ॥ (यत्प्रतिसमयमायुषः कर्मणो निषेकस्यो-  
दयपूर्विका निर्जरा भवति तदावीचिमरणम्)

अर्थ—शंकादि दोषरहित सम्यक्त्व, व निरतिचार  
अशीं पांच अणुव्रतें तीन गुणव्रतें आणि च्यार शिक्षाव्रतें

हीं पाळणें, आणि शेवटीं ह्मणजे मरणकालीं विधिपूर्वक सल्लेखना ह्मणजे समाधिमरण साधणें, अर्थात् पुत्र, मित्र, कळत्र, धन, विषयसुख इत्यादि पदार्थाविषयीं ममत्व सोडून शांतचित्तानें धर्मध्यानांतच लीन होऊन देहत्याग करणें, हा पूर्ण सागारधर्म होय. मरणकालीं विधिपूर्वक ज्यानें सल्लेखना केली त्यानें श्रावकधर्मरूपी प्रासादावर कळसच चढविला असें ह्मणावयाचें.

असंयमिनोऽपि सम्यग्दृशः कर्मक्लेशापकर्षो भवतीत्युपदेशार्थ-  
मिदमाह—

आतां अत्रती अशाहि सम्यग्दृष्टि जीवाच्या कर्म-  
क्लेशाचा अपकर्ष होतो, हें दाखवितों.

भूरेखादिसदृक्कषायवशगो यो विश्वदृश्वाज्ञया ।  
हेयं वैषयिकं सुखं निजमुपादेयं त्विति श्रद्दधत् ॥  
चौरो मारयितुं धृतस्तलवरेणेवाऽऽत्मनिन्दादिमान् ।  
शर्माक्षं भजते रुजत्यपि परं नोत्तप्यते सोऽप्यघैः १३

टीका— नोत्तप्यते नोत्कृष्टं क्लिश्यते । कोऽसौ सोऽपि अवि-  
रतसम्यग्दृष्टिः । किं पुनः त्यक्तविषयसुखः सर्वात्मनैकदेशेन वा  
हिंसादिभ्यो विरतश्चेत्यपिशब्दार्थः । कैः कर्तृभिः अघैः पापै-  
र्दोषैर्वा बहुभिः । यः किं करोतीत्याह । यो भजते सेवते । किंत-  
च्छर्म सुखम् । किं विशिष्टं आक्षं अक्षेभ्य इन्द्रियेभ्य आगतं  
चक्षुरादिभिरिष्टरूपादीननुभवत आविर्भूतमित्यर्थः । न केवल-  
मिन्द्रियसुखमनुभवति यो रुजत्यपि पीडयति च । कं परं स्थावरं  
जगमं वा भूतग्रामं । किं कुर्वन् श्रद्दधत् अभिनिविशमानः ।



किं हेयं वैषयिकं सुखं निजमुपादेयमित्येव । तुरन्तावधारणार्थो  
 भिन्नक्रमः । हेयं त्याज्यं न जातु सेव्यं । किं तत् सुखं किं  
 विशिष्टं वैषयिकं विषयेष्विष्टकामिन्यादिष्वनुभूयमानेषु जातं ।  
 तस्तेवनस्य दुःखकारणकर्मबन्धनिबन्धनत्वात् । तथा उपादेयं रत्न-  
 त्रयोपयोगादात्मन्याविर्भावनीयं । किं तत् सुखं । किंभूतं निजं  
 आत्मोत्थं नित्यं वा । इत्येवं रोचमानो न स्वप्नेऽप्यन्यथा । कया  
 हेतुभूतया विश्वदृश्वाज्ञया विश्वदृश्वनः सर्वज्ञस्य आज्ञा शासनम-  
 नुल्लंघ्यं तथा । नान्यथावादिनो जिना इति दृढतमनतिपत्त्येत्यर्थः ।  
 एतेन निश्चयसम्यग्दर्शनभागवन्निःस्युक्तं वेदितव्यम् । पुनः किं-  
 विशिष्टः सन् आत्मनिन्दादिमान् धिग्मामेवं प्रदीपहस्तमप्यन्धकूपे  
 पतन्तमित्यात्मानं निन्दयन् । भगवन्कथमस्मै दुर्गतिदुःखाय  
 घटिष्यते एवमुत्पथचारी जनोऽयमिति गुरुसाक्षिकं गर्हमाणश्च ।  
 नन्वेवंभूतो भवन्नपि कुतोऽक्षसुखं सेवते कुतश्च तदर्थं भूतग्रामं  
 पीडयतीत्याह ॥ भूरेखादिसदृक्कषायवशगो यतः भूरेखादिभिः  
 पृथ्वीभेदादिभिः सदृशास्तुल्याः कषायाः भूरेखादिसदृक्कषायाः ।  
 दृषदवनीत्यादिसूत्रोक्तलक्षणा अप्रत्याख्यानावरणादयो द्वादश क्रो-  
 धादिविकल्पाः तेषां वशः पारतन्त्र्यं तं गच्छतीति तद्गश्चरित्रमोहोदय-  
 परतन्त्रः सन्नित्यर्थः । क इव चौर इव तस्करो यथा । किं विशिष्टः  
 धृतोऽवरुद्धः । किं कर्तुं मारयितुं मारयिष्याम्येनमहमिति प्रतिरुद्धः ।  
 केन तलवरेण कोट्टपालेन । अयमर्थो यथा तलवरेण मारयितु-  
 मुपक्रान्तश्चौरो यद्यत्तेन खरारोहणादिकं कार्यते तत्तत्करोति तथा  
 जीवोऽपि चारित्रमोहोदयेन यद्यदात्मनीनं भावद्रव्यहिंसादिकं कार्यते  
 तत्तदयोग्यं जानन्नपि करोत्येव । दुर्निवारत्वात्स्वकाले विपच्यमानस्य  
 कर्मणः । एतेन सम्यक्त्वग्रहाणात्पूर्वमवद्धायुषोऽसंयतस्यापि सम्य-  
 ग्दृष्टेः सुदेवत्वसुमानुषत्वव्यतिरेकेण सकलसंसारसंहरणात् कर्म-

केशापकर्षः । बद्धायुषस्तु पश्चाद्गृहीतसम्यक्त्वस्य नरकगतेरपि रत्न-  
प्रभायां जघन्यस्थित्यैवानुभवनसम्भवात् बहुदुःखोपरमश्च प्रतिपा-  
दितः प्रतिपत्तव्यः ततः संयमलब्धिकालात्पूर्वं संसारभीरुणा भव्येन  
सम्यग्दर्शनाराधनायां नित्यं यतितव्यमिति विधौ पर्यवसन्नमेतत्सूत्र-  
मधिगन्तव्यम् ॥

अर्थः— सर्वज्ञ वीतराग अन्यथा उपदेश कधीच  
करणार नाही अशा दृढनिश्चयाने त्याची आज्ञा सत्य  
मानून, विषयसुख हे त्याज्य आहे आणि रत्नत्रय पाळणें  
हा आत्मधर्म आहे अशी श्रद्धा जो ठेवितो, व तराळानें  
मारण्याकरितां धागेल्या चोर जशी आत्मनिंदा करितो व  
पश्चात्ताप पावतो, त्या प्रमाणें आपण विषयसुखापासून विरत  
न झाल्याबद्दल आपला धिःकार करून, पुनः अपत्या-  
ख्यान क्रोध, मान, माया रूप कषायामुळें अर्थात् सांप्रत  
अनिवार्य अशा चारित्रमोहनीय कर्माच्या उदयामुळें विषय-  
सुखाचें सेवन करितो, व हिंसादिक पंच पातकेंहि करितो  
अर्थात् व्रतें पाळीत नाही, असाहि सम्यग्दृष्टि जीव विशेष  
दुःख पावत नाही. अशा जीवास अविरत सम्यग्दृष्टि

१ न दुःखबीजं शुभदर्शनक्षितौ । कदाचन क्षिप्रमपि प्ररोहति ।

सदाप्यनुसं सुखबीजमुत्तमं । कुदर्शने तद्विपरीतमिष्यते ॥ १ ॥

अर्थः—सम्यग्दर्शनरूपी भूमीत दुःखाचें बीज पेरलें तरी तें  
उगवत उठत नाही व सुखाचें बीज पेरलें नाही तरी सुख उत्पन्न  
होतें. आणि याच्या उलट मिथ्यादर्शनरूपी भूमीचें आहे. क्षणजे  
तेथें सुखाचें बीज पेरलें तरी तें उगवत नाही व दुःखाचें बीज  
पेरलें नाही तरी उगवतें.

ह्मणतात. अविरतं सम्यग्दृष्टिं जो आहे, त्याला सम्यक्त्व प्राप्त व्हावयाच्या पूर्वी जरी दुर्गतीचा बंध झाला तरी त्यास दुःखाची स्थिति फारच थोडी होते. ह्मणून ज्याला संसारयातनेची भीति आहे अशा भव्यजीवानें

१ णो इन्दिण्णमु विरदो णो जीवे थावरे तसे चावि ।

जो सद्वहइ जिणुतं संमाइढ्ठी अविरदो सो ॥ १ ॥

अर्थः—जो इंद्रियसुखाच्या विषयापासून विरक्त झाला नाही आणि त्रस व स्थावर जीवांच्या वधापासूनही विरक्त झाला नाही पण जिनवचनावर पूर्ण श्रद्धा ठेवितो तो अविरत सम्यग्दृष्टि होय.

२ दुर्गतावायुषो बन्धात्सम्यक्त्वं यस्य जायते ॥

गतिच्छेदो न तस्यास्ति तथाप्यल्पतरा स्थितिः ॥ २ ॥

अर्थः—दुर्गतीतल्या आयुष्याचा बंध झाल्यावर ज्याला सम्यक्त्व होतें त्याच्या त्या दुर्गतीचा छेद जरी होत नाही, तरी तेथे फारच थोडी स्थिती होऊन दुःखहि अल्पच होतें.

३ जन्मोन्माज्यं भजतु भवतः पादपद्मं न लभ्यं ।

तच्चेत्स्वैरं चरतु न च दुर्देवतां सेवतां सः ॥

अश्नात्यन्नं यदिह सुलभं दुर्लभं चेन्मुधाऽऽस्ते ।

क्षुद्यावृत्त्यै कवल्यति कः कालकूटं बुभुक्षुः ॥ ३ ॥

अर्थः—हे देवा, जन्म मरणांचा नाश करावा ह्मणून ज्याची इच्छा आहे तो अलभ्य अशः तुझ्या पदकमलाची भक्ति करूं दे. तुझ्या ठायीं भक्ति तेवढी दृढ ठेऊन; तो पाहिजे तसा वागल्यास हरकत नाही. कारण, जो सम्यक्त्वी झाला, तो आज नाही कालान्तरानें तरी ज्ञानपूर्वक चारित्र पाळीलच. पण त्यानें कुदेवांची मात्र सेवा करूं नये. कारण; भुकेला मनुष्य अन्न

आपणास व्रतें पाळण्याचें सामर्थ्य नसलें तरी तोंपर्यंत सम्यग्दर्शनाच्या प्राप्तीकरितां नित्य यत्न करावा. ह्मणजे जिनेश्वर, जिनानें उपदेशिलेलें शास्त्र आणि रत्नत्रयधारी मुनि यांच्यावर भक्ति ठेवावी.

इदानीं धर्मशर्मवद्यशोऽपि मनःप्रसत्तिनिमित्तत्वात् शिष्टैरवश्यं सेव्यमिव्युपदेष्टुमाह—

आतां यश हें चित्तास प्रसन्नता देणारें आहे ह्मणून त्याविषयीं थोडें सांगतों.

धर्मं यशः शर्म च सेवमानाः ।

केऽप्येकशो जन्म विदुः कृतार्थम् ॥

अन्ये द्विशो विद्म वयं त्वमोघा- ।

न्यहानि यान्ति त्रयसेवयैव ॥ १४ ॥

टीका— विदुः जानन्ति । के केऽपि लौकिकाः । किं तत् जन्म मनुष्यभवग्रहणम् । किंविशिष्टं कृतार्थं कृतः साधितोऽर्थः प्रयोजनं साध्यं यस्य तत् । किंकुर्वाणाः सेवमानाः कर्तव्यतानुरक्तबुद्ध्या साधयन्तः । कं धर्मं सुकृतं । यशः कीर्तिं । शर्म सुखं । कथं एकशः एकैकं । केचिद्धर्ममात्रं केचिद्यशोमात्रं केचिच्छर्म सुखमात्रं साधयन्तो वयं प्राप्तमनुष्यजन्मफला इति मन्यन्ते । नानारुचित्वा-ल्लोकस्य । तथा अन्ये लोकच्छन्दानुवर्तिनः शास्त्रज्ञम्मन्याः । विदुः ।

खाईल तर त्याला सुख होईलच पण अन्न मिळत नाही ह्मणून क्षुधेची निवृत्ति करण्याकरितां जर तो कालकूट विषाचें भक्षण करील तर त्याचा परिणाम भयंकर होईल.

किं जन्म । किम्भूतं कृतार्थं । किं कुर्वाणाः धर्मं यशः शर्म च  
 सेवमानाः । कथं द्विशः द्वे द्वे केचिद्धर्मयशसी केचिद्धर्मशर्मणी  
 केचिद्यशःशर्मणी च साधयन्तो जन्म फलवन्मन्यन्त इत्यर्थः । तर्हि  
 युष्माकं किं मतमित्यत्राह । तुर्विशेषे । विद्म जानीमः । के ते वयं  
 लौकिकशास्त्रज्ञपरितोषकारिणः । कानि अहानि दिनानि अर्थान्-  
 जन्मसम्बन्धीनि । किं कुर्वन्ति यान्ति गच्छन्ति । किंविशिष्टानि  
 अमोघानि सफलानि । कया त्रयसेवया धर्मयशःशर्मसाधनया न  
 पुनरेकैकस्य द्वयोर्द्वयोर्वा निर्वर्तनयेत्येवकारार्थः । एतेनाहरह्यथाशक्ति  
 धर्मादित्रयं साध्यमिति विधिः प्रत्येयः ॥

अर्थः— कित्थेकांचें मत असें आहे कीं; पुण्य, यश  
 आणि सुख यांपैकीं कोणतें तरी एक सेवन करून आयु-  
 ष्याचे दिवस घालविले ह्मणजे आपण मनुष्यजन्म पाव-  
 ल्याचें सार्थक्य झालें. अशा समजुतीनें पुण्यच आचरि-  
 तात, कित्थेक सुखच सेवितात, आणि कित्थेक फक्त  
 कीर्ति मिळवितात. आणखी कित्थेक असे आहेत कीं,  
 त्यांच्यापैकीं कोणांस पुण्य व यश हीं आवडतात, कोणांस  
 यश व सुख हीं आवडतात; आणि कित्थेकांस पुण्य व  
 सुख आवडतात. यांत तुमचें मत काय ह्मणून विचाराल  
 तर आह्मी असें ह्मणतो कीं; पुण्य, यश व सुख हीं तीन्हीं  
 सेवून ज्यांच्या आयुष्याचे दिवस जातात त्यांचेंच जन्म  
 सफल होय.

एवं भावितसम्यक्त्वस्य संयतत्वसामग्रीविरहे कालादिकळि-  
 क्कभादवश्यारोहणीयं संयतासंयतत्वपदं निर्देष्टुमाह—

आतां; सम्यक्त्व प्राप्त झाल्यावर पुढें काल वगैरे

लक्ष्मीमुळे अवश्य प्राप्त होणारे जें संपत्तासंयतत्व पद,  
तें वर्णितों.

मूलोत्तरगुणनिष्ठा- ।

मधितिष्ठन् पञ्चगुरूपदशरण्यः ॥

दानयजनप्रधानो ।

ज्ञानसुधां श्रावकः पिपासुः स्यात् ॥१५॥

टीका-- स्यात् भवेत् । कोऽसौ श्रावकः श्रुणोति गुर्वा-  
दिभ्यो धर्ममिति श्रावकः देशसंयतः । किं कुर्वन् अधितिष्ठन्  
उपयुञ्जानः । कां मूलोत्तरगुणनिष्ठां मूलानि उत्तरगुणप्ररो-  
हणनिमित्तत्वात् संयमार्थिभिः प्रागनुष्ठेयत्वाच्च उत्तरे मूल-  
गुणानन्तरसेव्यत्वादुत्कृष्टत्वाच्च । मूलानि च उत्तरे च मूलो-  
त्तरास्ते च ते गुणाश्च संयमविकल्पाः । तेषां निष्ठा निर्वाहो दृष्ट-  
फलनिरपेक्षतया निराकुलं बहन् । किम्भूतो भूत्वेत्याह । पंचगुरूपद-  
शरण्यः पंचानां गुरूणामर्हदादीनां पदानि चरणाः शरण्यानि  
शरणे आर्तिहरणे स्वात्मसमर्पणे वा साधूनि योग्यानि यस्य स  
तथोक्तः । एवं सम्यग्दर्शनपूर्वकं देशसंयममधितिष्ठतो दानयजना-  
ध्ययनलक्षणमाचारं कर्तव्यतया दानेत्यादिना निर्दिशति । कीदृ-  
शस्तथाभूतः श्रावकः स्यात् । दानयजनप्रधानः दानं पात्रादिदत्ति-  
श्चतुर्धा । यजनं नित्यमहादियज्ञः पंचधा । दानं च यजनं च  
दानयजने प्रधाने मुख्ये यस्यासौ । वार्ता तु श्रावकस्य गौणीति  
प्रधानग्रहणालक्षयति । किं चरिष्णुः श्रावकः स्यात् पिपासुः  
पातुमिच्छुः उपयोक्तुकामः । कां ज्ञानसुधां स्वपरान्तरज्ञानामृतम् ॥

अर्थः— जो गुरुपासून मिळालेला उपदेश श्रवण  
करितो तो श्रावक होय. श्रावकपदाचे मूलगुण श्रवणजे

जे अंगी असले तर उत्तरगुण ( पूर्वीपेक्षा उत्तमगुण ) प्राप्त होतात ते, आणि उत्तरगुण ह्य० मूलगुण असल्या- शिवाय जे प्राप्त होत नाहीत ते, ह्या दोन्ही गुणांस इहलोक सुखाची इच्छा न धरून, ' केवळ आपलें कर्तव्य तें केलेंच पाहिजे अशा निश्चयानें ' अनुभविणारा अर्थात् मूलगुण व उत्तरगुण पाळणारा, अरहंत, सिद्ध वगैरे पंचपरमेष्ठी- च्यांच पदांची भक्ति करणारा, चार प्रकारचें दान व पांच प्रकारची पूजा या दोन क्रियाच ज्याला मुख्य आहेत म्हणजे गृहस्थांनीं अवश्य केलेच पाहिजेत असे जे कृषि वगैरे उदरनिर्वाहाचे उद्योग ते गौण समजून करणारा व दान-पूजादि क्रिया श्रेष्ठ मानणारा, व ज्ञानरूपी अमृत

१ जो तसवहाडु विरदो अविरदओ तह य थावरवहादो ॥  
एकसमयांमि जीवो विरदाविरदो जिणेकमह ॥ १ ॥

अर्थः—जो स्थावर जीवाची हिंसा करण्यापासून विरत झाला नाही व त्रसजीवांची हिंसा करीत नाही आणि केवळ जिनेश्वराच्या ठायींच ज्याची भक्ति आहे असा जो जीव; तो विरताविरत म्हणजे देशविरत सम्यग्दृष्टि होय.

२ ध्यानेन शोभते योगी संयमेन तपोधनः ॥  
सत्येन वचसा राजा गेही दानेन शोभते ॥ २ ॥

अर्थः—आत्मध्यानी मुनि, संयमी तपस्वी, सत्यवचनी राजा आणि सत्पात्री दान देणारा गृहस्थ हे विशेष शोभतात.

३ आयुःश्रीवपुरादिकं यदि भवेत्पुण्यं पुरोपार्जितं ॥  
स्यात्सर्वं न भवेन्न तच्च नितरमायासितेऽप्यात्मानि ॥

पान करणारा असा जो मनुष्य तो ' संयतासंयत ' श्रावक होय, यालाच देशविरत ह्मणतात.

एवं पञ्चमगुणस्थानं निर्दिश्य तद्विकल्पानां भावद्रव्यात्मना-  
मेकादशानामुपासकपदानां मध्येऽन्यतमं विशुद्धदृष्टिर्महाव्रतपरि-  
पालनलालसो यथात्मशक्ति यः प्रतिपद्यते तमभिनन्दति-

याप्रमाणें पांचव्या गुणस्थानाचें वर्णन करून; आतां,  
या पांचव्या गुणस्थानाचे जे अकरा प्रकार ह्मणजे श्राव-  
काच्या ज्या अकरा प्रतिमा आहेत, त्यांपैकीं कोणत्याहि  
प्रतिमेचा अधिकारी होऊन सकलविरतिरूप जो यतिधर्म  
तो प्राप्त कधीं होईल अशी उत्कट इच्छा बाळगणाऱ्या  
श्रावकाचें अभिनंदन करितां.

रागादिक्षयतारतम्यविकसच्छुद्धात्मसंवित्सुख- ।

स्वादात्मस्वबहिर्बहिस्त्रसवधाद्यंहोव्यपोहात्मसु ॥

इत्यार्याः सुविचार्य कार्यकुशलाः कार्येऽत्र मंदोद्यमा ।

द्रागागामिभवार्थमेव सततं प्रीत्या यतन्ते तराम् ॥ ३ ॥

अर्थः—जर पूर्वजन्मी उपार्जिलेलें पुण्य असेल तर ह्या जन्मीं  
पुष्कळ आयुष्य, लक्ष्मी, सुंदर व नीरोग शरीर इत्यादि सर्व  
सुखाचीं साधनें प्राप्त होतात. तें जर नसेल तर पाहिजे तितके  
यत्न करूनही सुख होत नाहीं. यासंबंधीं चांगला अनुभवानें  
विचार करून, कार्यचतुर असे आर्य पुरुष; इहलोकसंबंधी  
कार्यांत साधारण प्रयत्न करीत पुढील भवांतील सुखसामग्री-  
करितांच मोठ्या आवडीनें व त्वरा करून फारच खटपट करितात.  
अर्थात् दान-पूजा वगैरे धर्मक्रिया मुख्य मानून; कृषि, व्यापार  
वगैरेस गौण मानितात.



सदृग्दर्शनिकादिदेशविरतिस्थानेषु चैकादश- ।

स्वेकं यः श्रयते यतिव्रतरतस्तं श्रद्धधे श्रावकम् १६

टीका— श्रद्धधे साधु करोत्ययमिति प्रतिपद्येऽहम् । कं तं श्रावकं । यः किं ? यः श्रयते स्वीकुरुते । किं तत् ? एकं पदं । केषु मध्ये ? दर्शनिकादिदेशविरतिस्थानेषु । कतिषु एकादशसु वक्ष्यमाणेषु । कथम्भूतो भूत्वा ? सदृक् सम्यग्दर्शनशुद्धः । पुनः किंविशिष्टः यतिव्रतरतः यतीनामनगाराणां व्रतानि सर्व-  
हिंसादिविरतिपरिणामास्तेषु रत आसक्तः । सर्वविरतिकलशा-  
रोपणो हि श्रावकधर्मप्रासादः । किंविशिष्टेषु भावतस्तेष्वित्याह  
रागादिक्षयतारतम्येत्यादि । क्षयः सर्वधातिस्पर्धकानामुदयाभावः  
अर्थाद्देशधातिस्पर्धकानामुदयः । तारतम्यं यथोत्तरमुत्कर्षः ।  
रागादीनां रागद्वेषमोहानां क्षयतारतम्येन विकसन्ती आविर्भवन्ती  
चासौ शुद्धात्मसंविच्च निर्मलचिद्रूपानुभूतिः सैव तदुत्थं वा  
सुखमानन्दस्तस्य स्वादः स्वसंवित्याऽनुभवः स एवात्मा स्वरूपं  
येषां तानि तदात्मानि तेषु । कैवंभूतेषु अबहिरध्यात्मं । तर्हि  
द्रव्यतः किंरूपेष्वित्याह बहिः शरीरे वाचि मनासि च त्रसवधं  
आदिर्येषां स्थूलादीनां तानि त्रसवधादीनि तान्येव अंहांसि  
पापानि तत्फलत्वाच्चेभ्यो व्यपोहो विधिपूर्वकं देवगुरुसधर्मसाक्षिक-  
मपोहो विरतिः सैवात्मा एषां तानि तेषु । 'च' शब्दस्यात्र  
भिन्नक्रमस्य योजनात् ।

अर्थः—श्रावक पदवीचीं जीं दर्शनिक वगैरे ११  
स्थानें आहेत; तीं अशीं आहेत कीं; त्यांत राग, द्वेष,  
मोह वगैरे विकारांचा उत्तरोत्तर ह्मणजे पहिल्यापेक्षां दुस-  
ऱ्यांत अधिक क्षय होऊन, त्यामुळे विकास पावणारें जें

निर्मल असें आत्मज्ञान, तोच एक प्रकारचा आनंद किंवा त्या आत्मज्ञानापासून होणारा आनंद त्याचा स्वाद ह्मणजे स्वज्ञानाचा अनुभव होतो; आणि भावहिंसा ह्मणजे हिंसा-रूप परिणाम व द्रव्यहिंसा ह्मणजे मनानें, कायेनें व वचनानें केली जाणारी हिंसा; व स्थूल अशी चोरी, लबाडी, परस्त्रीगमन इत्यादि पातकें यांचा त्यांत गुरुसाक्षीनें त्याग केला जातो. अशा ११ स्थानांपैकीं कोणत्याहि एका स्थानाचा स्वीकार करून जो सम्यग्दृष्टि श्रावक यतिधर्माच्या ठिकाणीं प्रीति ठेवितो त्याचें मी अभिनंदन करितों. तो धन्य होय असें समजतों.

किं लक्षणास्ते दर्शनिकादयो भवन्तीत्युद्दिशति—

आतां श्रावकांचे दर्शनिकादि अकरा भेद सांगतों.

दृष्ट्या मूलगुणाष्टकं व्रतभरं सामायिकं प्रोषधं ।  
सच्चित्तान्नदिनव्यवायवनितारम्भोपधिभ्यो मतात्  
उद्दिष्टादपि भोजनाच्च विरतिं प्राप्ताः क्रमात्प्राग्गुण-  
प्रौढ्या दर्शनिकादयः सह भवन्त्येकादशोपासकाः

टीका— भवन्ति । के उपासकाः श्रावकाः । कति एकादश किन्नामानः दर्शनिकादयः दर्शनिकोऽथ व्रतिक इत्यादिना वक्ष्यमाणाः । किं विशिष्टाः सन्तः प्राप्ताः प्रतिपन्नाः । किं तत् दृष्ट्या मूलगुणाष्टकमित्यादि विरतिमित्यन्तं देशसंयमं । तथाहि सम्यक्त्वेन विशिष्टं मूलगुणाष्टकं प्राप्तो दर्शनिकः । स एव च व्रतभरं निरतिचाराण्यणुव्रतादीनि प्राप्तो व्रतिकः । एवमुत्तरेष्वपि सम्बन्धः कर्तव्यः । व्यवायो मैथुनम् । वनिता स्त्रीः । उपधिः परिग्रहः मतात् मदर्थं साधुकृतमनेनेदमित्यनु-

मोदितात् । मतादुद्दिष्टाच्च भोजनादपि विरतिं प्राप्तोऽनुमतविरत उद्दिष्टविरतश्च योऽनुमतमुद्दिष्टं च भोजनमपि न कुर्यात् स किमन्यत्रारम्भादौ पापकर्मण्यनुमतिं दद्यादुद्दिष्टं वा वसत्याच्छादनादिकमुपयुज्जीतेत्यपिशङ्कालभ्यते । कथं ते तत्तत्पदं प्राप्ताः सह सार्धम् । कया प्राग्गुणप्रौढ्या दृष्टिमूलगुणाष्टकप्रकर्षेण सह व्रतभरं, तत्रयप्रकर्षेण सामायिकमित्यादियुक्त्या ते तथा भवन्तीत्यर्थः । कस्मात्तथा भवन्ति क्रमात् अनाविविषयाभ्यासासंयमभ्रमनस्कतया युगपत्तत्रासामर्थ्यात् ॥

अर्थः—सम्यग्दर्शनासह आठ मूलगुण पाळणारा जो श्रावक तो दर्शनिक होय. दर्शनिक श्रावकच जेव्हां अणुव्रतें वगैरे पाळितो तेव्हां तो व्रतिक होतो. व्रतिकच जेव्हां त्रिकाळ सामायिक करितो तेव्हां तो सामायिक या नांवाच्या तिसऱ्या प्रतिमेचा अधिकारी होतो. याप्रमाणेंच पूर्वपूर्व प्रतिमेंतील गुणांसह वरच्या वरच्या प्रतिमेचा स्वीकार करणारे जे श्रावक त्यांचे ११ भेद आहेत. ते हेः— १ दर्शनिक २ व्रतिक ३ सामायिक ४ प्रोषधोपवासी ५ सचित्तत्यागी ६ दिवामैथुनत्यागी ७ ब्रह्मचारी ८ आरंभत्यागी ९ परिग्रहत्यागी १० अनुमतित्यागी [ माझ्याकरितां यानें चांगलें केलें असें ह्मणणें किंवा मानणें याला अनुमति ह्मणतात. ] ११ उद्दिष्टत्यागी. हीं जीं श्रावकांचीं ११ स्थानें केलीं आहेत, तीं एवढ्याचकरितां कीं, संसारी जीवास अनादि कालापासून विषयांचा संबंध असल्यामुळे ते एकदम सुटत नाहीत ह्मणून क्रमानें सोडण्याचा अभ्यास करण्याकरितां कल्पिली आहेत.

साम्प्रतं दुरितापचयनिमित्तेज्यादिधर्मकर्मसिद्ध्यर्थं कृष्यादि-

षट्कर्मलक्षणां वार्तामाचरतो गृहस्थस्यावश्यंभावी सावद्यलेशः  
प्रायश्चित्तेन पक्षादिभिश्च निराकार्य इत्युपदेशार्थमाह—

आतां पापनिवारणार्थं नित्यपूजा वगैरे ज्या क्रिया  
आहेत त्यांच्या सिद्धीकरितां कृषि वगैरे षट्कर्म करून  
द्रव्य मिळविणाऱ्या श्रावकास जो कांहीं पापाचा लेश  
लागतो तो प्रायश्चित्त, पक्ष इत्यादि उपायांनीं नाहींसा  
करावा असा उपदेश करितों.

नित्याष्टान्हिकसच्चतुर्मुखमहः कल्पद्रुमैन्द्रध्वजा- ।

विज्याः पात्रसमक्रियान्वयदयादत्तीस्तपःसंयमान् ॥

स्वाध्यायं च विधातुमादृतकृषीसेवावणिज्यादिकः ।

शुध्याऽऽसोदितया गृही मललवं पक्षादिभिश्च क्षिपेत्

टीका— क्षिपेत् निराकुर्यात् । कोऽसौ गृही गृहस्थः । कं  
मललवं पापलेशम् । कया शुध्या प्रायश्चित्तेन । किंविशिष्टया  
आसोदितया परावरगुरुनिरूपितया । न केवलं तया पक्षादिभिश्च  
पक्षचर्यासाधनैस्त्रिभिः । किंविशिष्टः सन् आदृतकृषीसेवावणि-  
ज्यादिकः आदृतानि यथास्वं प्रवर्तितानि कृषीसेवावणिज्या  
आदिशब्दान्मषीविद्याशिल्पानि च षडाजीवनकर्माणि येन सः  
आदृतकृषीसेवावणिज्यादिकः । किं कर्तुं विधातुं कर्तुं करिष्याम्यह-

उक्तं च आर्षे भगवज्जिनसेनपादैः ॥

महापुराणांत श्रीजिनसेन आचार्यांनीं सांगितलें आहे कीं,—

१ प्रोक्ता पूजार्हतामिज्या सा चतुर्धा सदार्चनम् ॥

चतुर्मुखमहः कल्पद्रुमश्चाष्टाहिकोऽपि च ॥ १ ॥

मिज्यादीनि जिनागमप्रसिद्धानि पञ्च धर्मकर्माणीति अध्यवसाय ।  
 कानि तानीत्याह । नित्येत्यादि नित्यमहः अष्टान्हिकमहः  
 सच्चतुर्मुखमहः कल्पद्रुमः कल्पवृक्षः ऐन्द्रध्वजश्चेति पञ्चार्हत्पूजा-  
 विशेषाः इज्याः । चतुर्मुखस्य सदितिविशेषणादत्रेदानीमयमेव  
 परमोत्कृष्टः कल्पवृक्षस्यासम्भवादिति प्रकाशयति । अत एवै-  
 न्द्रध्वजेन सह समस्यैष निर्दिष्टः । पात्रेत्यादि समा आत्मना  
 समाना क्रिया आधानादिका उपलक्षणान्मन्त्रव्रतादयश्च यस्यासौ  
 समक्रियः । पात्रं च समक्रियश्च अन्वयश्च दया च पात्रसम-  
 क्रियान्वयदयास्तदाश्रया दत्तयो दानानि तद्दत्तयस्ताः । पात्रदत्तिं  
 समानदत्तिमन्वयदत्तिं दयादत्तिं च । तपोऽनशनादि संयमं  
 व्रतधारणं । स्वाध्यायं श्रतभावनाम् ॥

अर्थः—अरहंताच्या पूजेस 'इज्या' ह्मणतात. ती चार  
 प्रकारची आहे. नित्यमह, चतुर्मुख, कल्पवृक्ष आणि अष्टान्हिक.

तत्र नित्यमहो नाम शश्वज्जिनगृहं प्रति ॥

स्वगृहान्नीयमानाऽर्चा गन्धपुष्पाक्षतादिका ॥ २ ॥

चैत्यचैत्यालयादीनां भक्त्या निर्माणं च यत् ॥

शासनीकृत्य दानं च ग्रामादीनां सदार्चनम् ॥ ३ ॥

अर्थः—दर दिवशीं गंध, पुष्प, अक्षता वगैरे पूजनसामग्री  
 आपल्या घरांतून घेऊन जाऊन तेथे जिनाची पूजा करणे, याला  
 नित्यमह ह्मणतात. जिनबिंब किंवा जिनमंदिर वगैरे नवान  
 करवून; तेथे नित्य पूजा चालण्याकरितां गांवें वगैरे देऊन, तो  
 स्वर्च निरंतर चालविणे यासहि नित्यमह ह्मणतात.

या च पूजा मुनीन्द्राणां नित्यदानानुषङ्गिणी ॥

स च नित्यमहो ज्ञेयो यथा शक्त्युपकल्पितः ॥ ४ ॥

अर्थः— १ नित्य, अष्टाहिक, चतुर्मुख, कल्पद्रुम आणि ऐंद्रध्वज ह्या पांच प्रकारच्या इज्या; २ पात्रदत्ति, समानदत्ति, अन्वयदत्ति आणि दयादत्ति हीं चार दानें; ३ तप, ४ संयम आणि ५ स्वाध्याय ह्या पांच क्रिया जिनागमांत श्रावकांकरितां सांगितल्या आहेत. त्या चाल-विण्याकरितां कृषी वगैरे षट्कर्म करणाऱ्या गृहस्थास

अर्थः—आपल्या शक्तीप्रमाणें मुनीश्वरांची पूजा करून त्यांना नित्य आहार देणें यालाहि नित्यमह क्षणतात.

महामकुटबद्धैस्तु क्रियमाणो महामहः ॥

चतुर्मुखः स विज्ञेयः सर्वतोभद्र इत्यपि ॥ ५ ॥

अर्थः—चक्रवर्तीचे ताब्यांतील जे मकुटबद्ध राजे, त्यांच्याकडून केली जाणारी जी पूजा तिला महामह किंवा सर्वतोभद्र क्षणतात.

दत्त्वा किमिच्छुकं दानं सम्राड्भिर्यः प्रवर्त्यते ॥

कल्पवृक्षमहः सोऽयं जगदाशाप्रपूरणः ॥ ६ ॥

अर्थः—तुझांस काय पाहिजे असें विचारून याचकांची इच्छा पूर्ण करित चक्रवर्ती राजा जी पूजा करितो तिला कल्पवृक्ष क्षणतात. जगाची इच्छा पूर्ण करणारा तो कल्पवृक्ष.

अष्टाहिको महः सार्वजनिको रूढ एव सः ॥

महानैन्द्रध्वजोऽन्यस्तु सुरराजैः कृतो महः ॥ ७ ॥

अर्थः—चौथा अष्टान्हिकमह जगप्रसिद्धच आहे. शिवाय ऐन्द्रध्वज क्षणून एक पांचवा मह आहे, तो देवेंद्रांकडून केला जात असतो.

पापाचा लेश लागतो. ह्मणून गुरूच्या उपदेशानें प्रायश्चित्त घेऊन किंवा पक्ष, चर्या, साधन या तीन उपायांनीं गृहस्थानें त्या पापलेशाचा परिहार करावा. श्लोकांत चतुर्मुख पूजेला सत् हें विशेषण लाऊन त्याचीच प्रधानता

बलिस्नपनमित्यन्यत्रिसंध्यासेवया समम् ॥

उक्तेष्वेव विकल्पेषु ज्ञेयमन्यच्च तादृशम् ॥ ८ ॥

अर्थः—आणखी; बलिस्नपन, नित्य त्रिकाल पूजा व त्याच-प्रमाणें इतर कांहीं प्रकार पूजेचे आहेत; त्या सर्वांचा बरील पांच भेदांतच अंतर्भाव होतो.

एवंविधविधानेन या महेज्या जिनेशिनाम् ॥

विधिज्ञास्तामुशन्तीज्यां वृत्तिं प्राथमकल्पिकीम् ॥ ९ ॥

अर्थः—आतां वर सांगितल्याप्रमाणें स्वशक्त्यनुसार जिनाची जी पूजा ती श्रावकांची पहिली वृत्ति ह्मणजे पहिलें कर्तव्य होय.

वार्ता विशुद्धवृत्त्या स्यात्कृप्यादीनामनुष्ठितिः ॥

चतुर्धा वर्णिता दत्तिर्दयादानसमाऽन्वयैः ॥ १० ॥

अर्थः—शुद्ध आचरणानें कृषि वगैरे उदरनिर्वाहाचे सहा प्रकारचे उद्योग करणें याला वार्ता ह्मणतात. दयादत्ति, पात्रदत्ति, समानदत्ति आणि अन्वयदत्ति अशा भेदांनीं ' दान ' चार प्रकारचें आहे.

सानुकम्पमनुग्राह्ये प्राणिवृन्देऽभयप्रदा ॥

त्रिशुध्यानुगता सेयं दयादत्तिर्मता बुधैः ॥ ११ ॥

अर्थः—अनुग्रह करण्यास योग्य अशा दीन प्राण्यांच्या समुदायावर कृपा करून; मनानें व कायेनें त्यांचें भय निवारण

दाखविली आहे; कारण हल्लींच्या काळीं कल्पवृक्ष नांवाची पूजा होऊं शकत नाहीं. ह्मणून चतुर्मुखपूजा श्रेष्ठ मानिली आहे.

करणें याला ' दयादत्ति ' ह्मणतात.

महातपोधनायाच्याप्रतिग्रहपुरःसरम् ॥

प्रदानमशनादीनां पात्रदानं तदिष्यते ॥ १२ ॥

अर्थ:—उत्तम प्रकारें तप करणारे जे महातपस्वी दिगंबर मुनि, त्यांना सन्मानानें बोलावून त्यांची पूजा वगैरे करून आहार, औषध, पुस्तकें इत्यादि देणें याला ' पात्रदान ' ह्मणतात.

समानायात्मनाऽन्यस्यै क्रियामन्त्रव्रतादिभिः ॥

निस्तारकोत्तमायेह भूहेमाद्यतिसर्जनम् ॥ १३ ॥

समानदत्तिरेषा स्यात् पात्रे मध्यमतामिते ॥

समानप्रतिपत्यैव प्रवृत्ता श्रद्धयाऽन्विता ॥ १४ ॥

अर्थ:—क्रिया, मंत्र व व्रतें इत्यादिकांनीं जो आपल्या बरोबरी चा आहे आणि संसार सागराच्या परतीरास जाण्याच्या उद्योगास जो लागलेला आहे अशा गृहस्थास जमीन, सोने वगैरे देणें याला " समानदत्ति " ह्मणतात अथवा मध्यम पात्राला श्रद्धापूर्वक समानबुद्धीनें दान देणें याला ' समानदत्ति ' ह्मणतात.

आत्मान्वयप्रतिष्ठार्थं सूनवे यदशेषतः ॥

समं समयवित्ताभ्यां स्ववर्गस्यातिसर्जनम् ॥ १५ ॥

सैषा सकलदत्तिः स्यात् स्वाध्यायः श्रुतभावना ॥

तपोऽनशनवृत्यादि संयमो व्रतधारणम् ॥ १६ ॥

अर्थ:—आपला वंश स्थिर राहण्याकरितां आपल्या बंधु-वर्गाच्या मुलास आपला धर्म व धन हीं दोन्ही देणें याला



किमेतत्पक्षादित्रयमित्याह—

आतां पक्ष, चर्या आणि साधन या तीर्हींचें स्वरूप सांगतों.

स्यान्मैत्र्याद्युपबृंहितोऽखिलवधत्यागो न हिंस्यामहं ।  
धर्माद्यर्थमितीह पक्ष उदितं दोषं विशोध्योज्झतः ॥  
सूनौ न्यस्य निजान्वयं गृहमथो चर्या भवेत्साधनं ।  
त्वन्तेऽन्नेहतनूज्झनाद्विशदया ध्यात्यात्मनः शोधनम्

टीका— स्यात् भवेत् । कोऽसौ पक्षः अहिंसापरिणामत्वं ।  
किमात्मा अखिलवधत्यागः अखिलोऽनृतादिसहितो वधः प्राणा-  
तिपातः । स चेह सागारधर्मप्रक्रमात्रसविषय एव तस्य त्यागो  
वर्जनं । किंविशिष्टः मैत्र्याद्युपबृंहितो मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्य-  
स्थ्यभावनाभिरुपचितः । केन न हिंस्यामहं धर्माद्यर्थमित्येव-  
म्प्रकारेण सङ्कल्पेन । धर्मार्थं देवतार्थं मन्त्रसिद्ध्यर्थमौषधार्थ-  
माहारार्थं वा प्राणिघातं न कुर्यामिति प्रतिज्ञाप्य । अयं हि  
मन्दकषायोऽपि गृहवाससेवनरतत्वेन प्रवर्तितारम्भत्वादनारम्भजामेव  
साङ्कल्पिकीं हिंसां परिहर्तुं शक्नोति । न पुनरारम्भानुषङ्गिणीम् ।  
तस्या गृहिणोऽवश्यम्भावात् । क पक्षः स्यात् इह एतेषु  
पक्षादिषु मध्ये । तथा भवेत् । काऽसौ चर्या दर्शनिकादार-  
भ्यानुमतिविरतं यावदुपासकाचारः । कस्य गृहिणः । किं कुर्वतः  
उज्झतस्त्यजतः । किं तत् गृहं । किं कृत्वा न्यस्य स्थापयित्वा ।

‘अन्वयदात्ति’ क्षणतात. शास्त्रार्थे चिंतन करणें याला स्वाध्याय  
क्षणतात. उपवास वगैरे करणें याला तप क्षणतात. आणि व्रतें  
पाळणें याला संयम क्षणतात.

कं निजान्वयं स्वं पोष्यवर्गं धनं धर्म्यं च । क सूनौ पुत्रे ।  
तदसम्भवे तत्तुल्ये वंश्येऽपि । किं कृत्वा विशोध्य विधिपूर्वकं  
प्रायश्चित्तेन शास्त्रोक्तविधानेन निराकृत्य । कं दोषं हिंसादिकं ।  
किंविशिष्टमुदितं कृप्यादिद्वारेणोत्पन्नं । कथमथो पक्षसंस्कारा-  
नन्तरं वैराग्यपरिणामे प्रत्यहमारोहति सतीत्यर्थः । तथा भवेत् ।  
किं तत् साधनं । किं शोधनं शुद्धी रागादिदोषापनयनं । कस्य  
आत्मनः चिद्रूपस्य । कया ध्यात्या ध्यानेन । किं विशिष्टया  
विशदया शुद्धया । कस्मात् अन्नेहतनूज्जनात् अन्नं चाहारः ईदृशश्च  
शरीरचेष्टा तनुश्च शरीरमन्नेहतनवस्तासामुज्जनं नियतकालं याव-  
ज्जीवं च यथोचितं परित्यागस्तस्मात् । क अन्ते गृहत्यागावसाने  
मरणे चासन्ने । तुशब्दादुदितं दोषं विशोध्येत्यनुवृत्त्यात्रापि योज्यम्

अर्थ—मैत्री, प्रमोद, कारुण्य व माध्यस्थ या चार  
गुणांच्या योगें करून वाढलेला जो सर्व प्रकारच्या  
हिंसेचा त्याग ह्मणजे धर्म, आहार, औषध, देवता, मंत्र  
वगैरे कोणत्याहि कारणानें मी तस जीवांचा वध; चोरी;

१ प्राणिमात्रावर दया करून त्यांची विपत्ति दूर करणें याला  
मैत्री ह्मणतात. अथवा कोणाशीं वैर न करणें यालाहि मैत्री  
ह्मणतात.

२ गुणानें आपल्यापेक्षां जे श्रेष्ठ आहेत त्यांना पाहून खुष  
होणें व त्यांचा मत्सर न करणें याला प्रमोद ह्मणतात.

३ संकटांत असलेल्या जीवावर करुणा करणें याला कारुण्य  
ह्मणतात.

४ जे मिथ्यादृष्टि आहेत त्यांच्याशीं द्वेषानें व वैरभावानेंहि न  
वागणें याला माध्यस्थ ह्मणतात.

कबाडी वगैरे करणार नाहीं अर्थात् परपीडा करणार नाहीं अशा प्रकारचा जो मनाचा अहिंसा परिणामरूप भाव, त्याला पक्ष ह्मणतात. वनांत राहण्याची इच्छा मनांत ठेवून तोंपर्यंत घर सोडण्यास अभ्यास करणाऱ्या श्रावकानें आपल्या पुत्रावर किंवा पुत्र नसल्यास पुत्रासारख्यावर प्रपंचभार ठेऊन दर्शनिकापासून अनुमति-त्यागापर्यंत समग्र जो आचार तो मधून मधून कांहीं दोष घडत असल्यास तो प्रायश्चित्तानें शुद्ध करीत पाळणें याला 'चर्या' ह्मणतात. आणि शेवटीं ह्मणजे मरण कार्त्ती आहार, शरीर इत्यादिकांवरील ममत्व सोडून निर्मल अशा ध्यानानें आत्म्यास शुद्ध करणें ह्मणजे रागद्वेष परिणाम सोडणें याला 'साधन' ह्मणतात.

इदानीं पक्षादिकल्पनाद्वारेण कृतावतारान् श्रावकस्य त्रीन् प्रकारानुद्दिश्य संक्षेपेण लक्षयन्नाह—

आतां पक्ष वगैरे यांच्या कल्पनेच्या द्वारे श्रावकांचे तीन भेद संक्षेपांत सांगतों.

पाक्षिकादिभिदा त्रेधा श्रावकस्तत्र पाक्षिकः ॥

तद्धर्मगृह्यस्तन्निष्ठो नैष्ठिकः साधकः स्वयुक् ॥ २० ॥

टीका—भवति । कोऽसौ श्रावकः । कतिधा त्रेधा त्रिविधः । कया पाक्षिकादिभिदा पक्षेण चरति दीव्यति जयति वा । पाक्षिकः आदिर्यस्यासौ पाक्षिकादिः । पाक्षिको नैष्ठिकः साधकश्चेति स एव तेन वा भिद् भेदो विकल्पकथनं पाक्षिकादिभिद् तया । तानेव लक्षणतो दर्शयति तत्रेत्यादि । तत्र तस्यां पाक्षिकादिभिदि ।

भवति । कोऽसौ पाक्षिकः । किंरूपः तद्धर्मगृह्यः तस्य श्रावकस्य धर्म एकदेशहिंसाविरतिरूपं व्रतं गृह्यं पक्षः प्रतिज्ञाविषयो यस्यासौ प्रारब्धदेशसंयमः श्रावकधर्मस्वीकारपर इत्यर्थः । तथा भवति कोऽसौ नैष्ठिकः निष्ठया चरति तत्र वा भवः । किंविशिष्टः तन्निष्ठः तत्र तद्धर्मनिष्ठा निर्वहणं यस्यासौ घटमानदेशसंयमो निरतिचारश्रावकधर्मनिर्वाहपर इत्यर्थः । तथा भवति कोऽसौ साधकः समाधिमरणं साधयतीति साधकः । किंविशिष्टः स्वयुक् स्वास्मिन्नात्मानि युक् समाधिर्यस्यासौ निष्पन्नदेशसंयम आत्मध्यानतत्पर इति भद्रम् ॥

अर्थ— पाक्षिक, नैष्ठिक व साधक असे श्रावकाचे तीन भेद आहेत. सम्यग्दर्शनपूर्वक एकदेश ह्यणजे थोडे थोडे चारित्र पाळण्याची प्रतिज्ञा करून त्याप्रमाणे वागणारा जो श्रावक तो पाक्षिक ह्यणावा. अतिचारांनीं रहित श्रावकाचीं सगळीं व्रते पाळणारा जो श्रावक तो नैष्ठिक होय. आणि समाधिमरण साधणारा जो श्रावक ; तो साधक समजावा. तात्पर्यः— श्रावकाच्या ज्या अकरा प्रतिमा आहेत, त्यांपैकीं आरंभापासून निदान एक किंवा एकापेक्षां कांहीं अधिक प्रतिमांच्या नियमाप्रमाणे वागणारा जो, तो पाक्षिक. सगळ्या प्रतिमांच्या नियमाने वागणारा तो नैष्ठिक, आणि सकलसंन्यासाने मरण साधणारा जो श्रावक तो साधक होय. ॥ इति भद्रम् ॥

इत्याशाधरविरचितायां स्वोपज्ञधर्मांशुतसागारधर्मदौपिकायां

भग्नकुमुदचंद्रिकासञ्ज्ञायामादितो दशमः

प्रक्रमाच्च प्रथमोऽध्यायः ॥

अध्याय पहिला समाप्त.

## ॥ अथ द्वितीयोऽध्यायः ॥

एवं सागारधर्मं सूचयित्वा पाक्षिकाचारं प्रपञ्चयितुकामः प्रथमं तावद्यादृशस्य भव्यस्य सागारधर्माभ्युपगमो धर्माचार्यैरभ्यनुज्ञायते तादृशं तं दर्शयन्नाह—

पाहिल्या अध्यायांत सागारधर्माचें दिग्दर्शन करून; आतां पाक्षिक, नैष्ठिक आणि साधक या तीघांपैकीं प्रथमचा जो पाक्षिक श्रावक त्याचा आचार सविस्तर सांगण्याची इच्छा करून; प्रथम कोणत्या भव्य पुरुषानें गृहस्थधर्म स्वीकारण्यास आपली संमति आहे हें सांगतात.

त्याज्यानजस्रं विषयान् पश्यतोऽपि जिनाज्ञया ॥

मोहात्त्यक्तुमशक्तस्य गृहिधर्मोऽनुमन्यते ॥ १ ॥

टीका— अनुमन्यते क्रियतामित्यनुज्ञायते धर्माचार्यैः । कोऽसौ गृहिधर्मः । कस्य अशक्तस्य असमर्थस्य । किं कर्तुं त्यक्तुं । कान् विषयान् इष्टकामिन्यादीन् । कस्मात् मोहात् प्रत्याख्यानावरणलक्षणचारित्रमोहोदयोद्रेकात् । किं कुर्वतोऽपि पश्यतोऽपि प्रतिपद्यमानस्य न पुनरनन्तानुबन्धिरागादिपरतंत्रवत्सेव्यतयाऽभ्युपगच्छत इत्यपिशब्दार्थः । कान् विषयान् किंविशिष्टान् त्याज्यान् असेव्यान् । कथमजस्रं शश्वत् । कया जिनाज्ञया वीतरागसर्वज्ञानुलंघ्यशासनेन सम्यग्दर्शनशुद्धस्य सत इत्यर्थः । इदमत्र तात्पर्यं एकदेशविरतिमहं करिष्यामीति प्रतिपद्यमानो गृही सूरिभिरोमित्यनुज्ञायते । एतेन स्थावरवधानुमतिदोषानुषंगोऽप्याचार्याणां परिहृतो भवति ॥

अर्थ— सर्वज्ञ बीतराग जो जिनेश्वर त्याची आज्ञा अशी आहे कीं, ‘विषय हे सर्वकाळीं त्याज्य आहेत.’ ही जिनाज्ञा जाणत असूनही अर्थात् जो सम्यग्दृष्टि असूनहि चारित्र्यमोह कर्माच्या उदयामुळे विषयाला टाकण्यास असमर्थ आहे, त्या श्रावकानें गृहस्थधर्म स्वीकारावा अशी आचार्यांची संमति आहे.

या ठिकाणीं असा एक प्रश्न उद्भवतो कीं— “गृहस्थ धर्मांत त्रसजीवांचा वध जरी होत नाही तरी स्थावर जीवांचा वध होणारच. तेंव्हा, आचार्यांनीं, गृहस्थधर्म स्वीकारण्यावद्दल जी संमति दिली ती युक्त नव्हे. कारण, स्थावरजीवांचा वध करण्यास अनुमति दिल्याचा दोष आचार्यांस लागू होतो. याचें समाधान असें आहे कीं,—

ज्या अर्थीं सर्वप्रकारची हिंसा करणारा जीव सम्यग्दृष्टि होऊन श्रावकधर्माचा स्वीकार करून केवळ अशक्तपणामुळे योग्य तितकेच विषय सेवन करण्यास प्रवृत्त झाला, त्याअर्थीं तो पूर्वीपेक्षां पुष्कळ बरा; असें ह्यणण्यांत आचार्यांनीं स्थावर जीवांची हिंसा करण्यास आपली

१ विषयविषमाशनोत्थितमोहज्वरजनिततीव्रतृष्णस्य ॥

निःशक्तिकस्य भवतः प्रायः पेयाद्युपक्रमः श्रेयान् ॥ १ ॥ ८५

अर्थ— विषयरूपी विषम अन्नाच्या सेवनानें उत्पन्न झालेला जो मोहज्वर त्याच्या योगानें होणारी जी तीव्र तृष्णा (विषय सेवनाची तीव्र तहान-आशा) ती ज्याला झाल्यामुळे जो अशक्त झाला आहे अशा जीवानें प्रायः पेय ह्यणजे योग्य तितका विषय सेविल्यास फारसें बिघडणार नाही.

संमति दिली असें सिद्ध होत नाही. तेंव्हा, वर जो “आचार्यांची संमति आहे” असा अर्थ आह्मी लिहिला आहे, त्याचें तात्पर्य येवढेंच कीं,—सर्वप्रकारची हिंसा करणाऱ्यापेक्षां, जिनाच्या वचनावर श्रद्धा ठेवून अर्थात् सम्यग्दृष्टि होऊन अशक्तपणामुळेच आणि तेंहि फक्त स्थावर जीवांचीच हिंसा करणारा भव्यजीव आह्मांस चांगला वाटतो. असा भावार्थ आहे.

अधुना पाक्षिकं दर्शनविशुद्धिमध्यासीनमहिंसासिद्ध्यर्थं मद्यादिविरतौ नियुक्ते—

आतां, सम्यग्दर्शनानें शुद्ध अशा पाक्षिक श्रावकास मद्य वगैरेचा त्याग करण्याकरितां सांगतात. अथवा, श्रावकाचे आठ मूलगुण सांगतात.

तत्तादौ श्रद्धधज्जैनीमाज्ञां हिंसामपासितुम् ।

मद्यमांसमधून्युज्जेत्पञ्चक्षीरिफलानि च ॥ २ ॥

टीका—उज्जेत् त्यजेत् । कोऽसौ देशसंयमोन्मुखो गृही । कानि मद्यमांसमधूनि । न केवलमेतानि पञ्चक्षीरिफलानि च क्षीरिणां पिप्पलादीनां पञ्चानां फलानि । च-शब्दान्नवनीतरात्रिभुक्त्यगालितपानीयादिकमप्युत्सृजेदित्यनुक्तं समुच्चितं व्रतयति । किं कर्तुं अपासितुं त्यक्तुं । कां हिंसां भावतो मद्यादिविषयरागरूपां

१ सर्वविनाशी जीवस्त्रसहनने त्याज्यते यतो जैनैः ॥

स्थावरहननानुमतिस्ततः कृता तैः कथं भवति ॥ २ ॥

अर्थ—सर्वप्रकारची हिंसा करणारा जीव जर आचार्यांनीं त्रसजवांच्या वधापासून सोडविला, तर त्यांनीं स्थावर जीवांची हिंसा करण्यास आपली संमति दिली असें कांहीं होणार नाही.

द्रव्यतश्च तद्गतप्राणिप्राणव्यपरोपणलक्षणाम् । किं कुर्वन् श्रद्धत् । कां आज्ञां । किंविशिष्टां जैनीं जिनागममित्यर्थः । क आदौ प्रथमतः । क तत्र गृहिधर्मे । एतेनेदमुक्तं भवति तादृग्जिनाज्ञा-श्रद्धानेनैव मद्यादिविरतिं कुर्वन् देशव्रती स्यात् न कुलधर्मा-दिबुद्ध्या ॥

अर्थ— गृहस्थ धर्मांत प्रथम जिनाच्या आज्ञेवर श्रद्धा ठेवून श्रावकानें हिंसेचा त्याग करण्याकरितां मद्य, मांस, मधु आणि पिप्पल वगैरे पांच प्रकारच्या क्षीरवृक्षांचीं फळे ( ज्या वृक्षापासून दूध-चीक निघते त्या वृक्षास क्षीरवृक्ष ( उदुंबर ) ह्मणतात. ) ह्यांचा त्याग करावा. याप्रमाणें आठ प्रकारच्या वस्तूंचा त्याग करणें यालाच आठ मूलगुण पाळणें ह्मणतात. श्लोकांत शेवटीं ' च ' हें पद आहे त्यावरून असा अर्थ घ्यावयाचा कीं, श्रावकानें नवनीत ( लोणी ) रात्रिभोजन, अगालित जल हीं सुद्धां सोडिलीं पाहिजेत ' आपण ज्या कुलांत जन्मलों त्याप्रमाणें आपला आचार असावा ' अशा बुद्धीनें न पाळितां ' जिनाची आज्ञा आपण पाळणें हें आपलें कर्तव्य आहे ' असें समजून वरील आचार सम्यग्दृष्टि श्रावकानें पाळिला पाहिजे.

१ मांसाशिषु दया नास्ति न सत्यं मद्यपायिषु ॥

आनृशंस्यं न मर्त्येषु मधूदुम्बरसेविषु ॥ १ ॥

अर्थ:—मांस खाणारास दया नसते, मद्यपान करणारे सत्य भाषण करीत नाहींत आणि मधु व उदुंबर खाणारे लोक घातक व क्रूर असतात.



अथ स्वमतपरमताभ्यां मूलगुणान् विमज्जे—

आतां, आपल्या व इतर आचार्यांच्या मतांनं मूल-  
गुणांचा भेद दाखवितात.

अष्टैतान् गृहिणां मूलगुणान् स्थूलवधादि वा ।

फलस्थाने स्मरेत् द्यूतं मधुस्थान इहैव वा ॥ ३ ॥

टीका— स्मरेत् स्मृतिविषयीकुर्यात् । कोऽसौ मूलगुणस्था-  
पनोद्यतः सूरिः । कान् मूलगुणान् । केषां गृहिणां । किंविशिष्टान्  
एतान् उपासकाध्ययनादिशास्त्रानुसारिभिः पूर्वमनुष्ठेयतयोपादिष्टान्  
कति अष्ट मद्यमांसमधुपञ्चोदुम्बरफलविरतिरूपान् । वा-शब्दः  
पक्षान्तरसूचने । स्वामिसमंतमद्रमते पुनः । सूरिः स्मरेत् ।  
किं तत् स्थूलवधादि स्थूलहिंसानृतस्तेयमैधुनग्रन्थपञ्चकम् । क  
फलस्थाने पञ्चोदुम्बरफलप्रसङ्गे तन्निवृत्तौ वा मद्यमांसमधुविरति-  
त्रयपञ्चाणुव्रतानि चाष्टौ मूलगुणान् स्मरेदित्यर्थः । पुनर्वाशब्दः  
पक्षान्तरसूचने । महापुराणमते तु स्मरेत् । किं तत् द्यूतं । क  
मधुस्थाने । कस्मिन् इहैव अस्मिन्नेव स्वाम्युक्ताष्टमूलगुणपक्षे  
मद्यमांसद्यूतविरतित्रयं पञ्चाणुव्रतानि चाष्टौ मूलगुणान् स्मरेदित्यर्थः ।  
सर्वत्र यमनियमादौ मुक्त्यंगे स्मरणपरेण स्मरेदित्यनेन च  
भवितव्यमिति लक्षयति ॥

अर्थः—उपासकाध्ययन वगैरे शास्त्रांस अनुसरून आह्मीं  
दुसऱ्या श्लोकांत जे श्रावकाचे आठ मूलगुण सांगितले  
आहेत त्यांत व इतर आचार्यांच्या मतांत भेद असा कीं,—  
आह्मीं जीं पांच प्रकारच्या उदुंबर वृक्षांचीं फळे त्याग कर-  
ण्यास सांगितलीं आहेत; त्यांच्या ऐवजीं श्रीसमंतभद्र  
आचार्यांनीं हिंसा, लबाडी, चोरी, परस्त्री व परिग्रह हीं

पांच पातकें स्थूलपणें सोडावीं असें सांगितलें आहे. आणि श्रीसमंतभद्रांनीं जे आठ मूलगुण सांगितले आहेत त्यांपैकीं मधुत्यागाच्या ऐवजीं जिनसेन आचार्यांनीं द्यूत ( जुगार ) त्याग लिहिला आहे असें समजावें.

सम्प्रति मद्यस्य जन्तुभूयिष्ठतानुवादपुरस्सरमुपयोक्तृणामुभय-  
लोकबाधकत्वमुपदर्शयन्नवस्यत्याज्यतामभिधत्ते—

मद्यमांसमधुत्यागाः सहोदुम्बरपञ्चकैः ॥

अष्टावेते गृहस्थानामुक्ता मूलगुणाः श्रुते ॥ २ ॥

सोमदेवाचार्य.

अर्थः—पांच प्रकारचीं उदुंबराचीं फळे, मद्य, मांस आणि मधु यांचा त्याग करणे हे श्रावकांचे आठ मूलगुण होत. असें शास्त्रांत सांगितलें आहे.

मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपञ्चकम् ॥

अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः ॥ ३ ॥

समन्तभद्र आचार्य.

अर्थः—मद्य, मांस आणि मधु या तिन्हींचा त्याग करून पांच अणुव्रते पाळणें याला गृहस्थांचे आठ मूलगुण क्षणतात. असें दिगंबर मुनींनीं सांगितलें आहे.

१ हिंसासत्यस्तेयाद्ब्रह्मपरिग्रहाच्च बादरभेदात् ॥

द्यूतान्मांसान्मद्याद्विरतिर्गृहिणोऽष्ट सन्त्यमी मूलगुणाः ॥ ४ ॥

जिनसेनाचार्य.

अर्थः—हिंसा, लबाडी, चोरी, अब्रह्म आणि परिग्रह या पांच पातकांचा स्थूलपणें त्याग करून; जुगार मांस व मद्य हीं सोडणें हे गृहस्थांचे आठ मूलगुण होत.

आतां, मद्यांत जंतु पुष्कळ असतात आणि त्याच्या सेवनाने इहपरलोकीं अत्यंत दुःख होतें ह्मणून मद्यपान न करण्याचा उपदेश करितात.

यदेकबिन्दोः प्रचरन्ति जीवा- ।

श्वेत्तत् त्रिलोकीमपि पूरयन्ति ॥

यद्विकृवाश्चेमममुं च लोकं ।

यस्यन्ति तत् कश्यमवश्यमस्येत् ॥ ४ ॥

टीका— अस्येत् त्यजेत् । कोऽसौ स्वहितैषी । किं तत् तत्कश्यं मद्यं । कथं अवश्यं नियमेन मद्यविरतिव्रतं स्वीकुर्यादित्यर्थः । यतः पूरयन्ति तरन्ति । के ते जीवाः । कां त्रिलोकीमपि समस्तविष्टपमपि । कथं तत् ततः । चेद्यदि । प्रचरन्ति संचरन्ति । के जीवाः । कस्मात् यदेकबिन्दोः यस्य मद्यस्यैकस्माद् बिन्दोः पृषतः सकाशात् । तज्जाः प्राणिनो यदि विचरेयुरित्यर्थः । यतश्च यस्यन्ति अंशयन्ति श्रेयोरहितं कुर्वन्तीत्यर्थः । के ते यद्विकृवाः येन मद्येन मोहितमतयः । कं लोकं । किंविशिष्टमिमं । न केवलममुं च तद्भवमुत्तरभवं च दुःखमयं कुर्वन्तीत्यर्थः ॥

अर्थ— ज्याच्या एका बिंदूपासून निघालेले जीव जर पसरूं लागले तर ते तीन्ही जगांसहि भरून टाकितील, आणि ज्याचें पान करून मोहित झालेले लोक इह-

१ मनोमोहस्थ हेतुत्वान्निदानत्वाच्च दुर्गतेः ॥

मद्यं सद्भिः सदा त्याज्यमिहामुत्र च दोषकृत् ॥ १ ॥

अर्थः—मद्य हें मनाला मोह करणारें व दुर्गतीस नेणारें व

लोकींच्या व परलोकींच्याहि सुखास अंतरतात, असें जें मद्य तें अवश्य सोडून द्यावें. ह्मणजे मद्यपान न करण्याचें व्रत स्वीकारावें.

इदानीं मद्यपानस्य द्रव्यभावहिंसानिदानत्वमनूद्य तन्निवृत्ति-  
प्रवृत्तिशीलानां गुणदोषौ दृष्टान्तद्वारेण स्पष्टयन्नाह—

आतां, मद्यपानानें द्रव्यहिंसा व भावहिंसा घडते हें सांगून त्याच्या निवृत्तींत गुणदोष कोणते आहेत हें दृष्टांतद्वारा सांगतात.

पीते यत् रसाङ्गजीवनिवहाः क्षिप्रं भ्रियन्तेऽखिलाः

कामक्रोधभयभ्रमप्रभृतयः सावद्यमुच्यन्ति च ॥

तन्मद्यं व्रतयन्न धूर्तिलपरास्कन्दीव यात्यापदम् ।

तत्पायी पुनरेकपादिव दुराचारं चरन्मज्जति ॥ ५ ॥

टीका— न याति न प्राप्नोति । कोऽसौ पुरुषः । कां आपदं विपदं । किं कुर्वन् व्रतयन् व्रतं कुर्वन् अमद्यपकुलजातोऽपि देवादिसाक्षिकं निवर्तयन्नित्यर्थः । किं तत् तत्प्रागुक्तविनिपातप्रायं मद्यम् । क इव धूर्तिलपरास्कन्दीव धूर्तिलनामा चोरो यथा ।

इहपरलोकीं दुःख देणारें असें आहे. ह्मणून सत्पुरुषांनीं याचा सर्वदा त्याग करावा.

विवेकः संयमो ज्ञानं सत्यं शौचं दया क्षमा ॥

मद्यात्प्रवीयते सर्वं तृण्या वन्हिकणादिव ॥ २ ॥

अर्थः—अग्नीच्या एकाच कणापासून सुद्धां गवताची गंजी जशी जळून जाते, त्याप्रमाणें मद्यपानानें विचार, संयम, ज्ञान, सत्य, पवित्रता, दया व क्षमा हे सगळे गुण तत्काळ नाहीसे होतात.

तत्पायी पुनर्मद्यपानशीलो मज्जति दुर्गतिदुःखे व्रजति । किं  
कुर्वन् चरन् अनुतिष्ठन् । कं दुराचारं अगम्यगमनाभक्ष्यभक्षणापे-  
यपानादिकं । क इव एकपादिव एकपान्नामपरिव्राजको यथा ।  
यत्र किं? यस्मिन्मद्ये पीते सति । म्रियन्ते विपद्यन्ते ।  
के ते? रसांगजीवनिवहाः रसोऽङ्गकारणं येषां ते रसांगाः  
रसजा इत्यर्थः । तथा रसस्याङ्गानि कारणानि रसाङ्गानि मद्ये  
रसजनका इत्यर्थः । रसाङ्गाश्च ते जीवाश्च रसाङ्गजीवास्तेषां निवहाः  
संघाताः । किंविशिष्टाः अखिलाः समस्ताः । कथं क्षिप्रं  
पानानन्तरमेव । तथा उद्यन्ति उत्पद्यन्ते । के ते कामादयः ।  
क सति यत्र पीते सति । कथं सावद्यं पापेन निन्दया वा सह !  
कामो योन्यादौ रिरंसा । भ्रमो मिथ्याज्ञानं चक्रारूढस्येव शरीर-  
भ्रमणं । कामश्च क्रोधश्च भयं च भ्रमश्च कामक्रोधभयभ्रमाः  
ते प्रभृतयः प्रमुखा येषामभिमानहास्यारतिशोकादीनां ते ॥

अर्थः— ज्याचें पान केल्याबरोबर त्यांत ( मद्यांत )  
रस उत्पन्न होण्यास कारण असे, अथवा रसापासून उत्पन्न  
होणारे—जे जीव असतात ते सगळे तत्काळ मरून जातात,  
( अर्थात् द्रव्यहिंसा घडते. ) आणि काम, क्रोध, भ्रम

१ रसजानां च बहूनां जीवानां योनिरिष्यते मद्यम् ॥

मद्यं भजतां तेषां हिंसा सञ्जायतेऽवश्यम् ॥ १ ॥

अर्थः—मद्य हें रसापासून उत्पन्न होणाऱ्या पुष्कळ जीवांचें  
उत्पत्तिस्थान आहे. झणून तें सेविणाऱ्यांस हिंसा नियमानें घडते.

समुत्पद्य विपद्येह देहिनोऽनेकशः किल ॥

मद्ये भवन्ति कालेन मनोमोहाय देहिनाम् ॥ २ ॥

अर्थः—मद्यांत अनेक जीव उत्पन्न होतात व ते मरतहि  
असतात. आणि तें पान करणाऱ्याला मोह करणारें आहे.

( मिथ्याज्ञान-मोह ) वगैरे निंद्य पातकें घडतात, ( अर्थात् भावहिंसा घडते ह्यणजे आत्म्याचे परिणाम हिंसारूप होतात. ) असें जें मद्य तें न पिण्याचें व्रत करून मूर्तिळ नांवाचा चोर, तो विपत्तीस पावला नाहीं. ( मूर्तिळ हा चोर होता तरी मद्यापानव्रत त्यानें घेतलेलें असल्यामुळे तो दुर्गतीस गेला नाहीं. ) जो मद्यपान करणार नाहीं तो मूर्तिळ चोराप्रमाणें सुखी होईल. आणि एकपाद नांवाचा एक मिथ्यातपस्वी होता, तो मद्यपान करून व त्यामुळे अविवेकी होऊन अगम्यगमन, अभक्ष्यभक्षण वगैरे दुराचार करून जसा नरकास गेला; तसा मद्यप मनुष्य नरकास जातो.

१ अभिमानभयजुगुप्साहास्या रतिकामशोककोपाद्याः ॥

हिंसायाः पर्यायाः सर्वेऽपि च नरकसंनिहिताः ॥ १ ॥

अर्थः—गर्व, भीति, निंदा, हास्य ( थट्टा ), रति, विषय-वासना, शोक व क्रोध हे सगळे हिंसेचे पर्याय असून ह्यांच्या-पासून नरक फारच जवळ आहे.

न विना प्राणिविघातान्मांसस्योत्पत्तिरिष्यते यस्मात् ॥

मांसं भजतस्तस्मात् प्रसरत्यनिवारिता हिंसा ॥ २ ॥

अर्थः—प्राण्यांचा वध केल्यावाचून मांस मिळत नाहीं. तेव्हां तें खाणाऱ्यास हिंसेचें पातक लागणारच.

ये भक्षयन्त्यन्यपलं स्वकीयपलपुष्टये ॥

त एव घातका यन्न वद को भक्षकं विना ॥ ३ ॥

अर्थः—जे लोक स्वतांचें मांस पुष्ट होण्याकरितां अन्य

अथाचारविशुद्धिगर्वितानां पिशिताशनं गर्ह्यमाणः प्राह—

आतां, मांसं भक्षणं करुणहि स्वतां आचारानि शुद्ध  
आहो असा गर्व वाहणारांस उद्देशून ह्मणतात.—

स्थानेऽश्वन्तु पलं हेतोः स्वतश्चाशुचिकश्मलाः ॥

श्वादिलालावदप्यद्युः शुचिम्मन्याः कथं नु तत् ६

टीका— अश्वन्तु भक्षयन्तु । के ते कश्मलाः जाति-  
कुलाचारमलिनाः । किं तत् पलं मांसं । किंविशिष्टं अशुचि ।  
कस्मात् हेतोः शुक्रशोणितलक्षणात् कारणात् । न केवलं हेतोः  
स्वतश्च स्वभावेन अमेध्यबीजममेध्यस्वभावं चेत्यर्थः । कथं स्थाने युक्तं  
कश्मलानां तथाप्रवृत्त्युपपत्तेः । नु अहो । कथमद्युः कथं खादेयुः  
गर्ह्यमहे । अन्याय्य(अनार्य)मेतत् । गर्हे सप्तम्या विधानात् । के  
ते शुचिम्मन्याः आचारविशुद्धमात्मानं मन्यमानाः । किं तत्  
पलं । किंविशिष्टं श्वादिलालावदपि श्वादीनां कुकुरचित्रकश्येनादीनां  
लाला मुखन्नावः श्वादिलाला सा असिन्नस्तीति श्वादिलालावत् ।  
अथवा श्वादिलालया तुल्यं श्वादिलालावत् कुकुरादिलालायुक्तं  
तत्तुल्यं वा । अपि विस्मये ॥

अर्थः— जाति व कुलाचारानें मलिन असे जे लोक  
आहेत ते शुक्र, शोणित वर्गरे कारणामुळे व स्वभावानेंहि

प्राण्याचें मांस भक्षण खातात तेच लोक घातक होत. भक्षका-  
शिष्या दुसऱ्या कोणास घातक ह्मणावें ?

मांसास्वादनलुब्धस्य देहिनो देहिनं प्रति ॥

हन्तुं प्रवर्तते बुद्धिः शाकिन्य इव दुर्धियः ॥ ४ ॥

अर्थ— सांस खाण्यास लुब्ध झालेल्या माणसाची बुद्धि  
दुष्ट अशा शाकिनीप्रमाणें इतर जीवाला मारण्यास प्रवृत्त होते.

अशुचि असें मांस भक्षण करितात ते ठीक आहे. पण, स्वतांस शुद्ध ह्यणविणारे लोक श्वान वगैरे नीच प्राण्यांच्या लाळेच्या मळानें युक्त असें जें मांस तें कसें भक्षण करितात? त्यांचा आत्मीय विकार करितो.

साम्प्रतं स्वयमेव पञ्चत्वं प्राप्तस्य पञ्चेन्द्रियस्य मत्स्यादेर्भक्षण-  
मदूषणमुत्प्रेक्षमाणान् प्रत्याह—

आतां, आपोआप मरून पडलेल्या प्राण्यांचें मांस खाण्यांत दोष नाही असें ह्यणणाऱ्या मांसभक्षकांस उद्देशून ह्यणतात.

हिंस्रः स्वयम्मृतस्यापि स्यादश्नन् वा स्पृशन्पलम् ॥

पक्वापक्वा हि तत्पेश्यो निगोदौघसुतः सदा ७

टीका— स्यात् भवेत् । कोऽसौ पुमान् । किंविशिष्टः हिंस्रः ।  
द्रव्यहिंसाशीलः । भावहिंसायास्तु मांसभक्षणे दर्पकरत्वेन  
वक्ष्यमाणत्वात् । किं कुर्वन् अश्नन् खादन् । स्पृशन् वा हस्तादिना  
संयोजयन् । किं तत् पलं मांसं । कस्य स्वयम्मृतस्यापि भोक्तुः  
प्रयत्नमन्तरेणापि त्यक्तप्राणस्य मत्स्यमहिषादेः किं पुनरात्मना  
वधितस्येत्यपिशब्दार्थः । कुत इत्याह— हि यस्मात् । भवन्ति ।

१ भक्षयन्ति पलमस्तचेतनाः । सप्तधातुमयदेहसंभवम् ॥

यद्वदन्ति च शुचित्वमात्मनः । किं विडम्बनमतः परं बुधाः ॥१॥

अर्थः—रस, रक्त वगैरे सात प्रकारच्या घातूंनी भरलेल्या देहापासून काढलेलें मांस मूर्ख मनुष्य भक्षण करितात. ते ठीक आहे. पण आपण शुद्ध आहों असा अभिमान बाळगणारे कित्येक पंडित मांसभक्षण करितात त्यांना काय क्षणावें !



कास्तपेक्ष्यः तस्य पलस्य पेक्ष्यः कोशाः । किंविशिष्टाः निगोदौ-  
घसुतः निगोदानां साधारणांगजीवानामेकशरीरभोक्तृणामनन्तप्रा-  
णिनामोघाः सङ्घातास्तान् सुवन्ति जनयन्तीति निगोदौघसुतः ।  
किं कदाचिन्नेत्याह सदा सर्वदा । किंविशिष्टाः सत्यः पक्वापक्वाः  
पक्वाश्चापक्वाश्चेति विगृह्यैकशेषेण पक्वापक्वा इत्यस्य लोपस्तेन पक्वाः  
आमाः पच्यमानाश्चेत्यर्थः ॥

अर्थः—आपोआप मरून पडलेल्या मत्स्य, महिष वगैरे  
प्राण्यांचें मांस खाणारा किंवा स्पर्शहि करणारा जीव हिंस्र  
झणजे हिंसक होय. कारण, मांसाच्या ज्या पकें अपक व

१ यतो मांसाशिनः पुंसो दमो दानं दयार्द्रता ॥

सत्यशौचव्रताचारा न स्युर्विद्यादयोऽपि च ॥ १ ॥

अर्थः—इंद्रियदमन, दान, दया, सत्य, पवित्रता, व्रताचार व  
बन्यावाईटपणाचा विचार हे सगळे सद्गुण मांस खाणाऱ्यांस  
नसतात.

२ आमां वा पक्वां वा खादति वा स्पृशति वा पिशितपेशीम् ॥

स निहन्ति सततानिचितं पिण्डं बहुजीवकोटीनाम् ॥ २ ॥

अर्थः—अपक असो कीं पक असो; पण, त्या मांसाच्या  
पेशीला ( गोळा ) जो शिवतो किंवा खातो, तो, एकसारखें  
चिकटून असलेल्या कोट्यावधी जीवांच्या पिंडाची हिंसा करितो,  
असें समजावें.

आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्यमानासु मांसपेशीषु ॥

सातत्येनोत्पादस्तज्जातीनां निगोतानाम् ॥ ३ ॥

अर्थः—मांसाच्या गांठी हिरव्या असोत, कुजलेल्या

पच्यमान अशा गांठी असतात त्यांतहि अनंत निगोत जीव सर्वदा असतात. एकाच शरीराचा उपभोग घेणारे जे अनंत जीव त्यांना निगोत ह्मणतात. तात्पर्यः—मांस हें कोणत्याहि अवस्थेंत असो ह्मणजे तें हिरवें असो, कुजलेलें असो अथवा कुजत असलेलें असो तरी त्यांत निगोत जीव अनंत असतात.

अथ मांसस्य प्राणिहिंसातिरेकप्रभवत्वेनेन्द्रियदर्पकरतरत्वेन च भावहिंसाहेतुत्वानुवादपुरस्सरं तद्वक्षणं नरकादिगतिविवर्तननिमित्तत्वेनोपदिशन्नाह—

आतां मांसभक्षण हें अनंत जीवांची हिंसा ( द्रव्य-हिंसा ), इंद्रियांचा दर्प ( भावहिंसा ) व नरकगति इत्यादिकांला कारण असल्यामुळे; त्याचा त्याग करण्याविषयीं उपदेश करितात.

प्राणिहिंसार्पितं दर्पमर्पयत्तरसं तराम् ॥

रसयित्वा नृशंसः स्वं विवर्तयति संसृतौ ॥ ८ ॥

टीका— विवर्तयति द्रव्यक्षेत्रकालभावैः परिवर्तयति । कोऽसौ नृशंसः क्रूरकर्मकृत् । कं स्वं आत्मानं । क संसृतौ संसारे । किं कृत्वा रसयित्वा आस्वाद्य । किं तत् तरसं मांसं । किंविशिष्टं प्राणिहिंसार्पितं पञ्चेन्द्रियजीववधसम्पादितं । किं कुर्वत् अर्पयत् सम्पादयत् । कं दर्पं मदावेशं । कथं तरां अतिशयनेऽव्ययमिदम् । मृष्टान्नादिभ्योऽतिशयेन । प्राणिवधादुत्पन्नं तद्वद्वर्पकरं चेत्यर्थः ॥

असोत किंवा कुजत असलेल्या असोत; तरी, त्यांत त्या जातीचे निगोत जीव सतत उत्पन्न होत असतात.

अर्थः—प्राण्यांची हिंसा करून मिळविलेलें अर्थात् जें संपादन करण्यांत द्रव्यहिंसा घडते, आणि अत्यंत मद उत्पन्न करणारें अर्थात् ज्याच्या सेवनानें भावहिंसा घडते असें जें मांस, तें भक्षण करणारा कूर प्राणी स्वतांला दुःख-मय संसारांत अनंतकाल फिरवितो.

इदानीं साङ्गल्लिपकस्यापि पलभक्षणस्य दोषं तद्विरतिनिष्ठायाश्च गुणमुदाहरणद्वारेण दर्शयति—

आतां मांसभक्षणाची इच्छा करण्यांत दोष व तें सोडण्यांत गुण काय हें उदाहरणानें सांगतात.

अमति पिशिताशनाभिध्यानादपि सौरसेनवत्कुगतीः तद्विरतिरतः सुगतिं श्रयति नरश्चण्डवत्खदिरवद्वा ९

टीका— अमति परापरविवर्ते परिवर्तयति । कोऽसौ जीवः । काः कुगतीः नरकादिभवग्रहणानि । कस्मात् पिशिताशनाभिध्यानादपि मांसभक्षणसङ्कल्पात् किं पुनस्तद्भक्षणादित्यपिशब्दार्थः । किंवत् सौरसेनवत् सौरसेनराज्ञा तुल्यं । तथा श्रयति लभते । कोऽसौ नरः कां सुगतिं स्वर्गादिगतिं । किंविशिष्टः सन् तद्विरतिरतः पिशितनिवृत्तावासक्तः । किंवत् चण्डवत् चण्डनामोज्जयिन्यां मातङ्गो यथा । अथवा खदिरवत् खदिरसारो नाम भिल्लराजो यथा ॥

अर्थः—मांस भक्षण करण्याचें तर दूरच असो, पण त्याची इच्छा करणाराहि सौरसेन राजाप्रमाणें नरक वगैरे अनेक दुर्गतींत चिरकाल हिंडतो. मांसभक्षण करण्याचें ज्यानें सोडिलें आहे असा प्राणी,—पूर्वीं उज्जयिनी नगरांत होऊन गेलेल्या चंड नांवाच्या मातंगमाप्रमाणें; अथवा,

खादिरसार नांवाच्या भिलांच्या राजाप्रमाणे—सद्धत्तीस पावतो.

अधुना मांसं सतां भक्षणीयं प्राण्यङ्गत्वान्मुद्रादिवदित्यनुमाना-  
भिधानग्रहावेशान्मांसभक्षणदक्षिणान् प्रत्याह—

आतां “ उडीद, गहूं वगैरे जे मनुष्यांनीं खाण्याचे पदार्थ आहेत ते एकेन्द्रिय जीवांचे अवयव ( अंग ) आहेत असें असून ते भक्षण्यांत जर दोष नाहीं तर मांसभक्षण करण्यांतहि दोष नाहीं. कारण, मांसहि प्रण्यांचेंच अंग आहे.” असें अनुमान करून तें भक्षण करण्यांत दोष नाहीं असें प्रतिपादन करणाऱ्यांस उद्देशून ह्मणतात.

प्राण्यङ्गत्वे समेऽप्यन्नं भोज्यं मांसं न धार्मिकैः ॥

भोग्या स्त्रीत्वाविशेषेऽपि जनैर्जायैव नाम्बिका १०

टीका— भोज्यं भोक्तव्यं । किं तत् अन्नं मुद्रादिधान्यं रसरक्तविकारजत्वाभावात् । न तु भोज्यं किं तत् मांसं रसरक्तविकारजत्वात् । कैः धार्मिकैः धर्ममहिंसारूपं चरद्भिः । क सति प्राण्यङ्गत्वे जीवकायत्वे । किंविशिष्टे समेऽपि अन्नमांसयोस्तुल्येऽपि

१ मांसं जीवशरीरं जीवशरीरं भवेन्न वा मांसम् ॥

यद्वन्निम्बो वृक्षो वृक्षस्तु भवेन्न वा निम्बः ॥ १ ॥

अर्थः—मांस हें प्राण्यांचें शरीर आहे. पण, प्राण्यांच्या शरीरास मांस ह्मणतां येणार नाहीं. कारण; उडीद, गहूं वगैरे धान्ये एकेन्द्रिय जीव आहेत. पण, त्यांत रक्त, मज्जा वगैरे नसल्यामुळे त्या एकेन्द्रिय जीवाच्या शरीराला मांस ह्मणतां येणार नाहीं. याला उदाहरणः—निंब हा वृक्ष आहे ह्मणून वृक्षास निंब ह्मणतां येणार नाहीं. कारण, वृक्ष शब्दाची व्याप्ति सगळ्या वृक्षांवर आहे.

न च प्राणिकायत्वाद्धान्यस्यापि मांसत्वमुपकल्प्यं यो षः प्राणिकायः  
स स मांसमिति व्याप्तेरभावात् । अन्यथा वृक्षत्वादशोकादीनामपि  
निम्बत्वकल्पनाप्रसङ्गात् । यतः भोग्या अनुभवनीया । काऽसौ  
जायैव । न पुनरम्बिका माता भोग्या । कैर्जनैः लोकैः । क  
सति स्त्रीत्वाविशेषेऽपि भार्यामात्रोः स्त्रीत्वे तुल्येऽपि ॥

अर्थः—मांस हें प्राण्यांचें अंग आहे आणि अन्नहि  
प्राण्यांचें अंग आहे. असें जरी दोहोंत साम्य आहे, तरी  
मांस हें रस व रक्त यांच्या विकारापासून उत्पन्न होतें,

---

जर वृक्षास निंब म्हणाल तर अशोक वगैरे वृक्षांसहि निंबच झणावें  
लागेल. यावरून, अन्न हें जीवशरीर आहे तरी मांसाप्रमाणें त्यांत  
दोष नाहीत. आणखी असें पहा कीं; शंख, रेशीम, चामर वगैरे  
पदार्थ हीं प्राण्यांचीं शरीरें असूनहि त्यांस व्यवहारांत पवित्र  
मानिलें आहे. पण, त्यांच्याप्रमाणें अस्थि ( हाड ) नख वगैरे  
पदार्थांस मानिलें नाही. याप्रमाणें, भात, पोळी वगैरे पदार्थांचे  
सेवन करण्यास योग्य आहेत आणि मांस हें अभक्ष्य आहे.  
कारण, मांस खाण्यानें द्रव्यहिंसा व भावहिंसा अधिक घडते.

शुद्धं दुग्धं न गोर्मांसं वस्तुवैचित्र्यमीदृशं ॥

विषघ्नं रत्नमाहेयं विषं च विपदे यतः ॥ २ ॥

अर्थः—एकाच ठिकाणीं उत्पन्न झालेल्या दोन वस्तूंत किती  
तरी अंतर आहे पहा ! गाईचें दूध शुद्ध आहे तरी तिच्या मांसास  
शुद्ध झणतां येणार नाही. उदाहरण,—रत्न आणि विष हीं  
दोन्ही सर्पांच्या ठिकाणीं असतात, तरी दोहोंत अंतर मोठें आहे.  
रत्न हें विषाचा नाश करणारें आहे व विष हें प्राणनाश करणारें  
आहे. अथवा,—

क्षणून त्यांत दोष आहे. याकरितां अहिंसा धर्म पाळणा-  
ऱ्यांनीं मांसभक्षण करूं नये. आणि धान्य हें एकेंद्रिय

हेयं पलं पयः पेयं समे सत्यपि कारणे ॥

विषद्वोरायुषे पत्रं मूलं तु मृतये मतम् ॥ ३ ॥

अर्थः—गाईच्या ठिकाणीं मांस आणि दूध हीं उत्पन्न होण्या-  
स कारण एकच ( तृण, धान्य, जल वगैरे ) आहे. तरी, मांस  
हें त्याज्य आणि दूध हें पिण्यास योग्य आहे. याला उदाहरण—  
विषवृक्षाचें पान आयुष्य वाढविण्याला कारण आहे, आणि त्याचें  
मूळ असतें तें मरणाला कारण आहे.

पञ्चेन्द्रियस्य कस्यापि बधे तन्मांसभक्षणे ॥

यथा हि नरकप्राप्तिर्न तथा धान्यभोजनात् ॥ ४ ॥

अर्थः—कोणत्याहि पंचेंद्रिय प्राण्यांच्या वधानें व त्याच्या  
मांसाच्या भक्षणानें जशी नरकगति प्राप्त होते; तशी दुर्गति धान्य  
खाण्यानें होत नाही.

धान्यपाके प्राणिवधः परमेकोऽवशिष्यते ॥

गृहिणां देशयमिनां स तु नात्यन्तबाधकः ॥ ५ ॥

अर्थः—धान्याचें अन्न तयार करण्यांतहि एकेंद्रिय जीवांचा  
वध होतो. तरी पण, एकदेश संयम पाळणाऱ्या गृहस्थांस तो  
फारसा बाधक होत नाही.

मांसखादकगतिं विमृशन्तः । सस्यभोजनरता इह सन्तः ॥

प्राप्नुवन्ति सुरसम्पदमुच्चैः । जैनशासनजुषो गृहिणोऽपि ॥ ६ ॥

अर्थः—मांस खाणाऱ्यांच्या भयंकर परिणामाचा विचार  
करून अर्थात् त्याचा त्याग करून; धान्य खाणारे जैनधर्माविषयीं  
अद्वाळू व सज्जन गृहस्थहि देवलोकीच्या संपत्तीस प्राप्त होतात.

जीवांचें जरी अंग आहे तरी तें रसरक्तांपासून उत्पन्न होणारें नव्हें, ह्मणून त्यांत दोष नाही. जसें—माता आणि जाया ( बायको ) या दोघांच्या ठिकाणीं स्त्रीत्व जरी सारखेंच आहे, तरी पुरुषानें पत्नीचाच उपभोग करणें योग्य आहे. मातेचा उपभोग करणें योग्य नाही.

अथ क्रमप्राप्तान्मधुदोषानाह—

आतां, मधुभक्षणाचे दोष सांगतात.

मधुकृद्वातघातोत्थं मध्वशुच्यपि बिन्दुशः ॥

खादन् बध्नात्यघं सप्तग्रामदाहांहसोऽधिकम् ११

टीका— बध्नाति आत्मना योजयति । कोऽसौ पुमान् । किं तत् अघं पापं । कियत् अधिकं अतिरिक्तं । कस्मात् सप्तग्रामदाहांहसः ग्रामसप्तकदाहकपातकात् । किं कुर्वन् खादन् भक्षयन् । किं तत् मधु क्षौद्रं । किंमात्रमपि बिन्दुशः बिन्दुमात्रमपि ।

१ अनेकजन्तुसङ्घातनिघातनसमुद्भवम् ॥

जगुप्सनीयं लालावत्कः स्वादयति माक्षिकम् ॥ १ ॥

अर्थः—अनेक प्राण्यांच्या समुदायांच्या नाशानें प्राप्त होणारें आणि लाळेप्रमाणें किळस आणणारें असें जें मधु ( मध ) तें कोण बरें धर्मशील मनुष्य भक्षण करील ? अथवा,—

माक्षिकागर्भसम्भूतबालाण्डकनिपीडनात् ॥

जातं मधु कथं सन्तः सेवन्ते कललाकृति ॥ २ ॥

अर्थः—मधमाशीच्या गर्भातून निघालेलीं लहान लहान अंडीं पिकून त्यापासून उत्पन्न झालेला अर्थात् मांसाप्रमाणें त्याज्य असा मध सत्पुरुष कसा बरें सेवितील ? अथवा,—

किंविशिष्टं मधुकृतां मक्षिकाभ्रमरमशकादीनां मधुकरप्राणिनां व्रातः सङ्घस्तस्य घातो नाशस्तस्मादुत्था उत्पत्तिर्यस्य तन्मधुकृद्वात-घातोत्थं । पुनः किंविशिष्टं अशुचि प्राणिनिर्यसजन्यत्वान्मक्षिकादि-वान्तत्वाच्चापवित्रं म्लेच्छलालादिसम्पृक्तत्वात् तुच्छं च ॥

अर्थ— भ्रमर, मधमाशी वगैरे प्राण्याच्या समुदा-याच्या नाशानें उत्पन्न होणारा व अत्यंत अशुचि असा जो मध, त्याचा एक बिंदुहि खाणाऱ्या मनुष्यास सात गांवें जाळिल्यापेक्षांहि अधिक पातक लागतें.

एकैककुसुमक्रोडाद्रसमापीय मक्षिकाः ॥

यद्वमन्ति मधूच्छिष्टं तदश्नन्ति न धार्मिकाः ॥ ३ ॥

अर्थः—एकेक फुलांतून निघणारा रस पिऊन पुनः मधमाशा जें ओकितात, तो मध होय. असा उष्ट्याप्रमाणें असलेला मध धार्मिकजन कसा बरें खातील? खाणार नाहीत. शिवाय तें खाण्यांत फारच मोठें पातक आहे. कारण,—

१ ग्रामसप्तकविदाहिरेफसा । तुल्यता न मधुमक्षिरेफसः ॥

तुल्यमञ्जलिजलेन कुत्रचि- । निम्नगापातिजलं न जायते ॥४॥

अर्थः—सात गांवें जाळून जें पातक घडतें, तें कांहीं मध खाण्यानें घडणाऱ्या पातकाची बरोबरी करणार नाही. ओंजळभर असलेलें पाणी समुद्रांतल्या सगळ्या पाण्याची बरोबरी करील काय? करणार नाही. तात्पर्यः—सात गांवें जाळण्यापेक्षांहि फारच मोठें असे पातक मध खाण्यांत आहे. याकरितां तें खाण्याची इच्छाहि करूं नये. कारण,—

यश्चिखादिषति सारघं कुधी- । मक्षिकागणविनाशनस्पृहः ॥



अथ क्षौद्रवन्नवनीतस्यापि दोषभूयिष्ठतया त्याज्यतामुपदिशति—  
आतां, मधुप्रमाणे नवनीतांतहि (लोणी) पुष्कळ दोष  
असतात; म्हणून त्याचाहि त्याग करण्यास सांगतात.

मधुवन्नवनीतं च मुञ्चेत्तत्रापि भूरिशः ॥

द्विमुहूर्तात्परं शश्वत्संसजन्त्यंगिराशयः ॥ १२ ॥

टीका—मुञ्चेत् व्रतयेत् । कोऽसौ धार्मिकः । किं तत् नवनीतं  
च दधिसारमपि । किंवत् मधुवत् क्षौद्रं यथा । यतः संसजन्ति  
सम्मुच्छन्ति । के अङ्गिराशयः जीवसंघाताः । कियन्तो भूरिशः  
प्रचुराः । क तत्रापि न केवलं मधुनि नवनीतेऽपि । कथं शश्वत्  
सदा । कथं परमूर्ध्व । कस्मात् द्विमुहूर्तात् मुहूर्तद्वयात् ॥

अर्थ— मधुप्रमाणे नवनीतहि ( लोणी ) त्याज्य आहे.

पापकर्मनिषेधनिम्नगा । यस्य हन्त करुणा कुतस्तनी ॥ ५ ॥

अर्थः—ज्याला मध खाण्याची इच्छा झाली त्याला मध-  
माशीचा वध करण्याचीच इच्छा झाली. मग, पापरूपी चिखल  
धुवून टाकणारी जणू नदीच अशी करुणा त्याला कोठून असणार!  
मुळीच असणार नाही!! कष्ट कष्ट!!! “ मधांत सर्वदा जीव  
भरलेले असतात. म्हणून सांगतात की,—

स्वयमेव विगलितं यद् गृहीतमथवा बलेन निजगोलात् ॥

तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रयप्राणिनां घातात् ॥ ६ ॥

अर्थः—मध हें आपोआप गळून पडलेलें असो; की बला-  
त्कारानें काढून आणलेलें असो; तरी तें खाण्यानें हिंसा होतेच.  
कारण, त्यांत सर्वदा सूक्ष्म जीव भरलेले असतात.

१ यन्मुहूर्तयुगतः परं सदा मूर्च्छति प्रचुरजीवराशिभिः ॥

कारण त्यांतहि चार घटिकांनंतर तत्काल अनंत समूर्छन जीव भरून जातात.

अथ पञ्चोदुम्बरभक्षणे द्रव्यभावहिंसादोषमुपपादयति—

आतां, उदुंबर खाण्यांतहि द्रव्यभावहिंसेचा दोष घडतो हें प्रतिपादन करितात.

पिप्पलोदुम्बरप्लक्षवटफल्गुफलान्यदन् ॥

हन्त्यार्द्राणि त्रसान् शुष्काण्यपि स्वं रागयोगतः ॥१३॥

टीका—हन्ति हिनस्ति । कोऽसौ पुरुषः । कान् त्रसान् स्थूल-सूक्ष्मप्राणिकुलाकुलत्वात्तेषाम् । किं कुर्वन् अदन् भक्षयन् । कानि पिप्पलादिफलानि । फल्गुरत्र काकोदुम्बरिका । किंविशिष्टानि आर्द्राणि । न केवलमार्द्राणि तान्यदन् स्थूलसूक्ष्मप्राणिनो हन्ति किं तर्हि? शुष्काण्यपि कालोच्छिन्नत्रसान्यपि । तान्यदन् स्वमात्मानं हन्ति । कस्मात् रागयोगतः प्रीतिसम्बन्धात् । अन्तर्दीपकत्वादिदं मध्वादिष्वपि योज्यम् । तत्रापि रागावतारद्वारेणात्मघातस्योक्तत्वात्॥

तद्विलन्ति नवनीतमत्र ये ते व्रजन्ति खलु कां गतिं मृताः ॥१॥

अर्थः—चार घटिका संपल्याबरोबर ज्यांत पुष्कळ समूर्छन जीव भरून जातात असे ते नवनीत जे लोक खातात; ते मरणा-नंतर कोणत्या दुर्गतीस जातात, हें सांगवत नाही. आणखी कित्येकांचें असेहि मत आहे कीं,—

१ अंतर्मुहूर्तोत्परतः सुसूक्ष्मा जन्तुराशयः ॥

यत्र मूर्छन्ति नाद्यं तन्नवनीतं विवेकिभिः ॥ २ ॥

अर्थः—नवनीतांत पौणेदोन घटिका नंतर सूक्ष्म असे अनंत जंतु भरून जातात. झणून विवेकी पुरुषांनीं ते खाऊं नये.

अर्थ— पिंपळ, उंबर, पिंपरी, वड व काळा उंबर  
ह्या पांच वृक्षांची ओली व वाळलेली फळे खाणारा प्राणी  
अस जीवांची हिंसा (द्रव्यहिंसा) करितो. व त्या  
फळांच्या ठायीं प्रीति ठेविल्यामुळे आपलीहि हिंसा  
(भावहिंसा) करितो.

अथ निशाभोजनागालितजलोपयोगयोर्मद्याद्युपयोगवद्दोषमयत्वा-  
त्परिहारमाह—

आतां, रात्रिभोजननिषेध व अगालितजलत्याग सांगतात  
रागजीववधापायभूयस्त्वात्तद्वदुत्सृजेत् ॥  
रात्रिभक्तं तथा युज्यान्न पानीयमगालितम् ॥१४॥

२ अश्वत्थोदुम्बरप्लक्षन्यग्रोधादिफलेष्वपि ॥

प्रत्यक्षाः प्राणिनः स्थूलाः सूक्ष्माश्चागमगोचराः ॥ २ ॥

अर्थः—या पांच उदुंबर फळांतहि स्थूल जीव किती मरलेले  
असतात ते तर प्रत्यक्ष दिसतातच. शिवाय त्यांत सूक्ष्म जीवहि  
असतात, ते दिसत नाहीत. ते शास्त्रानेंच कळून येतात.

१ ससंख्यजीवव्यपघातवृत्तिभिर्न धीवरैरस्ति समं समानता ॥

अनन्तजीवव्यपरोपकाणामुदुम्बराहारविलोलचेतसाम् ॥ २ ॥

अर्थः—नदीत जाळें पसरून कोळी लोक मासे मारितात.  
तरी त्यांत मेलेल्या जीवांची संख्या (मोजमाप) असते. तशी  
संख्या उंबर खाणाऱ्या लोकांनीं वध केलेल्या सूक्ष्म जीवांची  
होत नाही. कारण, त्यांत ते सूक्ष्म जीव अनंत असतात.  
यावरून, मासे मारणाऱ्या कोळ्यापेक्षांहि उंबर खाणारे लोक  
महापातकी होते. यांत संशय नाही.

**टीका** — उत्सृजेद्वर्जयेद्धार्मिकः । किं तत् रात्रिभक्तं रात्रावन्नप्रा-  
शनं किंवत् तद्वत् मद्यपानादिवत् । कस्मात् रागेत्यादि । रागश्च  
जीववधश्च अपायाश्च जलोदरादयस्ते भूयांसो दिनभोजनादतिश-  
येन बहवो यत्र तद्रागजीववधापायभूयस्तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात् । तथा  
न युञ्ज्यात् नोपयुञ्जीत किं तत् पानीयं जलं पेयत्वात्तैलघृतादि  
वा सर्वं द्रवद्रव्यं । किंविशिष्टं अगालितं वस्त्रादपरिसृतम् ॥

**अर्थ**— रात्रिभोजन व अगालित जलाचें पान करण्यांत  
राग ( भावहिंसा ) जीववध ( द्रव्यहिंसा ) व अपाय  
ह्मणजे जलोदर वगैरे रोग होणें इत्यादि दोष घडतात.  
ह्मणून, मद्याप्रमाणें त्यांचाहि त्याग करावा. भावार्थ—  
रात्रिभोजनानें दिवसापेक्षा अधिक हिंसा होते, व अगा-  
लित जलपानानें सूक्ष्म जीवांची हिंसा घडून जलोदर  
वगैरे रोग जडतात. पानीय ह्मणजे पेय पदार्थ. यावरून  
असा बोध होतो कीं, पाणी, दूध रस वगैरे जे पातळ  
पदार्थ आहेत, ते वस्त्रपूत करूनच उपयोगांत आणावेत.

१ राग ह्मणजे प्रीति. दिवसापेक्षा रात्रिभोजन करण्यांत अधिक  
प्रीति असते. प्रीति जी आहे ती भावहिंसेला कारण आहे.

२ अर्कालोकेन विना भुंजानः परिहरेत्कथं हिंसाम् ॥

अपि बोधितप्रदीपो भोज्यजुषां सूक्ष्मजीवानाम् ॥ १ ॥

**अर्थ**— रात्री उत्तम प्रकाशाचा दिवा पेटवून त्याच्या प्रका-  
शांत जरी भोजन केलें तरी त्या प्रकाशांत अन्नातील सूक्ष्मजीव  
दिसत नाहींत आणि यामुळें त्या सूक्ष्मजीवांची हिंसा होतेच; ती  
चुकावितां येत नाहीं. ह्मणून त्या वेळीं भोजन करण्यांत दिवसा-  
पेक्षा अधिक हिंसा घडते.

साम्प्रतमनस्तमितभोजिनः सत्फलं किञ्चिद्दृष्टान्तेन मुग्धजन-  
प्ररोचनार्थं प्रकटयति—

आतां, रात्रिभोजनत्यागाचें फळ उदाहरणानें सांगतात.  
चित्रकूटेऽत्र मातङ्गी यामानस्तमितव्रतात् ॥

स्वभर्त्रा मारिता जाता नागश्रीः सागराङ्गजा ॥१५॥

टीका—जाता उत्पन्ना । काऽसौ मातङ्गी अन्तेवासिनी ।  
किंविशिष्टा सागराङ्गजा सागरदत्तश्रेष्ठीपुत्री । किंनाम्नी नागश्रीः ।  
क चित्रकूटे । किंविशिष्टेऽत्र एतस्मिन्नेव मालवदेशस्योत्तरस्यां दिशि  
प्रसिद्धे । कस्मात् यामानस्तमितव्रतात् यानं प्रहरमात्रं पालितादन-  
स्तमितभोजननियमात् । किंविशिष्टा सती मारिता । केन स्वभर्त्रा  
जागरिकनाम्ना ॥

अर्थ— येथेंच ह्मणजे मालवदेशाच्या उत्तर दिशेस  
चित्रकूट पर्वतावर रहाणारी एक मांगीण आपल्या पती-  
कडून मारिली गेली! तरी, तिनें एक प्रहर पर्यंतच  
रात्रिभोजन त्यागाचें व्रत पालिलें होतें, त्या पुण्यानें  
ती सागरदत्त श्रेष्ठीची नागश्री नांवाची कन्या होऊन  
जन्मली. अर्थात् धार्मिक व श्रीमंताच्या घरीं तिला  
जन्म प्राप्त झालें.

एवं कृतपरिकर्मणा पाक्षिकश्रावकेण स्थूलहिंसादिविरतिरपि  
यथात्मशक्ति भावनीयेत्युपदेशार्थमाह—

आतां, ज्यानें मद्य, मांस, मधु वगैरेंचा त्याग केला  
आहे, अशा पाक्षिक श्रावकानें अहिंसा वगैरे व्रतांचाहि  
थोडा थोडा अभ्यास करावा; हें सांगतात.

स्थूलहिंसानृतस्तेयमैथुनग्रन्थवर्जनम् ॥

पापभीरुतयाऽभ्यस्येद्वलवीर्यनिगूहकः ॥ १६ ॥

टीका—अभ्यसेद्भावयेत् । कोऽसौ श्रावकः किं तत् स्थूलेत्यादि वक्ष्यमाणलक्षणं स्थूलहिंसादिविरतिरूपमणुव्रतपञ्चकं । कया पापभीरुतया नतु राजादिभयेन । ततस्तदभ्यासे कर्मक्षपणाऽनिष्टेः किंविशिष्टः सन् बलवीर्यनिगूहकः बलमाहारादिजा शक्तिः सैव नैसर्गिकं वीर्यं तयोर्निगूहकस्तदनुसारीत्यर्थः ॥

अर्थ—स्थूलहिंसा, असत्य, चौर्य, परस्त्री व निष्कारण अधिक परिग्रह ( धन, धान्य, दास, दासी, बैल, घोडा वगैरे ) ह्या पांच पातकांचा, यथाशक्ति व पापाची भीति मनांत बाळगून त्याग करण्याचा अभ्यास करावा. तात्पर्य,— अहिंसा वगैरे पांच व्रतें जीं पाळावयाचीं असतात तीं राजादिकांच्या भयानें न पाळतां;— केवळ हिंसा वगैरे करण्यांत मोठें पातक आहे अशा भावानें— पाळिलीं पाहिजेत.

एवं हि स्थूलहिंसाविरतिमभ्यस्यता वेश्यादाविव द्यूतेऽप्यासक्तिर्न कर्तव्येत्युपदिशति—

आतां, वेश्येप्रमाणेच जुगारहि अनर्थकारक आहे ह्मणून त्याचा त्याग करण्यास सांगतात.

द्यूते हिंसानृतस्तेयलोभमायामये सजत् ।

क्व स्वं क्षिपति नानर्थे वेश्याखेटान्यदारवत् ॥ १७ ॥

टीका—कानर्थे न क्षिपति सर्वसिन्धुधर्मादिभ्रंशे व्यापारयतीत्यर्थः । कं स्वं आत्मानं जार्ति च । किं कुर्वन् सजन् गृद्धि

कुर्वन् कौतुकमात्रेण द्यूतकीडनस्य पाक्षिकेण त्यक्तमशक्नत्वादे-  
वमुच्यते । क सजन् द्यूते । किंविशिष्टे हिंसा प्राणातिपातः  
अनृतमसत्यवचनं स्तेयं चौर्यं लोभो गार्ह्यं माया वञ्चना ताः  
प्रकृताः प्राचुर्येण कृता अस्मिन्निति हिंसादिमये । किंवत् वेद्याया-  
माखेटे परदारेषु च यथा । वेद्यादिष्वपि हिंसादिमयत्वादासजतः  
स्वस्य ज्ञातीनां च पुरुषार्थभ्रंशस्य सुप्रसिद्धत्वात् ॥

अर्थ— हिंसा, लबाडी, चोरी, लोभ, कपट इत्यादि  
दोषाचें आगरच अशा जुगारीच्या व्यसनांत जो आसक्त  
होतो; तो, सर्वथा धर्माचा ध्वंस होण्यास कारण अशा  
कोणत्या अनर्थांत आपणास टाकीत नाहीं बरें? अर्थात्  
वेद्या, शिकार व परस्त्री करणारा मनुष्य जसा धर्मभ्रष्ट  
व जातिभ्रष्ट होतो तद्वत् जुगार खेळणाराहि होतो. कारण,  
जुगार हें सर्व दुर्व्यसनांचें मूळ आहे.

१ सर्वानर्थप्रथनं मथनं शौचस्य सद्य मायायाः ॥

दूरात्परिहर्तव्यं चौर्यासत्यास्पदं द्यूतम् ॥ १ ॥

अर्थः—सगळ्या अनर्थास उदयास आणणारें, पवित्रतेचा नाश  
करणारें, कपटाचें माहेर व चोरी आणि लबाडीचें ठिकाण असें  
जें जुगाराचें व्यसन त्याच्या वाऱ्यास सुद्धां राहूं नये. जुगार  
खेळणाऱ्याची स्थिति कशी असते पहा.—

कौपीनं वसनं कदन्नमशनं शय्या धरा पांसुला ।

जल्पाश्लीलगिरः कुटुम्बकजनद्रोहः सहाया विटाः ॥

व्यापाराः परवञ्चनानि सुहृदश्चौरा महान्तो द्विषः ।

प्रायः सैष दुरोदरव्यसनिनः संसारवासकमः ॥ २ ॥

अर्थः—लंगोटीशिवाय दुसरें वस्त्र टिकतच नाहीं, कदना-  
शिवाय भोजन कधींच मिळत नाहीं, केरकचरा वगैरेनी भरलेली

अथ प्रतिपाद्यानुरोधाद्धर्माचार्याणां सूत्राविरोधेन देशनानाना-  
त्वोपलम्भाद्भ्रम्यन्तरेणाष्टमूलगुणानुद्देशुमाह—

आतां, प्रतिपाद्य विषयास अनुसरून ब धर्माचार्याच्या  
मूलसूत्रास बाध न आपितां; अन्यप्रकारानें श्रावकांचे  
आठ मूलगुण सांगतात.

मद्यपलमधुनिशाशन-

पञ्चफलीविरतिपञ्चकासनुती ॥

जीवदया जलगालन-

मिति च क्वचिदष्टमूलगुणाः ॥ १८ ॥

टीका— वर्तन्ते । के मूलगुणाः । कति अष्ट । क क्वचित्  
शास्त्रे । कथं मद्येत्यादि । पञ्चफली पञ्चानां फलानां समाहारः  
पिप्पलादिफलपञ्चकमित्यर्थः । तद्विरतिरेक एवात्र मूलगुणः ।  
आसनुतिः त्रिकालदेववन्दना । मद्यं च पलं च मधु च निशाशनं  
च पञ्चफली च ताभ्यः पञ्चभ्यो विरतयस्तासां पञ्चकं । तच्चास-  
नुतिश्च ते द्वे । जीवदया अनुकम्प्यानुकम्पा । जलगालनं चेति ॥

अर्थ— १ मद्य, २ मांस, ३ मधु, ४ रात्रिभोजन  
५ पंचोदुंबर ह्यांचा त्याग करणें; ६ त्रिकाल देववंदना—

जमीन हीच ज्याची शय्या, भाषणांत सर्वदा अश्लीलपणा, कुटुं-  
बांतील मनुष्यांशीं कधीच सरळ असावयाचें नाहीं, रंडीबाज  
लोक तितके मदतगार, दुसऱ्यांस ठकविण्याचा उद्योग सर्वदा  
चाललेला, चोर तितके याचे मित्र, सज्जन तितके शत्रु, अशा  
प्रकारचा संसारस्थितीचा जो क्रम; तो, प्रायः क्षणजे मुख्यत्वेन  
करून जुगार खेळणाऱ्या लोकांचाच असतो.



स्तुतिस्तोत्र करणें; ७ जीवदया आणि ८ जल गालित करून तें उपयोगांत आणणें हेहि श्रावकांचे आठ मूलगुण होत असें कोठें कोठें शास्त्रांत सांगितलें आहे.

प्रकृतमुपसंहरन् सार्वकालिकसम्यक्त्वशुद्धिपूर्वकमद्यादिविरतिकृतां कृतोपनीतीनां ब्राह्मणक्षत्रियविशां जिनधर्मश्रत्यधिकारितामाविष्कर्तुमाह—

याप्रमाणें सम्यग्दर्शनाच्या शुद्धीकरितां निरंतर अवश्य पाळल्या पाहिजेत अशा आठ मूलगुणांचें वर्णन पुरें करून; आतां, जिनधर्मशास्त्राचें श्रवण करण्याचा अधिकार कोणास आहे हें सांगतात.

यावज्जीवमिति त्यक्त्वा ।

महापापानि शुद्धधीः ॥

जिनधर्मश्रुतेर्योग्यः ।

स्यात्कृतोपनयो द्विजः ॥ १९ ॥

टीका— स्याद्भवेत् कोऽसौ द्विजः द्विर्जातो मातृगर्भे जिन-

- १ मद्योदुम्बरपञ्चकामिषमधुत्यागाः कृपा प्राणिनां ।  
नक्तंभुक्तिविमुक्तिरासविनुतिस्तोयं सुवस्त्रसुतम् ॥  
एतेऽष्टौ प्रगुणा गुणा गणधरैरागारिणां कीर्तिता ।  
एकेनाप्यमुना विना यदि भवेत् भूतो न गेहाश्रमी ॥ १ ॥

अर्थः—मद्य, मांस, मधु, पंचोदुंबर व रात्रिभोजन यांचा त्याग, प्राण्यांची दया, त्रिकाल देववंदन व जलगालन हे आठ मुख्य गुण गणधरांनीं गृहस्थांस सांगितले आहेत. ह्यांपैकी एक गुण जरी कमी असला तरी त्यास गृहस्थ क्षणतां येणार नाही.

समयज्ञानगर्भे चोत्पादात् द्विजो ब्राह्मणक्षत्रियविशामन्यतमः । त्रयो वर्णा द्विजातय इति वचनात् । किंविशिष्टः कृतोपनयः कृतो यथाविध्युपकल्पित उपनयो मौज्जीबन्धादिलक्षणोपनीतिक्रिया यस्य स तथोक्तः । किंविशिष्टः स्यात् योग्योऽधिकारी । कस्या जिन-धर्मश्रुतेः वीतरागसर्वज्ञोपादिष्टस्य धर्मस्य श्रुतिः श्रवणं शास्त्रं वा उपासकाध्ययनादि तस्या । किं कृत्वा शुद्धधीः सम्यक्त्वविशुद्ध-बुद्धिः सन् । त्यक्त्वा कानि महापापानि महद्विपुलमनन्तसंसार-कारणं पापं येभ्यस्तानि मद्यपानादीनि प्राक्प्रबन्धेनोक्तानि । कथं यावज्जीवं जीवितावधि कथं इति अनेन प्रकारेण ॥

अर्थ— महापापें ह्यणजे संसारांत दीर्घकाल हिंड-विणारीं जीं मद्यपान, मांसभक्षण वगैरे दुर्व्यसनें त्यांचा यावज्जीव त्याग करून; अर्थात् आठ मूलगुण मरणपर्यंत पाळण्याचें व्रत घेऊन; त्यामुळें ज्याचें सम्यक्त्व शुद्ध झालें आहे असा, व मौज्जीबंध वगैरे लक्षणाची उपनी-तिक्रिया ज्याची केली आहे असा जो द्विज ( ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य या तीन वर्णांस द्विज ह्यणतात. प्रथम जन्म पावून पुनः वर सांगितलेल्या व्रतसंस्कारापासून जो जन्मतो ह्यणजे दोनवेळां जो जन्मतो तो द्विज. )

१ अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य ॥

जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः ॥ १ ॥

अर्थः—अनिष्ट व दुस्तर अशा पापांचें घर अशीं मद्यपान वगैरे व्यसनें सोडून अर्थात् आठ मूलगुण पाळून ज्यांची बुद्धि शुद्ध झाली आहे असे सम्यग्दृष्टि जे झालेले असतात; तेच जीव जिनधर्माच्या उपदेशास पात्र होत.

तो जिनोक्त धर्माचें अथवा ' उपासकाध्ययन ' वगैरे शास्त्राचें श्रवण करण्यास योग्य होय.

सहजामहार्यां चालौकिर्की गुणसम्पदमुद्रहतो भव्यान् यथा-  
सम्भवमवगमयन्नाह—

आतां, भव्य पुरुष कसे उत्पन्न होतात तें व त्यांचे भेद सांगतात.—

जाता जैनकुले पुरा जिनवृषाभ्यासानुभावाद्गुणै- ।  
येऽयत्नोपनतैः स्फुरन्ति सुकृतामग्रेसराः केऽपि ते ॥  
येऽप्युत्पद्य कुट्टकुले विधिवशादीक्षोचिते स्वं गुणै- ।  
विद्याशिल्पविमुक्तवृत्तिनि पुनन्त्यन्वीरते तेऽपि तान्

टीका—सन्ति । के ते केऽपि प्रविरलाः सम्प्रति बहूना-  
मभावात् । किंविशिष्टा अग्रेसराः सम्यक्त्वसहचारिपुण्योदया-  
न्मुल्याः । केषां सुकृतां कृतपुण्यानां । ये किं ये स्फुरन्ति  
लोकचित्ते चमत्कारं कुर्वन्ति । कैः गुणैः सम्यक्त्वादिभिः ।  
किंविशिष्टैरयत्नोपनतैः प्रयत्नमन्तरेण प्राप्तैः सहजैरित्यर्थः ।  
किंविशिष्टाः सन्तो जाता उत्पन्नाः । क जैनकुले जिनो देवता  
येषां ते जैनास्तेषां कुलं पूर्वपुरुषपरम्पराप्रभवो वंशस्तत्र । जिनो-  
क्तगर्भाधानादिनिर्वाणपर्यन्तक्रियामंत्रसंस्कारयोग्ये महान्वय इत्यर्थः ।  
कस्मात् पुरा पूर्वजन्मनि जिनवृषस्य सर्वज्ञोक्तधर्मस्याभ्यासः  
असकृत्प्रवृत्तिस्तस्यानुभावो माहात्म्यं तज्जनितपुण्योदयस्तस्मात् ।  
तथा अन्वीरतेऽनुगच्छन्ति । के तेऽपि । कान् तान् पूर्वोक्तान्  
जैनकुलजातान् तत्सदृशा भवन्तीत्यर्थः । ये किं ये पुनन्ति  
पवित्रीकुर्वन्ति । कं स्वमात्मानं । कैः गुणैः वक्ष्यमाणतत्त्वार्थ-

प्रतिपत्त्यादिभिः । किं कृत्वा उत्पद्य जनित्वा । क कुट्टकुलेऽपि मिथ्यादृष्टिवंशेऽपि । अपिरत्र विस्मये भिन्नक्रमः । किंविशिष्टे दीक्षोचिते दीक्षा व्रताविष्करणं व्रतोन्मुखस्य वृत्तिरिति यावत् । सा चात्रोपासकदीक्षा जिनमुद्रा वा उपनीत्यादिसंस्कारो वा । पुनः किंविशिष्टे विद्याशिल्पविमुक्तवृत्तिनि विद्याऽत्राजीवनार्थं गीतादिशास्त्रं शिल्पं कारुकर्म ताभ्यां विमुक्ता ततोऽन्या वृत्तिर्वार्ता कृष्यादिलक्षणो जीवनोपायो यत्र तस्मिन् । कस्मात् विधिवशात् मिथ्यात्वसहचारिपुण्योदययोगात् ॥

अर्थः—जैनकुल=जिन आहे उपास्य देव ज्यांना ते जैन, त्यांचे जे कुल ह्मणजे पूर्वपुरुषांच्या परंपरेने झालेला वंश अर्थात् जिनोक्त गर्भाधानापासून निर्वाणपर्यंत ज्या क्रिया, मंत्र व संस्कार त्यांच्या योगाने शुद्ध अशा या जैन कुलांत जे उत्पन्न झालेले, व सम्यक्त्वाबरोबरच असणाऱ्या पुण्योदयामुळे पुण्यशाली पुरुषांमध्ये श्रेष्ठ झालेले असे व पूर्वजन्मी अभ्यासिलेल्या जिनधर्माच्या माहात्म्यामुळे इह जन्मी प्रयत्नाशिवाय प्राप्त झालेल्या आपल्या सम्यक्त्व वगैरे गुणांनी लोकांच्या चित्तांत चमत्कार उत्पन्न करितात असे ते पुरुष या जर्गी हल्लीं कचित्च आढळून येतात. ह्मणजे ते फारच थोडे आहेत. [ जे पूर्वजन्मी जिनधर्माने चालत होते ते इहजन्मीहि जैनकुलांत उत्पन्न होऊन पूर्वसंस्कारामुळे तसेच धर्मनिष्ठ झाले ही गोष्ट सहज आहे. ] आतां आश्चर्य मानण्यासारखी गोष्ट ही कीं,—कित्येक भव्य ; विद्या ह्मणजे चरितार्थाच्या उपयोगी पडणारे गायन वगैरेचें ज्ञान आणि शिल्प

ह्मणजे चित्रे वगैरे काढण्याची कला या दोन उद्योगाशिवाय बाकीचे ह्मणजे कृषि व्यापार वगैरे उदरनिर्वाहाचे उद्योग ज्यांत आहेत अशा ह्मणजे सुखानें ज्यांत निर्वाह होतो अशा, व दीक्षा ( व्रतांचे ठायीं सम्मुखवृत्ति. ) ह्मणजे उपासक दीक्षा अथवा 'जिनमुद्रा अथवा उपनीति वगैरे संस्कार या तिहींपैकीं कोणतीहि दीक्षा घेण्यास योग्य, पण, मिथ्यादृष्टींच्या कुलांत जन्मूनहि मिथ्यात्वाबरोबरच असणाऱ्या पुण्योदयाच्या योगानें, तत्त्वश्रद्धान वगैरे गुणांनीं आपल्या आत्म्यास पवित्र करून; त्याच्या योगानें वर वर्णिलेल्या जैन कुलांतील पुरुषांप्रमाणें होतात, ह्मणजे त्याच्या योग्यतेचे होतात.

तात्पर्यः— जैनकुलांत जन्म पावून पूर्वजन्मींच्या संस्कारामुळें सहज धर्मनिष्ठ होणारा एक, व मिथ्यादृष्टींच्या कुलांतहि जन्म पावून जिनधर्मनिष्ठ होणारा एक अशा भेदानें धर्मशील भव्यजीव दोन प्रकारचे असतात.

इदानीं द्विजातिषु कुलक्रमायातमिथ्याधर्मपरिहारेण विधिवज्जिनोक्तमार्गमाश्रित्य स्वाध्यायध्यानबलादशुभकर्माणि निघ्नन्तं भव्यमभिष्टौति—

आतां, ब्राह्मणांमध्ये कुलक्रमानें चालत आलेल्या मिथ्याधर्माचा परित्याग करून; व जिनोक्त मार्गाचा विधिपूर्वक आश्रय करून; स्वाध्याय व ध्यान ह्यांच्या बळानें अशुभकर्माचा ध्वंस करणाऱ्या भव्याचें आभिनंदन करितात.

तत्त्वार्थं प्रतिपद्य तीर्थकथनादादाय देशव्रतं ।

तद्दीक्षाग्रधृतापराजितमहामन्त्रोऽस्तदुर्देवतः ॥

आङ्गं पूर्वमथार्थसंग्रहमधीत्याधीतशास्त्रान्तरः ।

पर्वान्ते प्रतिमासमाधिमुपयन् धन्यो निहन्त्यंहसी

टीका—निहन्ति नाशयति । कोऽसौ धन्यः सुकृती । के अंहसी द्रव्यभावपापे इत्यर्थः । किं कुर्वन् उपयन् अभ्यस्यन् । कं प्रतिमासमाधिं रात्रिप्रतिमायोगं । क पर्वान्ते पर्वणां मासि मासि द्वयोरष्टम्यां द्वयोश्चतुर्दशयोरन्ते अवसाने रात्रावित्यर्थः । किंविशिष्टः सन् अधीतशास्त्रान्तरः अधीतानि विपठितानि शास्त्रान्तराणि सौगतादिग्रन्था व्याकरणादीनि च येनासौ । किं कृत्वा अधीत्य पठित्वा । कं अर्थसङ्ग्रहं उद्धारग्रन्थमुपश्रुत्य । सूत्रमपि । किंविशिष्टमाङ्गं आचाराङ्गादिद्वादशाङ्गाश्रितं । न केवलमाङ्गं पौर्वं च चतुर्दशपूर्वगतश्रुताश्रितम् । अथशब्दोऽत्र चार्थः । किंभूतो भूत्वा अस्तदुर्देवतः त्यक्तमिथ्यादेवतागणः । पुनः किंविशिष्टो भूत्वा तदित्यादि तस्य देशव्रतस्य दीक्षा अग्रं पूर्वं यस्य तत्तद्दीक्षाग्रं उपासकदीक्षापूर्वकं धृतो गुरुमुखाद्धारितोऽपराजितो नाम महान् गणधरदेवादीनां पूज्यो मन्त्रः पञ्चनमस्काराख्यो येन स तद्दीक्षाग्र-धृतापराजितमहामन्त्रः । किं कृत्वा आसाद्य लब्ध्वा । किं तत् देशव्रतं तद्दीक्षामूलगुणाष्टकादिकं । किं कृत्वा प्रतिपद्य निश्चित्य । कं तत्त्वार्थं जीवादिकं । कस्मात् तीर्थकथनात् तीर्थस्य धर्माचार्यस्य गृहस्थाचार्यस्य वा कथनाद्वाक्यप्रबन्धात् । एता अष्टौ मिथ्यादृशो दीक्षान्वयक्रियाः क्रमेण संक्षेपादत्रोक्ता विस्तरतस्तु ज्ञानप्रदीपिका-यामार्षे वा द्रष्टव्याः । अत्रार्पोक्तः श्लोको यथा— अवतारो वृत्तलाभः स्थानलाभो गणग्रहः । पूजाराध्यं पुण्ययज्ञो दृढचर्योपयोगिता ॥

अर्थः—तीर्थ ह्मणजे धर्माचार्य अथवा गृहस्थाचार्य, यांच्या उत्तम उपदेशानें जिनोक्त जीवाजीवादि तत्वा-  
र्थांचा निश्चय करून ह्मणजे त्यावर श्रद्धा ठेवून ( यालाच  
१ अवतारक्रिया ह्मणतात. ) पूर्वोक्त आठ मूलगुण

१ आर्ष ह्मणजे भगवान् जिनसेन आचार्यप्रणीत महापुराण;  
त्यांतल्या ३९ व्या अध्यायांत दीक्षान्त्रयक्रिया वर्णिली आहे.  
अणुव्रतें किंवा महाव्रतें स्वीकारण्याविषयीं उन्मुख झालेली जी  
मनुष्याची वृत्ति तिचें नांव दीक्षा. दीक्षेसंबंधी जी क्रिया ती  
दीक्षान्वयक्रिया. तिचे ४८ भेद आहेत. त्यांपैकी, आठ क्रिया—  
मिथ्यादृष्टि कुलांत जन्मलेला भव्य जीव जर जैनमार्गांत प्रवृत्त  
होऊं लागला; तर, त्याला—करावयास सांगितल्या आहेत. त्यांचा  
क्रम असा.—

१ दिगंबर मुनि अथवा धर्मनिष्ठ व विद्वान् असा गृहस्थाचार्य  
यांच्यापैकी कोणाच्या तरी उत्तम उपदेशानें मिथ्यात्वाचा त्याग  
करून जिनोक्त तत्वांचें श्रद्धान्करणें याला 'अवतार' ह्मणतात.  
या अवतारास धर्मजन्म ह्मणतात. कारण,—

गुरुर्जनयिता तत्त्वज्ञानं गर्भः सुसंस्कृतः ॥

तथा तत्रावतीर्णोऽसौ भव्यात्मा धर्मजन्मना ॥ १ ॥

अर्थः—गुरु हा जनक आहे, त्याच्यापासून झालेले तत्त्वज्ञान  
हा उत्तम संस्कारानें युक्त असा गर्भ आहे. त्या ज्ञानगर्भातून  
धर्मस्वीकार रूपानें हा भव्यात्मा अवतार पावलेला आहे. ह्मणून  
या अवतारास धर्मजन्म ह्मणतात. ( प्राणी जेव्हां जुने शरीर  
सोडून नवीन शरीर धारण करितो ह्मणजे मरण पावलेला जीव  
पुनः जन्मास येतो तेव्हां त्याला शरीरजन्म ह्मणतात. त्याप्रमाणें

पालण्याची प्रतिज्ञा करून ( याला २ वृत्तलाभ ह्मणतात. ),  
उपासकदीक्षा प्रथम घेऊन नंतर अपराजित ह्मणजे गण-  
धर वगैरे मुनिश्रेष्ठांसहि पूज्य असा जो महामंत्र ह्मणजे  
पंचनमस्कारमंत्र तो स्वीकार करून ( याला ३ स्थान-  
लाभ ह्मणतात. ), मिथ्यादेवतांचा त्याग करून ( याला

जीवानें मिथ्यात्व अवस्थेचा त्याग करून सम्यक्त्वाचा स्वीकार  
केला ह्मणजे त्याला धर्मजन्म ह्मणवें. )

२ ततोऽस्य वृत्तलाभः स्यात्तदैव गुरुपादयोः ॥

प्रणतस्य व्रतव्रातं विधानेनोपसेदुषः ॥ २ ॥

अर्थः—जेव्हां गुरुच्या उपदेशानें याला सम्यक्त्व होतें त्याच  
वेळीं गुरुपदीं नम्र होऊन विधिपूर्वक हा आठ मूलगुण वगैरे व्रतें  
स्वीकारितो. याला 'वृत्तलाभ' ह्मणतात.

३ ततः कृतोपवासस्य पूजाविधिपुरस्सरम् ॥

स्थानलाभो भवेदस्य तत्रायमुचितो विधिः ॥ ३ ॥

अर्थः—वृत्तलाभानंतर जिनपूजा व उपवास वगैरे करून याला  
'स्थानलाभ' होतो. त्याचा विधि असाः—

जिनालये शुचौ रंगे पद्ममष्टदलं लिखेत् ॥

विलिखेद्वा जिनास्थानमण्डलं समवृत्तकम् ॥ ४ ॥

श्लक्ष्णेन पिष्टचूर्णेन सलिलालोडितेन वा ॥

वर्तनं मण्डलस्येष्टं चन्दनादिद्रवेण वा ॥ ५ ॥

तस्मिन्नष्टदले पद्मे जैने वाऽऽस्थानमण्डले ॥

विधिना लिखिते तस्मैर्विष्वग्विरचितार्चने ॥ ६ ॥

जिनाचार्याभिमुखं सूरिर्विधिनैनं निवेशयेत् ॥

तवोपासकदीक्षयमिति मुर्ध्नि मुहुः स्पृशन् ॥ ७ ॥



४ गणग्रह ह्यणतात. ), द्वादशांग शास्त्रासंबंधी द्रव्यसंग्रह  
वगैरे अध्यात्म ग्रंथांचें श्रवण करून (याला ५ पूजा-

पञ्चमुष्टिविधानेन स्पृष्ट्वैनमधिमस्तकम् ॥

पूतोऽसि दीक्षयेत्युक्त्वा सिद्धशेषं च लम्बयेत् ॥ ८ ॥

ततः पञ्चनमस्कारपदान्यस्मायुपादिशेत् ॥

मन्त्रोऽयमखिलात्पापात्त्वां पुनीतादितीरयन् ॥ ९ ॥

कृत्वा विधिमिमं पश्चात्पारणाय विसर्जयेत् ॥

गुरोरनुग्रहात्सोऽपि सम्प्रीतः स्वं गृहं व्रजेत् ॥ १० ॥

अर्थः—जिनालयांत निर्मळ अशा मंडपामध्ये बारीक अशा अनेक रंगाच्या पिठांच्या चूर्णानें अथवा चंदन वगैरे गंध द्रव्यांच्या पातळ लेपानें अष्टदलाचें कमल किंवा जिनेश्वराच्या समवसरण सभेसमान व वर्तुलाकार असें मंडल शास्त्रोक्त विधि जाणणाऱ्यांनीं लिहावें. व त्याच्या मध्यभागीं जिनाची प्रतिमा स्थापन करून पूजा करावी. नंतर त्या जिनप्रतिमेपुढें विधिपूर्वक त्या शिष्यास बसवून गुरूनें 'तुला ही उपासक दीक्षा देत आहों' असें ह्यणत त्याच्या मस्तकास वारंवार स्पर्श करावा. याप्रमाणें पंचमुष्टी करून त्याच्या मस्तकास स्पर्श केल्यावर 'तूं पवित्र आहेस आतां उपासक दीक्षा तूं घे' असें म्हणून त्याच्या मस्तकावर तीर्थोदकाचें सेंचन करावें. त्यानंतर, 'हा मंत्र तुला सर्वपापापासून पवित्र करील' असें सांगून त्या शिष्यास पंचनमस्कार मंत्राचा उपदेश करावा. याप्रमाणें सर्व विधि करून त्याला पारणेकरितां मोकळीक द्यावी. नंतर तो शिष्याहि आज आपणास गुरूचा अनुग्रह झाला ह्यणून मोठा हर्ष मानून घरीं जातो. याला "स्थानलाभ" ह्यणतात. घरीं गेल्यावर—

राध्य ह्यणतात. ), जिनोक्त चतुर्दश पूर्व शास्त्राचा अर्थ श्रवण करून, ( याला ६ पुण्ययज्ञ ह्यणतात. ) न्याय,

- ४ इयन्तं कालमज्ञानात्पूजिताः स्थ कृतादरम् ॥  
 पूज्यास्त्विदानीमस्माभिरस्मत्समयदेवताः ॥ ११ ॥  
 ततोऽपमृषितेनालमन्यत्र स्वैरमास्यताम् ॥  
 इति प्रकाशमेवैता नीत्वान्यत्र क्वचित्त्यजेत् ॥ १२ ॥  
 गणग्रहः स एषः स्यात्प्राक्तनं देवतागणम् ॥  
 विसृज्यार्चयतः शान्ता देवताः समयोचिताः ॥ १३ ॥

अर्थः—मिथ्या देवतांस उद्देशून असें ह्यणावे कीं, 'आज-पर्यंत आह्मी आमच्या अज्ञानामुळे तुह्यांस मोठा आदर करून पूजिले. आतां आह्मांस जिनसमय देवता पुज्य आहेत. तर तुह्मी येथून निघून, आमच्यावर न रागावतां तुमच्या इच्छेस येईल तिकडे जाऊन रहा. ' असें ह्यणून त्या मिथ्यादेवांच्या मूर्ति कोर्टेरी बाहेर नेऊन ठेवाव्या. याप्रमाणें पूर्वीच्या मिथ्या देवतांस सोडून जिनधर्मास संमत अशा शांत देवतांची अर्चना करणें याला " गणग्रह " असें ह्यणतात.

- ५ पूजाराध्याख्यया ख्याता क्रियाऽस्य स्यादतःपरा ॥  
 पूजोपवाससम्पत्त्या गृह्णतोऽङ्गार्थसंग्रहम् ॥ १४ ॥

अर्थः—त्यानंतर पूजा व उपवास करून द्वदशांग शास्त्राचा अर्थ समजून घेणें याला ' पूजाराध्य क्रिया ' ह्यणतात.

- ६ ततोऽन्या पुण्ययज्ञाख्या क्रिया पुण्यानुबन्धिनी ॥  
 शृण्वतः पूर्वविद्यानामर्थं सत्रह्यचारिणः ॥ १५ ॥

अर्थः—त्यानंतर पुण्यकारक अशा १४ पूर्व विद्यांचा अर्थ समानधर्मी गुरूपासून समजून घेणें याला ' पुण्ययज्ञ ' ह्यणतात.

व्याकरण, अलंकार, गणित वगैरे शास्त्रांचेहि अध्ययन करून (याला ७ दृढचर्या ह्मणतात.), प्रत्येक महिन्याच्या २ अष्टमी व २ चतुर्दशींच्या रात्रीं प्रतिमायोग धारण करण्याचा अभ्यास करून (याला ८ उपयोगिता ह्मणतात.) द्रव्य व भाव अशा भेदानें दोन प्रकारच्या पातकांचा ध्वंस करणारा जो भव्यात्मा, तो धन्य ह्मणजे पुण्यवान् होय.

अथ शूद्रस्याप्याहारादिशुद्धिमतो ब्राह्मणादिवद्धर्मक्रियाकारित्वं यथोचितमनुमन्यमानः प्राह—

आतां, आचार वगैरेनीं शुद्ध अशा शूद्रालाहि श्रावक धर्म पाळण्याचा अधिकार असणें उचित असल्याविषयीं संमति दाखवितात.

शूद्रोऽप्युपस्कराचार- ।

वपुःशुध्याऽस्तु तादृशः ॥

७ तदास्य दृढचर्याख्या क्रिया स्वसमयश्रुतम् ॥

निष्ठाप्य शृण्वतो ग्रन्थान्बाह्यान्त्यांश्च कांश्चन ॥ १६ ॥

अर्थः—नंतर, स्वधर्माचे शास्त्र उत्तम प्रकारें समजून घेऊन; न्याय, व्याकरण वगैरे लौकिक ग्रंथांचाहि अभ्यास करणें याला 'दृढचर्या' ह्मणतात.

८ दृढव्रतस्य तस्यान्या क्रिया स्यादुपयोगिता ॥

पर्वोपवासपर्यन्ते प्रतिमायोगधारणम् ॥ १७ ॥

अर्थः—ज्याची व्रतें बळकट झाली आहेत अशा त्या भव्यानें अष्टमी व चतुर्दशी पर्वानिमित्त उपवास करून त्या रात्रीं प्रतिमायोग धारण करणें याला "उपयोगिता" ह्मणतात.

जात्या हीनोऽपि कालादि- ।

लब्धौ ह्यात्माऽस्ति धर्मभाक् ॥ २२ ॥

टीका—अस्तु भवतु । कोऽसौ शूद्रोऽपि । किंविशिष्टस्तादृशो जिनधर्मश्रुतेर्योग्यः । किंविशिष्टः सन् उपस्करः आसनाद्युपकरणं आचारः मद्यादिविरतिः वपुः शरीरं तेषां त्रयाणां शुध्या पवित्र-तया विशिष्टः । कुत इत्याह जात्येत्यादि— हि यस्मादास्ति भवति । कोऽसौ आत्मा जीवः । किंविशिष्टो धर्मभाक् श्रावकधर्माधकः । कस्यां सत्यां कालादिलब्धौ कालादीनां कालदेशादीनां लब्धौ धर्माधनयोग्यतायां सत्यां । किंविशिष्टोऽपि हीनो रिक्तोऽव्यपो वा किं पुनरुत्कृष्टो मध्यमो वेत्यपिशङ्क्यार्थः । कया जात्या वर्ण-सम्भूत्या । वर्णलक्षणमार्गे यथा— जातिगोत्रादिकर्माणि शुक्लध्यानस्य हेतवः । येषु ते सुमुखयोवर्णाः शेषाः शूद्राः प्रकीर्तिताः ॥ १ ॥

अर्थः—आसन, आचमन वगैरे विधि, मद्य वगैरेचा त्यागरूप आचार व देह हे ज्याचे शुद्ध आहेत असा शूद्रहि ब्राह्मण वगैरे वर्णाप्रमाणे श्रावकाचार पाळण्यास योग्य आहे. कारण, काल वगैरे लब्धि प्राप्त झाली लक्षणजे जातीनें हीन असाहि आत्मा श्रावक धर्माचर-

१ जातिगोत्रादिकर्माणि शुक्लध्यानस्य हेतवः ॥

येषु ते सुमुखयो वर्णाः शेषाः शूद्राः प्रकीर्तिताः ॥ १ ॥

अर्थः—शुक्लध्यानास कारण अशीं उत्तम जाति, उत्तम गोत्र इत्यादि कर्मे ज्यांत असतात असे तीन वर्ण आहेत. ते हे;—ब्राह्मण क्षत्रिय व वैश्य. बाकीच्या वर्णास शूद्र लक्षणतात. कारण, त्यांत जाति, कुल वगैरे शुद्ध असत नाहीत.

णाचा अधिकारी होतो. (पण, त्याला निर्ग्रथ दीक्षा घेण्याचा अधिकार नाही.)

इत्थमानृशंस्यममृषाभाषित्वं परस्वनिवृत्तिरिच्छानियमो निषिद्धासु च स्त्रीषु ब्रह्मचर्यमिति सर्वसाधारणधर्ममभिधायेदानीमध्ययनं यजनं दानं ब्राह्मणक्षत्रियविशां समानो धर्मोऽध्यापनयाजन-प्रतिग्रहाश्च ब्राह्मणानामेवेति विशेषतस्तद्याख्यानार्थमुत्तरप्रबन्ध-मुपक्रममाणो यजनादिविधानाय पाक्षिकं तावदेवं नियुक्ते —

आतां, पाक्षिक श्रावकास देवपूजा वगैरे क्रिया करण्यास सांगतात.

यजेत देवं सेवेत गुरून् पात्राणि तर्पयेत् ॥

कर्म धर्म्यं यशस्यं च यथालोकं सदा चरेत् ॥२३॥

टीका—यजेत् पूजयेत् । कोऽसौ श्रावकः । कं देवं दीव्यते स्तूयते इन्द्रादिभिरिति देवः परमात्मा तं । तथा सेवेत उपासीत । कोऽसौ श्रावकः । कान् गुरून् । धर्माचार्यादीन् । तथा तर्पयेत् प्रीणयेत् । कोऽसौ श्रावकः । कानि पात्राणि संपूज्यमानमोक्ष-कारणगुणान् । तथा आचरेत् अनुतिष्ठेत् । कोऽसौ श्रावकः । किं तत् कर्म भूत्वाऽऽश्रितानित्यादिना वक्ष्यमाणं । किंविशिष्टं धर्म्यं दयाप्रधानत्वाद्धर्मादिनपेतं न केवलं धर्म्यं यशस्यं च धर्म्यं तावदवश्यमाचरणीयं तच्चेत्कीर्त्यर्थं स्यात्तदा सुतरां भद्रकमित्ययमर्थश्चशब्देनाचीयते । अनुक्तसमुच्चये वाऽत्र चः । तेनायुष्यं च कर्म ब्राह्ममुहूर्तोत्थानशरीरचिन्तादन्तधावनादिकमायुर्वेदप्रसिद्धमाचरेदिति लभ्यते । कथं यथालोकं लोकस्यानतिक्रमेण लोकानुसारेणेत्यर्थः । यो य आलोक आसीपदेशप्रकाशस्तेन तेन तत्तत्कर्माचरेदिति ब्राह्मम् । कथं सदा नित्यम् ॥

अर्थः—देव ह्यणजे इंद्रादिकांनीं पूज्य असा जो परमात्मा वीतराग जिनेश्वर, त्याची पूजा करावी. धर्माचार्य वगैरे दिगंबर मुनींची सेवा करावी. मोक्षमार्गी प्रवृत्त असलेल्या कोणत्याहि प्रतीच्या पात्रास तृप्त करावें. जेणेंकरून दयामूलक धर्म व निर्मल कीर्ति वृद्धिंगत होतील अशीं कृत्यें करावीं व लोकांस ( सत्पुरुषांस ) संमत असें आचरण, अथवा यथालोक ह्यणजे आप्त जो जिनेश्वर त्याचा जो आलोक ह्यणजे वचनप्रकाश अर्थात् उपदेश त्यास अनुसरून आचरण ठेवावें. हीं वरील सर्वकृत्यें सर्वदां करावीं.

१ दानं पूजा जिनैः शीलमुपवासश्चतुर्विधः ॥

श्रावकाणां मतो धर्मः संसारारण्यपावकः ॥ १ ॥

अर्थः—दान, पूजा, शील व चार प्रकारचा उपवास इत्यादि प्रकारचा जो श्रावक धर्म, तो दुःखमय संसाररूपी अरण्यास जाळून टाकणारा अग्निच आहे.

आराध्यन्ते जिनेन्द्रा गुरुषु च विनतिधार्मिके प्रीतिरुच्चैः ।

पात्रेभ्यो दानमापन्निहतजनकृते तच्च कारुण्यबुद्ध्या ॥

तत्त्वाभ्यासः स्वकीयव्रतस्तिरमलं दर्शनं यत्र पूज्यं ।

तद्गार्हस्थ्यं बुधानामितरदिह पुनर्दुःखदो मोहपाशः ॥ २ ॥

अर्थः—जिनेन्द्राची आराधना, गुरूंच्या ठायीं विनय, धार्मिक लोकांवर प्रेम, सत्पात्रीं दान, विपत्तीनें गांजलेल्या लोकांवर करुणा करून त्यांची विपत्ति दूर करणें, तत्त्वज्ञानाचा अभ्यास, आपणास कर्तव्य अशा व्रताच्या ठायीं आसक्ति व पवित्र सम्यग्दर्शन ह्या सगळ्या क्रिया ( कायिक; वाचिक, व मानसिक-

इतोऽष्टादशभिः पथैर्जिनपूजां प्रपञ्चयति—

येधून १८ श्लोकांनीं जिनपूजेचा विस्तार सांगतात.

यथाशक्ति यजेतार्हदेवं नित्यमहादिभिः ॥

सङ्कल्पतोऽपि तं यष्टा भेकवत्स्वर्महीयते ॥२४॥

टीका—यजेत । कोऽसौ श्रावकः । कं अर्हदेवं । कथं यथाशक्ति या या शक्तिस्तया । कैर्नित्यमहादिभिः वक्ष्यमाणैः । यतो महीयते पूज्यो भवति । कोऽसौ जीवः । किंविशिष्टो यष्टा ताच्छील्येन साधुत्वेन वा यजमानः । कं तं अर्हदेवं । कस्मात्सङ्कल्पतोऽपि यजेऽहमर्हदेवमिति चिन्तनात् । किं पुनः कायेन गन्धाक्षतादिभिर्वाचा च विचित्रस्तवनैरुपचरन्नित्यपिशङ्कार्थः । क महीयतेऽसौ स्वः स्वर्गे महर्द्धिकदेवैः स्वामीति मत्वा पूज्यत इत्यर्थः । किंवत् भेकवत् राजगृहनगरे श्रेष्ठिचरो दर्दुरो यथा ॥

अर्थः—ज्याची जशी शक्ति असेल ती न झांकतां त्यानें अरहंत देवाची नित्यमह वगैरे पूजा करावी. नुसत्या संकल्पानेंहि ह्मणजे ‘आतां आपण जिनपूजा करावी असा विचार मात्र मनांत आणून’ जिनाची पूजा करणारा जीव राजग्रह नगरांतील बेढकाप्रमाणें स्वर्गलोकीं महर्द्धिक वगैरे साधारण देवांनीं पूजिला जातो. तात्पर्य,—ज्याअर्थीं जिनपूजेचा नुसता संकल्प करून ह्मणजे मनानेंच जिनाची पूजा करून, स्वर्गांतील

क्रिया ) जेथें चालतात, तोच गृहस्थपणा विद्वानांस आवडतो. ह्या वरील क्रिया जेथें नाहींत तो गृहस्थपणा इहपरलोकीं दुःख देणारा केवळ मोहपाशच होय.

इंद्राचें पद तिर्यच जीवास प्राप्त झालें, त्याअर्थी तिर्य-  
चापेक्षांहि अधिक योग्यतेचा जो मनुष्य, त्यानें जर  
काया, वाचा, मनैकरून अरहंत देवाची पूजा केली;  
तर त्यास त्याहीपेक्षां अधिक सुखाचा लाभ होणारच.

अथ नित्यमहमाह—

प्रोक्तो नित्यमहोऽन्वहं निजगृहान्नीतेन गन्धादिना  
पूजा चैत्यगृहेऽर्हतः स्वविभवैश्चैत्यादिनिर्माणम् ॥  
भक्त्या ग्रामगृहादिशासनविधादानं त्रिसन्ध्याश्रया  
सेवा स्वेऽपि गृहेऽर्चनं च यमिनां नित्यप्रदानानुगम्

टीका—प्रोक्तः प्रवचने कथितः । कोऽसौ नित्यमहः ।  
किं पूजा । कस्यार्हतः । क चैत्यगृहे । केन गन्धादिना चन्दना-  
क्षतपुष्पादिना । किंविशिष्टेन नीतेन चैत्यालयं प्रापितेन ।  
कस्मान्निजगृहात् । कथमन्वहं दिने दिने । तथा प्रोक्तो नित्यमहः  
। किं तत् चैत्यादिनिर्माणं चैत्यचैत्यालयादिनिष्पादनं । कस्मात्  
स्वविभवात् निजधनविनियोगात् । तथा प्रोक्तो नित्यमहः ।  
। किं तत् ग्रामगृहादिशासनविधादानं ग्रामः संवसथः गृहं वेश्म  
आदिशद्वात्क्षेत्रहट्टादिपरिग्रहः । ग्रामगृहादेः शासनविधया  
शासनविधानेन दानं । कया भक्त्या । तथा प्रोक्तो नित्यमहः ।  
किं सेवा आराधना । कस्य अर्हतः । किंविशिष्टा त्रिसन्ध्या-  
श्रया त्रैकालिकी । क गृहे । किंविशिष्टे स्वे निजे । अपिशद्वा-  
चैत्यगृहे च । न केवलमर्हत्पूजादिकं नित्यमहः प्रोक्तः । अर्चनं  
च पूजा । केषां यमिनां संयतानां । किंविशिष्टं नित्यप्रदानानुगं  
अहरहःप्रकृष्टदानसम्बन्धि ॥



अर्थः— १ प्रतिदिवशीं आपल्या घरांतून गंध, पुष्प, अक्षता वगैरे पूजनसामग्री नेऊन चैत्यालयांत अरहंताचें पूजन करणें, २ स्वतां न्यायानें मिळविलेलें द्रव्य स्वर्च करून जिनमंदिर किंवा जिनबिंब भक्तीनें निर्माण करवून ; तेथें नित्य पूजा चालण्याकरितां गांव, घर किंवा जमीन वगैरे उत्पन्नाचीं क्षेत्रें शासनविधीनें ( सनदपत्र करून ) देणें, ३ घरीं किंवा जिनमंदिरीं नित्य त्रिकाळ अरहंताची भाक्ति करणें, ४ नित्य दिगंबर मुनींस आहार वगैरे दान देऊन त्यांची पूजा करणें हे सगळे नित्यमह होत.

अथाष्टान्हिकैन्द्रध्वजौ लक्षयति—

जिनार्चा क्रियते भव्यै-

र्या नन्दीश्वरपर्वणि ॥

अष्टाह्निकोऽसौ सेन्द्राद्यैः ।

साध्या त्विन्द्रध्वजो महः ॥ २६ ॥

टीका—प्रोक्तः सूरिभिः । कोऽसावसौ महः । किमाख्यः आष्टान्हिकः । या किं या क्रियते काऽसौ जिनार्चा अर्हत्पूजा । कैर्भव्यैर्भाविकलोकैः सम्भूयकरणज्ञापनार्थं बहुवचनं । क नन्दीश्वरपर्वणि प्रतिवर्षमाषाढकार्तिकफाल्गुनसितपक्षेष्वाष्टम्यादिदिनाष्टके । तथा प्रोक्तः । कोऽसौ इन्द्रध्वजाख्यो महः । काऽसौ सा जिनार्चा । किंविशिष्टा साध्या क्रियमाणा । कैरिन्द्राद्यैः इन्द्रप्रतीन्द्रसामानिकादिभिः । तुर्विशेषे ॥

अर्थः—नन्दीश्वरपर्वणि ह्यणजे आषाढ, कार्तिक व फाल्गुन या तीन मासांच्या शुद्धपक्षां अष्टमीपासून पौर्णि-

मेपर्यंत पुष्कळ भाविक जन मिळून जी जिनपूजा करि-  
तात, तिला अष्टाद्विक मह ह्मणतात. आणि इंद्र, प्रतींद्र  
व सामानिक वगैरे देव मिळून जी जिनपूजा करितात,  
तिचें नांव इंद्रध्वजमह होय.

अथ महामहं निर्दिशति—

भक्त्या मकुटबद्धैर्या ।

जिनपूजा विधीयते ॥

तदाख्या सर्वतोभद्र- ।

चतुर्मुखमहामहाः ॥ २७ ॥

टीका—भवन्ति । कांस्तदाख्याः तस्या जिनपूजाया आख्या  
नामानि । किं किं सर्वतोभद्र इति चतुर्मुख इति महामह  
इति च तिस्रोऽन्वर्थाः । तत्र सर्वत्र प्राणिवृन्दे कल्याणकरणा-  
त्सर्वतोभद्रः । चतुर्मुखमण्डपे विधीयमानत्वाच्चतुर्मुखः । अष्टा-  
द्विकापेक्षया गुरुत्वान्महामहः । या किं जिनपूजा विधीयते ।  
कैर्मकुटबद्धैर्मकुटानि बद्धानि सामन्तादिभिरेषां ते मकुटबद्धा  
मण्डलेश्वरास्तैः कया भक्त्या न तु चक्रवर्त्यादिभयादिना । एषा  
अपि कल्पवृक्षवत् । केवलमत्र प्रतिनियतजनपदविषयं दानादिकम् ॥

अर्थः—मकुटबद्ध ह्मणजे मांडलिक राजे मिळून  
भक्तीने ( चक्रवर्तींची आज्ञा पाळण्याकरितां नसून  
केवळ भक्तीनेच ) जी जिनपूजा करितात; तिला १ सर्व-  
तोभद्र, २ चतुर्मुख व ३ महामह अशीं तीन नांवें  
आहेत. प्राणिमात्रांचें कल्याण करणारा ह्मणून सर्वतो-  
भद्र, चतुर्मुख मंडपांत तो केला जातो ह्मणून चतुर्मुख  
व अष्टाद्विकापेक्षांहि मोठा ह्मणून महामह.

अथ कल्पवृक्षमहमाह—

किमिच्छकेन दानेन ।

जगदाशाः प्रपूर्य यः ॥

चक्रिभिः क्रियते सोऽर्ह-

द्यज्ञः कल्पद्रुमो मतः ॥ २८ ॥

टीका—मतः पूर्वाचार्यैः सम्मतः । कोऽसौ सोऽर्हद्यज्ञः । किमाख्यः कल्पद्रुमः कल्पवृक्षनामा । यः किं यः क्रियते । कैश्चक्रिभिः सम्राड्भिः । किं कृत्वा प्रपूर्य प्रकर्षेण पूरयित्वा । काः जगदाशाः लोकानां मनोरथान् । केन दानेन त्यागेन । किंविशिष्टेन किमिच्छकेन किमिच्छसीति प्रश्नपूर्वकं याचकेच्छानुरूपं क्रियमाणेन ॥

अर्थः—याचकांच्या इच्छेप्रमाणे दान देऊन जगाची आशा पूर्ण करून चक्रवर्ती राजाकडून जी अरहंताची पूजा केली जाते, त्याला कल्पद्रुम मह म्हणतात.

सम्प्रति बलिस्नपनादिजिनपूजाविशेषाणां नित्यमहादिष्वेवान्तर्भावमाह—

बलिस्नपननाट्यादि ।

नित्यं नैमित्तिकं च यत् ॥

भक्त्या कुर्वन्ति तेष्वेव ।

तद्यथास्वं विकल्पयेत् ॥ २९ ॥

टीकाः— विकल्पयेत् नित्यमहादीनामेव भेदमाचक्षीत विद्वान् । किं तत् तत् । केषु तेष्वेव नित्यमहादिषु । कथं यथास्वं यथायोग्यं । यत्किं यत्कुर्वन्ति निर्वर्तयन्ति । के ते भक्ता भक्तिमन्तः

किं तत् बलिस्त्रपननाट्यादि बलिरूपहारः स्त्रपनमभिषेकः नाट्यं गीतनृत्यवाद्यं । आदिशब्दात्प्रातिष्ठारथयात्रादि । किंविशिष्टं नित्यं प्रत्यहविधेयं ! तथा नैमित्तिकं पर्वकर्तव्यम् ॥

अर्थः—बलि ( पूजासाहित्य ), अभिषेक, नृत्य, वाद्य, प्रतिष्ठा, रथयात्रा वगैरे ज्या नित्य व कांहीं पर्वकालांच्या निमित्तानें भाविकजन पूजा करितात, त्या सर्वांचा समावेश वर सांगितलेल्या प्रकारांतच करावा.

इदानीं जलादिपूजानां प्रत्येकं फलमालपति—

आतां, जल वगैरे द्रव्यांनीं केल्या जाणाऱ्या प्रत्येक पूजेचें फल संक्षेपानें सांगतात.

वार्धारा रजसः शमाय पदयोः सम्यक्प्रयुक्ता  
ऽर्हतः । सद्गन्धस्तनुसौरभाय विभवाच्छेदाय  
सन्त्यक्षताः ॥ यष्टुः स्रग्दिविजस्रजे चरुरुमा-  
स्वाम्याय दीपस्तिवषे ॥ धूपो विश्वदृगुत्सवाय  
फलमिष्टार्थाय चार्घाय सः ॥ ३० ॥

टीका— भवति । काऽसौ वार्धारा वारो जलस्य धारा-  
स्रुतिः । कस्मै शमाय अनुद्रेकाय । कस्य रजसः पापस्य  
ज्ञानदृगावरणकर्मणोर्वा ॥ कस्य यष्टुरात्मनः पूजयितुः ।  
किंविशिष्टा सती प्रयुक्ता सम्पादिता । कयोः पदयोश्चरणयोः ।  
कस्य अर्हतो जिनेन्द्रस्य । कथं सम्यक् यथोक्तविधानेन ।  
तथा भवति कोऽसौ सद्गन्धः श्रीचन्दनद्रवः । कस्मै तनुसौरभाय  
शरीरसौगन्ध्यनिमित्तम् । कस्य यष्टुः । किंविशिष्टः सन्  
अर्हतः पदयोः सम्यक् प्रयुक्तः । तथा सन्ति भवन्ति । के

अक्षताः अखण्डतण्डुलाः । कस्मै विभवाच्छेदाय विभवस्याणि-  
मादिविभूतेर्द्रविणस्य वाऽच्छेदो निरन्तरप्रवृत्तिस्तदर्थः । शेषं पूर्व-  
वत् । तथा भवति काऽसौ स्रक् पुष्पमाला । कस्यै दिविजस्रजे  
स्वर्गजन्ममन्दारमालार्थः । तथा भवति । कोऽसौ चरुः नैवेद्यं ।  
कस्मै उमास्वाम्याय लक्ष्मीपतित्वार्थः । तथा भवति । कोऽसौ  
दीपः आरातिकं । कस्यै त्विषे दीप्त्यर्थः । तथा भवति कोऽसौ  
धूपः । किंविशिष्टः अर्हतः पदयोः सम्यक्प्रयुक्तः । कस्मै  
विश्वदृगुत्सवाय यष्टुः परमसौभाग्यार्थः । तथा भवति । किं तत् फलं  
बीजपूरादि । कस्मै इष्टार्थायामिमतवस्तुपाप्त्यर्थः । तथा भवति ।  
कोऽसौ सः श्रुतत्वादर्थः पुष्पाञ्जलिरित्यर्थः । कस्मै भवत्यर्घाय  
पूजाविशेषार्थः । अथवा स इत्यनेन पूर्वोक्त इष्टार्थ एव परामृश्यते  
तेनायमर्थः कथ्यते । यद्यद्यष्टुरात्मनोऽभिमतं वस्तु गीतादिकं तेन  
जिने सम्यक्प्रयुक्ते तत्तद्विशिष्टगीतादिवस्तुनोऽर्घाय मूल्याय स्यात्त-  
त्सम्पादयतीत्यर्थः ॥

अर्थः—अरहंत परमेश्वराख्या पदकमलांच्या ठायीं शुद्ध-  
भावानें स्वतां अर्पिली जाणारी जलधारा पूजकाच्या ज्ञाना-  
वरण व दर्शनावरण कर्मरजाचा उपशम करिते. गंध अर्पण  
करणारास अन्यजन्मीं सुगंध देइ, अखंडतण्डुलांच्या पूजेनें  
पूजकांस निरंतरचें ऐश्वर्य, पुष्पमाला अर्पण करणारास  
स्वर्गां मंदारपुष्पांची माला, चरुपूजेनें लक्ष्मीचें स्वामित्व,  
दीपपूजेनें तेजास्विता, धूपानें सुखसंपत्ति, फलानें इच्छित  
पदार्थांचा लाभ, पुष्पांजलीनें व अध्यानें पूज्यता अशीं  
फळे क्रमानें प्राप्त होतात.

अथ जिनेज्यायाः सम्यक्प्रयोगविध्युपदेशपुरस्सरं लोकोत्तरं  
फलविशेषमाविष्करोति—

आतां, पूजेचा उत्तमविधि व त्यापासून प्राप्त होणारें लोकोत्तर फल वर्णितात.

चैत्यादौ न्यस्य शुद्धे निरुपरमनिरौपम्यत-  
त्तद्गुणौघ- । श्रद्धानात्सोऽयमर्हन्निति जिनम-  
नघैस्तद्विधोपाधिसिद्धैः ॥ नीराद्यैश्चारुका-  
व्यस्फुरदनणुगुणग्रामरज्यन्मनोभि- । भव्यो  
ऽर्चन् दृग्विशुद्धिं प्रबलयतु यया कल्पते  
तत्पदाय ॥ ३१ ॥

टीका— प्रबलयतु प्रबलां प्रकृष्टस्वफलदानसमर्थां करोतु ।  
कोऽसौ भव्यो भाक्तिकः । कां दृग्विशुद्धिं शङ्कादिदोषरहिततत्त्व-  
श्रद्धानं । किं कुर्वन्नर्चन् पूजयन् । कं जिनं कैर्नीराद्यैः जलग-  
न्धाक्षतादिभिः । किंविशिष्टैरनघैः हठहृतत्वाहृद्यत्वस्वान्यभुक्तशेष-  
त्वादिपापहेतुदोषमुक्तैः । पुनः किंविशिष्टैः तद्विधोपाधिसिद्धैः  
निष्पापसाधननिष्पन्नैः । पुनरपि किंविशिष्टैः चार्वेत्यादि— चारूणि  
दोषनिरासाद्गुणालङ्कारस्वीकाराच्च सहृदयहृदयावर्जकानि काव्यानि  
लोकोत्तरवर्णनारमणीयगद्यपद्यवाङ्मयानि । अनणुगुणग्रामा अनणूनां  
महतां गुरूणां गुणानां निसर्गनिर्मलत्वसौरभ्यातिशयादीनां ग्रामाः  
सङ्घाताः चारुकाव्यैः स्फुरन्तो भावुकलोकचित्तेषु चमत्कुर्वन्तोऽनणु-  
गुणग्रामास्तै रज्यन्ति प्रियमाणानि मनांसि येषु तानि तैः । किं  
कृत्वा अर्चन् न्यस्य शोभ्यमर्हन्निति उत्सर्पणावसर्पणतृतीयचतुर्थ-  
कालयोर्यश्चतुर्लिंगाः सप्तलिंगाः सप्तलिंगाः समवसृतावष्टमहाप्रातिहार्यविराजि-  
तस्तत्त्वोपदेशेन भगवन्लोकगुणत्वान् सोऽर्हन्नेवायमिति नामस्थापना-  
द्रव्यभावैः स्थापयित्वा । वं जिनं क्व चैत्यादौ चैत्ये प्रतिमायां ।

आदिशब्देन तदलाभे जिनाकाररहितेऽप्यक्षतादौ । किंविशिष्टे शुद्धे निर्दोषे रुद्राकाररहिते इत्यर्थः । कस्मान्निरित्यादि । निरुपरमा अविनश्वरा निरौपम्या असाधारणास्तत्तद्गुणा व्यवहारेण दर्शनविशुद्ध्यादिभावनाप्रमुखकल्याणपञ्चकलक्षणा निश्चयेन चिदचिदज्ञेयद्रव्याकारविशेषस्वरूपास्तेषामोषे समूहे श्रद्धानं रुचिरतरोऽनुरागस्तस्मात् । इत्थं तां दृग्विशुद्धिं प्रबलयतु भव्यो यया दृग्विशुद्ध्या प्रबलीकृतया । कल्पते सम्पद्यते भव्यः । कस्मै तत्पदाय तीर्थकरत्वाय । एकस्या अपि दृग्विशुद्धेरुत्कर्षस्य तीर्थकरत्वाख्यपुण्यविशेषबन्धहेतुत्वप्रसिद्धेः ॥

अर्थः—शुद्ध ह्यणजे शास्त्रोक्त विधीनें निर्मिलेली अर्थात् रौद्र वगैरे आकार नसून वीतरागमुद्रा जिची आहे अशी जिनप्रतिमा अथवा प्रसंगीं ती नसल्यास निर्मळ तंडुल मंत्रविधीनें स्थापना करून; कधींच नाश न होणारे व निरुपम असे जे अरहंतांचे ते ते गुण, त्यांवर श्रद्धा ठेऊन तोच हा अरहंत येथें प्रत्यक्ष आहे अशी त्या जिनविवाच्या ठिकाणीं किंवा तंडुलाच्या ठिकाणीं कल्पना करून; पापरहित साधनांनीं मिळविलेल्या निर्मळ अशा जल, गंध वगैरे द्रव्यांनीं व चारु ह्यणजे ज्यांत दोष नसून उपमा वगैरे अलंकारांनीं जिनेश्वराचे फार मोठे असे गुण वर्णिले आहेत व ज्यांच्या श्रवणानें भाविक लोकांचें अंतःकरण तुष्ट होतें अशा मनोहर काव्यांचा ( मंत्र श्लोकांचा ) गंभीर व मधुर शब्दानें उच्चार करीत त्या त्या जिनाची पूजा करणारा भव्य आपलें विशुद्ध सम्यग्दर्शन प्रबल ह्यणजे उत्कृष्ट फल देण्यास समर्थ करो. कारण, नुसतें सम्यग्दर्शनच जरी शुद्ध ह्यणजे शंकादि दोषांनीं रहित असलें,

तरी भव्यास तीर्थकरत्व प्राप्त होण्याच्या पुण्याचा बंध होतो, तात्पर्यः— जिनपूजा करणारा श्रावक शुद्ध सम्यग्दृष्टि असल्यास ; त्याला इतरापेक्षां विशेष प्रकारचे फळ प्राप्त होतें.

अधुना व्रतभूषितस्य जिनयष्टुरिष्टफलविशेषमभिधत्ते—

आतां अहिंसा वगैरे अणुव्रते पाळणाऱ्या जिनपूजकास प्राप्त होणाऱ्या विशेष फलाचे वर्णन करितात.

दृक्पूतमपि यष्टारमर्हतोऽभ्युदयश्रियः ॥

श्रयन्त्यहम्पूर्विकया किं पुनर्व्रतभूषितम् ॥ ३२ ॥

टीका—श्रयन्ति आश्रयन्ति । का अभ्युदयश्रियः पूजार्था-  
ज्ञैश्वर्यविशिष्टबलपरिजनकामभोगसम्पदः । कं यष्टारं पूजकं ।  
कस्य अर्हतः । किंविशिष्टं दृक्पूतमपि सम्यक्त्वविशुद्धं । अपि-  
विस्मये । कया अहम्पूर्विकया अहं पूर्वमहं पूर्वमित्यहम्पूर्विका-  
तया अहंप्रथमिकया । किंपुनर्विशेषात् श्रयन्ति । का अभ्युदयश्रियः ।  
कं अर्हतो यष्टारं । किंविशिष्टं व्रतैर्देशतो हिंसादिविरतिलक्षणै-  
र्भूषितमलंकृतम् ॥

अर्थः—नुसत्या सम्यग्दर्शनानेच शुद्ध अशा अर्हत्पू-  
जकांस पूजा, आज्ञा, ऐश्वर्य, बल, परिवार इत्यादि संपत्ति  
मी पुढें तूं पुढें अशी त्वरा करून प्राप्त होतात. मग, सम्य-  
ग्दर्शनानें पवित्र व अहिंसादि व्रते हेच कोणी अलंकार  
यांहींकरून भूषित असा जिनपूजक असल्यावर काय  
विचारावें ? ह्मणजे त्याच्या संपत्तीस तर पारावार नाही !

जिनपूजान्तरायपरिहारोपायविधिमाह—

आतां ; जिनपूजेस विघ्न न येण्याचा उपाय सांगतात.



यथास्वं दानमानाद्यैः ।

सुखीकृत्य विधर्मणः ॥

सधर्मणः स्वसात्कृत्य ।

सिद्ध्यर्थी यजतां जिनम् ॥ ३३ ॥

टीका—यजतां पूजयतु । कोऽसौ सिद्ध्यर्थी जिनपूजासम्पूर्णतां स्वात्मोपलब्धि वा अभीप्सुः । कं जिनं । किं कृत्वा स्वसात्कृत्य स्वाधीनान् कृत्वा । कान् सधर्मणः जिनधर्मभावितान् । किं कृत्वा सुखीकृत्य अनुकूलान् कृत्वा । कान् विधर्मणः शिवादिधर्मरतान् सर्वधर्मबाह्यान् वा । कैः यथास्वं यथायोग्यं । दानमानाद्यैः अर्थविनियोगसत्काराभ्युत्थानासनप्रदानादिभिरावर्जनोपायैः ॥

अर्थ—निर्विघ्नपणें पूजा व्हावी अशी ज्याला इच्छा आहे; अथवा, मोक्षाभिलाषी जो आहे; त्यानें, विधर्मी-लोकांस यथायोग्य दान सन्मान वगैरे करून व आपले धर्माचे लोकांस अनुकूल करून घेऊन; नंतर जिनपूजा करावी.

स्नानापास्तदोषस्यैव गृहस्थस्य स्वयं जिनयजनेऽधिकारित्व-मन्यस्य पुनस्तथाविधेनैवान्येन तद्याजन इत्युपदेशार्थमाह—

आर्ता; स्नानाने देह शुद्ध करून स्वतः जिनपूजा करावी, इतरांकडून कराविल्यास, तोहि स्नानाने पवित्र झालेला असावा हें सांगतात.

१ नित्यं स्नानं गृहस्थस्य देवार्चनपरिग्रहे ॥

यतेस्तु दुर्जनस्पर्शात्स्नानमन्यद्विगर्हितम् ॥ १ ॥

अर्थ—जिनपूजा करणाऱ्या गृहस्थाने नित्य स्नान करावें. यती क्षणजे मुनी जो आहे, त्यानें, दुर्जन क्षणजे ज्यांना स्पर्श

स्त्र्यारम्भसेवासंक्लिष्टः ।

स्नात्वाऽऽकण्ठमथाशिरः ॥

स्वयं यजेतार्हत्पादा- ।

नस्नातोऽन्येन याजयेत् ॥ ३४ ॥

करून नये अशा लोकांचा स्पर्श झाल्यास स्नान करावें. यतीनें दुर्जनस्पर्शाशिवाय इतर कारणावरून स्नान करणें निंद्य होय.

वातातपादिसंस्पृष्टे भूरितोये जलाशये ॥

अवगाह्याचरेत्स्नानमतोऽन्यद्गालितं भजेत् ॥ २ ॥

अर्थः— ज्या नद्या, तळीं किंवा विहिरीच्या पाण्यांत आपण स्नान करावयाचें; तें पाणी स्नानाच्या वेळीं उन्धानें तापलेलें असावें आणि त्यावर वारा खेळत असावा. अशा पाण्यांत बुढी मारून स्नान करावें तसें नसल्यास वस्नानें पाणी शोधून त्यानें स्नान करावें.

पादजानुकटिग्रीवाशिरःपर्यन्तसंश्रयम् ॥

स्नानं पञ्चविधं ज्ञेयं यथादोषं शरीरिणाम् ॥ ३ ॥

अर्थः— नुसते पाय धुणें, गुडघ्यापर्यंत पाय धुणें, कमरेपर्यंत अंग धुणें; कंठापर्यंत अंग धुणें आणि मस्तकावरून स्नान करणें याप्रमाणें स्नान पांच प्रकारचें आहे. तेव्हां, त्या त्या दोषास उचित असें स्नान संसारी प्राण्यानें करीत असावें.

ब्रह्मचर्योपपन्नस्य निवृत्तारम्भकर्मणः ॥

यद्वातद्वा भवेत्स्नानमन्त्यमन्यस्य तु द्वयम् ॥ ४ ॥

अर्थः— जो ब्रह्मचारी आहे आणि ज्यानें प्रपंचासंबंधी उद्योग धंदे सोडिले आहेत, त्याचें स्नान जितक्यास तितकेंच असतें.

टीका—यजेत् पूजयेत् । कोऽसौ भाक्तिको गृही । कानर्ह-  
त्पादान् जिनचरणान् । केन स्वयमात्मना । किं कृत्वा स्नात्वा  
शौचं कृत्वा । कथमाकण्ठं कण्ठावधि । अथ अथवा । आशिरः  
मस्तकावधि । यथादोषं जलेन शुचीभूयेत्यर्थः । किंविशिष्टः सन्  
स्यादीति स्त्रीसेवया कृप्यादिकर्मसेवया च । संक्लिष्टः समन्ता-  
त्काये मनसि चोपतप्तः । प्रस्वेदतन्द्रालस्यदौर्मनस्यादिदोष-  
दूषितकायमनस्क इत्यर्थः । सोऽस्नातः किं कुर्यादित्याह— याजये-  
त्पूजया संयोजयेत् । कोऽसौ अस्नातस्तथाविधो गृही । कानर्हत्पा-  
दान् । केन कर्त्राऽन्येन स्नातेन सब्रह्मचारिसतीर्थ्यसधर्मकादिना ॥

पण ज्याला स्त्री आहे आणि जो कृषी वगैरे उद्योग करितो, त्यानें  
मात्र आकंठ किंवा मस्तकावरून स्नान करावें.

सर्वारम्भविजृम्भस्य ब्रह्मजिह्वस्य देहिनः ॥

अविधाय बहिःशुद्धिं नाप्तोपास्यधिकारिता ॥ ५ ॥

अर्थः—जो प्रपंचासंबंधी सर्व उद्योग धंदे करितो आणि  
ज्याला स्त्री आहे, त्याचें अंतरंग जरी शुद्ध असलें; तरी बाह्य  
शुद्धीवाचून अर्थात् स्नान केल्यावाचून जिनपूजा करण्याचा त्याला  
अधिकार नाही.

आप्लुतः सम्प्लुतश्चान्तः शुचिवासोविभूषितः ॥

मौनसंयमसम्पन्नः कुर्याद्देवार्चनाविधिम् ॥ ६ ॥

अर्थः—प्रथम शुद्ध जलानें स्नान करून, नंतर मंत्रपूर्वक  
आचमनानें अंतःशुद्धि करून व शुद्धवस्त्रानें सुशोभित होऊन;  
आणि मग मौन धारण करून व चित्त स्वाधीन ठेऊन देवपूजेचा  
विधि करावा.

दन्तधावनशुद्धास्यो मुखवासोवृताननः ॥

अर्थ:--स्त्रीसंग व उदरनिर्वाहाचे उद्योग करून थकलेला जो प्रायंचिक मनुष्य; त्यानें कंठापर्यंत किंवा मस्तकावरूनहि स्नान करून शुद्ध होऊन; नंतर स्वहस्ते जिनेंद्राची पूजा करावी. स्नान झालें नसल्यास, जो स्नानानें शुद्ध झाला आहे अशा इतर श्रावकाकडून पूजा करवावी.

चैत्यादिनिर्माणस्य फलविशेषसमर्थनया विधेयतामभिधत्ते—

आतां; जिनचैत्यालय वगैरे निर्माण करविण्यांतहि विशेष पुण्य असल्याचें सांगतात.

निर्माप्यं जिनचैत्यतद्गृहमठस्वाध्यायशालादिकं ।  
श्रद्धाशक्त्यनुरूपमस्ति महते धर्मानुबन्धाय यत् ॥  
हिंसारम्भविवर्तिनां हि गृहिणां तत्तादृगालम्बन- ।  
प्रागल्भीलसदाभिमानिकरसं स्यात्पुण्यचिन्मानसम् ॥

टीका— निर्माप्यं कारापणीयं । किं तत् तज्जिनचैत्यादि । कैः पाक्षिकश्रावकैः । किंविशिष्टं श्रद्धाशक्त्यनुरूपं रुच्या सामर्थ्येन च सदृशं । यत्किं यदस्ति भवति । कस्मै धर्मानुबन्धाय धर्मस्यानुबन्धोऽलब्धलाभो लब्धपरिरक्षणं रक्षितवर्धनमित्येवमात्मकस्तस्मै । किंविशिष्टाय महते विपुलाय । एतेन चैत्यालयादिनिर्माणे सावद्यदोषशङ्कानिरस्ता । यदाह तत्पापमपि न पापं यत्र महान् धर्मस-

असज्जातान्यसंसर्गः सुधीर्देवानुपाचरेत् ॥ ७ ॥

अर्थ:--प्रथम दांत घांसून मुख शुद्ध करून व मुखवस्त्रानें तोंड झांकून घेऊन आणि अशुचि मनुष्यांस किंवा अशुचि पदार्थास स्पर्श न करितां विद्वानानें देवाची पूजा करावी.

म्बन्ध इति ॥ हि यस्मात् । स्यात् भवेत् किं तत् मानसं मनः ।  
 किंविशिष्टं पुण्यचित् पुण्यं सुकृतं चिनोति वर्धयति । अथवा  
 पुण्या पवित्रा निर्मला चित् संवित्तिर्यस्य तत्पुण्यचित् । केषां गृहिणां  
 गृहस्थानां । किंविशिष्टानां हिंसारम्भविवर्तिनां हिंसाप्रायः आरभः  
 कृप्यादिः तत्र विवर्तन्ते विविधं परिणमन्तेऽभीक्ष्णमिति तद्विवर्ति-  
 नस्तेषां । किंविशिष्टं तत् तदित्यादि तज्जिनचैत्यचैत्यालयादि तादृ-  
 क्कीर्तयान्नादि आलम्बनं दृग्विशुद्ध्यङ्गं प्रागल्भी प्रौढिः आभिमानि-  
 करसः अहङ्कारानुरक्तो हर्षः तच्च तादृक् तत्तादृक् तच्च तदालम्बनं  
 च तस्या प्रागल्भी तथा लसन् द्योतमानः स्वसंवित्तिविषयमिवन्  
 आभिमानिकरसो यस्मिन् तत् तथोक्तम् ॥

अर्थः—पाक्षिक श्रावकाने आपल्या श्रद्धेला व शक्तीला  
 अनुसरून जिनबिंब, जिनमंदिर, पाठशाला व स्वाध्याय-  
 शाला वगैरे निर्माण करावीं. तेणेकरून फार मोठा असा

यद्यप्यारम्भतो हिंसा हिंसायाः पापसम्भवः ॥

तथाऽप्यत्र कृतारम्भो महत्पुण्यं समश्नुते ॥ १ ॥

अर्थः—जरी आरंभापासून हिंसा घडते व हिंसेपासून पाप  
 घडते; तरी, जिनमंदिर, पाठशाला, स्वाध्यायशाला वगैरे बांध-  
 वितांनां आरंभ ( दगड, माती, पाणी, लांकडे वगैरेची घडामोड )  
 कराविणारा पुरुष महापुण्याचा अधिकारी होतो कारण, त्या  
 मोठ्या पुण्यापुढे अल्पपापाचे काय चालणार ?

निरालम्बनधर्मस्य स्थितिर्यस्मात्ततः सताम् ॥

मुक्तिप्रासादसोपानमासैरुक्तो जिनालयः ॥ २ ॥

अर्थः—क्याच्यावर सत्पुरुषाच्या सम्यग्दर्शनशुद्धि रूप धर्मा-  
 ची स्थिति अवलंबून आहे असे जे जिनमंदिर ते मोक्षरूपी प्रासाद  
 चढण्याची पहिली पायरी होय. असे सर्वज्ञांनी सांगितले आहे.

धर्मानुबंध ( धर्मलाभ, धर्मरक्षण व धर्मवृद्धि. ) होतो; आणि हिंसा व आरंभ ह्मणजे कृषि वगैरे उदरनिर्वाहाचे उद्योग ह्यांच्यामध्ये अनेक परिणामास पावणारे जे गृहस्थ, त्यांचें मन,....तें जिनबिंब वगैरे व तादृक् ह्मणजे जिनयात्रा वगैरे आणि आलंबन ह्मणजे सम्यग्दर्शनाच्या शुध्दीचें अंग, यांच्या प्रौढीने ज्यांत आभिमानिक ह्मणजे हर्ष किंवा आत्मज्ञान रूपी रस आहे असें व पुण्याचा संचय करणारें असें होतें. या श्लोकांत “ महते ” या पदानें ग्रंथकारांनीं असें दाखविलें आहे कीं, जिनमंदिर वगैरे बांधाविताना जरी हिंसेचा थोडासा दोष घडतो; तरी, त्यांत पुण्यबंध अधिक असल्यामुळे, दोषांचा परिहार होतो.

शास्त्रविदामपि प्रायः प्रतिमादर्शनेनैव देवादिसेवापरां मतिं कुर्वाणं कलिकालमपवदते—

आतां; बहुतकरून जिनप्रतिमेच्या दर्शनानेंच मनुष्यास जिनपूजेची इच्छा कराविणाऱ्या कलिकालास अपवाद देतात.

धिग्दुष्पमाकालरात्रि ।

यत्र शास्त्रदृशामपि ॥

चैत्यालोकादृते न स्यात् ।

प्रायो देवविशा मतिः ॥३६॥

टीका—धिक् निन्दामीत्यर्थः । कां दुःपमाकालरात्रि दुःपमा पञ्चमकालः कालरात्रिर्मरणनिशेव दुर्निवारमोहावहत्वात् । यत्र किं यस्यां न स्यात् । काऽसौ मतिरन्तःकरणप्रवृत्तिः । किंविशिष्टा देव-विशा देवं परमात्मानं विशत्यनन्यशरणीभूय श्रयतीति क्विबन्तादजा-

द्यतष्टाप् । केषां शास्त्रदृशामपि । श्रुतचक्षुषामपि । कथं ऋते विना  
कस्मात् चैत्यालोकात् प्रतिमादर्शनात् । कथं प्रायो बाहुल्येन ।  
केषाञ्चित् ज्ञानवैराग्यपराणां चैत्यदर्शनमन्तरेणापि मनः परमात्मानं  
संश्रयतीति भावः ॥

अर्थः—या पंचमकालरूपी कालरात्रिस ( मरण रात्रीस )  
धिकार असो ! कारण, या काळीं बहुतकरून ज्यांना  
शास्त्ररूपी नेत्र आहेत अशा पंडितांचीही बुद्धि प्रतिमेच्या  
दर्शनावांचून जिनभक्ति करण्यास प्रवृत्त होत नाही.

कलौ धर्मस्थितिः सम्यक्चैत्यालयमूलैवेत्यनुशास्ति—

या कलिकालांत जिनधर्माची उत्तमस्थिति चैत्यालया-  
नेच असणारी आहे हें सांगतात.

प्रतिष्ठायात्रादिव्यतिकरशुभस्वैरचरण- ।

स्फुरद्धमोद्धर्षप्रसररसपूरास्तरजसः ॥

कथं स्युः सागाराः श्रवणगणधर्माश्रमपदं ।

न यत्रार्हद्वेहं दलितकलिलीलाविलसितम् ३७

टीका— तत्र नगरादौ कथं स्युः कथमपि न भवेयुरित्यर्थः ।  
के ते सागारा गृहस्थाः । किंविशिष्टाः प्रतिष्ठेत्यादि आदिशब्दः पूजा-  
भिषेकजागरणार्थः । व्यतिकरः प्रघट्टकः । स्वैरं स्वच्छन्दं । उद्धर्ष  
उत्सवः । प्रसरश्चिरावस्थायित्वं । रसः हर्षो जलं वा । रजः पापं रेणुश्च  
प्रतिष्ठायात्रादीनां व्यतिकरे शुभं प्रशस्तं पुण्यासवणकारणं स्वैरं  
चरणं मनोवाक्कायव्यापारस्तेन स्फुरँश्चासौ धर्मोद्धर्षस्तस्य प्रसरः  
स एव रसपूरो जलप्रवाहस्तेनास्तं स्फाटितं रजो येषां ते तथा । कथं  
स्युस्तत्र । यत्र किं यत्र न भवति । किं तत् अर्हद्वेहं जिनचैत्या-  
लयः । किंविशिष्टं दलितं छिन्नं खण्डितं कलिलीलाविलसितं मठ-

पत्यादिदुर्णयो निरंकुशविजृम्भमाणसंक्लेशपरिणामो वा यत्र तद्वलित-  
कलिलीलाविलसितं । पुनः किंविशिष्टं श्रमणगणधर्माश्रमपदं श्रम-  
णस्य यतिसङ्घस्य धर्मार्थमाश्रमपदं निवासस्थानम् ॥

अर्थः—ज्याच्या योगानें या कलिकालाच्या दुष्ट-  
लीलेचा विलास लयास जातो आणि जें मुनिजनांच्या  
धर्माचें निवासस्थान आहे असें जें जिनमंदिर, तें ज्या  
नगरांत किंवा गांवांत नाहीं; त्या ठिकाणीं वास करणारे  
गृहस्थ—प्रतिष्ठा, रथोत्सव, अभिषेक, जागरण वगैरे  
पुण्यकृत्यें करण्यांत स्वेच्छेप्रमाणें शुभाचरण करून,  
त्यामुळें स्फुरण पावणारा जो धर्मोत्सव, त्याचा प्रसार  
रूपी जलाच्या पूरानें ज्यांचें पातक धुवून गेलें आहे—  
असे कसे होतील ? तात्पर्य, जेथें जिनमंदिर नाहीं तेथील  
गृहस्थांस पुण्यसंचय करण्यास मार्ग नाहीं.

कलौ वसतिविशेषं विना सतामप्यनवस्थितचित्तत्वं दर्शयति—

या कलिकालांत मठाची आवश्यकता दाखवितात.

मनो मठकठेराणां ।

वात्ययेवानवस्थया ॥

चेक्षिप्यमाणं नाद्यत्वे ।

क्रमते धर्मकर्मसु ॥ ३८ ॥

टीका—न क्रमते नोत्सहते । किं तन्मनः । केषां मठ-  
कठेराणां वसतिदरिद्राणामरण्यादिवासिनां यतीनामित्यर्थः ।  
क धर्मकर्मसु धर्मार्थासु क्रियासु आवश्यकादिषु । कदा अद्यत्वे  
अस्मिन् काले । किं क्रियमाणं चेक्षिप्यमाणं भृशं पुनःपुनर्वा



चाल्यमानं । कया अनवस्थया परापररागादिविवर्तनपरिणत्या ।  
कयेव वात्ययेव वातमण्डल्या तूल्यादिर्यथा ॥

अर्थः—वायूने कापूस जसा चंचल होतो त्याप्रमाणें  
परापर रागद्वेषादिविकारानें चंचल होणारें,—या पंचम-  
कालांतील मठदरिद्र ह्मणजे ज्यांना रहावयास एकांत  
असें घर नाही अशा यतींचें—चित्त आवश्यकक्रियेविषयी  
उत्सुक होत नाहीं.

विमर्शस्थानं विना महोपाध्यायादीनामपि शास्त्रान्तस्तत्त्वज्ञान-  
दौःस्थित्यं प्रथयति—

आतां; पाठशालेची आवश्यकता दाखवितात.

विनेयवद्विनेतृणा- ।

मपि स्वाध्यायशालया ॥

विना विमर्शशून्या धी- ।

दृष्टेऽप्यन्धायतेऽध्वनि ॥ ३९ ॥

टीका—अन्धायते अन्धमिवात्मानमाचरति तत्त्वं न पश्यती-  
त्यर्थः । काऽसौ धीर्बुद्धिः । केषां विनेतृणामपि । केषामिव  
विनेयवत् शिष्याणां यथा । क अध्वनि मार्गे अर्थाच्छास्त्रे  
निःश्रेयसि वा । किंविशिष्टेऽपि दृष्टेऽपि अभ्यस्तेऽपि । किंविशिष्टा  
सती विमर्शशून्या अन्तस्तत्त्वक्षोदविधुरा । कथं विना । कया  
स्वाध्यायशालया पाठस्थानेन । ततश्चैत्यादिचतुष्टयं श्रेयोऽर्थं  
नियमेन कारयेदिति प्रतिपत्तव्यम् ॥

अर्थः—पाठशाला नसली ह्मणजे शिष्यांप्रमाणें उपा-  
ध्यायांचीहि ( शिक्षक ) बुद्धि शास्त्राचें तत्त्व नीट ओळ-

खण्यास असमर्थ अशी होत्साती अभ्यास असलेल्याहि शास्त्रमार्गांत अंधाप्रमाणें होते. तात्पर्य, जिनबिंब, जिन-मंदिर, मठ व पाठशाला हीं धानिकानें यथाशक्ति निर्माण करवावीं. तेणेंकरून धर्मवृद्धि होते.

सत्रातुरस्थानयोरनुकम्प्यप्राण्यनुग्रहबुद्ध्या विधापनं बह्वारम्भ-रतानां गृहस्थानां जिनपूजार्थं पुष्पवाटिकादिनिर्माणे दोषा-भावं च प्रकाशयन्नाह—

आतां; सत्र, औषधालय व पुष्कळसा आरंभ ( कृषि वगैरे ) करणारांनीं जिनपूजेकरितां पुष्पवाटिका हीं निर्माण करावयास सांगतात.

सत्रमप्यनुकम्प्यानां ।

सृजेदनुजिघृक्षया ॥

चिकित्साशालवत् दुष्ये- ।

न्नेज्यायै वाटिकाद्यपि ॥ ४० ॥

टीका—सृजेन्निर्माणयेत्पाक्षिकः । किं तत् सत्रमन्नप्रदानस्थानं अपिशद्वात्स्रपां च । किंवत् चिकित्साशालवत् व्याधिप्रतीकारस्थानं यथा । कया अनुजिघृक्षया उपकर्तुमिच्छया । केषामनुकम्प्यानां कृपाविषयानां क्षुत्तृष्णार्तानां व्याधितानां च । तथा न दुष्येन्न दुष्टं भवेत् । किं तत् वाटिकादि आदिशद्वाद्वापीपुष्करिण्यादि । किमर्थमिज्यायै पूजार्थं । अपिशद्देनानादरार्थेन विषयसुस्वार्थं कृष्यादिकं कुर्वतां यद्यपि धर्मबुद्ध्या वाटिकादिविधाने लोके व्यवहारानुरोधाद्दोषो न भवति । तथापि तदकुर्वतामेव क्रय-क्रीतेन पुष्पादिना तेषामपि जिनं पूजयतां महान् गुणो भवतीति ज्ञाप्यते ॥

अर्थः— पाक्षिक श्रावकानें ज्यांची वृत्ति दयनीय झाली आहे ह्मणजे ज्यांच्यावर अवश्य दया केली पाहिजे अशा जीवांवर उपकार करण्याकरितां औषधालय बांध-वावें; आणि त्याचप्रमाणें सत्र ( सदावर्त— भोजनशाला ) व पाणपोई हीं निर्माण करवावीं. जिनपूजेकरितां फुलांची बागहि लावण्यांत दोष नाही. ह्यावरून ज्याला कृषि करण्याचें इष्ट नाही त्यानें आयतीं विकावयास आलेलीं फुलें विकत घेऊन जिनपूजा करणें; हाहि मोठा गुण असल्याचें सिद्ध होतें.

निर्व्याजभक्त्या येन केनापि प्रकारेण जिनं सेवमानानां समस्त-दुखोच्छेदमितस्ततः समस्तभीहितार्थसम्पत्तिं चोपदिशति—

आतां, निष्कपट भक्तीनें कोणत्याही प्रकारें जिनपूजा करणाऱ्याच्या सर्वदुःखांचा नाश होऊन त्याला संपूर्ण इष्टप्राप्ति होते असें सांगतात.

यथाकथञ्चिद्भजतां ।

जिनं निर्व्याजचेतसाम् ॥

नश्यन्ति सर्वदुःखानि ।

दिशः कामान्दुहन्ति च ॥ ४१ ॥

टीका—नश्यन्ति निवर्तन्ते । कानि सर्वदुःखानि शरीरमन-स्तापाः । केषां निर्व्याजचेतसां निर्मायमनसां भाक्तिकानामि-त्यर्थः । किं कुर्वतां भजतां सेवमानानां । कं जिनं । कथं यथा-कथञ्चित् येनकेनापि स्नपनपूजास्तवनादिप्रकारेण । तथा दुहन्ति प्रपूरयन्ति । का दिशः ककुभः । कान् कामान् मनोरथान् । यद्यत्कामयन्ते जिनयष्टारस्तत्तत्सर्वत्र लभन्ते इत्यर्थः ॥

अर्थ:— स्तपन, भजन, पूजन वगैरे कोणत्याहि प्रकारें जिनास पूजणाच्या निष्कपट चित्ताच्या भक्ताचीं शारीरिक व मानसिक दुःखें सर्व लयास जातात; आणि त्यांचे इष्टार्थ पाहिजे त्या ठिकाणीं पूर्ण होतात.

एवं जिनपूजां विधेयतयोपादिश्य तद्वत्सिध्दादिपूजामपि विधेय-  
तयोपदेष्टुमाह—

याप्रमाणें अर्हत्पूजा अवश्य केलीच पाहिजे हें सांगून,  
आतां त्याचप्रमाणें सिद्ध वगैरे परमेष्ठिंचेंहि पूजन करा-  
वयास सांगतात.

जिनानिव यजन् सिद्धान्

साधून् धर्मं च नन्दति ॥

तेऽपि लोकोत्तमास्तद्व-

च्छरणं मङ्गलं च यत् ॥ ४२ ॥

टीका—नन्दति अन्तरङ्गबहिरङ्गविभूत्या संवर्धते । कोऽसौ जीवः । किं कुर्वन् यजन् पूजयन् । कान् सिद्धान् मुक्तात्मनः । तथा साधून् सिद्धिं साधयन्तीत्यन्वर्थनामानुसरणादाचार्योपाध्या-  
ययतीन् । न केवलं धर्मं च व्यवहारनिश्चयरूपं रत्नत्रयं । कानिव जिनानिव अर्हतो यथा । कुत इत्याह— यद्यस्मात् । वर्तन्ते । के ते अपि सिद्धसाधुधर्माः । किंविशिष्टाः लोकोत्तमाः लोकेषूत्कृष्टाः । तथा शरणमार्तिहरणमपायपरिरक्षणोपाया इत्यर्थः । तथा मङ्गलं पापापहाः पुण्यप्रदाश्च । किंवत् तद्वत् जिनवत् ॥

अर्थ:—जिनाप्रमाणेंच सिद्ध, साधु ( आचार्य, उपा-  
ध्याय व साधुमुनि ) आणि धर्म ह्यांची पूजा करणारा

तत्पक्षतार्क्ष्यपक्षान्त- ।

श्वरा विघ्नोरगोत्तराः ॥ ४५ ॥

टीका—उपास्याः सेव्याः । के ते गुरवः धर्मारधनायां प्रयोक्तारः । कैः शिवार्थिभिः परमकल्याणकामैः । किंविशिष्टैस्सद्भिरप्रमत्तैः प्रमादरहितैः । कथं नित्यं शश्वत् । यतो भवन्ति । के ते तत्पक्षतार्क्ष्यपक्षान्तश्वराः तेषां गुरूणां पक्षस्तदायत्ततया वृत्तिः स एव तार्क्ष्यपक्षो गरुडपतत्रं तत्रान्तर्मध्ये चरन्ति तदन्तश्वराः । किंविशिष्टा भवन्ति । विघ्नोरगोत्तराः विघ्नाः प्रक्रमाद्धर्मानुष्ठानविषये अन्तरायास्त एवोरगाः सर्पाः अपकारकत्वात् तेभ्य उत्तराः परे तद्दूरचारिणः । धर्मानुष्ठानप्रत्यूहसर्पैर्नाभिभूयन्त इत्यर्थः ॥

अर्थः—कल्याणाची इच्छा करणाऱ्या श्रावकांनी आपल्याकडून कोणताही प्रमाद न होऊ देतां नेहमीं गुरूंची सेवा करावी. कारण, त्यांचा आश्रयरूपी जीं गरुडपक्षांचीं पंखें, त्यांच्या पोटांत संचार करणारे विघ्नरूपी सर्पांच्या सपाळ्यांत सांपडत नाहीत.

गुरूपास्तिविधिमाह—

आतां ; गुरुसेवेचा विधी सांगतात.

निर्व्याजया मनोवृत्त्या ।

सानुवृत्त्या गुरोर्मनः ॥

प्रविश्य राजवच्छश्व- ।

द्विनयेनानुरञ्जयेत् ॥ ४६ ॥

टीका—अनुरञ्जयेदात्मनि रक्तं कुर्यात् । कोऽसौ श्रेयोऽर्थी । किं तन्मनश्चित्तं । कस्य गुरोराराध्यस्य । केन विनयेन अभ्युत्थाना-

दिना कायिकेन हितमितादिप्रतिपादनेन वाचनिकेन शुभाचिन्तनादिना चित्तेन च । कथं शश्वत् नित्यं । किं कृत्वा प्रविश्यान्तश्चरित्वा । किं तत् गुरोर्मनः । कया मनोवृत्त्या चित्तप्रवृत्त्या । किंविशिष्टया निर्व्याजया निर्दम्भया । पुनः किंविशिष्टया सानुवृत्त्या छन्दानुवृत्तिसहितया । कस्येव राजवत् । राज्ञो यथा सेवकवर्गः ॥

अर्थ—निर्दम्भ अशी मनाची वृत्ती ठेवून आणि त्याच्या इच्छेप्रमाणें वागून त्याच्या मनांत प्रवेश करून, आणि कायिक (उभें राहून संमुख जाणें वगैरे) वाचिक (हित व मित भाषण) आणि मानसिक (शुभ चिंतणें) याप्रमाणें तीन प्रकारच्या विनयानें राजाप्रमाणें गुरूच्या मनाचें रंजन करावें.

विनयेनानुरज्योदित्येतदर्थं व्यनक्ति—

आतां ; गुरुविनयाचा प्रकार सांगतात.

पार्श्वे गुरूणां नृपवत् ।

प्रकृत्यभ्यधिकाः क्रियाः ॥

१ निष्ठीवनमवष्टम्भं जृम्भणं गात्रभञ्जनम् ॥

असत्यभाषणं नर्म हास्यं पादप्रसारणम् ॥ १ ॥

अभ्याख्यानं करस्फोटं करेण करताडनम् ॥

विकारमंगसंस्कारं वर्जयेद्यतिसन्निधौ ॥ २ ॥

अर्थः—थुंकणें, गर्व करणें, जांभई देणें, अंग मोडणें, असत्य भाषण करणें, खेळणें, हंसणें, पाय पसरणें, दोषारोप करणें, दंड ठोकणें, टाळ्या वाजविणें, कांहीं तरी चेष्टा करणें, अंगास संस्कार करीत बसणें ह्या व आणखी अशाच प्रकारच्या चेष्टा गुरूपुढें करूं नयेत.

अनिष्टाश्च त्यजेत्सर्वा ।

मनो जातु नु दूषयेत् ॥ ४७ ॥

टीका—त्यजेत् वर्जयेत् उपासकः । काः क्रियाश्चेष्टाः । सर्वाः । किंविशिष्टाः प्रकृत्यभ्यधिकाः स्वभावादतिरिक्ताः वैकारिकीः कोपहास्यविवादादिकाः । न केवलं ताः अनिष्टाश्च शास्त्रनिषिद्धाश्च पर्यस्तिकोपाश्रयादिकाः । क पार्श्वे समीपे । केषां गुरूणां । केषामिव नृपवत् राज्ञां यथा । तथा न दूषयेत् न विकारयेत् । किं तत् राज्ञामिव गुरूणां मनः । कथं जातु कदाचिदपि आर्तावस्थायामपीत्यर्थः ॥

अर्थः—राजाच्या आज्ञेत सेवक जसा तत्पर असतो, त्याप्रमाणे तत्पर होऊन गुरूच्या जवळ राहून, त्याच्या स्वभावास न आवडणाऱ्या व शास्त्रांत निषिद्ध अशा अर्थात् कोप, हास्य, विवाद वगैरे चेष्टा त्याच्याशीं करूं नयेत. आणि जेणेकरून त्याच्या चित्तास विकार होईल अशा प्रकारचे आचरण करूं नये.

साम्प्रतं पात्राणि तर्पयेदित्यादिपूर्वोद्दिष्टदानादिविधिप्रपञ्चार्थमाह—

आतां ; दान वगैरेचा विधि सांगतात.

पात्रागमविधिद्रव्यदेशकालानतिक्रमात् ॥

दानं देयं गृहस्थेन तपश्चर्यं च शक्तिः ॥ ४८ ॥

टीका—देयं दातव्यं । किं तत् दानं रत्नत्रयानुग्राहकं वस्तु । केन गृहस्थेन । कस्मात् पात्राद्यनतिक्रमात् यथापात्रं यथाऽऽगमं यथाविधि यथाद्रव्यं यथादेशं यथाकालं चेत्यर्थः । तथा चर्यमनुष्ठेयं

गृहस्थेन किं तत् तपोऽनशनादि । कस्मात् ऋक्षितः । निजसाम-  
र्थ्यानुसारेण दानतपसी कुर्यादित्यर्थः ॥

अर्थः—पात्रं, शास्त्र, विधि, द्रव्य, देश आणि काळ  
या सर्वांस अनुसरून, सम्यग्दृष्टि श्रावकानें आपली शक्ति  
न झांकतां, दान द्यावें व तप करावें.

सम्यग्दृष्ट्या नित्यमवश्यतया विधीयमानयोर्दानतपसोरवश्य-  
म्भाविनं फलविशेषमाह—

आतां; नित्य नियमानें केलेल्या दानतपांचें विशेष  
फल सांगतात.

नियमेनान्वहं किञ्चि- ।

द्यच्छतो वा तपस्यतः ॥

सन्त्यवश्यं महीयांसः ।

परे लोका जिनश्रितः ॥ ४९ ॥

टीका— अवश्यं निश्चितं । सन्ति भवन्ति । के ते लोकाः  
किंविशिष्टाः परे जन्मान्तराणीत्यर्थः । किंविशिष्टाः सन्ति महीयांसः  
इन्द्रादिपदलक्षणाः । कस्य जिनश्रितः परमात्मानं सेवमानस्य  
भव्यस्य । किं कुर्वतो यच्छतो ददतः । तपस्यतो वा तपश्चरतः ।  
किं किञ्चित् यद्वा तद्वा शास्त्रविहितं । केन नियमेन अवश्यतया ।  
कथमन्वहं दिनेदिने ॥

१ वर्यमध्यजघन्यानां पात्राणामुपकारकम् ॥

दानं यथायथं देयं वैयावृत्यविधायिना ॥ १ ॥

अर्थः—वैयावृत्य करणारानें उत्तम, मध्यम व जघन्य पात्रांस  
उपयोगी असें दान विधिपूर्वक व शक्त्यनुसार देत असावें.



अर्थः—थोडें कां होईना, पण जो सम्यग्दृष्टि जिनभक्त नित्य नियमानें जिनशास्त्रास संमत असें कांहीं तरी दान करितो व तपश्चर्या करितो, त्यास अन्यजन्मीं इंद्रत्व वगैरे उच्च पदें प्राप्त होतात.

यदर्थं महानं कर्तव्यं तत्तदर्थमाह—

आतां; दानाचे हेतु सांगतात.

धर्मपात्राण्यनुग्राह्या- ।

प्यमुत्र स्वार्थसिद्धये ॥

कार्यपात्राणि चात्रैव ।

कीर्त्यै त्वौचित्यमाचरेत् ॥ ५० ॥

टीका— अनुग्राह्याणि उपकार्याणि श्रेयोऽर्थिना । कानि धर्मपात्राणि रत्नत्रयसाधनपराः नराः । किमर्थं स्वार्थसिद्धये । क अमुत्र परलोके स्वर्गादिमुखसम्पत्त्यर्थमित्यर्थः । तथा अनुग्राह्याणि । कानि कार्यपात्राणि त्रिवर्गसाधनसहायाः । कस्यै अत्रैव जन्मनि स्वार्थसिद्धये पुरुषार्थसम्प्राप्तये । तथा आचरेदनुतिष्ठेत् गृही । किं तत् औचित्यं दानप्रियवचनाभ्यामन्यस्य सन्तोषोत्पादनं कस्यै कीर्त्यै यशोऽर्थम् ॥

अर्थः—स्वार्थ साधण्याकरितां ह्यणजे परलोकीं सुख होण्याकरितां अर्थात् स्वर्ग वगैरे ठिकाणीं जन्म घेऊन तेथील सुखाचा अनुभव घेण्याकरितां; या जन्मीं धर्मपात्र ह्यणजे रत्नत्रय साधण्यास तत्पर असे जे मुनि वगैरे त्यांना त्यांच्या उपयोगाचे पदार्थ देऊन; त्यांच्यावर उपकार करावेत आणि कार्यपात्र ह्यणजे येथेच आपल्या उपबोर्गी पडणारे अर्थात् धर्म, अर्थ व काम हे तीन पुरुषार्थ साधून

घेतांनां त्यांत आपल्यास सहाय करणारे असे जे, त्यांना, स्वार्थसिद्धि झणजे त्रिवर्गसिद्धि अर्थात् धर्म, अर्थ व काम ह्यांची जी सिद्धि, तिजकरितां— यथायोग्य दान देऊन; त्यांच्यावर उपकार करावे. आणि कीर्ति मिळविण्याकरितां औचित्य झणजे दान व प्रियभाषण यांहींकरून इतरांस संतोष उत्पन्न करावा.

धर्मपात्राणां यथागुणं सन्तर्पणीयत्वमाह—

आतां; त्या त्या गुणांच्या धर्मपात्रांस तृप्त करावे हे सांगतात.

समयिकसाधकसमय- ।

द्योतकनैष्ठिकगणाधिपान् धिनुयात् ॥

दानादिना यथोत्तर- ।

गुणरागात्सद्गृही नित्यम् ॥ ५१ ॥

टीका— समयिको गृही यतिर्वा जिनसमयश्रितः । साधको ज्योतिषमन्त्रवादादिलोकोपकारकशास्त्रज्ञः । समयद्योतको वादि-  
त्वादिना मार्गप्रभावकः । नैष्ठिको मूलोत्तरगुणश्लाघ्यतपोऽनुष्ठाननिष्ठः ।  
गणाधिपः धर्माचार्यस्तादृग्गृहस्थाचार्यो वा एतान् पञ्च धिनुयात्  
प्रीणयेत् । कोऽसौ सद्गृही पाक्षिकश्रावकस्त्रैवर्णिको वा गृहस्थः । केन  
दानादिना दानमानासनसम्भाषणादिना । कस्मात् यथोत्तरगुणरा-  
गात् यो य उत्तर उत्कृष्टः समयिकादीनां मध्ये तस्य तस्य गुणेषु  
प्रीतितः । अथवा यो यो यस्योत्कृष्टो गुणस्तत्र तत्र प्रीत्या तं धिनु-  
यादिति योज्यम् । अत्र श्रमणोपासकेषु मुमुक्षुषु रत्नत्रयानुग्रहबुद्ध्या  
सन्तर्पणं पात्रदक्षिः । बुभुक्षुषु च गृहस्थेषु वात्सल्येन यथार्हमनुग्रहः  
समानदक्षिरिति विभागः ॥

अर्थः—जिनसमय ह्यणजे जिनानें उपदेशिलेले शास्त्र, त्याचा आश्रय करून असणारा ह्यणजे त्याप्रमाणें वागणारा जो यति किंवा गृहस्थ तो समयिक होय. ज्योतिष, मंत्र-वाद वगैरे लोकोपकारक शास्त्रांचा जो जाणता तो साधक होय. वाद वगैरे करून जो मोक्षमार्गाची प्रभावना करितो तो समयद्योतक होय. मूल व उत्तर गुण यांहीकरून स्तुतीस पात्र असें तपाचें अनुष्ठान करण्यांत निष्ठ ह्यणजे

१ गृहस्थो वा यतिर्वाऽपि जैनं समयमास्थितः ॥

यथाकालमनुप्राप्तः पूजनीयः सुदृष्टिभिः ॥ १ ॥

अर्थः—जैनधर्मी यति असो किंवा गृहस्थ असो, तो योग्यकाली प्राप्त झाला असतां त्याचा सम्यग्दृष्टि श्रावकानें सन्मान करावा.

२ ज्योतिर्मन्त्रनिमित्तज्ञः सुप्रज्ञः कायकर्मसु ॥ ३ ॥

मान्यः समयिभिः सम्यक्परोक्षार्थं×××धीः ॥ २ ॥

अर्थः—ज्योतिःशास्त्र जाणणारा, निमित्त ह्यणजे शकुनशास्त्र जाणणारा, वैद्य, भविष्य जाणणारा असे जे आपल्या धर्मातले सुज्ञ पुरुष त्यांचा दानमानादिकानें यथायोग्य सत्कार करावा. कारण,

३ दीक्षायात्राप्रतिष्ठाद्याः क्रियास्तद्विरहे कुतः ॥

तदर्थं परपृच्छायां कथं च समयोन्नतिः ॥

अर्थः—ज्योतिःशास्त्राचे जाणते वगैरे नसले तर दीक्षा, यात्रा, प्रतिष्ठा वगैरे क्रिया कशा करितां येतील? शिवाय, त्याकरितां परधर्मी लोकांस विचारूं लागल्यास आपल्या धर्माची उन्नति कशी होणार?

जो तत्पर असतो तो नैष्ठिक समजावा. धर्माचार्य किंवा त्याच्या सारखाच बुद्धिमान असा जो गृहस्थाचार्य तो गणाधिप समजावा. या पांच धर्मपात्रांस ह्यणजे समयिक, समयद्योतक, नैष्ठिक आणि गणाधिप यांस; त्यांच्या ठिकाणीं असलेल्या त्या त्या उत्कृष्ट गुणांवर प्रीति ठेवून, उत्तम गृहस्थानें ह्यणजे पाक्षिक श्रावकानें अर्थात् धर्म, अर्थ व काम हे तीन पुरुषार्थ साधणाऱ्या गृहस्थानें; दान, मान, संभाषण वगैरे उपायांनीं तृप्त करावें. येथें, श्रमण ह्यणजे दिगंबर मुनि व उपासक ह्यणजे उत्कृष्ट प्रतिमाधारी असे जे दोन प्रकारचे मुमुक्षु (मुक्त होऊं इच्छिणारे) त्यांना तृप्त करणें ही पात्रदत्ति; आणि बुभुक्षु ह्यणजे गृहस्थ त्यांना योग्यतेप्रमाणें तृप्त करणें ही समानत्ति; असे दोन विभाग शास्त्रकारांनीं केले आहेत.

१ मूलोत्तरगुणश्लाघ्यैस्तपोभिर्निष्ठितास्थितिः ॥

साधुः साधु भजेत्पूज्यः पुण्योपार्जनपण्डितैः ॥ ४ ॥

अर्थः—मूल व उत्तर गुणांनीं स्तुतीस पात्र अशा तपांनीं युक्त अशी स्थिति ज्यानें ठेविली आहे असा जो पूज्य साधु, त्याची सेवा—पुण्य मिळविण्यांत चतुर लोकांनीं—उत्तम प्रकारें करावी.

ज्ञानकाण्डे क्रियाकाण्डे चातुर्वर्ण्यपुरस्सरः ॥

सूरिर्देव इवाराध्यः संसाराब्धितरण्डकः ॥ ५ ॥

अर्थः—ज्ञानकांड व क्रियाकांड चालविण्यांत चारहि वर्णांत श्रेष्ठ असा जो धर्माचार्य किंवा गृहस्थाचार्य असतो, तो संसार-समुद्रांतून तारणारा एक तरंडक ( नौका ) आहे म्हणून देवाप्रमाणें त्याला पूजीत असावें.

समदत्तिविधानोपदेशार्थमाह—

आतां; येथें समानदत्तीचा विधि सांगतांना प्रथम सम-  
यिकाची प्रशंसा करितात.

स्फुरत्येकोऽपि जैनत्व- ।

गुणो यत्र सतां मतः ॥

तत्राप्यजैनैः सत्पात्रै- ।

द्योत्यं खद्योतवद्रवौ ॥ ५२ ॥

टीकाः—द्योत्यं प्रकाश्यं प्रभाव्यं । कैः सत्पात्रैः ज्ञानतपोऽधि-  
कैः । किंविशिष्टैरजैनैः शिवादिभक्तिग्रहाविष्टैः । क तत्रापि तपो-  
ज्ञानरहितेऽपि जैने । किंवत् खद्योतवत् खद्योतैरिव । कस्मिन् रवौ  
रविसन्निधाने ज्योतिरिङ्गणा यथा निष्प्रभा भवन्ति तथा स्फुरजैन-  
त्वगुणपुंसः समीपे मिथ्यादृष्टिधार्मिका इत्यर्थः । यत्र किं यत्र  
स्फुरति प्रतपति । कोऽसौ जैनत्वगुणः जिन एव देवो मे भवार्णवो-  
त्तारकत्वादित्यभिनिवेशधर्मः । किंविशिष्टोऽपि एकोऽपि ज्ञानतपोर-  
हितः । किं पुनस्तत्सहित इत्यपिशब्दार्थः । किंविशिष्टः सतां मतः  
साधूनाभिष्टः ॥

अर्थः—जिनच देव होय, कारण, तो मला संसारस-  
मुद्रांतून तारणारा आहे; असा जो अभिनिवेश त्याला  
जैनत्वगुण ह्मणतात. सज्जनांस संमत असा हा जैनत्वगुण  
(ज्ञान व तपरहित असा अर्थात् एकटाच) ज्या मनुष्याच्या  
ठिकाणीं प्रकाशमान झाला आहे, त्याच्या पुढेहि ह्मणजे  
तप व ज्ञान यांहींकरून रहित अशाहि जैनापुढें;—अजैन  
ह्मणजे जिनधर्मबाह्य अर्थात् मिथ्यादृष्टि जे असतात; ते  
सत्पात्र जरी असले ह्मणजे ज्ञान व तप आचरणारे असले

तरी त्यांनीं सूर्यापुढें काजव्याप्रमाणें निस्तेज व्हावें लागतें.  
श्रेयोऽर्थिनां जैनानुग्रहानुभावमाह—

आतां; ज्याला आपलें कल्याण करून घ्यावयाचें आहे,  
त्यानें जैनावर अनुग्रह करावा हें सांगतात.

वरमेकोऽप्युपकृतो ।

जैनो नान्ये सहस्रशः ॥

दलादिसिद्धान् कोऽन्वेति ।

रससिद्धे प्रसेदुषि ॥ ५३ ॥

टीका:—वरं भवतु । कोऽसौ जैनः । किंविशिष्ट उपकृतोऽनुगृ-  
हीतः । किंविशिष्टोऽपि एकोऽपि । न वरं । केऽन्ये अजैनाः ।  
किंविशिष्टा उपकृताः । कियन्तः सहस्रशः सहस्रसंख्याः । अत्र  
दृष्टान्तमाह को न कश्चित् । अन्वेति अनुवर्तते । कान् दलादिसि-  
द्धान् दलं बीजरहितकृत्रिमसुवर्णादिद्रव्यं आदिशद्वाद्गर्णोत्कर्षादि ।  
तत्र तेन वा सिद्धान् प्रसिद्धान् । क सति रससिद्धे पारदेन दारिद्र्य-  
व्याधिजरादिनिराकरणशक्त्या प्रतीते पुंसि । किंविशिष्टे प्रसेदुषि  
प्रसन्ने अनुग्रहोद्यते ॥

अर्थ:—हजारों मिथ्यादृष्टि जीवांवर उपकार करण्या-  
पेक्षां एकट्या जैनावरच उपकार करणें हें फार बरें. कारण  
रससिद्ध ह्मणजे पारदानें ( पारा ) दारिद्र्य, व्याधि, जरा  
वगैरे दूर करण्याच्या शक्तीनें प्रसिद्ध असा पुरुष प्रसन्न  
झाल्यावर त्याला सोडून, दलादिसिद्धांस ह्मणजे ( कृत्रिम  
सुवर्ण वगैरे द्रव्ये करण्यांत प्रसिद्ध अशा मनुष्यांस ) कोण  
बरें अनुसरेल ?

नामादिनिक्षेपविभक्तानां चतुर्णां जैनानां पात्रत्वं यथोत्तरं विशिनष्टि—

आतां; नाम, स्थापना, द्रव्य आणि भाव अशा चार प्रकारच्या जैनांस पात्रत्व असल्याचें सांगतात.

नामतः स्थापनातोऽपि ।

जैनः पात्रायते तराम् ॥

स लभ्यो द्रव्यतो धन्यै- ।

र्भावतस्तु महात्मभिः ॥ ५४ ॥

टीकाः— पात्रायते तरां अजैनपात्रेभ्योऽतिशयेन संयुज्यमान-निर्वाणकारणगुणलक्षणपात्रवदाचरति सम्यक्त्वसहचारिपुण्याश्रवकारणत्वात् । कोऽसौ जैनः । केन नामतः सञ्ज्ञामात्रेण । न परं नाम्ना स्थापनातोऽपि सोऽयं जैन इति कल्पनामात्रेणापि । लभ्यः प्राप्यः । कोऽसौ स जैनः । केन द्रव्यतो द्रव्येण आगामिजैनत्वगुणयोग्यत्वेन विविष्टः । कैः धन्यैः पुण्यवद्भिः । स एव तु भावतो भावेन जैनत्वगुणयोगेन लभ्यः । कैः महात्मभिः महाभागैः ।

अर्थः—नामजैन ह्मणजे ज्याला जैन अशी संज्ञा आहे असा, आणि स्थापनाजैन ह्मणजे 'तो हा जैन होय' अशी कल्पना मात्र ज्याच्या विषयीं आहे असा जो जैन; तोहि अजैनपात्रापेक्षां, अतिशयेंकरून (ज्याला मोक्षास कारणीभूत असा गुण प्राप्त झाला आहे अशा पात्राप्रमाणें) उत्कृष्ट होय. कारण, त्या दोघांना दान केलें असतां सम्यक्त्व वाढून पुण्याश्रव होतो. तो जैन द्रव्यतः ह्मणजे पुढें प्राप्त होणारा जो जैनत्वगुण त्यानें युक्त असा झालेला, पुण्यवंतास प्राप्त होतो. आणि तोच ह्मणजे द्रव्यजैनच

भावतः ह्यणजे ज्याच्या ठिकाणीं जैनत्वगुण आहे वसा झालेला, महाभाग्यवंतास प्राप्त होतो.

भावजैनं प्रति निरुपाधिप्रीतिमतोऽभ्युदयनिःश्रेयससम्पदं फल-  
माह—

आतां; भावजैनावर निष्कपट प्रीति करणाऱ्यास प्राप्त होणारें फल सांगतात.

प्रतीतजैनत्वगुणेऽनुरज्यन् ।

निर्व्याजमासंसृति तद्गुणानाम् ॥

धुरि स्फुरन्नभ्युदयैरदृष्ट- ।

स्तृप्तस्त्रिलोकीतिलकत्वमेति ॥ ५५ ॥

टीका—एति गच्छति । कोऽसौ गृही । किं कुर्वन् अनुरज्यन् स्वयमेवानुरागं कुर्वन् । कथं निर्व्याजं निच्छन्न । क प्रतीतः प्रसिद्धो जैनत्वगुणो यस्य तास्मिन् प्रतीतजैनत्वगुणे । किमेति त्रिलोकीतिल-  
कत्वं परमपदं । किंभूतो भूत्वा तृप्तः वितृष्णीभूत इत्यर्थः । कैः अभ्युदयैराज्ञैश्वर्यादिभिः । किंविशिष्टः सन् अदृष्टोऽकृतमदः सम्यक्त्व-  
सहचारिपुण्योदययागोत् । किं कुर्वन् स्फुरन् दीव्यन् । क धुरि अग्रे । केषां सद्गुणानां प्रतीतजैनत्वगुणानां । कथं आसंसृति संसारं यावत् भवेभवे जैनानामग्रणीर्भवन्नित्यर्थः ॥

अर्थः—ज्याचा जैनत्वगुण सर्वास प्रसिद्ध आहे, ह्यणजे ज्याच्या ठिकाणीं खरोखरच जैनत्वगुण वास करीत आहे, अशा भव्य पात्रावर जो मनुष्य निर्देभयणें प्रीति करितो; तो, प्रत्येक जन्मीं जैनत्वगुणानें युक्त अशा लोकांच्या अग्रभागीं अधिक तेजस्वी होऊन, आणि प्रत्येक जन्मांत प्राप्त होणाऱ्या सुखैश्वर्यानें तृप्त होऊन त्या ऐश्वर्याविषयीं



यत्किञ्चित्ही गर्व न बाळगितां, शेवटीं त्रैलोक्याचा तिलक होतो. ह्यणजे मोक्षपदास पावतो.

गृहस्थाचार्याय तदभावे मध्यमपात्राय वा कन्यादिदानं पाक्षिक-  
श्रावकस्य कर्तव्यतयोपदिशति—

आतां; गृहस्थाचार्यास किंवा तो नसल्यास मध्यमपा-  
त्रास कन्यादि दान देणें हें पाक्षिक श्रावकाचें कर्तव्य  
असल्याचें सांगतात.

निस्तारकोत्तमायाथ ।

मध्यमाय सधर्मणे ॥

कन्याभूहेमहस्त्यश्व- ।

रथरत्नादि निर्वपेत् ॥ ५६ ॥

टीका— निर्वपेत् दद्यात् गृही । किं तत् कन्या कुमारी  
भूर्भूमिः हेम काञ्चनं हस्ती गजः अश्वो वाजी रथः स्यन्दनः  
रत्नं वज्रादि । आदिशब्देन वस्त्रगृहनगराद्येवंजातीयकमन्यदपि  
त्रिवर्गसाधनाश्रयं वितरेत् । कस्मै सधर्मणे समान आत्मना समो  
धर्मः क्रियामन्त्रव्रतादिलक्षणो गुणो यस्य तस्मै । किंविशिष्टाय  
निस्तारकोत्तमाय संसारार्णवोत्तारकाणां गृहिणां मध्ये प्रधानाय ।  
न केवलं तस्मै तदलाभे च मध्यमाय अनुत्तमाधमाय । अथशब्दोऽत्र  
पक्षान्तरसूचनेऽधिकारे वा । अत्र जघन्यविषयां समर्पितं व्याख्याय  
मध्यमविषयाऽसावधिक्रियते इत्यर्थः । यत्यपेक्षया गृहस्थस्य गुणा-  
धिकस्यापि मध्यमपात्रत्वात् ॥

अर्थः—संसारसमुद्रांतून तरून जाण्याकरितां यत्र कर-  
णारे जे गृहस्थ त्यांच्यामध्ये श्रेष्ठ असा जो समानधर्मी

(क्रिया, मंत्र, व्रतें हीं ज्याचीं व आपलीं सारखीं आहेत)  
अशा गृहस्थास, किंवा तो न मिळाल्यास त्याच्यापेक्षां  
जो मध्यम आहे अशास—कन्या, भूमि, सुवर्ण, हत्ती,  
घोडा, रथ, रत्ने वगैरे त्रिवर्ग (धर्मार्थकाम) साधनाचे—  
पदार्थ दान द्यावेत. (या दानास समानदत्ति ह्मणतात.)

सधर्मभ्यः कन्यादिदाने हेतुमाह—

आतां; समानधर्मी श्रावकांस कन्या वगैरे दान देण्याचा  
हेतु सांगतात.

आधानादिक्रियामन्त- ।

व्रताद्यच्छेदवाञ्छया ॥

प्रदेयानि सधर्मभ्यः ।

कन्यादीनि यथोचितम् ॥ ५७ ॥

टीका:—प्रदेयानि प्रकृष्टं कृत्वा दातव्यानि गृहिणा । कानि  
कन्यादीनि । केभ्यः सधर्मभ्यः साधर्मिकेभ्यः । कथं यथोचितं ।

१ उक्तं च चारित्रसारे ॥ समदत्तिः स्वसमक्रियामन्त्राय  
निस्तारकोत्तमाय कन्याभूमिसुवर्णहस्त्यश्वरथरत्नादिदानम् ।  
स्वसमानाभावे मध्यमपात्रस्यापि दानमिति ॥

अर्थ:— याविषयीं चारित्रसार ग्रंथांत सांगितलें आहे कीं ;  
ज्याच्या क्रिया , मंत्र व व्रतें हीं आपल्यासारखीं आहेत अशा  
उत्तम पात्रास ह्मणजे जो संसारांतून तरून जाण्याच्या उद्योगास  
लागला आहे अशास कन्या, भूमि, सुवर्ण, हत्ती, घोडा, रथ,  
रत्न वगैरे पदार्थ दान देणें याला समानदत्ति ह्मणतात. उत्तमपात्र  
नसल्यास मध्यमपात्रासहि वरील पदार्थ देणें यालाहि समानदत्ति  
ह्मणतात.

यो यो यद्दानस्य योग्यस्तस्मै तस्मै तद्दातव्यमित्यर्थः । कया ? आधानादीत्यादि आधानं गर्भाधानविधानमादिर्यासां प्रीतिसुप्रीत्यादीनामाप्तोक्तानां क्रियाणां ता आधानादयस्ताश्च ताः क्रियाश्च कर्माणि गृहस्थानामवश्यकार्याणि । मन्त्राः प्रत्यासत्तेराधानादिक्रियासम्बन्धिन एवाप्तोक्ताः अपराजितमन्त्रो वा । व्रतानि मद्यविरत्यादीनि आदिशब्दादेवपूजापात्रदानादिधर्मकर्माणि तेषामच्छेदः सातत्येन प्रवृत्तिस्तत्र वाञ्छा आकांक्षा तथा ॥

अर्थः—गर्भाधान, प्रीति, सुप्रीति वगैरे ज्या शास्त्रकारांनी सांगितलेल्या क्रिया, त्या व त्या त्या क्रियांचे मंत्र आणि व्रते (अहिंसा, मद्यविरति वगैरे) हीं सतत चालावीत ह्यणजे ह्यांचा विच्छेद होऊं नये, अशा हेतूने; समानधर्मी जे गृहस्थ आहेत त्यांना यथोचित ह्यणजे ज्या ज्या पात्रास ज्या ज्या पदार्थांची आवश्यकता आहे हें पाहून व तो पदार्थ त्याला देणें योग्य कीं अयोग्य याचा विचार करून; त्या त्या पात्रास ते ते पदार्थ ह्यणजे कन्या, भूमि, सुवर्ण वगैरे पदार्थ द्यावेत.

सम्यक्कन्यादानविधिं तत्फलं चाह—

आतां; उत्तमकन्यादानाचा विधि व त्याचें फळ सांगतात.

निर्दोषां सुनिमित्तसूचितशिवां कन्यां वरार्हैर्गुणैः ।

स्फूर्जन्तं परिणाय्य धर्म्यविधिना यः सत्करोत्यञ्जसा ॥

दम्पत्योः स तयोस्त्रिवर्गघटनात्त्रैवर्णिकेष्वगणी- ।

भूत्वा सत्समयास्तमोहमहिमा कार्ये परेऽप्यूर्जति ५८

टीकाः—यो गृही । अञ्जसा श्रद्धापरत्वेन । साधर्मिकं सत्क-

रोति सन्मानयति यथोचितवस्त्रादिदानेनोपचरति । किं कृत्वा परिणाय्य युक्तितो वरणविधानमग्निदेवद्विजसाक्षिकं च पाणिग्रहणं विवाहस्तं कारयित्वा । केन धर्म्यविधिना धर्म्या धर्मादनपेता ब्राह्मप्राजापत्यार्षदैवाश्चत्वारो विवाहास्तेषां यथार्हं प्रयोगेण । किं

१

॥ धर्म्यविवाहविधिरार्षोक्तो यथा ॥

अर्थः—धर्मशास्त्रास संमत असा विवाहविधि महापुराणांत श्रीजिनसेन आचार्यांनी सांगितला आहे, तो असा—

तसोऽस्य गुर्वनुज्ञानादिष्टा वैवाहिकी क्रिया ॥

वैवाहिके कुले कन्यामुचितां परिणेष्यतः ॥ १ ॥

सिद्धार्चनविधिं सम्यग्निर्वर्त्य द्विजसत्तमाः ॥

कृताभिन्नयसम्पूजाः कुर्युस्तत्साक्षिकां क्रियाम् ॥ २ ॥

पुण्याश्रमे कचित्सिद्धप्रतिमाभिमुखं तयोः ॥

दम्पत्योः परया भूत्या कार्यः पाणिग्रहोत्सवः ॥ ३ ॥

वेद्यां प्रणीतमग्नीनां त्रयं द्वयमथैककम् ॥

ततः प्रदक्षिणीकृत्य प्रशय्य विनिवेशनम् ॥ ४ ॥

पाणिग्रहणदीक्षायां नियुक्तं तद्वधूवरम् ॥

आसप्ताहं चरेद्ब्रह्मव्रतं देवाग्निसाक्षिकम् ॥ ५ ॥

क्रान्त्वा स्वस्योचितां भूमिं तीर्थभूमीर्विहृत्य च ॥

स्वगृहं प्रविशेद् भूत्या परया तद्वधूवरम् ॥ ६ ॥

विमुक्तकंकणं पश्चात्स्वगृहे शयनीयकम् ॥

अधिशय्य यथाकालं भौगांगैरुपलालितम् ॥ ७ ॥

सन्तानार्थमृतावेव कामसेवां मिथो भजेत् ॥

शक्तिकालव्यपेक्षोऽयं क्रमोऽशक्तेष्वतोऽन्यथा ॥ ८ ॥

कुर्वन्तं स्फूर्जन्तं विचारकचेतसि स्फुरन्तं । कैर्गुणैः । किंविशिष्टैः  
 वरार्हैर्वरायितुर्योग्यैः कुलशीलसानाध्यविद्यावित्तसौरूप्ययोग्यवयोर्थित्वैः  
 कां परिणाय्य कन्यां । किंविशिष्टां निर्दोषां सामुद्रिकशास्त्रोक्तदो-  
 षरहितां । पुनः किंविशिष्टां सुनिमित्तसूचितशिवां सुनिमित्तैः  
 सामुद्रिकदूत(?)ज्योतिषादिभविष्यच्छुभाशुभज्ञानोपायैः सूचितं प्रका-  
 शितं शिवं स्वस्य वरस्य च कल्याणं यस्यास्तां । स किमित्याह ऊर्जति  
 समर्थो भवति । कोऽसौ स यथाविधिकन्यादाता क्व कार्येऽवश्यकृत्ये ।  
 किंविशिष्टे परेऽपि पारलौकिके न केवलं लौकिक इत्यपिशब्दार्थः ।  
 किंविशिष्टः सन् सदित्यादि सत्समयः जिनप्रवचनमार्यसङ्गतिर्वा  
 तेनास्तो निराकृतो मोहस्य चारित्रावरणकर्मणो महिमा गुरुत्वं  
 येन स तथोक्तः । किं कृत्वा । भूत्वा किम्भूतोऽग्रणीः प्रधानं । केषु  
 मध्ये त्रैवर्गिकेषु धर्मार्थकामानाचरत्सु । कस्मात् त्रिवर्गघटनात्  
 धर्मार्थकामसम्पादनात् । कयोस्तयोः स्वकन्यातद्वरलक्षणयोर्दम्प-  
 त्योर्जायापत्योः ॥

अर्थः—त्यानंतर ह्यणजे व्रताचरण क्रिया संपल्यानंतर,  
 पित्याच्या आज्ञेने, विवाहास योग्य अशा कुलांत जन्मलेल्या  
 कन्येशी विवाह करून घेणारास विवाहासंबंधी क्रिया करावयास  
 सांगितली आहे; ती अशी,—प्रथम सिद्धपरमेष्ठीची आराधना  
 करून, त्यानंतर गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि व आहवनीय असे जे  
 तीन अग्नि त्यांची विधिपूर्वक पूजा करून, त्या अग्नीच्या समक्ष  
 विवाहक्रिया करावी. कोठे तरी पवित्र अशा प्रदेशांत सिद्धप्र-  
 तिमेच्या अग्रभागी त्या वधूवरांचा पाणिग्रहणाचा उत्सव मोठ्या  
 थाटाने करवावा. वेदीवर सिद्ध केलेल्या तीन्ही, दोन्ही अथवा  
 एका अग्नीस वधूवरांनी प्रदक्षिणा घालाव्या. विवाहक्रिया चालू  
 असतांना उभयतां वधूवरांनी सात दिवस ब्रह्मचर्य पाळावे. त्या-

अर्थः—सांयुक्तिक शास्त्रांत सांगितलेल्या दोषांनीं रहित व उत्तम लक्षणांनीं जिणें आपलें व वराचेंहि शुभ सुचविलें आहे अशा कन्येचा, वरास योग्य-क्षणजे कुळ, शील वगैरे-गुणांनीं शोभणाऱ्या वराशीं धर्मशास्त्रास संमत अशा विधीनें विवाह करून जो गृहस्थ भ्रष्टेनें अलंकार वस्त्र वगैरे देऊन त्या वराचा सत्कार करितो; तो, त्या वधूवरास धर्म, अर्थ व काम ह्या तीन पुरुषार्थांची घटना करून दिल्यामुळे; त्रैवर्गिकामध्ये-क्षणजे धर्म, अर्थ व काम हे तीन पुरुषार्थ जे सेवितात त्यांच्यामध्ये-बुढारी होऊन अर्थात् आपण निश्चित होऊन; मग, सत्समय क्षणजे सत्संगति किंवा जिनप्रवचन (शास्त्र) जें, त्याच्या योगानें चारित्र्यमोह कर्माचा प्रभाव नाहींसा करून; ऐहिक व पारलौकिक कार्यामध्ये समर्थ होतो.

नंतर आपणांस उचित अशा भूमीवर व तीर्थभूमीवर विहार करून क्षणजे जिनमंदिर वगैरे तीर्थांचें दर्शन घेऊन मोठ्या ऐश्वर्यानें त्या वधूवरांनीं गृहप्रवेश करावा. घरी गेल्यावर हातांतील कंकण सोडून, पुढें योग्यकाळी ( वधूला ऋतुदर्शन झाल्यावर ) तेथें मृदु व भोगसामग्रीनें रम्य अशा शयनावर वधूवरांनीं केवळ संतानाकरितांच परस्पर कामसेवन करावें. आणि तेहि ऋतुकाळीं करावें. अन्य काळीं करूं नये. हा क्रम समर्थ मनुष्यास सांगितला आहे. अशक्त जो असेल त्यानें अधिक कालाच्या अंतरानें कामसेवन करावें.

१ द्वौ हि धर्मौ गृहस्थानां लौकिकः पारलौकिकः ॥

लोकाश्रयो भवेदाद्यः परः स्यादात्ममाश्रयः ॥ १ ॥

सत्कन्याप्रदातुः साधर्मिकोपकारकरणद्वारेण महान्तं सुकृतलाभ-  
मवभासयन्नाह—

सत्कन्यां ददता दत्तः ।

सत्रिवर्गो गृहाश्रमः ॥

गृहं हि गृहिणीमाहु- ।

न कुञ्जकटसंहतिम् ॥ ५९ ॥

टीकाः—दत्तो वितीर्णः सद्गृहिणा साधर्मिकाय । कोऽसौ  
गृहाश्रमः गृहे आश्रमो धर्मानुष्ठानं गृहमेव वाऽऽश्रमस्तपःस्थानं । किं  
कुर्वता ददता । कां सत्कन्यां सती प्रशस्ता कौलीन्यादिगुणोपेता  
सामुद्रिकोक्तदोषरहिता च कन्या कुमारी सत्कन्या तां । किंविशिष्टो

---

अर्थः—लौकिक क्षणजे इदलोकीं उपयोगीं पडणारा व  
पारलौकिक क्षणजे पुढील जन्मीं उपयोगीं पडणारा असे दोन  
धर्म गृहस्थांचे आहेत. त्यांपैकी पहिला जो लौकिक, तो  
त्या त्या कालच्या लोकस्थितीवर अवलंबून असतो, अर्थात्  
देशकालाप्रमाणे तो निरनिराळ्या स्वरूपाचा होतो आणि दुसरा  
जो पारलौकिक तो जैनसिद्धांतास अनुसरून असतो. त्याचे  
मात्र रूप बदलत नाही.

सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः ॥

यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणम् ॥ २ ॥

अर्थः—ज्यांत सम्यक्त्वाला हानि व अहिंसाव्रताला दूषण  
नाहीं असा जैनांचा लौकिकधर्माचा जो विधि आहे तो  
कोणत्याहि देशांतला आणि कोणत्याहि काळांतला असला तरी  
तो प्रमाणच होय.

गृहाश्रमो दत्तः सत्रिबर्गो धर्मार्थकामानां सद्गृहिणीमूलत्वात् ।  
तथाहि धर्मः स्वदारसन्तोषाद्यात्मकसंयमलक्षणो देवादिपरिचरणस्व-  
रूपः सत्पात्रदानादिस्वभावश्च । अर्थो वेश्यादिव्यसनव्यावर्त्तनेन  
निष्प्रत्यूहमर्थस्योपार्जनादुपार्जितस्य च रक्षणाद्रक्षितस्य च वर्धनाद्य-  
थाभाग्यं ग्रामसुवर्णादिसम्पत्तिः । संकरपरमणीयस्य प्रीतिसम्भोगशो-  
भिनो रुचिरस्याभिलाषस्य नाम काम इति स्मृतिरिति वचनात् ।  
कामश्च यथेष्टमाभिमानिकरसानुविद्धसर्वेन्द्रियप्रीतिहेतुः कुल्याङ्ग-  
नासङ्गिनां सुप्रतीतः । हि यस्मात् । आहुः ब्रुवन्ति विद्वांसः  
किं गृहं । कां गृहिणीं कुलपत्नीं । न आहुः । किं तत् गृहं ।  
कुल्यकटसंहतिं भित्तिवंशादिच्छादनसङ्घातम् ॥

स्वजात्यैव विशुद्धानां वर्णानामिह रत्नवत् ॥

तत्क्रियाविनियोगाय जैनागमविधिः परम् ॥ ३ ॥

अर्थः—रत्न हें जातीचें शुद्ध असलें तरी त्याला विशेष शोभा  
येण्याकरितां कुशल कारागिराकडून निराळे संस्कार ( छेद  
पाडणें कोरणें वगैरे ) करावे लागतात. त्याप्रमाणें जात्याच  
शुद्ध असलेले जे ब्राह्मण वगैरे वर्ण, त्यांना विशेष महत्त्व  
येण्याकरितां जैनशास्त्राचा विधि करणें योग्य होय.

यद्भवभ्रान्तिनिर्मुक्तिहेतुर्धोस्तत्र दुर्लभा ॥

संसारव्यवहारे तु स्वतःसिद्धे वृथाऽऽगमः ॥ ४ ॥

अर्थः—संसाराचा जो व्यवहार आहे तो स्वतःसिद्ध आहे  
त्याला कांहीं शास्त्रांची गरज नाही. कारण तिकडे लोकांची  
प्रवृत्ति स्वभावतःच असते. संसारचक्राच्या फेण्यांतून सुटका  
होण्यास कारण असा जो धर्ममार्ग त्याविषयी बुद्धि होणें  
दुर्लभ आहे.



अर्थः—ज्याने उत्तम अन्नी कन्या समानधर्मी श्रावकास दिली; त्याने धर्म अर्थ व कार्य या तीन पुरुषार्थानी युक्त असा गृहाश्रमच त्यास दिला असे समजावे. कारण, भित व वेळवाचे वासे यांची जी रचना ते घर नव्हे. तर, गृहिणी क्षणजे कुळाचार पाळणारी जी स्त्री तेच घर होय.

१ धर्मः स्वदारसंतोषाद्यात्मकः संममलक्षणो देवादिपारिचरण-स्वरूपः सत्पात्रदानादिस्वभावः ॥

अर्थः—स्वस्त्रीच्याठायींच रत होऊन संतोष मानणे, मन स्वाधीन ठेवणे, देव व गुरु यांची सेवा करणे, सत्पात्रदान वगैरे करणे हा सगळा श्रावकाचा धर्म होय.

२ अर्थो वेश्यादिव्यसनव्यावर्तनेन निष्प्रत्यूहमर्थस्योपार्जनादुपार्जितस्य च रक्षणाद्रक्षितस्य च वर्धनाद्यथाभाग्यं ग्रामसुवर्णादिसंपत्तिः ॥

अर्थः—वेश्या वगैरे व्यसन नसल्यामुळे निर्विघ्नपणे द्रव्य मिळवून, मिळविलेल्याचे रक्षण करणे व रक्षिलेले वाढविल्याने आपल्या भाग्याप्रमाणे प्राप्त झालेली ग्राम, सुवर्ण वगैरे जी संपत्ति तिला अर्थ म्हणतात.

३ कामश्च यथेष्टमाभिमानिकरसानुविद्धसर्वेन्द्रियप्रीतिहेतुः कुल्यांगनासंगिनां सुप्रतीतः ॥

अर्थः—आत्मविचारास झांकून टाकणाऱ्या अशा प्रेमरसाने युक्त अशी सगळ्या इंद्रियांची जी प्रीति तिला कारण असा जो पदार्थ तो काम. त्याचा कुळांगनेशी संग करणाऱ्यास चांगला अनुभव असतो.

कुलस्त्रीपरिग्रहं कोकद्वयाभिमतफलसम्पादकत्वात् त्रैवर्गिकस्य  
विधेयतयोपदिशति—

आतां ; कुलस्त्रीपरिग्रहाचा उपयोग सांगतात.

धर्मसन्ततिमक्लिष्टां ।

रतिं वृत्तकुलोन्नतिम् ॥

देवादिसत्कृतिं चेच्छन् ।

सत्कन्यां यत्नतो वहेत् ॥ ६० ॥

टीका:—वहेत् परिणयेत् । कोऽसौ श्रावकः । कां सत्कन्यां  
सती प्रशस्ता सतश्च सज्जनस्य कन्या सत्कन्या तां । कस्मात्  
यत्नतः प्रयत्नेन तत्परतया । किं कुर्वन् इच्छन् आकांक्षन् । किं  
किं धर्मसन्ततिं धर्मार्थां सन्ततिरपत्यानि अथवा धर्मस्य सन्तति-  
रविच्छेदो धर्मसन्ततिस्तां । तथा अक्लिष्टामनुपहृतां रतिं सम्भोगं ।  
तथा वृत्तकुलोन्नतिं वृत्तस्याचारस्य कुलस्य च वंशस्य गृहस्य वा  
उन्नतिरुन्नतिस्तां । तथा देवादिसत्कृतिं देवद्विजातिथिबान्धवसत्कारम्

अर्थः—धर्ममार्गीं रत होणारी अशी संतति, अथवा  
कुलक्रमागत धर्मपरंपरा, क्लेश न देणारे संभोगसुख,  
आचार, कुलाची उन्नती आणि जिनपूजा व सत्पात्रदान  
किंवा अतिथिसत्कार वगैरेची इच्छा बाळगणाराने यत्ने-  
करून सज्जनाच्या कन्येशीं विवाह करावा.

दुष्कलत्रस्याकलत्रस्य वा पात्रस्य भूम्यादिदानात् कश्चिदुपकारः  
स्यादित्यमुमर्थमवश्यं सत्कन्याविनियोगेन सधर्माणमनुगृहीयादिति  
विधिव्यवस्थापनार्थमर्थान्तरन्यासेन समर्थयते—

आतां ; ज्याला स्त्री नाही अथवा स्त्री असून ती दुरा-

चारिणी आहे अशा गृहस्थास भूमि, सुवर्ण वगैरे पदार्थ दान देऊं नयेत हें सांगतात.

सुकलत्रं विना पात्रे ।

भूहेमादिव्ययो वृथा ॥

कीटैर्दन्दश्यमानेऽन्तः ।

कोऽम्बुसेकात् द्रुमे गुणः ॥ ६१ ॥

टीका—भवति । कोऽसौ भूहेमादिव्ययः भूमिसुवर्णादिदानं । कथम्भूतो वृथा व्यर्थः । क पात्रे संयुज्यमानमोक्षकारणगुणे गृहिणि । कथं विना । किं तत् सुकलत्रं सत्पत्नी । अत्र दृष्टान्त-माह को भवति न कश्चित् । कोऽसौ गुण उपकारः । कस्मादम्बुसेकात् जलसेचनात् । क द्रुमे वृक्षे । किं क्रियमाणे दन्दश्यमाने गर्हितं भक्ष्यमाणे । कैः कीटैः घृणैः । क अन्तर्मध्ये ॥

अर्थः—ज्याची स्त्री धर्ममार्गानें चालणारी नाही अशा पात्रास भूमि, सुवर्ण वगैरे दान देणें व्यर्थ होय. याला दृष्टांत,—ज्याच्या कोटराच्या आंत कीटक लागून पोकरीत आहेत अशा वृक्षास वरून पाण्याचा वर्षाव करण्यांत लाभ कोणता ?

विषयसुखोपभोगेनैव चारित्रमोहोदयोद्रेकस्य शक्यप्रतीकारत्वात्तद्वारेणैव तस्मादपवर्त्यात्मानमिव साधर्मिकमपि विषयेभ्यो व्युपरमयेदित्युपदेशार्थमाह—

आतां ; विषयसुख भोगूनच चारित्रमोह कर्माच्या उदयाचा उद्रेक नाहीसा करणें शक्य असल्यामुळे ; त्याच उपायानें तो उद्रेक नाहीसा करून, आपल्याप्रमाणेंच साधर्मिकासहि विषयापासून विरत करावें हें सांगतात.

विषयेषु सुखभ्रान्ति ।

कर्माभिमुखपाकजाम् ॥

छित्वा तदुपभोगेन ।

त्याजयेत्तान् स्ववत्परम् ॥ ६२ ॥

टीका:—त्याजयेद्विमोचयेत् । कोऽसौ सद्ब्रूही । कं परं कन्यादिदावेन विषयीक्रियमाणं साधर्मिकं । कान् तान् सुकलत्रादिविषयान् । किंवत् स्ववत् आत्मानं यथा । किं कृत्वा छित्वा प्रशमय्य । कां सुखभ्रान्तिं सुखयन्तीति सुखाः सुखहेतव इमे सुखं वेति विपर्यासमिति । केषु विषयेषु । किंविशिष्टां कर्माभिमुखपाकजां कर्मणश्चारित्रमोहस्याभिमुखो निजफलदानोद्यतः पाको रसः कर्माभिमुखपाकस्तस्मात् जातां । छित्वा प्रशमय्य । कां सुखभ्रान्तिं । केन तदुपभोगेन विषयानुभवनेन ॥

अर्थ:—आपणें फल देण्यास उद्युक्त झालेला जो चारित्रमोह कर्माचा रस त्यामुळे उत्पन्न झालेली जी विषयांच्या ठिकाणी सुखाची भ्रान्ति ती विषयसेवनानेंच नाहींशी करून आपण विषयसुखापासून जसा विरत होतो त्याप्रमाणेंच साधर्मिकासहि विरत करावें.

दुष्पमाकालवशात्पायेण पुरुषाणामाचारविप्लवदर्शनाद्विचिकित्साकुलितचित्तस्य दातुः सौचित्यविधानार्थं चतुरः श्लोकानाह—

आतां ; विचारवान् लोकाहि या पंचमकालच्या दुःस्वभावामुळे बहुतकरून तसे आचारवान् असत नाहीत, त्यामुळे कित्येक दात्यांचें चित्त संशयानें व्याकुळ होतें, तो संशय नाहींसा करण्यास चार श्लोक सांगतात.

दैवाल्लब्धं धनं प्राणैः ।

सहावश्यंविनाशि च ॥

बहुधा विनियुञ्जानः ।

सुधीः समयिकान् क्षिपेत् ॥ ६३ ॥

टीका:—क्षिपेत् धिगिमान् सम्भाषणमात्रस्याप्ययोग्यानित्याद्य-  
वर्णवादेन तिरस्कुर्वादिति काष्ठा न क्षिपेदिति प्रतिषेधे पर्यवस्यति ।  
कोऽसौ सुधीः श्रेयोऽर्थी गृही । कान् समयिकान् समयाश्रितान्  
गृहस्थान् यतीन् वा । किं कुर्वाणो विनियुञ्जानो व्ययमानः । किं  
तत् धनं । कतिधा बहुधा बहुभिः प्रकारैः लज्जामयपक्षपातादिभिः  
किंविशिष्टं धनं लब्धं प्राप्तं । कस्मात् दैवात्पुण्योदयान्न पुरुषकारात्  
तस्य संसारे गौणत्वात् । किंविशिष्टं अवश्यंविनाशि नियमेन गत्वरं  
कथं सह । कैः प्राणैः ॥

अर्थः—पूर्वपुण्याच्या उदयानें इह जन्मी अनायासें  
मिळालेलें आणि आपल्या प्राणांबरोबरच नियमानें नाश  
पावणारें ह्मणजे मरणानंतर आपल्या उपयोगी न पडणारें  
अर्थात् आपल्याबरोबर न येणारें असें जें धन; तें लज्जा,  
भय, पक्षपात वगैरे नावाप्रकारें खर्च करणारा असा  
कोण बरें बुद्धिमान् मनुष्य जिनमत्तावलंबी श्रावकांचा व  
यतींचा तिरस्कार करील ! कोणीच करणार नाहीं.  
तात्पर्यः—आपण स्वतांकरितां जर आयतें मिळालेलें द्रव्य  
कार्याकार्याचा विचार न करितां हवें तसें खर्चून टाकितो  
तर आपल्या धर्मबंधुंची विपत्ति दूर करण्याचा समय आला  
की त्यांचे गुणावगुण काढून त्यांची निंदा कां करावी !  
कळं नये.

किं तर्हि कुर्यादित्याह—

तर काय करावें हें सांगतात.

विन्यस्यैदंयुगीनेषु ।

प्रतिमासु जिनानिव ॥

भक्त्या पूर्वमुनीनर्चेत् ।

कुतः श्रेयोऽतिचर्चिनाम् ॥ ६४ ॥

टीकाः—अर्चेत् पूजयेत् । कोऽसौ सद्गृही । कान् पूर्वमुनीन् प्राक्तनसाधून् कया भक्त्या । किं कृत्वा विन्यस्य नामादिविधिना निक्षिप्य । केषु ऐदंयुगीनेषु अस्मिन् युगे साधुषु । कास्विव कान् प्रतिमासु जिनानिव प्रतिबिम्बेष्वर्हतो यथा । यतः कुतो भवति न कुतश्चित् । किं तत् श्रेयः पुण्यं । केषां अतिचर्चिनां अतिमात्रं क्षोदकाराणाम् ॥

अर्थः—आपण जशी रत्न पाषाणादिकांची मूर्ति करून तिला वृषभ, अजित वगैरे नांव देऊन तिची स्थापना करून पूजा करितों; त्याचप्रमाणें या पंचमकालांतल्या मुनींच्या ठायीं पूर्वकालच्या मुनींची कल्पना करून भक्तीने त्यांचा यथायोग्य सत्कार करावा. कारण, फारच चौकशी

१ ॥ अत्राहुः श्रीसोमदेवपण्डिताः ॥

याविषयीं श्रीसोमदेव पंडित असें सांगतात कीं,—

भुक्तिमात्रप्रदाने तु का परीक्षा तपस्विनाम् ॥

ते सन्तः सन्त्वसन्तो वा शूद्रो दानेन शुद्ध्यति ॥ १ ॥

अर्थः—नुसतें अन्नच जर द्यावयाचें आहे ‘तर तपस्व्यांची परीक्षा काय करावयाची? ते तपस्वी चांगले असोत, कीं वाईट

करणांरंस सुख कोटून मिळणार? मिळणार नाहीं.  
ह्मणून अशा कामांत गृहस्थानें फारसें खोदूं नये. कारण,—  
पुनस्तदर्थसमर्थनार्थमाह—

भावो हि पुण्याय मतः ।

शुभः पापाय चाशुभः ॥

तदुप्यन्तमतो रक्षे- ।

द्धीरः समयभक्तिः ॥ ६५ ॥

असोत; तिकडे आपण लक्ष ठेऊं नये. कारण, दान देऊन  
शुद्धी शुद्ध होतो.

सर्वारम्भप्रवृत्तानां गृहस्थानां धनव्ययः ॥

बहुधाऽस्ति ततोऽत्यर्थं न कर्त्तव्या विचारणा ॥ २ ॥

अर्थः—सर्व प्रकारचे आरंभ ह्मणजे शेतकी वगैरे उद्योग  
करणाच्या गृहस्थांच्या द्रव्याचा व्यय या संसारांत पाहिजे त्या  
कामाकडे पाहिजे तितका होतो; तिकडे जर लक्ष पुरवीत नाहीं,  
तर दान देण्याविषयीं फारसा खोल विचार कां करावा? करूं नये.

यथा यथा विशिष्यन्ते तपोज्ञानादिभिर्गुणैः ॥

तथा तथाऽधिकं पूज्या मुनयो गृहमोघिमिः ॥ ३ ॥

अर्थः—तप, ज्ञान वगैरे गुणांनीं तपस्वी ज्या ज्या प्रमाणानें  
अधिक योग्यतेचे असतील त्या त्या मानानें आदर करून गृह-  
स्थांनीं यतींची पूजा करावी.

दैवाल्लब्धं धनं धन्यैर्वसव्यं समयाश्रिते ॥

एको मुनिर्भवेन्नृभ्यो न लभ्यो वा यथागमम् ॥ ४ ॥

अर्थः—जे पुण्यवान् पुरुष आहेत त्यांनीं आपणास पूर्वपुण्यानें

टीका :— हि यस्मात् । पुनरिष्टः । कोऽसौ भावः परिणामः । कस्मै पुण्याय सुकृतनिमित्तं । किंविशिष्टः शुभः प्रशस्तः । तथा मतः । कोऽसौ भावः । किंविशिष्टोऽशुभोऽपशस्तः । कस्मै पापाय पातकनिमित्तं । यत एवमतः एतस्मात्कारणात् । रक्षेन्निवारयेत् । कोऽसौ धीरोऽविकारप्रकृतिः । कं तं भावं । किं कुर्वन्तं दुष्यन्तं विकुर्वाणं । कस्मात् समयभक्तिः जिनशासनं कलौ धारयन्तोऽमी अतो जिनवन्मान्या इत्यनुरागबुद्ध्या ॥

मिळालेलें द्रव्य, आपल्या घर्माचे जे यति किंवा श्रावक असतील त्यांच्याकरितां यथायोग्य खर्च करीत असावें. शास्त्रांत वर्णिल्याप्रमाणें एकसुद्धां मुनि मिळेल किंवा न मिळेल हें खात्रीनें सांगवत नाहीं; म्हणून त्याबद्दल फारसा विचार न करितां भक्तीनें त्यांना दान द्यावें. कारण,

उच्चावचजनप्रायः समयोऽयं जिनेशिनाम् ॥

नैकस्मिन्पुरुषे तिष्ठेदेकस्तम्भ इवालयः ॥ ५ ॥

अर्थः—हा आपला जिनधर्म उच्च व कनिष्ठ अशा दोन्ही तऱ्हेच्या पुरुषांनीं भरलेला आहे. तेव्हां एका खांबावर घर जसें रहात नाहीं, त्याप्रमाणें एकाच पुरुषावर हा जिनधर्म अवलंबून असावयाचा नाही.

ते नामस्थापनाद्रव्यभावन्यासैश्चतुर्विधाः ॥

भवन्ति मनुयः सर्वे दानमानादिकर्मसु ॥ ६ ॥

अर्थः—ते मुनि नाम, स्थापना, द्रव्य व भाव अशा भेदांनीं चार प्रकारचे असतात, ते सगळेही दान मान वगैरे क्रियेस पात्र होत. पण त्यांत विशेष हाच कीं,

उत्तरोत्तरभावेन विधिस्तेषु विशिष्यते ॥

पुण्यार्जने गृहस्थानां जिनप्रतिकृतिष्विव ॥ ७ ॥



अर्थः—भाव ह्मणजे मनाचा परिणाम, तो शुभ असला ह्मणजे पुण्य घडतें आणि अशुभ असला तर पाप घडतें. याकरितां तो भाव जर आपल्या चित्तास विकार करूं लागला ह्मणजे तो अशुभ होऊं लागला, तर धैर्यवंतानें जिनधर्मावर भक्ति ठेवून त्याचें निवारण करावें. पुण्य व पाप हीं दोन्ही भावावर अवलंबून आहेत ह्मणून भाव हे शुभ ठेवावे.

ज्ञानतपसोः पृथक् समुदितयोश्च तद्वतां च पूज्यत्वे युक्तिमाह—

ज्ञानमर्च्यं तपोऽङ्गत्वात् ।

तपोऽर्च्यं तत्परत्वतः ॥

द्वयमर्च्यं शिवाङ्गत्वात् ।

तद्वन्तोऽर्च्या यथागुणम् ॥ ६६ ॥

टीकाः— अर्च्यं पूज्यं गृहिणां । किं तत् ज्ञानं साधकस्थं दीक्षायात्राप्रतिष्ठाद्युपयोगि । कुतस्तपोऽङ्गत्वादनशनादितपोनिमित्तत्वात् । तथा अर्च्यं किं तत् तपो नैष्ठिकस्थं कस्मात्तत्परत्वतः ज्ञानातिशयहेतुत्वात् ज्ञानं परमुत्कृष्टं यस्मादिति व्युत्पत्त्याश्रयणात् । तथा अर्च्यं । किं तत् द्वयं ज्ञानतपोयुगलं गणाधिपस्थं । कस्मात्

अर्थः—नाममुनीपेक्षां स्थापना मुनि, स्थापनामुनीपेक्षां द्रव्यमुनि व द्रव्यमुनीपेक्षां भावमुनि याप्रमाणें एकापेक्षां एक अधिक असे ते मुनि गृहस्थांस पुण्यार्जन करण्यास जिनप्रतिमेप्रमाणें पूज्य होत. आणखीं असें कीं—

काले कलौ चले चित्ते देहे चान्नादकीटके ॥

एतच्चित्रं यदद्यापि जिनरूपधरा नराः ॥ ८ ॥

शिवाङ्गत्वान्मोक्षकारणत्वात् । तथा अर्च्याः के ते तद्वन्तो ज्ञानि-  
नस्तपस्विनो ज्ञानतपोयुक्ताश्च । कथं यथागुणं यो यो गुणो  
यस्याधिकस्तेन तेन तं तं विशेषेण पूजयोर्दित्यर्थः ॥

अर्थः—ज्ञान ह्मणजे दीक्षा, यात्रा, प्रतिष्ठा वगैरे  
कमें कशा प्रकारें करावीत हें ज्यांमुळें समजतें असें  
शास्त्रज्ञान होय. हें तपश्चर्येचें साधन असल्यामुळें—अर्थात्  
उपवासादि तपें कोणत्या तऱ्हेनें करावीत हें समजण्यास  
साधन असल्यामुळें—पूज्य आहे. तप—ह्मणजे उपवासादि  
तप—हें ज्ञान वाढविणारें असल्यामुळें पूज्य आहे आणि  
ज्ञान व तप हीं दोन्ही मोक्षाचीं साधनें असल्यामुळें  
पूज्य आहेत. त्यांत प्रथम सांगितलेलें ज्ञान हें साधकाच्या  
ठिकाणीं असतें ह्मणून त्या ज्ञानाच्या पूज्यतेमुळें तोहि  
पूज्य आहे. तप हें नैष्ठिकाच्या ठिकाणीं असतें ह्मणून  
तपाच्या पूज्यतेमुळें तो नैष्ठिक सुद्धां पूज्य होय. आणि  
ज्ञान व तप हीं दोन्ही गणधरांच्या ठिकाणीं असतात,  
तेव्हां त्या दोहोंच्या पूज्यतेमुळें ते गणधराहि पूज्य होत.  
ह्यांत साधकापेक्षां नैष्ठिक व त्यापेक्षां गणधर हे क्रमानें  
अधिकाधिक पूज्य होत; असें जाणावें.

अर्थः—हा काल कलीचा आहे, तेव्हां चित्त हें चंचल  
असतें आणि हा देह ह्मणजे अन्न खाऊन जगणारा एक प्रकारचा  
किडा आहे, अशा स्थितीतही जिनरूप धारण करणारे पुरुष  
दृष्टीस पडतात, हेंच आश्चर्य.

यथा पूज्यं जिनेन्द्राणां रूपं लेपादिनिर्मितम् ॥

तथा पूर्वमुनिच्छायाः पूज्याः सम्प्रति संयताः ॥ ९ ॥

अथ मिथ्यादृष्टेश्च सुपात्रेष्वेवान्नदानादुत्पन्नस्य पुण्यस्य फल-  
विशेषमपात्रे चार्थविनियोगस्य वैयर्थ्यं प्रतिपादयितुमाह—

आता; कोणत्या पात्रास आहारदान देऊन कोणत्या  
मनुष्यास काय फळ प्राप्त होतें हें वर्णितात.

न्यङ्मध्योत्तमकुत्स्यभोगजगतीभुक्तावशेषादृषा- ।  
त्तादृक्पात्रवितीर्णभुक्तिरसुदृग्देवो यथास्वं भवेत् ॥  
सदृष्टिस्तु सुपात्रदानसुकृतोद्रेकात्सुभुक्तोत्तम- ।  
स्वभूमर्त्यपदोऽश्रुते शिवपदं व्यर्थस्त्वपात्रे व्ययः ६७

टीका :— भवेत् जायेत । कोऽसौ असुदृग्मिथ्यादृष्टिर्जीवः । किं  
भवेत् देवः सुरः । कथं यथास्वं यद्यत्स्वमात्मीयं दानं तत्तदनति-  
क्रमेणेत्यर्थः । किंविशिष्टः सन् तादृक्पात्रवितीर्णभुक्तिः तादृग्भ्यो  
न्यग्मध्योत्तमकुत्सितेभ्यः पात्रेभ्यो वितीर्णा दत्ता भुक्तिराहारो येन  
स तथोक्तः । कस्माद्भवेत् वृषात् पुण्यविशेषात् । किंविशिष्टात्  
न्यगित्यादि न्यक् जघन्य एकपल्योपमभोग्यत्वात् । उत्तमस्त्रि-  
पल्योपमभोग्यत्वात् । कुत्स्यः सुस्वादुमृत्पुष्पफलाशनवृत्तित्वादेको-  
रुकादिदेहयोगाच्च । न्यक् मध्यश्च उत्तमश्च कुत्स्यश्च न्यग्मध्यो-  
त्तमकुत्स्यास्ते च ते भोगाश्च न्यग्मध्योत्तमकुत्स्यभोगास्तैरुपलक्षिता  
जगत्यो भूमयो जघन्यभोगभूमिर्मध्यमभोगभूमिरुत्तमभोगभूमिः  
कुभोगभूमिश्चेति चतस्रस्तासु भुक्तः कल्पवृक्षादिसम्पादितेष्टविष-

अर्थः—ज्याप्रमाणें आपण जिनाचें चित्र काढून त्याची  
पूजा करितों; त्याप्रमाणें हल्लीचे जे तपस्वी आहेत ते पूर्वका-  
लच्या मुनीचे प्रतिरूप होत असें जाणून त्यांची पूजा करावी.

योपभोगमुखेन निर्जीर्णश्चासाववशेषश्चोद्धृतो यो वृषस्तमात् ।  
तत्र मिथ्यादृष्टिर्जघन्यपात्राय सुदृष्टिलक्षणायाहारदानं दत्वा जघ-  
न्यभोगभूमौ मध्यमपात्राय सम्यक्त्वाणुव्रतपवित्राय मध्यमभोग-  
भूमावुत्तमपात्राय सम्यग्दर्शनमहाव्रतभूषिताय चोत्तमभोगभूमौ  
निरातङ्गभोगान् भुक्त्वा स्वायुःक्षये यथाभाग्यं स्वर्गं गच्छेत् ।  
तत्तत्पात्रसन्निधानात्तथाविधशुभपरिणामविशेषोपपत्त्या तादृक्पुण्यप्र-  
चयानुभावात् स एव च कुपात्राय सम्यक्त्वरहितव्रततपोयुक्ताया-  
हारं दत्वा कुभोगभूमौ निर्भूषविवस्त्रगुहाष्टक्षमूलनिवास्येकोरुकादि-  
शरीरो भूत्वा स्वसमानपत्न्या सह यथास्वं निराबाधतया भोगं भुक्त्वा  
पल्योपममात्रस्वायुःक्षये मृत्वा स्वर्गे बाह्मदेवो वा ज्योतिषो वा  
व्यन्तरो वा भवनवासी वा भूत्वा दीर्घं दुर्गतिदुःखानि भुञ्जन्  
संसरति । किं च ये भोगभूमिषु ये च मानुषोत्तरपर्वताद्बहिः  
प्राक् स्वयम्प्रभपर्वतात्तिर्यञ्चो ये च म्लेच्छराजगजतुरगादयो  
वेश्यादयो वा नीचात्मानो भोगभाजो दृश्यन्ते ते सर्वे कुपात्रदानतो  
यथापरिणाममुत्पन्नेन मिथ्यात्वसहचारिणा पुण्येन तथा स्युरिति  
निर्णयः । अश्रुते प्राप्नोति । कोऽसौ सदृष्टिः सम्यक्त्वविशुद्धो  
जीवः । तुर्विशेषे । किं शिवपदं । किम्भूतो भूत्वा सुष्ठु यथेष्टं  
भुक्तानि उत्तमानि महर्द्धिकानि स्वर्भुवां कल्पोपपन्नदेवानां मर्त्यानां  
च चक्रवर्त्यादीनां पदानि येन स सुभुक्तोत्तमस्वर्भूमर्त्यपदः । कस्मात्  
सुपात्रदानसुकृतोद्रेकात् सुपात्राय महातपोधनाय त्रिविधपात्राय  
वा दानमनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गस्तस्माज्जातं सुकृतं पुण्यं तस्योद्रे-  
कादुदयात् । भवेत् । कोऽसौ व्ययः अर्थविनियोगः । क अपात्रे  
सम्यक्त्वव्रतरहितप्राणिनि । किंविशिष्टो व्यर्थो विपरीतफलो  
निष्फलो वा ॥

अर्थः—जघन्य, मध्यम, उत्तम व कुत्सित या चार

प्रकारच्या पात्रांस आहारदान देणारा मिथ्यादृष्टि मनुष्य मरणानंतर जघन्य, मध्यम, उत्तम व कुत्सित या चार प्रकारच्या भोगभूमींत जन्म घेऊन तेथील कल्पवृक्षांपासून मिळणारें इच्छितसुख भोगून तेथील आयुष्य संपल्यावर उरलेल्या पुण्यानें पूर्वी जसें दान दिलें असेल त्यां मानानें सुख जेथें आहे, अशा स्वर्गातील देवपदास पोचतो.

१ पात्रापात्रे लक्षणशास्त्रं यथा ।

पात्र व अपात्र यांचें लक्षण —

उत्कृष्टपात्रमनगारमणुव्रताढ्यं ।

मध्यं व्रतेन रहितं सुदृशं जघन्यम् ॥

निर्दर्शनं व्रतनिकाययुतं कुपात्रं ।

युग्मोज्झितं नरमपात्रमिदं हि विद्धि ॥ १ ॥

अर्थः---अनगार ह्मणजे महाव्रती दिगंबर मुनि उत्तम पात्र होय. अणुव्रती सम्यग्दृष्टि मध्यमपात्र होय. व्रतरहित सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र होय. हे तिघे सत्पात्र होत. सम्यग्दर्शनरहित व्रती जीव कुपात्र होय आणि व्रत व सम्यक्त्व हीं दोन्ही ज्यास नाहीत ते अपात्र जाणावे.

उत्तमपत्तं साहू मज्झमपत्तं च सावया भणिया ॥

अविरदसम्माइठ्ठी जहण्णपत्तं मुणेयव्वम् ॥ २ ॥

अर्थः—उत्तम पात्र साधु, मध्यम पात्र अणुव्रती श्रावक आणि जघन्य पात्र व्रतहीन सम्यग्दृष्टि असें जाणावे.

मिथ्यात्वप्रस्तचित्तेषु चारित्राः५५भागिषु ॥

दोषायैव भवेदानं पयःपानमिवाहिषु ॥ १ ॥

अर्थः—जे मिथ्यात्वी व्रतिक आहेत त्यांना दान देणें क्षणजे

स्पष्टीकरण—जघन्यपात्रास दान देणारा मिथ्यादृष्टि जीव मरणानंतर जघन्य भोगभूमीत जन्म पावतो. तेथे एक पल्योपम आयुष्य असते. त्यानंतर तो स्वर्गी देव होऊन जन्मतो. मध्यमपात्रास दान देणारा मिथ्यादृष्टि जीव मरणानंतर मध्यम भोगभूमीत जन्मतो. तेथे दोन पल्योपम आयुष्य असते. त्यानंतर तो स्वर्गी देवपदास पावतो. उत्तमपात्रास दान देणारा मनुष्य मरणानंतर उत्तम भोगभूमीत जन्म पावतो. तेथे तीन पल्योपम आयुष्य असते. त्यानंतर तो स्वर्गी देवपदास पावतो. कुत्सित ह्यणजे कुपात्रास दान देणारा मिथ्यादृष्टि मनुष्य मरणानंतर कुभोगभूमीत जन्म पावतो. जेथे जीव पशु होऊन जन्मतात त्याला कुभोगभूमि ह्यणतात. तेथे एक पल्योपम आयुष्य असते. आणि रहावयास चांगल्या

सर्पास दूध पाजविणे होय. म्हणजे मोठा अपराधच होय. असे असूनही—

कारुण्यादथवौचित्यात्तेषां किञ्चिद्दिशन्नपि ॥

दिशेदुधृतमेवान्नं गृहे भुक्तिं न कारयेत् ॥ २ ॥

अर्थ:—जर कदाचित् करुणाबुद्धीने अगर मित्रत्वाने त्यांस कांहीं द्यावेसे वाटले तर उचलूनच द्यावे. घरी जेवावयास घालू नये.

सत्कारादिविधावेषां दर्शनं दूषितं भवेत् ॥

यथा विशुद्धमप्यम्बु विषभाजनसंगमात् ॥ ३ ॥

अर्थ:—यांचा ह्यणजे या मिथ्यादृष्टि व्रतिकांचा सत्कार वगैरे केल्यास, करणाराचे सम्यक्त्व-विषपात्रांत ठेविलेल्या जलाप्रमाणे-दूषित होईल.

चांगल्या गुहा, दरी व वृक्षांचे आश्रय असतात आणि खावयास स्वादिष्ट गवत, माती, फळे, फुले वगैरे असतात. कुभोगभूर्मीतील एक पल्योपम आयुष्य संपल्यावर ते जीव स्वर्गी वाहनदेव, ज्योतिष्कदेव, व्यंतरदेव भवनवासी देव होऊन शेवटीं दुर्गतीस जातात. भोगभूर्मीत, मानुषोत्तर पर्वताच्या पलीकडे व स्वयंप्रभ पर्वताच्या अलीकडे जे कांहीं सुखी तिर्यच, म्लेंछ राजे व गज, तुरग आणि वेश्या वगैरे सुखी जीव दृष्टीस पडतात, ते सगळे कुपात्रदानाने तसे झालेले आहेत असे समजावे. आणि सम्यग्दृष्टि जीव सत्पात्रास ह्यणजे उत्तम, मध्यम व जघन्य यांपैकीं कोणत्याही सत्पात्रास दान देऊन त्या योगाने प्राप्त झालेल्या पुण्योदयामुळे उत्तम भोगभूर्मीत अनायासे सुख भोगून त्या नंतर स्वर्गी उत्तम देव होतो. आणि त्यानंतर मनुष्य लोकीं उत्तम राजपदाचा अनुभव घेऊन शेवटीं जिनदीक्षा

१ पात्राय विधिना दत्त्वा दानं मृत्वा समाधिना ॥

अच्युतान्तेषु कल्पेषु जायन्ते शुद्धदृष्टयः ॥ १ ॥

ज्ञात्वा धर्मप्रसादेन तत्र प्रभवमात्मनः ॥

पूजयन्ति जिनाचार्यास्ते भक्त्या धर्मस्य वृद्धये ॥ २ ॥

अर्थः—सत्पात्रास विधिपूर्वक दान देऊन शेवटीं जे सम्यग्दृष्टि जीव समाधीने (चित्त शांत ठेऊन धर्मध्यानाने) मरण पावतात; ते अच्युत स्वर्गापर्यंत खालच्या कोणत्याही स्वर्गांत देव होऊन जन्मतात. तेथे जन्मतांच त्या देवांना असे कळून येते की, “आपण येथे धर्मप्रभावाने देव होऊन जन्मलो.” मग ते धर्मवृद्धीकरितां भक्तीने जिनेंद्राची पूजा करितात.

घेऊन शिवपदास पोंचतो. असा सत्पात्रदानाचा महिमा आहे. जे अपात्र आहेत ह्यणजे सम्यग्दर्शनरहित व व्रतरहितही असे जे जीव आहेत, त्यांना दान देणें व्यर्थ ह्यणजे निष्फळ होय.

इदानीं पात्रदानपुण्योदयफलभाजां भोगभूमिजानां जन्मप्रभृति सप्ताहसप्तकभाविनीवस्था निर्देष्टुमाह—

आतां; भोगभूमीति जन्मणाच्या प्राण्यास सात सप्ताह पर्यंत होणाऱ्या अवस्थांचें वर्णन करितात.

सप्तोत्तानशया लिहन्ति दिवसान् स्वांगुष्ठ-  
मार्यास्ततः । कौ रिङ्गन्ति ततः पैदैः कलगिरो  
यान्ति स्वलङ्घिस्ततः ॥ स्थेयोभिश्च ततः  
कलागुणभृतस्तारुण्यभोगोद्भूताः । सप्ताहेन  
ततो भवन्ति सुदृगादानेऽपि योग्यास्ततः ॥६८॥

टीका—लिहन्ति आस्वादयन्ति । के आर्याः भोगभूमिज-

१ अपात्रदानतः किञ्चिन्न फलं पापतः परम् ॥

लभ्यते हि फलं खेदो बालुकापुञ्जपेषणे ॥ १ ॥

अर्थः—अपात्रदानापासून पातकावांचून दुसरें फळ नाही. वाळूचा ढीग पिसण्यांत खेदावांचून दुसरें कांही मिळेल काय? त्याप्रमाणें अपात्रदानापासून खेदच होणार.

अपात्राय धनं दत्ते यो हित्वा पात्रमुत्तमम् ॥

साधुं विहाय चौराय तदर्पयति स स्फुटम् ॥२॥

अर्थः—जो गृहस्थ सत्पात्रास सोडून अपात्रास धन देतो, तो साधूस सोडून चोरास धन देतो, असें जाणावें.



मनुजाः । कं स्वांगुष्ठं । कान् दिवसान् । कति सप्त जन्मानन्तरं  
 सप्ताहमित्यर्थः । किंविशिष्टाः सन्तः उत्तानशया उत्तानमनधो-  
 मुखं शेरते । ततः प्रथमसप्ताहानन्तरं । रिङ्गन्ति पद्भ्यां सर्पन्ति ।  
 के आर्याः । कस्यां कौ भूमौ । कान् सप्तदिवसान् । ततो  
 द्वितीयसप्ताहानन्तरं । यान्ति सञ्चरन्ति । के आर्याः । कस्यां  
 कौ । कैः पदैः पादन्यासैः । किं कुर्वद्भिः स्वलद्धिर्यत्रतत्रपताद्भिः ।  
 किंविशिष्टाः सन्तः कलागिरो मनोहरवाचः । ततस्तृतीयसप्ताहानन्तरं  
 आर्याः सप्ताहेन सप्तभिर्दिनैः स्थेयोभिः स्थिरतरैः पदैः यान्ति गच्छन्ति  
 कस्यां कौ पृथिव्यां । ततश्चतुर्थसप्ताहानन्तरमार्याः सप्ताहेन सप्तभि-  
 र्दिनैः कलगीतादिगुणैश्च लावण्यादीन् बिभ्रतो भवन्ति । ततः  
 पञ्चमसप्ताहानन्तरं सप्ताहेनार्याः तारुण्यभोगोद्भूता उदितोदित-  
 यौवना अविच्छिन्नमद्यादीष्टविषयाश्च भवन्ति । ततः षष्ठ-  
 सप्ताहानन्तरं सप्ताहेनार्याः योग्या भवन्ति । क सुदृगादाने  
 सम्यक्त्वग्रहणे । अपिर्विस्मये ॥

अर्थः—भोगभूर्मीत जन्मलेल्यांस आर्य ह्मणतात. १ ते  
 आर्य जन्म झाल्या दिवसापासून सात दिवसपर्यंत उताणे  
 ह्मणजे वर तोंड करून निजून आपले अंगुष्ठ चोखितात.  
 २ त्यानंतर सात दिवसपर्यंत जमिनीवर रांगतात. ३ त्या  
 नंतर सात दिवस ते आर्य मधुर भाषणें करीत अडखळत  
 अडखळत चालतात. ४ त्यानंतर सात दिवसपर्यंत न  
 अडखळतां जमिनीवर चालतात. ५ त्यानंतर सात  
 दिवसांत गायन वगैरे कला व लावण्य वगैरे गुण प्राप्त  
 होतात. ६ त्यानंतर सात दिवसांत तारुण्य प्राप्त होतें  
 आणि त्यामुळे तेथील सर्व भोग भोगण्यास समर्थ  
 होतात. ७ आणि त्यानंतर सात दिवसांत सम्यक्त्व

ग्रहण करण्यास समर्थ होतात !

अथ मुनिदेयनिर्णयार्थमाह—

आतां; मुनीला दान देण्याचे पदार्थ सांगतात.

तपःश्रुतोपयोगीनि ।

निरवद्यानि भक्तितः ॥

मुनिभ्योऽन्नौषधावास- ।

पुस्तकादीनि कल्पयेत् ॥ ६९ ॥

टीका—कल्पयेदुपकारयेत् । सद्गृही । कानि अन्नौषधावास-  
पुस्तकादीनि । आदिशब्देन पिच्छिकाकमण्डल्वादीनि । केभ्यो  
मुनिभ्यः संयतेभ्यः । कस्मात् भक्तितः । किंविशिष्टानि तपः-  
श्रुतोपयोगीनि तपसः श्रुतज्ञानस्य उपकारकाणि । पुनः किं-  
विशिष्टानि निरवद्यानि पिण्डशुद्ध्युक्तोद्गमोत्पादनादिदोषरहितानि ॥

अर्थः—तप आणि शास्त्र ह्यांच्या उपयोगी आणि  
निर्दोष असें अन्न, औषध, आवास ह्यांजेल रहाण्यास  
एकांत असें ठिकाण, पुस्तक, आदिशब्दानें पिच्छ, कं-  
डलु वगैरे पदार्थ मुनींस द्यावे.

अन्नादिदानफलानां क्रमेण निदर्शनान्याह—

आतां; अन्नादिदानाचें फळ क्रमानें सांगतात.

भोगित्वाद्यन्तशान्तिप्रभुपदमुदयं संयतेऽन्नप्र-  
दाना- । च्छ्रीषेणो रुग्निषेधाद्धनपतितनया  
प्राप सर्वौषधधिम् ॥ प्राक्तज्जन्मर्षिवासाव-  
नशुभकरणात्सूकरः स्वर्गमग्र्यं । कौण्डेशः

## पुस्तकार्चावितरणविधिनाऽऽप्यागमाम्भोधि- पारम् ॥ ७० ॥

टीकाः—प्राप लब्धवान् । कोऽसौ श्रीषेणो नाम राजा ।  
कमुदयमभ्युदयं । किंविशिष्टं भोगित्वाद्यन्तशान्तिप्रभुपदं भोगि-  
त्वमुत्तमभोगभूमिजत्वमादावन्ते च शान्तिप्रभोः शान्तिनाथतीर्थङ्क-  
रस्य पदं यस्य तं । कस्मादन्नप्रदानात् विधिवदाहारवितरणात् ।  
क संयते संयमभाजि आदित्यगत्याख्यारिञ्जयसंज्ञचारणर्षियुगले ।  
बीजत्वमात्रविवक्षाऽत्र । तथाविधाभ्युदयस्योत्तरपुण्यविशेषोदयसम्पा-  
द्यत्वात् तथा प्राप काऽसौ धनपतितनया वृषभसेनाभिधाना पूर्वभवे  
राज्ञो देवकुलस्य सम्मार्जिका । कां प्राप सर्वौषधार्द्धं सर्वेषां ज्वरा-  
तिसारादिव्याधीनामौषधं चिकित्सितं तस्य ऋद्धिरव्याहतसिद्धिस्तां  
कस्मात् रुमिषेधात् व्याधिप्रतीकारादौषधादेः दोषनिषेधात् । क  
संयते तपोधने । तथा प्राप । कोऽसौ सूकरो वराहः । कं स्वर्गं  
किंविशिष्टमग्र्यं सौधर्मे महर्द्धिकदेवत्वमित्यर्थः । कस्मात् प्रागित्यादि  
प्राक्च पूर्वं तच्च तात्कालिकं च प्राक्ते । प्राक्ते च ते जन्मनी च  
प्राक्तज्जन्मनी तयोः । ऋषेर्वासावने निवासरक्षणे तयोः शुभकारणः  
शुभाभिसन्धिपरिणामस्तस्मात् । पूर्वभवे मुनेरावासदानाभिप्रायेण  
तद्भवे च रक्षणाभिप्रायेणेत्यर्थः । तथा कौण्डेशोऽपि गोविन्दारूय-  
गोपालचरो ग्रामकूटपुत्रः सन् कौण्डेशो नाम मुनिश्च । प्राप ।  
कं आगमाम्भोधिपारं द्वादशाङ्गश्रुतसागरपर्यन्तं । केन पुस्तकस्य  
अर्चायाः पूजायाः वितरणस्य च दानस्य विधिना करणेन ॥

अर्थः—श्रीषेण नांवाचा कोणी एक राजा होता.  
त्याने प्रथम आदित्यगति व अरिंजय या दोघां चारण  
मुनींस विधिपूर्वक आहार दिला होता, त्यामुळे तो

उत्तम भोगभूमींत जन्मून नंतर स्वर्गलोकीं सुख भोगून त्यानंतर शेवटीं तो शांतिनाथ नांवाचा तीर्थंकर झाला. पूर्वभवांत एका राजाच्या देवघरांत झाडलोट करणारी कोणी एक बाई होती ; तिणें औषधदान केलें होतें त्यामुळें ती पुढें धनपति नांवाच्या श्रेष्ठीची वृषभसेना नांवाची कन्या झाली आणि त्या वेळीं तिला औषध नांवाची ऋद्धि प्राप्त झाली. ह्मणजे तिच्या हातच्या औषधानीं कोणतेही रोग तत्काल बरे होत असत. एक सूकर ( रान-डुकर ) होता, तो शुभ अंतःकरणानें मुनींच्या गुहेचें रक्षण करीत असे, त्यामुळें तो पुढें सौधर्म स्वर्गांत मंडर्दिक देव झाला. गोविंद नांवाचा कोणी एक गुराखी होता, तो शास्त्रदान करीत होता, त्यामुळें तो पुढें कौण्डेश नांवाचा मुनी होऊन शास्त्ररूपी समुद्रांत पारंगत झाला.

जिनधर्मानुबन्धार्थमसतां मुनीनामुत्पादने सतां च गुणातिशय-सम्पादने प्रयत्नविधापनार्थमाह—

आतां; जिनधर्माची परंपरा नीट चालण्याकरितां मुनिलोकांची उत्पत्ति करावी; आणि जे असतील त्यांचा उत्कर्ष करावा, ह्मणून उपदेश करतात.

जिनधर्मं जगद्वन्धु- ।

मनुबध्दुमपत्यवत् ॥

यतीन् जनयितुं यस्येत् ।

तथोत्कर्षयितुं गुणैः ॥ ७१ ॥

टीकाः—यस्येत् प्रयतेत । सद्गुही । किं कर्तुं जनयितुं अपूर्वानुत्पादयितुं । कान् यतीन् साधून् । किंवत् अपत्यवत् पुत्रा-

न्यथा । किं कर्तुं अनुबध्नुं सन्तत्या प्रवर्तयितुं । कं जिनधर्मं ।  
किंविशिष्टं जगद्वन्धुं लोकानामुपकारकं । तथा यस्येत् । किं कर्तुं  
उत्कर्षयितुं उत्कृष्टान् कर्तुं । कान् वर्तमानान् यतीन् । कैर्गुणैः  
श्रुतज्ञानादिभिः । जिनधर्ममित्यादि पूर्ववदत्रापि योज्यम् ॥

अर्थः—आपल्या कुलाची परंपरा सतत चालण्याकरितां  
आपण पुत्राकरितां जशी खटपट करितों—त्याचप्रमाणें  
जगावर उपकार करणारा जो जिनधर्म तो सतत चालावा.  
ह्मणून नवीन साधु निर्माण करावे; ह्मणजे चांगले चांगले  
सज्जन पाहून त्यांना दीक्षा घ्यावयास सांगून मुनि  
बनवावे आणि असलेले जे मुनि त्यांचा ज्ञान वगैरे गुणांनीं  
उत्कर्ष करण्यास यत्न करावा.

सम्प्रति पुरुषाणां दुष्कर्मगुणत्वाद्विगुणातिशयासिद्धेर्दर्शनात्तदुत्पा-  
दने निष्फलः प्रयत्न इति गृहिणां मनोभङ्गनिषेधार्थमाह—

आतां; या पंचम कालांत मुनि झाले तरी त्यांच्या  
ठिकाणीं उत्कृष्ट गुण सिद्ध होत नाहीत; ह्मणून त्यांची  
उत्पत्ति करणें व्यर्थ आहे, असें ह्मणणारांस सांगतात.

श्रेयो यत्नवतोऽस्त्येव ।

कलिदोषाद्गुणद्युतौ ॥

असिद्धावपि तत्सिद्धौ ।

स्वपरानुग्रहो महान् ॥ ७२ ॥

टीका:—अस्त्येव नियमेन भवति । किं तत् श्रेयः पुण्यं । कस्य  
यत्नवतः प्रयतमानस्य गृहस्थस्य । कस्मिन्विषये गुणद्युतौ गुणाति-  
शयशालिनां विषये । कस्यां सत्यां असिद्धावपि आवृत्त्या गुण-

धुतावनिष्पत्तावपि । कस्मात् कलेः पञ्चमकालस्य पापकर्मणो वा दोषादपराधात् प्रातिलोभ्यादित्यर्थः । तत्सिद्धौ महालाभमाह । भवति कोऽसौ स्वपरानुग्रहः स्वस्य वैय्यावृत्यकरस्य परस्य च साधर्मिकस्य सामान्यजनस्य च अनुग्रह उपकारः । किंविशिष्टो महान् विपुलः । कस्यां सत्यां तत्सिद्धौ तेषां गुणद्युतां निष्पत्तौ । कस्मात् कलिदोषादुष्कर्मप्रतिघातात् दैवदुर्योगादित्यर्थः ॥

अर्थ—या कलिकालाच्या ( पंचमकालाच्या ) दोषामुळे जरी गुणांनीं शोभणारे असे मुनि सिद्ध झाले नाहीत तरी त्याविषयीं ह्मणजे गुणवान् मुनि व्हावेत ह्मणून यत्र करणारांस श्रेय ह्मणजे पुण्य आहेच, आणि जर कदाचित् त्यांच्या ठिकाणीं चांगले गुण सिद्ध झाले तर आपल्यावर व आपल्या समानधर्मीं श्रावकांवर मोठा अनुग्रहच होणार.

महाव्रतमणुव्रतं वा बिभ्रत्यः स्त्रियोऽपि धर्मपात्रतयाऽनुग्राह्या इति समर्थयितुमाह—

आतां ; आणखीं कोणाचा सत्कार करावा हें सांगतात.

आर्यिकाः श्राविकाश्चापि ।

सत्कुर्याद्गुणभूषणाः ॥

चतुर्विधेऽपि सङ्गे यत् ।

फलत्युत्तमनल्पशः ॥ ७३ ॥

टीकाः—सत्कुर्याद्यथोक्तविनयप्रतिपत्त्यादिना आवर्जयेत् सद्गृही । काः आर्यिका उपचरितमहाव्रतधराः स्त्रीः । न केवलं ताः श्राविकाश्च यथाशक्तिमूलोत्तरगुणभृतः तदुपासिकाश्च । अपिशब्दान्न केवलं व्रतिन्योऽव्रतिनीरपि सन्मानयेदित्यर्थः । किंविशिष्टाः गुणभूषणाः गुणाः श्रुततपःशीलादयो भूषणान्यलङ्करणानि यासां ताः । यद्यस्मात्

फलति इष्टं सम्पादयति । किं तत् उप्तं विधिवत्प्रयुक्तं भक्तवस-  
त्यादि । क सङ्ख्ये गुणसङ्घाते प्राणिगणे । किंविशिष्टे चतुर्विधे  
यत्यार्थिकाश्रावकश्राविकाप्रकारे । न केवलमर्हचैत्यचैत्यालयश्रुतेषु  
विधिवत्प्रयुक्तमात्मीयं धनमरूपशः प्रभूतं भूत्वा फलति किं तर्हि  
सङ्ख्येऽपीत्यपिशब्दार्थः । एतेन सप्त गृहिणो धनव्ययस्थानानीत्यु-  
पदिष्टं वेदितव्यम् ॥

अर्थः— उपचाराने महाव्रत पाळणाऱ्या अशा ज्या  
आर्थिका आणि गुण, शील वगैरे पाळणाऱ्या ज्या श्राविका  
त्यांचा दान मानाने यथायोग्य सत्कार करावा. कारण,  
जिनबिंब, जिनालय वगैरे निर्माण करण्यांत द्रव्य खर्चिले  
ह्मणजे जसे पुष्कळ फळ प्राप्त होते, त्याप्रमाणेच ऋषि  
( मुनि ), आर्थिका, श्रावक व श्राविका या चार प्रकारच्या  
संघाच्या हिताकरितांही खर्चिलेलें द्रव्य पुष्कळसें फळ देतें.

एवं धर्मपात्रानुग्रहं गृहस्थस्यावश्यकार्यतयोपदिश्य सम्प्रति  
कार्यपात्रानुग्रहविध्युपदेशार्थमाह —

याप्रमाणे धर्मपात्रावर अनुग्रह करणे हे गृहस्थांचे  
अवश्य कर्तव्य आहे, हे सांगून आतां कार्यपात्रावर अनुग्रह  
करण्याचा विधि सांगतात.

धर्मार्थकामसध्रीचो ।

यथौचित्यमुपाचरन् ॥

सुधीस्त्रिवर्गसम्पत्त्या ।

प्रेत्य चेह च मोदते ॥ ७४ ॥

टीकाः—मोदते प्रल्हादते । कोऽसौ सुधीः सद्बुद्धिः । कया  
त्रिवर्गसम्पत्त्या धर्मार्थकामसम्पदा । क प्रेत्य जन्मान्तरे । इहास्मि-

जन्मनि । द्वौ च शब्दौ जन्मद्वयेऽपि तुल्यकक्षतां सूचयतः । किं कुर्वन्नुपाचरन् उपकुर्वन् ऋणीकमन्यान् कुर्वन् । कान् धर्मार्थकाम-सध्रीचः त्रिवर्गसहकारिणः पुरुषान् । कथं यथौचित्यं यद्यद्यस्य यस्य योग्यं दानमानादिकं तत्तत्तस्य तस्य कुर्वन्नित्यर्थः ॥

अर्थः—जो बुद्धिवान् मनुष्य धर्म, अर्थ व काम हे तीन पुरुषार्थ साधण्यास प्रयत्न करणाऱ्या पुरुषांस त्यांच्या त्यांच्या गरजेप्रमाणें दानमानादिकानें सत्कार करितो, तो त्रिवर्गसम्पत्तीनें ह्मणजे धर्म, अर्थ व काम या तीन पुरुषार्थांच्या योगानें इहलोकीं व परलोकींहि सुखानें नांदतो.... सर्वदा आनंदांत असतो.

एवं समदत्तिं पात्रदत्तिं च प्रबन्धेनाभिधायेदानीं दयादत्तिं विधेयतमत्वेनोपदिशन्नाह—

याप्रमाणें समानदत्ति व पात्रदत्ति सांगून आतां दयादत्तिहि गृहस्थानें अवश्य करावी हें सांगतात.

१ तेनाधीतं श्रुतं सर्वं तेन तप्तं परं तपः ॥

तेन कृत्स्नं कृतं दानं यः स्यादभयदानवान् ॥ १ ॥

अर्थः—ज्यानें अभयदान दिलें त्यानें प्रथमपासून सगळें द्वादशांग शास्त्र अध्ययन केलें, आणि आहार वगैरे सगळीं दाने केलीं असें जाणावें.

धर्मार्थकाममोक्षाणां जीवितं मूलमिष्यते ॥

तद्रक्षता न किं दत्तं हरता तन्न किं हृतम् ॥ २ ॥

अर्थः—धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष या चार पुरुषार्थांचें मूळ काय तें जीवित ( जगणें ) तें ज्यानें रक्षिलें त्यानें सर्व कांहीं दिलें. आणि तें ज्यानें हरण केलें त्यानें सर्वच हरण केलें.



सर्वेषां देहिनां दुःखा- ।

द्विभ्यतामभयप्रदः ॥

दयार्द्रो दातृधौरेयो ।

निर्भीः सौरूप्यमश्नुते ॥ ७५ ॥

टीकाः—अश्नुते प्राप्नोति । कोऽसावभयप्रदः प्राणादिभयापसारकः । केषां देहिनां प्राणिनां । किं कुर्वतां बिभ्यतां त्रस्यतां । कस्मात् दुःखात् देहमनस्तापात् । कियतां सर्वेषां । किमश्नुते सौरूप्यं रूपातिशयं । उपलक्षणात्स्थैर्यं गाम्भीर्यं तेजस्वित्वमादेयत्वं सौभाग्यं सौम्यत्वं त्यागित्वं भोगित्वं यशस्वित्वं निरामयत्वं चिरजीवित्वमित्यादिलोक्तोत्तरगुणग्रामं । किंविशिष्टः सन् निर्भीः सर्वतो भयराहितः । किंविशिष्टोऽसौ दयार्द्रः करुणामृदुहृदयः । पुनः किंविशिष्टो दातृधौरेयः अन्नादिदातृणामग्रणीः । धर्मार्थकाममोक्षाणां जीवितमूलत्वाज्जीवितप्रदः किमभिमतं न ददातीति भावः ॥

दानमन्यद्भवेन्मा वा नरश्चेदभयप्रदः ॥

सर्वेषामेव दानानां यतस्तद्दानमुत्तमम् ॥ ३ ॥

अर्थः—मनुष्य जर अभयदान देत आहे तर इतर दान देवो किंवा न देवो, त्यानें सगळें दिलेंच द्याणून समजावें. कारण, सर्व प्रकारच्या दानांहून अभयदान हें श्रेष्ठ आहे.

यो भूतेष्वभयं दद्यात् भूतेभ्यस्तस्य नो भयम् ॥

यादृग्वितीर्यते दानं तादृगाध्यास्यते फलम् ॥ ४ ॥

अर्थः—जो सर्व जंतुवर दया करतो त्याला मग कोणत्याही प्राण्यापासून भय होणार नाही. कारण, जसें दान द्यावें तसेंच फळ प्राप्त होतें.

अर्थः—कोणत्याहि प्राण्याच्या मनाला किंवा देहाला त्रास झाला असतांना त्याला त्या दुःखापासून दूर करणारा दयाळु मनुष्य सर्व दात्यांमध्ये श्रेष्ठ होय. आणि त्या पुण्योदयानें तो मनुष्य अन्यजन्मीं निर्भय होऊन मोठा सुंदर होतो.

अथ कर्मधर्म्यमित्यादि प्राक् सूत्रितं प्रपञ्चयन् श्रितभरणकृपा-दानपुरस्सरं दिवाभोजनमुपदिशन्नीरादीनां रात्रावप्यप्रत्याख्येयता-माख्याति ॥

आतां; आश्रितांचें पोषण व निराश्रितावर दया करून गृहस्थानें दिवसां भोजन करावें व रात्रीं प्रत्याख्यान करावें, हें सांगतात.

भृत्वाऽऽश्रितानवृत्त्याऽऽर्तान् ।

कृपयाऽनाश्रितानपि ॥

भुञ्जीतान्द्यम्बुभैषज्य- ।

ताम्बूलैलादि निश्यपि ॥ ७६ ॥

टीकाः—भुञ्जीत ओदनादिकमुपयुञ्जीत गृही । क्व अन्दि दिने । किं कृत्वा भृत्वा पोषयित्वा । कान् आश्रितान् अनन्य-स्वामिकान् मानुषान् तिरश्चश्च । किंविशिष्टान् अवृत्त्या जीवनाभा-

---

सौरूप्यमभयादाहुराहाराद्भोगवान्भवेत् ॥

आरोग्यमौषधाश्चेयं श्रुतात्स्यात् श्रुतकेवली ॥ ९ ॥

अर्थः—अभयदानानें सुंदर रूप, आहारदानानें सुखोपभोग, औषधदानानें आरोग्य आणि शास्त्रदानानें केवलज्ञान हीं प्राप्त होतात.

वेनार्ता अनवस्थिताचित्तास्तान् । न केवलमाश्रिताननाश्रितानपि  
भृत्वा । कया कृपया करुणया । न केवलं तथा कृत्वा दिवा  
भक्तादिकं भुञ्जीत । निश्यपि रात्रावपि भुञ्जीत । किं तत् अम्बुवादि  
अम्बु जलं भैषज्यमौषधं ताम्बूलं क्रमुकं एला प्रसिद्धा । आदि-  
शब्देन जातीफलकर्पूरादिमुखवासनप्रायद्रव्यपरिग्रहः ॥

अर्थः—जगण्यास दुसरा उपाय नसल्यामुळे ज्याचे  
चित्त व्याकुल झाले आहे आणि ह्मणूनच जे आपल्या  
आश्रयास आले आहेत ह्मणजे ज्यांना आपल्याशिवाय  
दुसरा कोणी रक्षिणारा नाही अशा आश्रित मनुष्यांस  
ह्मणजे सेवकांस व पशूंस आणि अनाश्रित ह्मणजे  
ज्यांना आपला व दुसऱ्याचाहि आश्रय नाही अशा

मनोभूरिव कान्ताङ्गः सुवर्णाद्रिरिव स्थिरः ॥

सरस्वानिव गम्भीरो विवस्वानिव भासुरः ॥ ६ ॥

आदेयः सुभगः सौम्यस्त्यागी भोगी यशोनिधिः ॥

भवत्यभयदानेन चिरजीवी निरामयः ॥ ७ ॥

अर्थः—अभयदान देणारा मनुष्य अन्यजन्मी मदनाप्रमाणे  
सुंदर, मेरूप्रमाणे स्थिर, समुद्राप्रमाणे गंभीर, सूर्याप्रमाणे तेजस्वी,  
दयाळू, भाग्यवान्, शांत, उदार, यशस्वी, पुष्कळ वर्षे जगणारा  
व निरोगी असा होतो.

१ ताम्बूलमौषधं तोयं मुक्त्वाऽऽहारादिकां क्रियाम् ॥

प्रत्याख्यानं प्रदीयेत यावत्प्रातर्दिनं भवेत् ॥ १ ॥

अर्थः—तांबूल, औषध आणि जल असले पदार्थ सोडून  
अन्नसेवन वगैरे क्रिया रात्र झाल्यापासून सूर्योदयापर्यंत न कर-  
ण्याचा नियम द्यावा.

मनुष्यांस व पशूंसहि कृपेने पोषण करून; गृहस्थाने दिवसां अन्न जेवावे. रात्रीं भोजन करूं नये. तरी पाणी, औषध व तांबूल ( पान, सुपारी, वेलदोडा, कात वगैरे ) हे पदार्थ रात्रींहि घेण्यास हरकत नाही.

सेव्यानामप्यर्थानां सेवायामसम्भवत्त्यां कालपरिस्थित्या प्रत्या-  
ख्येयतामुपदिश्य तत्प्रत्याख्यानं फलवत्तया समर्थयते—

आतां; सेव्य ह्मणजे स्वस्त्री, पुष्पमाला, तांबूल वगैरे जे पदार्थ ते जोंपर्यंत ग्रहण करावयाचे नसतात तितक्या कालाची मर्यादा करून व्रत करावे, आणि तसें केल्याने होणारें फलही सांगतात.

यावन्न सेव्या विषया- ।

स्तावत्तानाप्रवृत्तितः ॥

व्रतयेत्सव्रतो दैवा- ।

न्मृतोऽमुत्र सुखायते ॥ ७७ ॥

टीकाः— आप्रवृत्तितो व्रतयेत् आप्रवृत्तेर्निवृत्तिर्मेऽस्य ताम्बूल-  
देरिति नियमयेद्गृही । कान् तान् ताम्बूलकामिन्यादिविषयान् ।  
कथं तावत् तावन्तं कालं । यावत्किं यावन्तं कालं । न सेव्या  
न सेवितुं सम्भाव्याः । के ते विषयाः । एवं कृते किं फलं  
स्यादित्याह—सुखायते सुखमनुभवति । कोऽसौ स तथाकृतनियमः ।  
क अमुत्र परलोके । किंविशिष्टो मृतः । कस्माद्दैवात् कर्मवशात् ।  
किंविशिष्टः सन् सव्रतस्तथाव्रतभावितः ॥

अर्थः—आपण सेविण्याचे जे स्वस्त्री वगैरे विषय आहेत ते ( आपण सर्वदां सेवीत नाहीच ह्मणून ) जोंपर्यंत

आपण सेवीत नाहीं तितक्या कालाची मर्यादा करून ते विषय न सेविण्याचें व्रत करावें. असें केल्यानें दैवयोगानें कदाचित् तशा व्रतांतच मरण आल्यास त्या योगानें अन्यजन्मीं सुख होईल.

तपश्चर्यं च शक्तित इत्युक्तं तद्विशेषविधिमभिधत्ते—

आतां; यथाशक्ति तप करावयास सांगतात.

पञ्चम्यादिविधिं कृत्वा ।

शिवान्ताभ्युदयप्रदम् ॥

उद्द्योतयेद्यथासम्प- ।

न्निमित्ते प्रोत्सहेन्मनः ॥ ७८ ॥

टीकाः— उद्द्योतयेत् उद्यापयेत् । कं पञ्चम्यादिविधिं पञ्च-  
म्यां पुष्पाञ्जलिमुक्तावलिरत्नत्रयादिविधानं । किंविशिष्टं शिवान्ता-  
भ्युदयप्रदं निःश्रेयसावसानशक्रचक्रधरादिपदसम्पादकं । किं कृत्वा  
यथाम्नायं परिसमाप्य । कथमुद्द्योतयेत् यथासम्पद्यथाविभवं ।  
ननु नित्यानुष्ठाने सत्यपि किमिदमनुष्ठीयते इत्याह—प्रोत्सहेत्  
नित्यानुष्ठानोपेक्षया प्रकर्षेणोत्साहं गच्छेत् । मनश्चित्तं । क निमित्ते  
नैमित्तिकानुष्ठाने ॥

अर्थः—पाक्षिक श्रावकांनीं पंचमी, पुष्पांजली, मुक्ता-  
वली, रत्नत्रय रंगैरे व्रतें करून आपल्या संपत्तीच्या  
मानानें त्या व्रतांचें उद्यापन करावें. हीं व्रतें स्वर्ग वगैरे  
अभ्युदय सुख आणि शेवटीं निर्वाण पद देणारीं आहेत.  
हीं व्रतें ह्मणजे श्रावकांच्या नैमित्तिक क्रिया आहेत. या  
नैमित्तिक क्रिया करितांनाहि नित्य क्रियेपेक्षां आपलें  
मन उत्सुक ठेवावें.

अथ व्रतग्रहणरक्षणच्छेदोपस्थापनविधीनुपदिशति—

आतां; व्रतग्रहण, घेतलेल्या व्रतांचें रक्षण व कदाचित् व्रतभंग झाल्यास प्रायश्चित्तानें पुनः त्याचें स्थापन करावयास सांगतात.

समीक्ष्य व्रतमादेय- ।

मात्तं पाल्यं प्रयत्नतः ॥

छिन्नं दर्पात्प्रमादाद्वा ।

प्रत्यवस्थाप्यमञ्जसा ॥ ७९ ॥

टीकाः—आदेयं ग्राह्यं श्रेयोऽर्थिना । किं तत् व्रतं । किं कृत्वा समीक्ष्य आत्मानं देशकालस्थानसहायादींश्च सम्यगालोच्य । तथा पाल्यं रक्षणीयं व्रतं । किंविषिष्टमात्तं तथा गृहीतं । कस्मात्प्रयत्नतः प्रकृष्टयतनया । तथा प्रत्यवस्थाप्यं प्रायश्चित्तविधिना पुनरनुसन्धेयं व्रतं । कथं अञ्जसा सद्य एव । किंविशिष्टं तत् छिन्नं अतिचरितं । कस्मात् दर्पात् मदावेशात् प्रमादाद्वाऽनवधानात् ॥

अर्थः—आपला व देश, काल व अनुकूलता वगैरेचा विचार करून कोणतेंही व्रत घ्यावें. आणि तें घेतलेलें व्रत यत्नपूर्वक पाळावें. कदाचित् मदाच्या आवेशानें अथवा प्रमादानें ( बेसावधपणानें ) त्या व्रताचा भंग झाल्यास तत्काल शास्त्रोक्त विधीनें प्रायश्चित्त घेऊन पुनः पूर्वीप्रमाणें तें व्रत पाळावें.

किं व्रतमित्याह —

आतां; व्रत स्मरणजे काय हें सांगतात.

सङ्कल्पपूर्वकः सेव्ये ।

नियमोऽशुभकर्मणः ॥

निवृत्तिर्वा व्रतं स्याद्वा ।

प्रवृत्तिः शुभकर्मणि ॥ ८० ॥

टीका—स्याद्भवेत् । किं तत् व्रतं । किं नियमः प्रत्याख्यानं । क सेव्ये स्वदारताम्बूलादौ । किंविशिष्टः संकल्पपूर्वकः इदमियदेता-  
वन्तं कालं न सेविष्येऽहमिति मनसाऽध्यवसायं कृत्वा इत्यर्थः ।  
अथवा अहमिदमियदेतावन्तं कालं सेविष्याम्येवेति सङ्कल्पेन  
नियमः प्रतिज्ञा व्रतं स्यात् । अथवा व्रतं स्यात् । किं निवृत्तिः  
विरतिः । कस्मादशुभकर्मणो हिंसादेः । किंविशिष्टा सङ्कल्पपूर्विकेति  
लिङ्गपरिणामेन सम्बन्धः । अथवा व्रतं स्यात् । किं प्रवृत्तिराचरणं ।  
क शुभकर्मणि पात्रदानादौ । सङ्कल्पपूर्विकेत्यत्रापि योज्यम् ॥

अर्थः— सेव्य ह्यणजे स्वस्त्री, तांबूल, गंध वगैरे जे  
भोगोपभोगाचे पदार्थ ते मी अमुककालपर्यंत किंवा अमुक  
पर्वाच्या दिवशीं सेविणार नाहीं, असा संकल्प करून जो  
नियम करणें त्याला व्रत ह्यणतात; अथवा अशुभकर्मा-  
पासून ह्यणजे पापाचरणापासून दूर होणें अर्थात् पापाचरण  
न करणें अथवा शुभ ह्यणजे जिनपूजा, सत्पात्रदान वगैरे  
सत्कर्म करणें त्याला व्रत ह्यणतात.

विशिष्टागमप्रत्ययावष्टम्भात्पाणिर्क्षाविधिमनुशास्ति—

आतां; जीवरक्षण करण्याचा विधि सांगतात.

न हिंस्यात्सर्वभूतानी- ।

त्यार्ष धर्मे प्रमाणयद् ॥

सागसोऽपि सदा रक्षे- ।

च्छक्त्या किं नु निरागसः ॥ ८१ ॥

टीका:—रक्षेत् पालयेत् । कोऽसौ धर्मी धार्मिकः । कान् सागसोऽपि सापराधानपि जीवान् । कया शक्त्या यथाशक्ति । किं निमित्तं धर्मे धर्मनिमित्तं । क्व सदा सर्वस्मिन् काले । किंनु निरागसो निरपराधान् विशेषतो रक्षेदित्यर्थः । किं कुर्वन् प्रमाणयन् अविसंवादयन् इदमेवमित्थमेवेति प्रतिपद्यमानः । किं तत् आर्षं ऋषिभिः प्रोक्तं शास्त्रं । किंरूपमित्याह इति एवरूपं । न हिंस्यात् न हन्यात् । कोऽसौ श्रेयोऽर्थी । कानि सर्वभूतानि सर्वान् त्रसस्थावरजीवान् ॥

अर्थः—सर्वे ह्यणजे त्रस व स्थावर ह्यांपैकीं कोणत्याहि जीवांस मारुं नये हे जिनाचे वाक्य प्रमाण मानून, धार्मिकांने अपराधी प्रण्यांचेहि सर्वकाल शक्त्यनुसार रक्षण करावे. मग निरपराधी जीवांचे रक्षण केलेंच पाहिजे हे पुनः सांगावयास नकोच.

साङ्कल्पिकहिंसापरित्यागमुपदिश्यार्थान्तरन्यासेन समर्थयते —  
आतां; सांकल्पिक हिंसेचा त्याग सांगतात.

आरम्भेऽपि सदा हिंसा ।

सुधीः साङ्कल्पिकीं त्यजेत् ॥

घ्नतोऽपि कर्षकादुचैः- ।

पापोऽघ्नन्नपि धीवरः ॥ ८२ ॥

टीका:—त्यजेत् परिहरेत् । कोऽसौ सुधीः शास्त्रबलेन हिंसायाः फलमेतादिति निश्चितमतिः । कां हिंसां प्राणातिपातं । किंविशिष्टां साङ्कल्पिकीं अमुं जन्तुमासाद्यार्थित्वेन हन्मीति सङ्कल्पपूर्विकां । आरम्भजा तु हिंसाऽशक्यप्रत्याख्यानेति तत्र यतनामेव कुर्या-



दिति भावः । क सति आरम्भेऽपि कृप्यादिकर्मण्यपि प्रवर्तमानः ।  
 कथं सदा नित्यं । हि यस्मात् भवति । कोऽसौ धीवरो मात्स्यिकः ।  
 किंविशिष्टः उच्चैःपापः उत्कृष्टपातकी । किं कुर्वन्नपि बहून्मत्स्यान्  
 हनिष्यामीत्यभिध्यानेन प्रवृत्तोऽमारयन्नपि । कस्मात्कर्षकात्  
 कर्षणप्रवृत्तात् । किं कुर्वतो धनतोऽपि देवब्राह्मणकुटुम्बाद्यर्थं  
 धान्यमुत्पादयिष्यामीति अभिध्यानविशेषेण प्रवृत्ताद्बहून्मत्स्यान् मारयतः ॥

अर्थः—शास्त्रबलाने, ज्याला हिंसेचें फळ अमुक आहे  
 हें चांगलें कळलें आहे तो सुधी ह्मणजे विद्वान् होय.  
 त्यानें, कुटुंबपोषणाकरितां व सत्पात्रदान वगैरे करण्याकरितां  
 सर्वदा कृषि वगैरे उद्योग केले तरी, त्यांत हिंसेचा संकल्प ठेवूं  
 नये. कारण, हिंसा करण्याचा संकल्प ह्मणजे हेतु नसून  
 कुटुंबपोषणाकरितां व गृहस्थधर्म चालविण्याकरितां शेतकींत  
 हिंसा ( स्थावर जीवांची ) करणारा जो शेतकरी,  
 त्याच्यापेक्षां मासे मारण्याचा हेतु मनांत धरून जालें  
 टाकणारा जो कोळी, तो हिंसा न करूनहि ( जाळ्यांत मासे  
 न सांपडल्यामुळे हिंसा झाली नाही तरी ) अधिक  
 पापी होय.

परैर्विधेयतया व्यवस्थाप्यमानं हिंसादिप्राणिनां वधं प्रतिवि-  
 धातुमाह—

आतां ; मिथ्यामतावलंबी पंडितांनीं जी हिंस्र वगैरे  
 तीन प्रकारच्या जीवांची हिंसा करावी ह्मणून सांगितली  
 आहे ; तिच्या निराकरणार्थं सांगतात.

हिंस्रदुःखिसुखिप्राणि- ।

घातं कुर्यान्न जातुचित् ॥

अतिप्रसङ्गश्चभ्रार्ति- ॥

सुखोच्छेदसमीक्षणात् ॥ ८३ ॥

टीकाः—न कुर्यात् श्रेयोऽर्थी । कं हिंसदुःखिसुखिप्राणिघातं । कथं जातुचित् कदाचिदपि । कुतः अतीत्यादि—हिंसा व्याघ्रादयः अत्र केचिदाहुः हिंसजीवा हन्तव्याः । हिंसे ह्येकस्मिन्हते भूयसां रक्षा कृता भवति । ततश्च धर्माधिगमः पापोपरमश्च स्यात् तदयुक्तमतिप्रसङ्गात् । सर्वेषां प्राणिनां हिंसतया हन्तव्यतानुषङ्गात् । तथा च लाभमिच्छतां तथावादिनां मूलोच्छेदः स्यात् । न च बहुरक्षणाभिप्रायेणापि हिंसं हिंसतो धर्मः पापोच्छेदो वा युज्येत दयामूलत्वात्तयोः । यच्च संसारमोचकः प्रचक्षते दुःखिनो जीवा हन्तव्यास्तेषां विनाशे दुःखविनाशसम्भवादिति; तदप्ययुक्तं । तेषां स्वल्पदुःखानां निहतानां नरकेऽनन्तदुःखे संयोजनाया दुर्निवारत्वात् अन्ये त्वाहुः— सुखिनो हन्तव्याः यतः संसारे सुखं दुर्लभं । सुखिनश्च हताः सुखिन एव भवन्तीति तदप्यसङ्गतं । सुखिनां हन्यमानानां दुःखावेशेन सुखोच्छेदस्यावश्यम्भावात् । दुःखमृत्युना च दुर्ध्यानानुसन्धानादुरन्तदुर्गतिदुःखावर्तनिर्वर्तनात् । तदलमतिप्रसङ्गेन । स्वगता परगता वा यथाकथञ्चित्क्रियमाणा हिंसा न धर्माय स्यात् । किं तर्हि पातकसम्भवयैवेति प्रतिपद्यमानैर्यथाशक्ति तत्परित्यागे धर्मार्थिभिः सन्ततं यतितव्यमिति आससूक्तोपनिषत् ॥

अर्थः—“ कित्येकांचें मत असें आहे कीं; सिंह, व्याघ्र, सर्प वगैरे जे हिंसक पशु आहेत, त्यांचा अवश्य वध करावा. कारण, ते सर्वदा आपल्याहून अशक्त जीवांस मारीत असतात; त्यामुळे त्यांच्या हातून पुष्कळ हिंसा घडते आणि त्यायोगें ते दुर्गतीस जातील. तेव्हां तसले हिंसक जीव मारून टाकिले ह्मणजे पापें कमी होतील,

व इतर जीवही सुखी रहातील. ” पण, हें त्यांचें ह्मणणें चुकीचें आहे. तें कसें ह्मणाल तर,— हिंसक जीव मारून टाकावे असें सांगणारा जो आहे तोहि ( हिंसेचा उपदेश करणारा ह्मणून ) हिंसकच जाणावा. मग त्याचाहि वध करावा लागेल, अर्थात् अतिप्रसंग होईल. म्हणून हिंस्रजीवांचाहि वध कधींच करूं नये. आणखी कित्येकांचें मत असें आहे कीं, “जे जीव दुःखी आहेत त्यांचा वध करून त्यांना दुःखांतून सोडवावे” हेंहि ह्मणणें असंगतच होय. कारण, इहलोकीं असलेलें दुःख हें कसेंतरी सोसलें जातें. पण, त्या दुर्मरणानें मरून नरकीं पडल्यावर तेथलें असह्य दुःख पुष्कळ वर्षे सोसावे लागतें; तेव्हां, थोडक्या दुःखांतून सोडवून अधिक दुःखांत मुद्दाम टाकल्यासारखें झालें. याकरितां किती दुःख झालें तरी त्या जीवाचा वध करूं नये. आतां, आणखी एकाचें ह्मणणें असें आहे कीं, “जे जीव सुखी आहेत त्यांचा वध करावा. कारण, संसारांत सुख हें अनित्य आहे; तेव्हां हें सुख सरल्यावर पुनः दुःख होणारच; ह्मणून सुखी आहे तोंवरच त्याला मारून टाकल्यास त्याला दुःख सोसण्याचा प्रसंग येणार नाही.” हेंहि ह्मणणें चुकीचें आहे. कारण, सुखी प्राणी मरूं लागला ह्मणजे त्याच्या मनाला तर फारच तळमळ होत असते, आणि त्यामुळें तो दुःखी होतो, व आर्त्तध्यानानें मरून दुर्गतीस जातो. अर्थात् सुखी जीवास मुद्दाम दुर्गतींतल्या दुःखांत ढकलून, सुखाचा उच्छेद केल्यासारखें होतें. ह्मणून सुखी जीवांचाहि वध करूं नये. आणि दुःख असो कीं सुख असो आत्महत्याहि करून घेऊं नये.

अथ पाक्षिकस्य दृग्विशुद्ध्यर्था लोकानुवृत्त्यर्थाश्च क्रियाः  
कृत्यतयोपदिशति—

आतां ; पाक्षिक श्रावकाने सम्यग्दर्शनाच्या शुद्धीकरितां  
व लौकिकाकरितां काय करावे हें सांगतात.

स्थूललक्षः क्रियास्तीर्थ- ।

यात्राद्या दृग्विशुद्ध्ये ॥

कुर्यात्तथेष्टभोज्याद्याः ।

प्रीत्या लोकानुवृत्तये ॥ ८४ ॥

टीकाः—कुर्यात् । कोऽसौ स्थूललक्षः स्थूलं व्यवहारं लक्षय-  
त्यालोचयतीति स्थूललक्षो व्यवहारप्रधानो बहुप्रदश्च गृही । काः  
क्रियाः । किंविशिष्टाः तीर्थयात्राद्याः तीर्थान्यूर्जयन्तादीनि पुण्यपु-  
रुषाध्युषितस्थानानि तेषु यात्रा गमनं आद्यशब्देन रथयात्राक्षपक-  
यात्रानिषिद्धिकागमनादयः । तीर्थयात्रा आद्या यासु ताः ।  
किमर्थं दृग्विशुद्ध्ये सम्यक्त्वनिर्मलीकरणार्थं । तथा स्थूललक्षः  
क्रियाः कुर्यात् । किंविशिष्टाः इष्टभोज्याद्याः इष्टाः सधर्माणः  
स्वजना मित्रादयो भोज्यन्ते स्वगृहे भोजनं कार्यन्ते यस्यां सा  
इष्टभोज्या क्रिया, सा आद्या आसु अतिथिपूजनभूतबल्यादिक्रियासु  
ताः । कया प्रीत्या हर्षेण नोद्वेगेन । किमर्थं लोकानुवृत्तये  
लोकचित्तावर्जनार्थम् ॥

अर्थः—करावे कोणते व करूं नये कोणते हें ज्याला  
चांगलें कळतें, व जो उदार आहे अशा पाक्षिक श्रावकाने  
सम्यग्दर्शनाच्या शुद्धीकरितां तीर्थयात्रा, बिंबप्रतिष्ठा,  
पाठशाला घालणे वगैरे क्रिया कराव्या. आणि लोकांच्या  
संतोषाकरितां समानधर्मी श्रावक, इष्ट, मित्र, अतिथी

वगैरे जनांस भोजन वगैरे देऊन त्यांचा सत्कार करावा.

श्रेयोऽर्थिनः कीर्तेरप्यर्जनीयत्वमाह—

आतां; कीर्तिहि सुखाला कारण आहे ह्मणून तीहि मिळविण्याविषयी सांगतात.

अकीर्त्या तप्यते चेत- ।

श्वेतस्तापोऽशुभास्रवः ॥

तत्तत्प्रसादाय सदा ।

श्रेयसे कीर्तिमर्जयेत् ॥ ८५ ॥

टीका:—तप्यते संक्लिश्यते । किं तत् चेतश्चित्तं । कया अकीर्त्या अयशसा । भवति च कोऽसौ चेतस्तापो मनःकालुष्यं । किंविशिष्टोऽशुभास्रवः पापहेतुः । यत एवं तत्तस्मात्कारणात् । अर्जयेत् उपार्जयेत् । गृही । कां कीर्तिं । कथं सदा । कस्मै तत्प्रसादाय चेतःप्रसत्त्यर्थम् । कस्मै तत्प्रसादः श्रेयसे । अथवा श्रेयसे । पुण्यकारणाय तत्प्रसादायेति व्याख्येयम् ॥

अर्थ—अकीर्तीने ह्मणजे अपयशानें मनास संताप होतो, आणि मनाचा संताप हा पापाला कारण आहे. ह्मणून मन हें प्रसन्न ठेवण्याकरितां अर्थात् पुण्य मिळविण्याकरितां कीर्ति मिळवावी.

कीर्त्युपार्जनोपायमाह—

आतां; कीर्ति मिळविण्याचा उपाय सांगतात.

परासाधारणान् गुण्य- ।

प्रगण्यानघमर्षणान् ॥

गुणान् विस्तारयेन्नित्यं ।

कीर्तिविस्तारणोद्यतः ॥ ८६ ॥

टीका— विस्तारयेद्विपुलीकुर्यात् । कोऽसौ कीर्तिविस्तारणो-  
द्यतो यशःप्रसारणतत्परः । कान् गुणान् दानसत्यशौचशीलादीन् ।  
किंविशिष्टान् परासाधारणान् अनन्यसदृशान् । पुनः किंविशिष्टान्  
गुण्यप्रगण्यान् गुणवद्भिः प्रकर्षेण माननीयान् । पुनरपि किंविशि-  
ष्टान् अधमर्षणान् पापविध्वंसिनः ॥

अर्थः—ज्याला आपली कीर्ति पसरावी ह्मणून इच्छा  
आहे; त्यानें, जे इतर साधारण मनुष्यांजवळ अमूं शकत  
नाहीत, जे पातकांचा नाश करण्यास समर्थ आहेत व गुणवान्  
लोक ज्यांना मान देतात असे जे गुण ( दान, सत्य,  
शौच, शील वगैरे गुण ) ते धारण करून; ते सर्वदा  
निर्मळ ठेवावे.

एवंविधाचारपरस्य श्रावकस्योत्तरोत्तरभूमिकाश्रयणेन सकलवि-  
रतिपदाधिरोहणविधिमुपदिशति—

याप्रमाणे सदाचरणी श्रावकाने क्रमाने एकेक पायरी  
चढून शेवटीं यतिधर्म स्वीकारावा याविषयीं सांगतात.  
सैषः प्राथमकल्पिको जिवनचोऽभ्यासामृतेनासकृ-

न्निर्वेदद्रुममावपन् शमरसोद्धारोध्दुरं बिभ्रति ॥

पाकं कालिकमुत्तरोत्तरमहान्त्येतस्य चर्याफला-

न्यास्वाद्योद्यतशक्तिरुद्धचरितप्रासादमारोहतु ॥ ८७ ॥

टीका—आरोहतु चटतु । कोऽसौ सैषः स एवेत्यर्थः । पाद-  
पूरणेऽत्र सेर्लोपः । कोऽसौ प्राथमकल्पिकः प्रारब्धदेशसंयमः । कं  
आरोहतु उद्धचरितप्रासादं सल्लेखनान्त्यतिधर्मसौधं । किंविशिष्टः

सन् उद्यतशक्तिरुद्धूतसामर्थ्यः । किं कृत्वा आस्वाद्यानुभूय । कानि चर्याफलानि दर्शनिकादिप्रतिमाफलानि । कस्य एतस्य निर्वेदद्रुमस्य । किंविशिष्टानि उत्तरोत्तरमहान्ति यथोत्तरं पृथूनि । किं कुर्वन्ति बिभ्रति धारयन्ति । किं पाकमात्मीयपरिणतिं परिपाकं च । किंविशिष्टं कालिकं कालकृतं । पुनः किंविशिष्टं शमरसोद्धारोद्धुरं शमः प्रशमसुखं स एव रसो रसनेन्द्रियग्राह्यो गुणस्तस्योद्धारोऽभिव्यक्तिस्तेनोद्धुरमुत्करं । स एव वा उद्धुरो यत्र किं कुर्वन् आवपन् सिञ्चन् पोषयन् । कं निर्वेदद्रुमं संसारशरीरभोगवैराग्यवृक्षं । केन जिनवचोऽभ्यासामृतेन जिनागमभावनापीयूषेण । कथमसकृदभीक्ष्णमिति भद्रम् ॥

अर्थः—तो हा ह्यणजे ज्यानें एकदेश ( थोडा थोडा ) संयम पाळण्यास आरंभ केला आहे असा पाक्षिक श्रावक,—जिनवचनाचा अभ्यास रूपी अमृतानें वारंवार निर्वेद ( संसार, शरीर व भोग यांविषयींचें वैराग्य ) रूपी वृक्षास सिंचन करीत व—प्रशमसुख ( शांति ) रूपी रसानें भरलेलीं, पक्क झालेलीं व उत्तरोत्तर मोठीं होणारीं अशीं—ह्या निर्वेदरूपी वृक्षांचीं दर्शनिक, व्रतिक वगैरे प्रतिमारूपीं फळें सेवन करून, त्यामुळें ज्याला सामर्थ्य चांगलें आलें आहे असा होऊन, तो ज्यांत शेवटीं सल्लेखना ( सद्विचारानें अंतीं देहत्याग करणें ) करावयास सांगितलें आहे अशा यतिधर्मरूपी प्रासादावर चढूं दे. इति भद्रम् ॥

इत्याशाधरविरचितायां स्वोपज्ञधर्मामृतसागारधर्मदीपिकायां

भव्यकुमुदचन्द्रिकासञ्ज्ञायामादित एकादशः

प्रक्रमाच्च द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॥

अध्याय दुसरा समाप्त.

॥ अथ तृतीयोऽध्यायः ॥

॥ अथ नैष्ठिकलक्षणम् ॥

देशयमन्नकषाय- ।

क्षयोपशमतारतम्यवशतः स्यात् ॥

दर्शनिकाद्येकादश- ।

दशावशो नैष्ठिकः सुलेश्यतरः ॥ १ ॥

टीका—स्याद्भवेत् । कोऽसौ नैष्ठिकः श्रावकः । किंविशिष्टो दर्शनिकाद्येकादशदशावशः दर्शनं निर्मलमद्यादिविरत्याहितातिशयं सम्यक्त्वमस्यास्तीति, अतिशयने ठावत इति ठः । एवं व्रतिका-दित्रयो व्युत्पाद्याः । दर्शनिक आदिर्यासां व्रतिकादीनां ता दर्शनिकादय एकादशदशाः श्रावकसंयमस्थानानि, तासां वशः पारतन्त्र्यं यस्य स घटमानदेशसंयम इत्यर्थः । कस्मात् देशेत्यादि देशयमध्ना अप्रत्याख्यानावरणाख्याः कषायाः क्रोधादयस्तेषां क्षयेनोदयाभावेन प्रत्याख्यानावरणकषायोदयविशिष्टेन युक्त उपशमः सदवस्था, तत्क्षयोपशमस्तस्य तारतम्यं यथोत्तरमुत्कर्षस्तद्वशतस्तत्पारतन्त्र्यात् । पुनः किंविशिष्टः स्यात् सुलेश्यतरः लिंशति स्वीकरोति पुण्यपापे

१ लिम्पति स्वीकरोति पुण्यपापे स्वयं जीवो यया सा लेश्या ।

लिम्पत्यात्मीकरोत्यात्मा पुण्यपापे यया स्वयम् ।

सा लेश्येत्युच्यते सद्भिर्द्विविधा द्रव्यभावतः ॥ १ ॥

अर्थः—जिच्या योगानें आत्मा आपण पुण्य किंवा पाप स्वीकारितो तिला लेश्या ह्मणतात. ती द्रव्य व भाव अशा भेदानें दोन प्रकारची आहे. अथवा—



स्वयं जीवो यया सा लेश्या । अथवा लिशत्यल्पीकरोत्यात्मानमिति  
 लेश्या कषायोदयरञ्जिता योगप्रवृत्तिः सैषा भावतः । द्रव्यवतस्तु  
 शरीरच्छविर्लेश्या । सा च द्वितय्यपि षोढा । कृष्णा नीला कापोती

लिश्यत्यल्पीकरोत्यात्मानमिति लेश्या । कषायानुरञ्जिता योग-  
 प्रवृत्तिः । सैषा भावतः । द्रव्यतस्तु शरीरच्छविर्लेश्या । सा च  
 द्वितय्यपि कृष्णादिभेदेन षोढा ॥ उक्तञ्च—

प्रवृत्तिर्यौगिकी लेश्या कषायोदयरञ्जिता ॥

भावतो द्रव्यतो देहच्छविः षोढोभयी मता ॥ २ ॥

अर्थः—कषायाच्या उदयानें अनुरक्त झालेली जी योगप्रवृत्ति  
 ( काय, वाक्, मन यांची जी क्रिया तिची प्रवृत्ति ) ती भावलेश्या  
 जाणावी. व तशी प्रवृत्ति झाली ह्मणजे त्या समयी जी देहाची  
 कांति होते ती द्रव्यलेश्या जाणावी. ह्या दोन्ही लेश्या सहा  
 प्रकारच्या आहेत.

कृष्णा नीलाऽथ कापोती पीता पद्मा सिता स्मृता ॥

लेश्या षड्भिः सदा ताभिर्गृह्यते कर्म जन्मिभिः ॥ ३ ॥

अर्थः—ह्या सहा लेश्यांच्या योगानें संसारी जीव सर्वदा  
 कर्मग्रहण करीत असतात. अपि च—

योगाविरतिमिथ्यात्वकषायजनितोऽङ्गिनाम् ॥

संस्कारो भावलेश्याऽस्ति कल्माषास्रवकारणम् ॥ ४ ॥

अर्थः—काय, वाचा आणि मन यांचे दुर्व्यापार बंद न  
 ठेवून, मिथ्यात्व व कषाय यांच्यापासून उत्पन्न झालेला संसारी  
 जीवाचा जो संस्कार ती भावलेश्या पापास्रवाला ( पापें येण्याला )  
 कारण आहे.

पीता पद्मा शुक्ला चेति । प्रशस्ता लेश्या यस्यासौ सुलेश्यः प्रकृष्टः  
पाक्षिकापेक्षया सुलेश्यः । सुलेश्यतरः अथवा सर्वेऽपि यथोत्तरं  
विशुद्धतरलेश्याः स्युः ॥

अर्थ—अप्रत्याख्यानावरण ( थोडेंहि चारित्र न पावूं  
देणारे ) नांवाचे जे क्रोध, मान, माया व लोभ हे कषाय,  
त्यांचा जो क्षय, त्यानें युक्त असा उपशम ( असून नस-  
ल्यासारखें बसणें ), त्याचा जो उत्तरोत्तर उत्कर्ष,

कापोती कथिता तीव्रो नीला तीव्रतरो जिनैः ॥

कृष्णा तीव्रतमो लेश्या परिणामः शरीरिणाम् ॥ ५ ॥

पीता निवेदिता मन्दः पद्मा मन्दतरो बुधैः ॥

शुक्ला मन्दतमस्तासां वृद्धिः षट्स्थानयायिनी ॥ ६ ॥

अर्थः—देहधारी जीवांचा जो तीव्र परिणाम ती कापोती  
लेश्या होय ; अतिशय तीव्र जो परिणाम ती नील लेश्या, आणि  
त्याहूनहि अतितीव्र जो परिणाम ती कृष्ण लेश्या होय. मंद  
जो परिणाम तिला पीतलेश्या ह्मणतात, अतिशय मंद जो परि-  
णाम ती पद्मा आणि त्याहूनही अतिमंद जो परिणाम ती शुक्ल-  
लेश्या होय, असें जिनांनीं सांगितलें आहे. ह्या लेश्यांची  
वृद्धि सहा ठिकाणीं असते.

निर्मूलस्कन्धयो(?) द्वे(?) भाषाशाखोपशाखयोः ॥

उच्चये पतितादाने भावलेश्या फलार्थिनाम् ॥ ७ ॥

अर्थः—नुसत्या फळाकरितां ; मूळासकट झाड तोडणारा  
प्राणी कृष्णलेश्येचा जाणावा. फांच्या तोडणारा प्राणी नीलले-  
श्येचा होय, आणि लहान फांदी तोडणारा कापोतलेश्येचा होय  
असें समजावें. फळें जिला आहेत अशी लहान डहाळी

त्याच्या आधीनतेमुळे, दर्शनिक, व्रतिक वगैरे अकरा प्रकारच्या अवस्थांस ( श्रावकांच्या संयम पाळण्याच्या पायऱ्या ) वश झालेला व पीत, पद्म व शुक्ल ह्या तिन्हींपैकी कोणत्याहि लेश्या ज्याच्या पाक्षिक श्रावकापेक्षा उत्कृष्ट

तोडणारा पीतलेश्येचा, फळच तेवढे तोडणारा पद्मलेश्येचा आणि आपोआप पडलेल्या ढिगांतून लागेल तितकेंच फळ घेणारा शुक्ललेश्येचा होय असें जाणावे. ही भावलेश्या जाणावी.

षट्षट् चतुर्षु विज्ञेयास्तिस्रस्तिस्रः शुभास्त्रिषु ॥

शुक्ला गुणेषु षट्स्वेका लेश्या निर्लेश्यमन्तिमम् ॥ ८ ॥

अर्थः—पहिल्या चार गुणस्थानांत सहा सहा लेश्या जाणाव्या. पुढच्या तीन गुणस्थानांत तीन तीन लेश्या जाणाव्या, आणि त्याच्या पुढच्या सहा गुणस्थानांत एक शुक्ललेश्या असते, आणि शेवटच्या गुणस्थानांत कोणतीच लेश्या नसते ( इत्यनुमीयते गुणशब्दात् ).

रागद्वेषग्रहाविष्टो दुर्ग्रहो दुष्टमानसः ॥

क्रोधमानादिभिस्तीव्रैर्ग्रस्तोऽनन्तानुबन्धिभिः ॥ १ ॥

निर्दयो निरनुक्रोशो मद्यमांसादिलम्पटः ॥

सर्वदा कदनासक्तः कृष्णलेश्यान्वितो जनः ॥ २ ॥

अर्थः—राग व द्वेष रूपी ग्रहांनीं गिळिलेला ; दुराग्रही ; दुष्ट मनाचा ; अनंतानुबंधी नांवाच्या तीव्र अशा क्रोध, मान, माया व लोभ ह्या चार कषायांनीं भरलेला ; निर्दय ; कठोर ( पर दुःख पाहून न हळहळणारा ) मद्य, मांस वगैरे सेवन करण्यास लंपट असलेला ; सर्वदा कलह करण्यांत तत्पर असा जो मनुष्य तो कृष्णलेश्येचा जाणावा.

आहेत असा जो श्रावक, त्याला नैष्ठिक श्रावक ह्मणतात.  
[ एकापासून अकरा प्रतिमापर्यंतच्या कोणत्याहि प्रतिमेचा  
श्रावक नैष्ठिक समजावा. त्यांत विशेष हा कीं, पहिल्या  
प्रतिमेपासून वरच्या वरच्या प्रतिमेंत लेश्या अधिकप्रमाणानें

कोपी मानी मायी लोभी । रागी द्वेषी मोही शोकी ॥

हिंसः क्रूरश्चण्डश्चौरौ । मूर्खः स्तब्धः स्पर्धाकारी ॥ ३ ॥

निद्रालुः कामुको मन्दः कृत्याकृत्याविचारकः ॥

महामूर्च्छो महारम्भो नीललेश्यो निगद्यते ॥ ४ ॥

अर्थ—रागीट, मानी, कपटी, लोभी, रागी ( विषयांत  
प्रीति ठेवणारा ), द्वेष करणारा, मोह बाळगणारा, शोक करणारा,  
हिंसा करणारा, क्रूर, भयंकर, चोरी करणारा, मूर्ख, अभिप्राय  
न कळू देणारा, मत्सर करणारा, पुष्कळशी झोंप घेणारा, विष-  
यासक्त, जड, बऱ्या वाड्याचा विचार न करणारा, अधिक  
परिग्रह बाळगणारा असा जो मनुष्य तो नीललेश्येचा जाणावा.

शोकभीमत्सरासूयापरनिन्दापरायणः ॥

प्रशंसति सदाऽऽत्मानं स्तूयमानः प्रहृष्यति ॥ ५ ॥

वृद्धिहानी न जानाति न मूढः स्वपरान्तरम् ॥

अहङ्कारग्रहग्रस्तः समस्तां कुरुते क्रियाम् ॥ ६ ॥

श्लाघितो नितरां दत्ते रणे मर्तुमपीहते ॥

परकीययशोध्वंसी युक्तः कापोतलेश्यया ॥ ७ ॥

अर्थः—शोक करणारा; मित्रा; मत्सर, असूया, परनिन्दा वगैरे  
करण्यांत तत्पर; सर्वदा आपली प्रशंसा करणारा व दुसऱ्यांनीं  
प्रशंसा केली कीं अधिकच आनंद मानणारा; लाभ व हानि न  
जाणणारा; आपल्यांत व दुसऱ्यांत अंतर काय हें न जाणणारा;

शुद्ध असतात. व अप्रत्याख्यानावरण कषायाचा ( क्रोध, मान, माया, लोभ यांचा ) क्षयोपशम उत्तरोत्तर अधिक-प्रमाणानें झालेला असतो. ]

अहंकार रूपी ग्रहानें ग्रासिलेला ; काय पाहिजे तें करणारा ; प्रशंसा केली कीं तत्काल मागितलेलें देणारा व रणांत मरण्यास देखील तयार होणारा ; दुसऱ्याचें यश नाश करणारा असा जो मनुष्य तो कापोत लेश्येचा जाणावा.

समदृष्टिरविवेपो हिताहितविवेचकः ॥

वदान्यः सदयो दक्षः पीतलेश्यो महामनाः ॥ ८ ॥

अर्थः—सारखे पहाणारा ह्मणजे पक्षपात न करणारा, द्वेष न करणारा, हित व अहित जाणणारा, दानशूर, दयाळू, सत्कार्यदक्ष मोठ्या मनाचा असा जो मनुष्य तो पीतलेश्येचा जाणावा.

शुचिर्दानरतो भद्रो विनीतात्मा प्रियंवदः ॥

साधुपूजोद्यतः साधुः पद्मलेश्यो नयक्रियः ॥ १६ ॥

अर्थः—आचारानें व मनानें शुद्ध, सत्पात्री दान देण्यांत तत्पर, शुभ चिंतणारा, विनयशील, प्रिय भाषण करणारा, सज्जनानांचा सन्मान राखण्यास झटणारा, न्यायानें वागणारा असा जो सज्जन तो पद्मलेश्येचा जाणावा.

निर्णिदानोऽनहङ्कारः पक्षपातोऽज्ज्ञसोऽशठः ॥

रागद्वेषपराचीनः शुक्लेश्यः स्थिराशयः ॥ १७ ॥

अर्थः—अमुक एक प्रकारचें संसारिक सुख मला व्हावें अशी इच्छा न धरणारा, अहंकार न करणारा, पक्षपातापासून सुटलेला, सज्जन, राग व द्वेष हे दोन्ही न करणारा आणि स्थिरबुद्धीचा जो महात्मा, तो शुक्लेश्येचा जाणावा.

दर्शनिकादीनुद्दिष्टेषां गृहित्वब्रह्मचारित्वभिक्षुकत्वानि जघन्य-  
मध्यमोत्तमत्वाच्च विभक्तुमार्याद्वयमाह —

आतां दर्शनिक वगैरे श्रावकांस उद्देशून; त्यांचें गृहित्व,  
ब्रह्मचारित्व व भिक्षुत्व आणि जघन्यत्व मध्यमत्व व  
उत्तमत्व सांगतात.

दर्शनिकोऽथ व्रतिकः ।

सामयिकी प्रोषधोपवासी च ॥

सचित्तदिवामैथुन- ।

विरतो गृहिणोऽणुयमिषु हीनाः षट् ॥२॥

अब्रह्मारम्भपरि- ।

ग्रहविरता वर्णिनस्त्रयो मध्याः ॥

अनुमतिविरतोद्दिष्टवि- ।

रतावुभौ भिक्षुकौ प्रकृष्टौ च ॥ ३ ॥

टीका—अथशब्दोऽत्रानन्तर्यार्थः प्रत्येकं योज्यः । भवन्ति क  
श्रावकाः । कति षट् । किंविशिष्टा भवन्ति हीना जघन्याः । केषु  
मध्ये अणुयमिषु श्रावकेषु । न केवलं हीनाः गृहिणश्च । कः कः  
दर्शनिकोऽथानन्तरं व्रतिकस्ततः सामयिकी तदनु प्रोषधोपवासी

तेजः पद्मा तथा शुक्ला लेश्यास्तिस्रः प्रशस्तिकाः ॥

संवेगमुत्तमं प्राप्तः क्रमेण प्रतिपद्यते ॥ १८ ॥

अर्थः—उत्तम संवेग क्षणजे धर्म व धर्मफलाविषयीं प्रीति, ती  
ज्याला प्राप्त झाली आहे असा भव्य पुरुष पीत, पद्म व शुक्ल या  
तीन प्रशस्तलेश्या क्रमानें प्राप्त करून घेतो.

तदनन्तरं सचित्तविरतोऽपि दिवामैथुनविरतश्च । भवन्ति । के ते त्रयः । किंविशिष्टा मध्याः अणुयमिषु मध्ये मध्यमाः । पुनः किंविशिष्टा वर्णिनो ब्रह्मचारिणः । कति त्रयः । किमाख्या अब्रह्मार्म्भपरिग्रहविरता अब्रह्मविरतः आरम्भविरतः परिग्रहविरतश्च । तदनन्तरं भवतः कौ उभौ । किंविशिष्टौ प्रकृष्टौ अणुयमिष्णु मध्ये उत्कृष्टौ । पुनः किंविशिष्टौ भिक्षुकौ अल्पा भिक्षा यत्यपेक्षया ययोस्तौ । किमाख्यौ अनुमतिविरतोद्दिष्टविरतौ ॥

अर्थः— दर्शनिक, व्रतिक, सामयिक, प्रोषधोपवासी, सचित्तत्यागी व दिवामैथुनत्यागी हे सहा प्रतिमाधारी श्रावक देशसंयतां—( एकदेश ह्यणजे थोडे चारित्र पाळणारां )— मध्ये जघन्य ह्यणजे कनिष्ठ प्रतीचे होत. यांना गृहस्थ अशी संज्ञा आहे. ह्यणजे हे गृहस्थाश्रमी होत. अब्रह्मविरत आरंभविरत व परिग्रहविरत हे तीघे मध्यम होत. यांना ब्रह्मचारी अशी संज्ञा आहे. आणि अनुमतिविरत व उद्दिष्ट-

१ षडत्र गृहिणो ज्ञेयास्त्रयः स्युर्ब्रह्मचारिणः ॥

भिक्षुकौ द्वौ तु निर्दिष्टौ ततः स्यात्सर्वतो यतिः ॥

अर्थः—या अकरा प्रतिमापैकीं पहिले सहा प्रतिमाधारी गृहस्थ होत, त्या नंतरचे तिघे ब्रह्मचारी होत : आणि शेवटचे दोघे भिक्षुक होत. त्यांच्या पलीकडचा महात्मा पूर्ण यति होय.

आद्यास्तु षड्जघन्याः स्युर्मध्यमास्तदनु त्रयः ॥

शेषौ द्वावुत्तमावुक्तौ जैनेषु जिनशासने ॥

अर्थः—जैनामध्ये पहिले सहा प्रतिमाधारी जघन्य श्रावक होत त्या नंतरचे तिघे मध्यम श्रावक होत. आणि बाकीचे दोघे उत्तम होत. असे जिनशासनांत सांगितले आहे.

विरत हे दोघे उत्कृष्ट होत. यांना भिक्षुक अशी संज्ञा आहे. हे भिक्षु यतीच्या अपेक्षेनें अल्प ह्यणजे कमीप्रतीचे होत ह्यणून यांना भिक्षुक असें ह्मटलें आहे.

नैष्ठिकोऽपि यादृशः सन् पाक्षिकव्यपदेशमेव लभते तादृशं दर्शयति—

आतां, नैष्ठिक श्रावकही कसा वागूं लागला ह्यणजे त्याला पाक्षिकच ह्यणावें लागेल; हें सांगतात.

दुर्लेश्याभिभवाज्जातु ।

विषये क्वचिदुत्सुकः ॥

स्खलन्नपि कापि गुणे ।

पाक्षिकः स्यान्न नैष्ठिकः ॥ ४ ॥

टीका—स्याद्भवेत् गृही । किंविशिष्टः पाक्षिको न नैष्ठिकः । किंविशिष्टः सन् उत्सुकः सोत्कण्ठाभिलाषः । क विषये इन्द्रियार्थे । किंविशिष्टे क्वचित् कामिन्यादीनामन्यतमे न सर्वत्र । कदा जातु कदाचिन्न सर्वदा । कस्मात् दुर्लेश्याभिभवात् दुर्लेश्यया कृष्णनील-कापोतीनामन्यतमया अभिभवः कुतश्चिन्निमित्ताच्चेतनशक्तेस्तादृक्सं-स्कारोद्बोधस्तस्माद्धेतोः तं वाऽऽश्रित्य । न केवलं तथा भवन् स्खल-न्नपि अतिचारं गच्छंश्च अनभ्यस्तपूर्वत्वात्संयमस्य दुर्धरत्वाद्वा मनसः । क गुणे । किंविशिष्टे कापि मद्यविरत्यादीनामन्यतमे न सर्वत्र ॥

अर्थः—नैष्ठिक श्रावक, कृष्ण नील व कापोत ह्या तीहीं पैकीं कोणत्याही दुर्लेश्यांच्या योगानें जिकिला जाऊन, जर कदाचित् पंचेंद्रियांपैकीं एकाच्या इंद्रियाच्या विषयांत



उत्सुक होऊन, मद्यविरति वगैरे गुणाचा अतिचार करील तर तो पाक्षिक समजावा. त्याला नैष्ठिक ह्मणूं नये. पाक्षिकाचें लक्षण मागच्या अध्यायांत सांगितलें आहे.

दर्शनिकादीनामा स्वस्वानुष्ठानदाढ्याद्व्यत एव दर्शनिकादिव्यपदेशः स्याद्भावतस्तु पूर्वपूर्वोऽसाविति बोधयन्नाह—

आतां दर्शन वगैरे अकरा प्रतिमांपैकीं कोणत्याहि एका प्रतिमेत असून त्यांतील एकाद्या गुणाचा जर अतिचार घडला, तर त्या श्रावकास द्रव्यापेक्षया त्या प्रतिमेचा धारक ह्मटलें तरी भावापेक्षया त्या त्या प्रतिमेच्या पूर्वीचा होय असें समजलें पाहिजे हें सांगतात.

तद्वदर्शनिकादिश्च ।

स्थैर्यं स्वे स्वे व्रतेऽव्रजन् ॥

लभते पूर्वमेवार्था- ।

व्यपदेशं न तूत्तरम् ॥ ५ ॥

टीका—लभते । कोऽसौ दर्शनिकादिश्च दर्शनिकव्रतिकादिरपि श्रावकविकल्पः । कं व्यपदेशं सञ्ज्ञां । किंविशिष्टं पूर्वमेव प्राक्तनमेव । न तु न पुनः । उत्तरं परापेक्षया परं । कस्मात् अर्थात् परमार्थतो व्यवहारादुत्तरमपि लभते । किंवत् तद्वत् नैष्ठिकमात्रवत् । किं कुर्वन् अव्रजन् अगच्छन् । किं तत् स्थैर्यं स्थिरत्वं कचित्कदाचित्कथंचिदचलनं । क स्वे स्वे व्रते निरतिचाराष्टमूलगुणादिलक्षणे ॥

अर्थः—त्याचप्रमाणें दर्शनिक वगैरे श्रावक आपापल्या मद्यविरति वगैरे मूलगुणांत व उत्तर गुणांतही जर कदाचित् अस्थिर होऊं लागतील तर त्यांना त्या प्रतिमेच्या पूर्वीच्या प्रतिमेचे धारक ह्मणून संज्ञा प्राप्त होईल.

परमार्थतः पुढील प्रतिमेची पदवी त्यांस असूं शकणार नाही.

एतदेव समर्थयितुमाह—

आणखी तेंच सांगतात.

प्रारब्धो घटमानो ।

निष्पन्नश्चार्हतस्य देशयमः ॥

योग इव भवति यस्य ।

त्रिधा स योगीव देशयमी ॥ ६ ॥

टीका—भवति । कोऽसौ स देशयमी श्रावकः । कतिधा त्रिधा त्रिप्रकारः । क इव योगीव यथा प्रारब्धयोगो घटमानयोगो निष्पन्नयोगश्चेति नैगमादिनयापेक्षया त्रिविधो योगी तथा प्रारब्धदेशसंयमो घटमानदेशसंयमो निष्पन्नदेशसंयमश्चेति त्रिविधः श्रावकोऽपि स्यादित्यर्थः । यस्य किं यस्यार्हतस्य जिनैकशरणस्य सतो भवति । कोऽसौ देशयमो देशसंयमः । किंविशिष्टः प्रारब्ध उपक्रान्तः । तथा घटमानः सम्पद्यमानः । तथा निष्पन्नः पर्यन्तं प्राप्तः । क इव योग इव समाधिर्यथा ॥

अर्थः—नैगमादि तीन नयांच्या अपेक्षेने योगी जसा प्रारब्धयोग घटमानयोग व निष्पन्नयोग अशा भेदाने तीन प्रकारचा असतो; त्याचप्रमाणे, जिनच ज्याला देव आहे अशा श्रावकाचा देशसंयम,--(एकदेशचारित्र) प्रारब्ध (आरंभिलेला) देशसंयम, घटमान (संपादन केला जाणारा) देशसंयम आणि निष्पन्न (पूर्णपणे प्राप्त झालेला) देशसंयम अशा भेदाने तीन प्रकारचा असतो.

एवं स्थलशुद्धिं विधायाधुना दर्शनिकस्वरूपनिरूपणार्थं श्लोकद्वयमाह—

आतां, दर्शनिकाचै लक्षण कळण्याकरितां दोन श्लोक  
सांगतात.

पाक्षिकाचारसंस्कार- ।

दृढीकृतविशुद्धदृक् ॥

भवाङ्गबोधनिर्विण्णः ।

परमेष्ठिपदैकधीः ॥ ७ ॥

निर्मूल्यन्मलान्मूल- ।

गुणेष्वग्रगुणोत्सुकः ॥

न्याय्यां वृत्ति तनुस्थित्यै ।

तन्वन् दर्शनिको मतः ॥ ८ ॥

टीका—मतः एवम्भूतनयादिष्टः सूरिभिः । एतेन नैगमनयादे-  
शात्पाक्षिकस्यापि दर्शनिकत्वमनुज्ञातं भवति । ततो न श्रावकपदानि  
देवैरेकादश देशितानीत्यनेन विरोधः पाक्षिकस्य द्रव्यतो दर्शनिक-  
त्वात् । कोऽसौ मतः दर्शनिकः । किलक्षणः पाक्षिकाचारस्य पूर्वा-  
ध्याये प्रपञ्चेनोक्तस्य संस्कार उत्कर्षस्तेन दृढीकृता निश्चलत्वं  
नीता विशुद्धा निर्दोषा दृक् दर्शनं येन स पाक्षिकाचारसंस्कारदृ-  
ढीकृतविशुद्धदृक् । तथा भवाङ्गभोगनिर्विण्णः भवाङ्गभोगाः संसारश-  
रीरेष्टविषयाः । अथवा भवाङ्गं संसारकारणं यो भोगो गृह्णितपूर्वकं  
कामिन्यादिविषयसेवनं ततो निर्विण्णो विरक्तः प्रत्याख्यानावरणा-  
स्यचारित्रमोहकर्मविपाकवशात् कामिन्यादिविषयान् भजन्नपि तत्रा-  
कृतसेवानिर्बन्ध इत्यर्थः । तथा परमेष्ठिपदैकधीः परमेष्ठिपदेषु अर्ह-  
दादिपञ्चगुरुचरणेषु एका धीरन्तर्दृष्टिर्यस्य स तथोक्तः । आपदा-  
कुलितोऽपि दर्शनिकस्तन्निवृत्त्यर्थं शासनदेवतादीन् कदाचिदपि न

भजते । पाक्षिकस्तु भजत्यपीत्येवमर्थमेकग्रहणं । तथा निर्मूलयन् मूलादपि निरस्यन् । कान् मलान् अतिचारान् । केषु मूलगुणेषु । तथा अग्रगुणोत्सुकः अग्रगुणे व्रतिकपदे उत्सुकोऽनुष्ठातुमुत्कण्ठितः । तथा तन्वन्ननुबध्नन् । कां वृत्तिं कृष्यादिवार्ता । किंविशिष्टां न्याय्यां स्ववर्णकुलव्रतानुरूपां । किमर्थं तनुस्थित्यै शरीरवर्तनार्थं न विषयोपसेवनार्थं । एवंविधलक्षणो दर्शनिको नाम श्रावको मन्यते ॥

अर्थः—पूर्व अध्यायांत वर्णिलेला जो पाक्षिकश्रावकाचा आचार त्याच्या संस्कारानें ह्मणजे उत्कर्षानें ज्याचें निर्मळ सम्यग्दर्शन दृढ झालें आहे असा, संसाराम कारणीभूत जे विषयभोग त्यांस कंटाळलेला, कोणत्याही संकट-समयीही पंचपरमेष्ठीशिवाय इतरांस ह्मणजे जिनशासनदेवतांसही मनांत न आणणारा, मद्यविरति वगैरे जे आठ मूलगुण त्यांचे अतिचार मूळासकट नाहीसे करणारा, उत्तरगुण स्वीकारण्याविषयीं उत्सुक झालेला व विषयसेवनाकरितां नसून केवळ देहरक्षणाकरितां न्याय्य अशी वृत्ति

१ आदावेते स्फुटमिह गुणा निर्मला धारणीयाः ।

पापध्वंसि व्रतमपमलं कुर्वता श्रावकीयम् ॥

कर्तुं शक्यं स्थिरमुरुभरं मन्दिरं गर्तपूरं ।

न स्थेयोभिर्दृढतममृते निर्मितं प्रावजालैः ॥१॥

अर्थः - पापाचा ध्वंस करणारी श्रावकांचीं व्रते निर्मळ ठेवूं इच्छिणारानें प्रथम मद्यविरति वगैरे गुण निर्दोषपणें पाळिले पाहिजेत. त्याशिवाय पुढील व्रते पाळिलीं जाणार नाहीत. मोठमोठ्या दगडांनीं निर्माण केलेलें घर चांगला खळगा काढून बळकट पाया घातलेला असल्याशिवाय स्थिर करणें शक्य नाही.

(कृषि वगैरे) धारण करणारा जो श्रावक तो दर्शनिक होय. असें एवंभूतनयाच्या अपेक्षेनें मानिलें आहे. ह्मणजे त्याला नैष्ठिक दर्शनिक श्रावक ह्मणण्यास कोणतीच हरकत नाहीं. व या श्लोकांतील पहिल्या चरणावरून नैगमनयाच्या अपेक्षेनें पाक्षिक श्रावकासही दर्शनिक पदवी देण्यास हरकत नाहीं.

अथ मद्यादिव्रतद्योतनार्थं तद्विक्रयादिप्रतिषेधार्थमाह—

आतां, मद्याविरति वगैरे व्रतांच्या उद्योताकरितां, मद्य-विक्रय वगैरे करूं नये हें सांगतात.

मद्यादिविक्रयादीनि ।

नार्यः कुर्यान्न कारयेत् ॥

न चानुमन्येत मनो- ।

वाक्कायैस्तद्व्रतद्युते ॥ ९ ॥

टीका—न कुर्यात् कोऽसौ आर्यो दर्शनिकः । कानि मद्यादिविक्रयादीनि मद्यादीनां मद्यमांसमधुनवनीतप्रभृतीनां विक्रयादीनि आदिशब्दात्सन्धानकसंस्कारोपदेशाद्युपादानं । तथा न कारयेत् । न

१ कृषिं वणिज्यां गोरक्ष्यमुपायैर्गुणिनं नृपम् ॥

लोकद्वयाविरुद्धां च धनार्थी संश्रयेत् क्रियाम् ॥ २२ ॥

अर्थः—ज्याला द्रव्य पाहिजे त्यानें गुणी जनाच्या आश्रयास राहून; शेतकी, व्यापार, गोरक्षण वगैरे उपाय करावे. आणि इहलोकीं व परलोकीं विरुद्ध नसलेली क्रिया करावी. म्हणजे धर्म संभाळून धन मिळवावें. कारण, इहलोकीं व परलोकीं सुख देणारा धर्मच आहे. केवळ देहाच्या रक्षणाकरितां कृषि वगैरे उद्योग करावे. ह्मणजे विषयोपसेवनाकरितां करूं नयेत.

चानुमन्येत नाप्यनुमतिं दद्यात् । कैर्मनोवाक्कायैः मनसा वाचा कायेन च । किमर्थं तद्व्रतद्युते मद्यविरत्याद्यष्टमूलगुणनिर्मलीकरणार्थम् ॥

अर्थ—मद्यविरति वगैरे जे आठ मूलगुण, ते निर्मल ठेवण्याकरितां, आर्य ह्मणजे दर्शनिक, त्यांन मद्य, मांस, मधु, नवनीत (लोणी) वगैरे पदार्थांचा विक्रय, उपदेश ( तें तयार करण्याची रीति सांगणें ) वगैरे करूं नये; सांगून करवूं नये; करणारांस बरें मानूं नये.

यच्छीलनान्मद्यादिव्रतक्षतिः स्यात्तदुपदेशार्थमाह—

भजन्मद्यादिभाजस्त्री- ।

स्तादृशैः सह संसृजन् ॥

भुक्त्याऽऽदौ चैति साकीर्ति ।

मद्यादिविरतिक्षतिम् ॥ १० ॥

टीका—एति गच्छति । कोऽसौ व्रती पुमान् । कां मद्यादिविरतिक्षतिं अष्टमूलगुणहानिं । किंविशिष्टां साकीर्तिं वाच्यतासहितां । किं कुर्वन् भजन् सेवमानः । काः स्त्रीः । किंविशिष्टाः मद्यादिभाजो मद्यमांसादिसेविनीः । न केवलं ता भजन् संसृजंश्च संसर्गं कुर्वन् । कैः सह तादृशैर्मद्यादिभाग्भिः पुम्भिः । क भुक्त्यादौ भोजनभाजनासनादौ ॥

अर्थः—मद्यपान व मांसभक्षण वगैरे करणाऱ्या स्त्रियांशी

१ मद्यादिस्वादिगेहेषु पानमन्त्रं च नाचरेत् ॥

तदामत्रादिसम्पर्कं न कुर्वीत कदाचन ॥ २३ ॥

अर्थः—मद्य, मांस वगैरे सेवन करणाऱ्यांच्या घरीं अन्नपान आचरूं नये व त्यांचीं भांडीं वगैरे केव्हाही शिवूं नयेत.

रत होणारा व तशा पुरुषांसह भोजन, शयन वगैरे करणारा मनुष्य मद्यविरति वगैरे व्रतांपासून भ्रष्ट होतो व अपकीर्तीस पांचतो. त्याची सर्वत्र निंदा होते.

एवं सामान्यतो मूलव्रतातिचारनिवृत्तिमभिधाय मद्यादिव्रता-  
तिचारनिवृत्त्यर्थमाह—

याप्रमाणें मूलव्रतातिचार सामान्यपणें सांगून आतां मद्यविरति व्रताचे अतिचार टाळण्याकरितां सांगतात.

सन्धानकं त्यजेत्सर्वं ।

दधि तक्रं द्यहोषितम् ॥

काञ्जिकं पुष्पितमपि ।

मद्यव्रतमलोऽन्यथा ॥११॥

टीका—त्यजेत् । कोऽसौ दर्शनिकः । किं तत् सन्धानकं । किंविशिष्टं सर्वं । एतेन काञ्जिकवटकादेरपि हेयत्वं दर्शयति । उक्तं च—जायन्तेऽनन्तशो यत्र प्राणिनो रसकायिकाः ॥ सन्धानानि न बह्भ्यन्ते तानि सर्वाणि भाक्तिकाः ॥ १ ॥ तथा त्यजेत् किं तत् दधितक्रं दधि च मथितं च । किंविशिष्टं द्यहोषितं अहो-  
रात्रिद्वयमतिक्रान्तं । तथा त्यजेत् । काञ्जिकं धान्याम्लं । किंविशिष्टं पुष्पितं सपुष्पमिव जातं । अपिशब्दाद्यहोषितं च । अन्यथा उक्तविपर्यये । भवति कोऽसौ मद्यव्रतमलः मद्यविरत्यतिचारः ॥

अर्थः—दर्शनिक श्रावकानें, मद्यासारखे सर्व प्रकारचे मादक पदार्थ—( कुजत घालून किंवा शिजवून तयार केलेले पेय पदार्थ ), दोन रात्रींच्या नंतरचें दहि व ताक आणि

१ जायन्तेऽनन्तशो यत्र प्राणिनो रसकायिकाः ॥

सन्धानानि न बह्भ्यन्ते तानि सर्वाणि भाक्तिकाः ॥२४॥

नासलेली तांदूळ नाचणे वगैरेची कांजी ( अंबील ) इत्यादि पदार्थ सेवन करूं नयेत. हीं सेवन केल्यास मद्यव्रताचा अतिचार होतो. [ 'अपि' शब्दानें कांजी सुद्धां दोन रात्रीं-नंतरची सेवू नये असें दर्शविलें आहे. ]

मांसविरत्यतिचारानाह—

आतां, मांसविरतीचे अतिचार सांगतात.

चर्मस्थमम्भः स्नेहश्च ।

हिंन्वसंहतचर्म च ॥

सर्वं च भोज्यं व्यापन्नं ।

दोषः स्यादामिषव्रते ॥ १२ ॥

टीका—स्यात् भवेत् । किं तत् चर्मस्थमम्भः प्रमुखमुपयुज्यमानं । किं स्यात् दोषोऽतिचारः । क आमिषव्रते मांसविरतौ प्रतिपन्नायां । किं किं तदित्याह—अम्भो जलं । स्नेहश्च घृतादिकं दोषः स्यात् । किंविशिष्टं चर्मस्थं दृत्यादिस्थं जलं कुतुपादिस्थं च घृतादिकमुपयुज्यमानं । एतेन खट्टिकायादिस्थबच्चटिकादिस्थचूतफलादीनां चर्मोपनद्धचालनीशूर्पाटिकाद्युपस्कृतकणिकादीनां च त्याज्यतामुपलक्षयति । तथा हिंन्व रामठं दोषः स्यात् । किंविशिष्टं असंहतचर्म असंहतं स्वस्वभावेनापरिणामितं चर्म येन तत् । असंवृतचर्मेति वा पाठः । तत्र चर्मणा छादितं चर्मणि बद्धं प्रसारितं वा रामठं न गृहीयादिति भावः । उपलक्षणमेतत् । तेन तथाभूतं लवणाद्यपि । तथा भोज्यं भक्तघृतादि सर्वं । किंविशिष्टं व्यापन्नं कुथितं स्वादचलितमिति यावत् ॥

अर्थः—चर्मपात्रांत ठेविलेलें जल, तेल, तूप व चर्मनें

अर्थः—ज्यांत रसकायिक जीव अनंत उत्पन्न होतात अशीं सर्वप्रकारचीं पेंथें दर्शनिक श्रावक पीत नाहींत.



आच्छादिलेला हिंग, आणि नासलेलें सर्व प्रकारचें अन्न हीं सेवणें मांसविरतिव्रताचे अतिचार होत. शिवाय, चर्म-निर्मित सूप चाळण वगैरे पात्रांतील कणीक घेऊं नये. आणि तसेंच चर्मपात्रांत ठेविलेलें मीठ, आंबे वगैरे पदार्थही सेवूं नयेत.

मधुव्रतातिचारनिवृत्त्यर्थमाह—

मधुव्रताचे अतिचार टाळण्यास सांगतात.

प्रायः पुष्पाणि नाश्नीया- ।

न्मधुव्रतविशुद्ध्ये ॥

वस्त्यादिष्वपि मध्वादि- ।

प्रयोगं नार्हति व्रती ॥ १३ ॥

टीका—नाश्नीयात् न भक्षयेत् मधुविरतः । कानि पुष्पाणि । किमर्थं मधुव्रतविशुद्ध्ये । क्षौद्रविरत्यतिचारनिवृत्त्यर्थं । कथं प्रायः । तेन मधूकभल्लातकपुष्पाणां शक्यशोधनत्वान्नात्यंतनिषेधः । शुष्कत्वान्नागकेसरादीनामपीति लक्षयति । तथा नार्हति न कर्तुं योग्यो भवति । कोऽसौ व्रती मधुमांसमध्येभ्योऽतिशयेन निवृत्तः । कं मध्वादिप्रयोगं माक्षिकमांसमद्योपयोगं । केषु वस्त्यादिषु वस्तिकर्मपिण्डप्रदाननेत्राञ्जनसेचनलूताग्रासादिषु । किं पुनः स्वास्थ्या-नुवृत्तिवाजीकरणादिविधिष्वित्यपिशिद्दार्थः ॥

अर्थः—मधुव्रताच्या विशुद्धीकरितां ह्मणजे अतिचार न होण्याकरितां; मधुत्यागी श्रावकार्ने, बहुतकरून कोण-तींही भल्लातक ( बिबा ) वगैरेचीं फुलें शोधून पहाण्यास शक्य आहेत ह्मणून व नागकेसर वगैरेचीं फुलें शुष्क असतात ह्मणून तीं खाण्यास फारसा निषेध केलेला नाही.

त्याप्रमाणेंच व्रती श्रावकानें वस्तिकर्म, पिंडिप्रदान, नेत्रां-  
जन वगैरे करण्याच्या कामीं मधु, मांस व मद्य वगैरेचा  
उपयोग करूं नये. 'अपि' शब्दाचा अर्थ असा आहे  
कीं, देहास स्वास्थ्य व्हावें ह्मणून व वाजीकरण वगैरे  
करण्याकरितांही मद्यादिकांचा उपयोग करूं नये.

पञ्चोदुम्बरविरत्यतिचारपरिहारार्थमाह—

पंचोदुम्बरविरति व्रताचे अतिचार टाळण्याचें सांगतात.

सर्वं फलमविज्ञातं ।

वार्ताकादि त्वदारितम् ॥

तद्वद्भलादिसिम्बीश्च ।

खादेन्नोदुम्बरव्रती ॥ १४ ॥

टीका— न खादेन्न भक्षयेत् । कोऽसौ उदुम्बरव्रती पिप्पला-  
दिफलनिवृत्तः । किं तत् फलं सर्वं । किंविशिष्टमविज्ञातमज्ञातनाम ।  
तथा न खादेत् । किं तत् वार्ताकादि । आदिशब्देन कर्चूरबदर-  
पूगफलादि । किंविशिष्टं अदारितमभिन्नं अशोधितमध्यमित्यर्थः ।  
तथा भलादिसिम्बीः भलराजमाषप्रमुखफलिका न खादेत् । किंवत्  
तद्वत् अदारिता इत्यर्थः ॥

अर्थः—उदुम्बरत्यागी श्रावकानें, ज्याचें नांव ठाऊक  
नाहीं असें कोणतेंहि फळ खाऊं नये. डोरली (रानवांगी),  
सुपारी, बोर वगैरे पदार्थ चिरून पाहिल्याशिवाय खाऊं  
नयेत. त्याचप्रमाणें पावटे, उडीद शेंगा वगैरे पदार्थ फोडून  
चांगले पाहिल्याशिवाय खाऊं नयेत.

अनस्तमितभोजनातिचारमाह—

आतां, रात्रिभोजनत्याग व्रताचे अतिचार सांगतात.

मुहूर्तेऽन्त्ये तथाऽऽद्येऽहो ।

वल्भाऽनस्तमिताशिनः ॥

गदच्छिदेऽप्याम्रघृता-

द्युपयोगश्च दुष्यति ॥ १५ ॥

टीका— दुष्यति दोषो भवति । काऽसौ वल्भा भोजनं । क मुहूर्ते घटिकाद्वये । कस्य अहो दिनस्य । किंविशिष्टेऽन्त्ये पर्यन्तवर्तिनि । तथा आद्ये प्रथमे । कस्यानस्तमिताशिनः अनस्तमिते सूर्येऽश्नातीत्येवंव्रतस्य । तथा दुष्यति । कोऽसौ आम्रघृताद्युपयोगः चूतचारचोचमोचादिफलानां घृतक्षीरेक्षुरसादीनां च सेवनं । कस्यै गदच्छिदे रोगनिवृत्त्यर्थं । किं पुनः स्वास्थ्यानुवृत्त्याद्यर्थमित्यपिशब्दार्थः ॥

अर्थः—सूर्यास्त होण्याच्या पूर्वीच भोजन करण्याचें व्रत ज्याला आहे अशा श्रावकानें दिवसांच्या पहिल्या व शेवटच्या मुहूर्तावर ह्मणजे सकाळीं दोन घटिकेच्या आंत व संध्याकाळीं सूर्यास्त होण्याच्या पूर्वी दोन घटिकेच्या आंत अन्न सेवन करूं नये. फारतर काय, रोगाच्या नाशाकरितां आम्र वगैरे फळें व तूप, दूध, पाणी वगैरे पदार्थ सेवणेंही दोष आहे. मग, नीरोग अवस्थेंत सेवन करणें दोषाचें होईल हें सांगावयास नकोच.

जलगालनव्रतातिचारनिवृत्त्यर्थमाह—

आतां, जलगालन व्रताचे अतिचार टाळण्यास सांगतात,

मुहूर्तयुग्मोर्ध्वमगालनं वा ।

दुर्वाससा गालनमम्बुनो वा ॥

अन्यत्र वा गालितशेषितस्य ।

न्यासो निपानेऽस्य न तद्व्रतेऽर्च्यः॥१६॥

टीका— अर्च्य इति लिङ्गविपरिणामेन सन्बन्धः । न अर्च्य निन्द्यमित्यर्थः । किं तत् अगालनमश्रावणं । कस्याम्बुनो जलस्य । कथं मुहूर्तयुग्मोर्ध्वं घटिकाचतुष्टयादुपरि । क तद्व्रते गालितजल-पाननिष्ठायां । वाशद्वास्त्रयोऽपि परस्परसमुच्चये । तथा नार्च्यः । किं तत् अम्बुनो गालनं । केन दुर्वाससा अल्पसच्छिद्रजर्जरादिवस्त्रेण । तथा नार्च्यः । कोऽसौ न्यासः स्थापनं । कस्याम्बुनः । किंवि-शिष्टस्य गालितशेषितस्य वस्त्रसावितादुद्धरितस्य । क निपाने जलाशये । किंविशिष्टेऽन्यत्र स्वाधारजलाशयादन्यस्मिन् ॥ अथ “पंचुंबरसहियाइं सत्तवि वसणाइ जो विवज्जेइ । सम्मत्तविसु-हमई सो दंसणसावओ भणिओ ॥ १ ॥” इति वसुनन्दिसे-द्धान्तिमते ॥

अर्थः—एकदां गालिलेलें असलें तरी त्यानंतर चार घटिकांनीं पुनः न गालणें, मळकट कपड्यानें गालणें व गालल्यानंतर कापडांत उरलेलें पाणी शोधून आणिलें तेथें न टाकितां दुसऱ्या ठिकाणच्या पाण्यांत टाकणें, जामिनी-वरच सांडणें हे जलगालन व्रताचे अतिचार होत.

दर्शनिकस्य द्यूतादिव्यसननिवृत्तिमुपदेष्टुं तेषामिहामुत्र चापा-यावद्यप्रायत्वमुदाहरणद्वारेण व्याहरन्नाह—

आतां, दर्शनिक श्रावकानें सप्तव्यसनें टाळावीं त ह्मणून उपदेश करण्याकरितां, त्यासाठीं इहपरलोकीं होणारा अपाय उदाहरणानें सांगतात.

द्यूताद्धर्मतुजो बकस्य पिशितान्मद्याद्यदूनां विप- ।

चारोः कामुकया शिवस्य चुरया यद्ब्रह्मदत्तस्य च ॥

पापधर्मा परदारतो दशमुखस्योच्चैरनुश्रूयते ।

द्यूतादिव्यसनानि घोरदुरितान्युज्ज्ञेत्तदार्यस्त्रिधा ॥१७॥

टीका—उज्ज्ञेत् त्यजेत् । कोऽसावार्यः सद्गती गृही । कथं त्रिधा मनोवाक्कायकृतकारितानुमतैः । कानि द्यूतादीनि व्यसनानि । द्यूतमांसमद्यवेश्याचौर्यपापद्विपरदारोपसेवनानि । किंविशिष्टानि घोरदुरितानि घोराणि दुर्गतिदुःखकारणानि दुरितानि पापानि येभ्यस्तानि । कथं तत्तस्मात् । यद्यस्मादनुश्रूयते वृद्धपरम्परया आकर्ण्यते । काऽसौ विपत् । कथम्भूता उच्चैः प्रकृष्टा । कस्मात् द्यूतात् द्यूतक्रीडनात् । कस्य धर्मतुजो धर्मपुत्रस्य युधिष्ठिरस्य । तथोच्चैर्विपदनुश्रूयते । कस्य बकस्य बकनाम्नो राज्ञः । कस्मात् पिशितात् मांसभक्षणात् । तथोच्चैर्विपदनुश्रूयते । केषां यदूनां यदोरपत्यानां यादवानां । कस्मात् मद्यात् मद्यपानात् । तथा उच्चैर्विपदनुश्रूयते । कस्य चारोः चारुदत्तनाम्नः श्रेष्ठिनः । कया कामुकया वेश्योपसेवनया । तथा उच्चैर्विपदनुश्रूयते । कया चुरया चौरिकया । कस्य शिवभूतिनाम्नो द्विजस्य । तथा उच्चैर्विपदनुश्रूयते । कस्य ब्रह्मदत्तस्य ब्रह्मदत्तनाम्नोऽन्त्यचक्रवर्तिनः । कया पापधर्मा आखेटकेन । तथा उच्चैर्विपदनुश्रूयते । कस्य दशमुखस्य रावणस्य । कुतः परदारतः परस्त्रीगमनाभिलाषनिर्वन्धेन ॥

अर्थः—जुगारापामून युधिष्ठिराला, मांसभक्षणापामून बकराजाला, मद्यपानापामून यादवानां, वेश्यासंगाने चारुदत्तश्रेष्ठीला, चौर्यकर्मने शिवभूति ब्राह्मणाला, शिकारीने ब्रह्मदत्तराजाला, आणि परस्त्रीगमनाभिलाषाने रावणाला मोठी विपत्ति आली हे परंपरेने सर्वांच्या ऐकण्यांत आले

आहेच. याकरिता ज्यांना भयंकर पातकें ह्मणतात अशीं  
हीं जुगार वगैरे ७ व्यसनं सत्पुरुषानें सर्वथा सोडून द्यावीं.

व्यसनशब्दनिरुक्तिद्वारेण द्यूतादेर्घोरदुरितश्रेयःप्रत्यावर्तनहेतुत्वं  
समर्थं तद्विरतस्य तत्समानफलत्वाद्धातुपाताद्युपव्यसनानामपि  
दूरपारिहरणीयतामुपदिशति —

आतां, व्यसनशब्दाची निरुक्ति वगैरे सांगून, उपव्य-  
सनंही टाळण्यास सांगतात.

जाग्रत्तीव्रकषाकर्कशमनस्कारार्पितैर्दुष्कृतै- ।  
श्चेतन्यं तिरयत्तमस्तरदपि द्यूतादि यच्छ्रेयसः ॥  
पुंसो व्यस्यति तद्विदो व्यसनमित्याख्यान्त्य-  
तस्तद्वतः । कुर्वीतापि रसादिसिद्धिपरतां  
तत्सोदरीं दूरगाम् ॥ १८ ॥

टीका — आख्यान्ति व्यपदिशन्ति । के ते विदो विद्वांसः ।  
किं तत् द्यूतादिसप्तकं । किमाख्यान्ति व्यसनं व्यसनमिति शब्देन  
व्यवहरन्तीत्यर्थः । कथं तत् तस्मात् । यद्यस्मात् व्यस्यति प्रत्यावर्त-  
यति । किं तत् द्यूतादि कान् पुंसः पुरुषान् । कस्मात् श्रेयसः अकल्याणं  
प्रापयतीत्यर्थः । किं कुर्वत् तिरयत् छादयत् । किं तत् चैतन्यमन्त-  
स्तत्त्वं । कैः दुष्कृतैः पापैः । किंविशिष्टैः जाग्रदित्यादि जाग्रद्विर्नित्यो-  
दितैस्तीव्रैर्दुर्निवारैः कषायैः क्रोधादिभिः कर्कशः कठोरो दृढकर्म-  
बन्धसम्पादनोद्यतो मनस्कारश्चित्तप्रणिधानं तेनार्पितैरात्मना संयो-  
जितैः । किं कुर्वदपि तरदपि अतिक्रामत् । किं तत् तमो मिथ्यात्वं ।  
किं पुनर्मिथ्यात्वे विवर्तमानमित्यपिशब्दार्थः । यत एवं तत एतस्मात्  
कारणात् कुर्वीत विदधीत । कोऽसौ तद्वतः द्यूतादिविरतिं प्रतिपन्नः ।

कां रसादिसिद्धिपरतामपि, न परं द्यूतादिपरतामित्यपिशिद्ध्यर्थः ।  
किंविशिष्टां दूरगां दूरवर्तिनीं । किंविशिष्टां यतस्तत्सोदरीं द्यूतादि-  
व्यसनसदृशीं । दुरन्तदुष्कृतबन्धश्रेयःप्रत्यावर्तनहेतुत्वाविशेषात् ।  
रसादीत्यादिशब्देनाञ्जनगुटिकापादुकाविवरप्रवेशादि गृह्यते ॥

अर्थः—सतत उदय पावलेले व दुर्निवार असे जे क्रोध  
वगैरे कषाय त्यांच्या योगानें कर्कश झालेला जो मनाचा  
परिणाम; त्यामुळें घडूं लागलेल्या दुष्कृत्यांच्या योगानें  
चैतन्यास (आत्मस्वरूपांस) झांकणारें व मिथ्यात्वास पाँच-  
विणारें हें द्यूतादि व्यसन मनुष्यास कल्याणापासून परतवितें  
ह्मणून विद्वान् लोक त्याला व्यसन असें ह्मणतात.  
याकरितां द्यूतत्यागी श्रावकानें चित्तभ्रामक असे किमया  
करणें, पारा सिद्ध करणें वगैरे नादही सोडून द्यावेत.

द्यूतनिवृत्त्यतिचारमाह—

आतां, द्यूतविरति व्रताचे अतिचार टाळण्यास सांगतात.

दोषो होढाद्यपि मनो- ।

विनोदार्थं पणोज्झिनः ॥

हर्षामर्षोदयाङ्गत्वात् ।

कषायो ह्यहसेऽञ्जसा ॥ १९ ॥

टीका—भवति । किं तत् होढादि । होढा परस्परस्पर्धया  
धावनादि । आदिशब्देन द्यूतदर्शनादि । किं भवति दोषोऽतिचारः ।  
कस्य पणोज्झिनः पणं द्यूतमुज्झतीत्येवंव्रतस्य । किमर्थं मनोविनो-  
दार्थमपि मनोऽपि रमयितुं प्रयुज्यमानं दोषः किं पुनर्धनाद्यर्थं ।  
कुतो हर्षामर्षोदयाङ्गत्वात् प्रमोदक्रोधोद्भवहेतुत्वात् । एतदपि समर्थ-  
यितुमाह हि यस्माद्भवति । कोऽसौ कषायो रागद्वेषपरिणामः । कस्मै

अंहसे पापनिमित्तं । केन अञ्जसा परमार्थेन ॥

अर्थः—पण ह्मणजे जुगार, तें ज्यानें सोडिलें आहे अशा मनुष्यानें मनोरंजनाकरितांही पैज मारणें ( ईषेनें पळणें, उडी मारणें वगैरे ) व तसले खेळ पाहाणें हा दोष आहे. कारण, पैज मारण्यापासून व असले खेळ पाहण्यापासून हर्ष व क्रोध इत्यादि विकार उत्पन्न होतात. आणि कषाय ह्मणजे रागद्वेषरूप परिणाम, हाच खरोखर पापाला कारण होतो.

वेश्याव्यसनव्रतातिचारनिवृत्त्यर्थमाह—

आतां, वेश्याविरति व्रताचे अतिचार टाळण्यास सांगतात

त्यजेत्तौर्यत्रिकासक्तिं ।

वृथाट्यां षिङ्गसङ्गतिम् ॥

नित्यं पण्याङ्गनात्यागी ।

तद्देहगमनादि च ॥ २० ॥

टीका—त्यजेत् । कोऽसौ पण्याङ्गनात्यागी वेश्यानिवृत्तिव्रतः । किं किं तौर्यत्रिकासक्तिं गीतनृत्यवाद्येषु सेवानिबन्धं । आसक्तिग्रहणाच्चैत्यालयादौ धर्मार्थं गीतश्रवणं न दोष इति लक्षयति । तथा वृथाट्यां प्रयोजनं विना विचरणां त्यजेत् । तथा षिङ्गसङ्गतिं विटैः सह साङ्गत्यं त्यजेत् । षिङ्ग इति षिट् सिट् अनादरे । सेटनं सिट् अनादरः । सिटा अनादरेण गायति गच्छति वा । अन्यतोऽपि चेति डः । पृषोदरादित्वात्सस्य च षत्वं । तथा तद्देहगमनादि वेश्यागृहगमनसम्भाषणसत्कारादि त्यजेत् । नित्यमित्यनेन सर्वदा अत्र व्रते यत्नं कुर्यात् दुर्निवारत्वादित्युपदिशति ॥



अर्थः—वेश्याव्यसनाचा त्याग ज्याने केला आहे अशा गृहस्थानें गीत नृत्य व वाद्य यांच्या ठिकाणीं आसक्ति ठेवणें ( पण जिनालयांत जिनगुणगायन, वादन व नर्तन करण्यास व बघण्यास हरकत नाही ), विनाकारण रस्त्यानें हिंडणें, जारपुरुषाची संगति व वेश्यांच्या घरीं जाणें येणें, त्यांचा सत्कार वगैरे हीं केव्हांही करूं नयेत.

चौर्यव्यसनमलोपदेशार्थमाह—

आतां, चौर्यविरति व्रताचे अतिचार सांगतात.

दायादाज्जीवितो राज- ।

वर्चसाद्गृह्यतो धनम् ॥

दायं वाऽपन्हुवानस्य ।

क्वाचौर्यव्यसनं शुचि ॥ २१ ॥

टीका—क कस्मिन्देशे काले च । अचौर्यव्यसनं चोरिकापरि-  
हारव्रतं । शुचि निरतिचारं भवति न कापीत्यर्थः । कस्य पुंसः ।  
किं कुर्वतो गृह्यतः स्वीकुर्वतः । किं तत् धनं ग्रामसुवर्णादिद्रव्यं ।  
कस्मात् दायादात् दायं कुलसाधारणं द्रव्यमादत्ते इति दायादो  
आत्रादिस्तस्मात् । किं कुर्वतो जीवतः । मृतस्य तु यथान्यायं  
स्वीकुर्वतो नास्ति दोषः । कस्माद्गृह्यतो राजवर्चसात् नृपतेजसः  
न जातिकुलदेशकालाद्यनुरोधात् । तथा अपन्हुवानस्य आत्रादिभ्यः  
अपलपतः । कं दायम् ॥

अर्थः—भाऊबंद जीवंत असून त्यांचें द्रव्य राजसत्तेनें  
( जबरदस्तीनें ) हरण करणाऱ्या व आपल्या भाऊबंदास  
द्यावयाचा वांटो छपवून ठेवणाऱ्या श्रावकांचें अचौर्यव्रत  
कोट्टून शुद्ध असणार !

पापद्धिविरत्यतीचारनिषेधार्थमाह—

आतां, पापद्धिविरति व्रताचे अतिचार सांगतात.

वस्त्रनाणकपुस्तादि- ।

न्यस्तजीवच्छिदादिकम् ॥

न कुर्यात्त्यक्तपापद्धि- ।

स्तद्धि लोकेऽपि गर्हितम् ॥ २२ ॥

टीका—न कुर्यात् । कोऽसौ त्यक्तपापद्धिः मृगयाविरतः । किं तत् वस्त्रेत्यादि वस्त्राणि पञ्चरङ्गपटादीनि । नाणकानि सीताराम-टङ्कादीनि । पुस्तादीनि च लेप्यचित्रकाष्ठाश्मदन्तधात्वादिशिल्पानि । वस्त्राणि च नाणकानि च पुस्तादीनि च वस्त्रनाणकपुस्तादीनि तेषु न्यस्तो नामोच्चारणपूर्वकः सोऽयमिति स्थापितो जीवः प्राणी गजतुरगादिस्तस्य छिदादिकं खण्डनावर्तनभञ्जनादि । हि यस्मात् । भवति । किं तत् वस्त्रादिन्यस्तजीवच्छेदादिकं । किंविशिष्टं गर्हितं निन्दितं । क्व लोकेऽपि व्यवहर्तृजनमध्येऽपि न परं शास्त्रे ॥

अर्थः—मृगयेचा ( शिकारीचा ) ज्याने त्याग केला आहे अशा गृहस्थाने मातीचीं व वस्त्रावर काढलेलीं चित्रे, नाणीं, काष्ठ, पाषाण इत्यादिकांवर कोरलेलीं प्राण्यांचीं चित्रे फोडून, फाडून किंवा पुसून नाश करूं नयेत. परमार्थ तर राहूंदेच. पण, व्यवहारांतमुद्धां असले काम करणारांस लोक निंदितात.

परदारव्यसनदोषनिषेधार्थमाह—

आतां, परस्त्रीव्यसनत्याग व्रताचे अतिचार टाळण्यास सांगतात.

कन्यादूषणगान्धर्व- ।

विवाहादि विवर्जयेत् ॥

परस्त्रीव्यसनत्याग- ।

व्रतशुद्धिविधित्सया ॥ २३ ॥

टीका—विवर्जयेत् । कोऽसौ परदारवर्जी । किं तत् कन्ये-  
त्यादि कन्यादूषणं कुमार्या अभिगमनं स्वविवाहनार्थं दोषोद्भा-  
वनं वा । गान्धर्वविवाहो यो मातुः पितुर्बन्धूनां चाप्रामाण्यात्परस्प-  
रानुरागेण मिथः समवायाद्वधूवराभ्यां क्रियते । आदिशब्देन हर-  
विवाहो हरणादि । कया परस्य स्त्री परस्त्री तत्र तदेव वा व्यसनं  
तस्य त्यागः स एव व्रतं तस्य शुद्धिर्निर्दोषता तत्र विधित्सा  
कर्तुमिच्छा तया ॥

अर्थः—परस्त्रीव्यसनाचा त्याग नावाचें व्रत शुद्ध ठेव-  
ण्याकरितां, कुमारीशीं गमन करूं नये, गान्धर्व ( गुरुजनांस  
न कळवितां एकमेकांच्या संमतीनें ) विवाह करूं नये; व  
दुसऱ्याची मुलगी बलात्कारानें आणणें किंवा पैसे देऊन  
आपला विवाह करणें ह्या गोष्टी करूं नयेत.

मद्यमांसव्यसननिवृत्त्योस्त्वतीचाराः प्रागेवोक्ताः । इदानीं यतो  
लोकद्वयविरुद्धबुद्ध्या आत्मना विरतिः क्रियते परस्मिन्नपि तत्प्र-  
योगं तद्व्रतविशुद्ध्यर्थं न विदध्यादित्यनुशास्ति—

सप्तव्यसनांपैकीं मद्य व मांस यांचे अतिचार पूर्वीं  
सांगितले आहेतच. आतां, वरील सर्व व्रतांच्या विशुद्धी-  
करितां एक विशेष नियम सांगतात.

व्रत्यते यदिहामुत्रा- ।

प्यपायावद्यकृत्स्वयम् ॥

तत्परेऽपि प्रयोक्तव्यं ।

नैव तद्व्रतशुद्धये ॥ २४ ॥

टीका—व्रत्यते संकल्पपूर्वं प्रत्याख्यायते । किं तत् यत् वस्तु । किंविशिष्टं अपायावद्यकृत् अपायोऽभ्युदयनिःश्रेयसभ्रंशनोपायः । अवद्यं गह्वं अपायश्चावद्यं चापायावद्ये ते करोति तत् । क इहा-स्मिञ्जन्मनि । तथाऽमुत्र परजन्मनि । केन व्रत्यते स्वयं आत्मना । तत् व्रतविषयीकृतं वस्तु । नैव प्रयोक्तव्यं प्रयोज्यं । क परेऽपि आत्मनीव पुरुषान्तरेऽपि । कस्यै व्रतशुद्धये प्रकृतव्रतनिर्मलीकर-णार्थम् ॥

अर्थः—इहलोकीं व तसेंच परलोकींही अपाय (सुखाचा नाश) करणारी व निंद्य अशी जी वस्तू आपण सोडून देतो, ती अन्य पुरुषासहि आपण होऊन उपयोगास देवू नये. ह्यणजे त्यायोगानें आपण त्या वस्तूविषयीं केलेलें व्रत शुद्ध असतें.

एवं प्रतिपन्नदर्शनप्रतिमस्य श्रावकस्य स्वप्रतिज्ञानिर्वाहार्थमु-त्तरेण प्रबन्धेन शिक्षां प्रयच्छन्नाह—

याप्रमाणे व्रते पाळून ज्याला दर्शन प्रतिमा प्राप्त झाली आहे अशा श्रावकाला त्याच्या प्रतिज्ञांच्या निर्वाहाकरितां पुढील श्लोकांत उपदेश करितात.

पंचुम्बरसहियाइं सत्तइ वसणाइ जो विवज्जेइ ॥

सम्मत्तविसुद्धमई सो दंसणसावयो भाणियो ॥ २ ॥

अर्थः—पांच प्रकारचीं उदुंबराचीं फळे व सात व्यसनें हीं सोडून देऊन, ज्याची बुद्धि सम्यक्त्वानें शुद्ध झाली आहे तो दर्शनप्रतिमाधारी श्रावक होय असें सांगितलें आहे.

अनारम्भवधं मुञ्चेत् ।

चरेन्नारम्भमुध्दुरम् ॥

स्वाचारप्रतिलोम्येन ।

लोकाचारं प्रमाणयेत् ॥ २५ ॥

टीका—मुञ्चेत् त्यजेत् । दर्शनिकः । कं अनारम्भवधं तपः-  
संयमादिसाधनतनुस्थित्यर्थायाः कृष्णादिक्रियाया अन्यत्र प्राणि-  
हिंसां । एतेन यदुक्तं स्वामिसमन्तभद्रदेवैर्दर्शनिकस्तत्त्वपथगृह्य इति  
दर्शनप्रतिमालक्षणं तदपि संगृहीतं । तथाविधहिंसाविरतिविध्युप-  
देशेन पञ्चाणुव्रतानुसरणविधानोपदेशात् । तथा न चरेत् न कुर्यात् ।  
कमारम्भं कृष्यादिकं किंविशिष्टं उध्दुरं आत्मनिर्वाह्यभरं । परेण  
हि कृष्यादिक्रियां कारयतो द्वन्द्वलाघवान्न तादृशी प्रतिज्ञातधर्म-  
कर्मानुष्ठाने गृहिणो विहस्तता भवति यादृशी तामात्मना कुर्वतः  
सा स्यात् द्वन्द्ववर्तविवर्तनात् । तथा प्रमाणयेत् प्रमाणं कुर्यात् न  
विसंवादयेदित्यर्थः । कं लोकाचारं स्वामिसेवाक्रयविक्रयादिकं । केन  
स्वाचाराप्रातिलोम्येन आत्मप्रतिपन्नव्रतानुष्ठानानुपघातेन ॥

अर्थः—तपश्चरण व संयम इत्यादिकांचें साधन जो  
आपला देह त्याच्या रक्षणाकरितां अवश्य तितक्या कृषि  
वगैरें क्रियेशिवाय अन्यत्र प्राणिहिंसा करूं नये. स्वदेह-  
रक्षणास पुरेल इतक्यापेक्षां अधिक आरंभ ( कृषि वगैरे  
उद्योग ) स्वतां आचरूं नयेत. कारण, तेणेंकरून परिग्रह  
अधिक वाढून आपल्या व्रतानुष्ठानास अडचण पडते. फार  
तर दुसऱ्याकडून करवावेत. आपण स्वीकारलेल्या व्रताचा  
भंग न होईल अशा रीतीने लोकाचार ( मालकाची सेवा,  
क्रय, विक्रय वगैरे ) पाळावा.

धर्मे पत्न्याः सुतरां व्युत्पादनविधिमुपदिशति—

व्युत्पादयेत्तरां धर्मे ।

पत्नीं प्रेम परं नयन् ॥

सा हि मुग्धा विरुद्धा वा ।

धर्माद् भ्रंशयते तराम् ॥ २६ ॥

टीका—व्युत्पादयेत् तरां । अर्थादिव्युत्पाद्यात् धर्मेऽतिशयेन व्युत्पन्नां कुर्यात् । अथवा धर्मविषये सर्वमपि परिवारं च पत्नीं च व्युत्पादयन् पत्नीं ततोऽतिशयेन तत्र व्युत्पादयेदिति व्याख्येयं । कोऽसौ दर्शनिकः । कां पत्नीं भार्या । क धर्मे । किं कुर्वन्नयन् प्रापयन् । कां पत्नीं । किं तत् प्रेम स्वस्मिन् धर्मे च स्नेहं । किंविशिष्टं परमुत्कृष्टं । हि यस्मात् भ्रंशयते तरां परिवारा(दा)दतिशयेन प्रच्यावयति । काऽसौ सा पत्नी । कं पुरुषं । कस्मात् धर्मात् । किंविशिष्टा सती मुग्धा धर्मे मूढा धर्ममजानन्तीत्यर्थः । तथा विरुद्धा पुंसि धर्मे वा द्वेषिणीत्यर्थः । इदमत्र तात्पर्यं धर्ममजानानो विरक्तश्च परिजनो नरं धर्मात्प्रच्यावयति । ततोऽप्यतिशयेन तादृग्विधा गृहिणी । तदधीनत्वाद्गृहिणो धर्मकार्याणाम् ॥

अर्थः—आपल्या स्त्रीशीं स्नेहानें वागून तिला धर्ममार्गानें चालण्यास निपुण करावें. कारण, ती जर धर्माची अजाणती असेल व आपलें प्रेम नसल्यामुळें विरुद्ध होईल; तर आपणास धर्मापासून भ्रष्ट व्हावें लागेल.

प्रेम परं नयन्नित्यस्य समर्थनार्थमाह—

आतां, स्त्रियांच्या विरोधाचें कारण सांगतात.

स्त्रीणां पत्युरुपेक्षैव ।

परं वैरस्यका-रणम् ॥

तन्नोपेक्षेत जातु स्त्रीं ।

वाञ्छन् लोकद्वये हितम् ॥ २७ ॥

टीका—भवति । किं तत् वैरस्यकारणं वैरस्यस्य विरागताया हेतुः । अथवा वैरस्य विरोधस्य कारणं । किंविशिष्टं परमुत्कृष्टं । कासां स्त्रीणां । किं तत् उपेक्षैव अनादरो न तु वैरूप्यनिर्धनत्वादि । कस्य पत्युर्भर्तुः । यत एवं तत्तस्मात् । नोपेक्षेत नोपेक्षणीयत्वेन पश्येत् । कोऽसौ पुमान् । कां स्त्रीं स्त्रियं । कदा जातु कदाचिदपि धर्माद्यनुष्ठानकाले । किं कुर्वन् वाञ्छन् अभिलषन् । किं तत् हितं सुखं सुखकारणं च । क लोकद्वयेऽपि इहलोके परलोके च ॥

अर्थः—पतीनें स्त्रियांचा अनादर करणें हेंच त्यांच्या अप्रीतीचें किंवा विरोधाचें कारण होय, पति कुरूप किंवा निर्धन असणें हें कांहीं कारण नव्हे. ह्मणून, इहलोकीं व परलोकीं हित इच्छिणारानें केव्हांही स्त्रीची उपेक्षा करूं नये. तिच्याशीं स्नेहानें वागावें.

कुलस्त्रियाऽपि धर्मादिकमिच्छन्त्या भर्तृच्छन्दानुवृत्तिरेव कर्तव्येति प्रासङ्गिकीं स्त्रियाः शिक्षां प्रयच्छान्नाह—

आतां, स्त्रीनें पतीशीं कसें वागावें हें सांगतात.

नित्यं भर्तृमनीभूय ।

वर्तितव्यं कुलस्त्रिया ॥

धर्मश्रीशर्मकीर्त्येक- ।

केतनं हि पतिव्रताः ॥ २८ ॥

टीका—वर्तितव्यं मनोवाक्यायकर्मभिराचरितव्यं । कथा कुल-

स्त्रिया कुलीननार्या । किं कृत्वा भर्तृमनीभूय अभर्तृमना भर्तृमना भूत्वा पतिचित्तानुवर्तनेनैव चिन्त्यं वाच्यं चेष्टितव्यं च । कथं नित्यं सर्वदा । हि यस्मात् । भवन्ति । काः पतिव्रताः पतिसेवैव व्रतं प्रतिज्ञा शुभकर्मप्रवृत्तिर्वा यासां ता इत्यर्थः । किं भवति धर्मे-  
त्यादि—धर्मस्य पुण्यस्य श्रियो विभूतेर्भारत्याश्च शर्मण आनन्दस्य कीर्तेर्यशसः एकमुत्कृष्टमव्यभिचारि केतनं गृहं ध्वजो वा यास्ताः धर्मश्रीशर्मकीर्त्येककेतनं । नित्यं धर्मादिमत्यो धर्मादिविरूपाता वा इत्यर्थः ॥

अर्थः—कुलस्त्रीनें सर्वदां पतीच्या मनास अनुसरून वागावें, त्याच्या आज्ञेत असावें. अशी वागणारी जी स्त्री तीच पतिव्रता होय. आणि धर्म, लक्ष्मी, सुख व कीर्ति इत्यादिकांचें माहेर कोणतें ह्यणाल तर पतिव्रता स्त्रियाच होत.

धर्माद्यर्थिनः कुलस्त्रियामप्यत्यासक्तिं निषेधयन्नाह—

आतां, पुरुषानें परिमित कामसेवन करावें हें सांगतात.

भजेद्देहमनस्ताप- ।

शमान्तं स्त्रियमन्नवत् ॥

क्षीयन्ते खलु धर्मार्थ- ।

कायास्तदतिसेवया ॥ २९ ॥

टीका—भजेत् सेवेत । कोऽसौ त्रैवर्णिकः विशेषणाद्दर्शनिकः श्रावकः । कां स्त्रियं । कथं यथा भवति देहमनस्तापशमान्तं शरीरमनसोः सन्तापोपशमो यथा भवति न पुनरत्यासक्त्या । किंवत् अन्नवत् भोजनं यथा । खलु यस्मात् । क्षीयन्ते क्षयं यान्ति । के धर्मार्थकायाः धर्मो धनं शरीरं च त्रीण्यपि । कया तदतिसेवया अन्नस्येव स्त्रिया अप्यतिमात्रोपयोगेन ॥



अर्थः—स्वतांची धर्मपत्नी झाली तरी तिच्या ठायी अधिक आसक्ति न ठेवितां, देहाचा व मनाचा ताप शांत व्हावा इतक्याच प्रमाणानें अन्नाप्रमाणें तिचें सेवन करावें. अधिक सेवन केल्यास धर्म, अर्थ व देह यांचा नाश होतो.

पुत्रस्योत्पादनादिप्रयत्नविधिमाह—

आतां, सत्पुत्राची आवश्यकता दाखवितात.

पुत्रोत्पादनाविधिस्त्वयमष्टाङ्गहृदयोक्तः —

पूर्णषोडशवर्षा स्त्री पूर्णविंशेन सङ्गता ॥

शुद्धे गर्भाशये मार्गे रक्ते शुक्रेऽनिले हृदि ॥ १ ॥

वीर्यवन्तं सुतं सूते ततो न्यूनाब्दयोः पुनः ॥

रोग्यल्पायुरधन्यो वा गर्भो भवति नैव वा ॥ २ ॥

शुक्रं शुक्रं गुरु स्निग्धं मधुरं बहुलं बहु ॥

घृतमाक्षिकतैलाभं सद्गर्भायार्त्तवं पुनः ॥ ३ ॥

लाक्षारसशशास्त्राभं धौतं यच्च विरज्यते ॥

शुद्धशुक्रार्त्तवं स्वस्थं संरक्तं मिथुनं मिथः ॥ ४ ॥

स्नेहैः पुंसवनैः स्निग्धं शुद्धं शीलितवास्तिकम् ॥

नरं विशेषात्क्षीराद्यैर्मधुरौषधसंस्कृतैः ॥ ५ ॥

नारीं तैलेन माषैश्च पित्तलैः समुपाचरेत् ॥

क्षामप्रसन्नवदनां स्फुरच्छोणिपयोधराम् ॥ ६ ॥

सस्ताक्षिकुक्षिं पुंस्कामां विद्यादृतुमतीं स्त्रियम् ॥

पदं सङ्कोचमायाति दिनेऽतीते यथा तथा ॥ ७ ॥

ऋतावतीते योनिः स्याच्छुक्रं नातः प्रतीच्छति ॥

मासेनोपचितं रक्तं दमनिभ्यामृतौ पुनः ॥ ८ ॥

ईषत्कृष्णं विगन्धं च वायुर्योनिमुत्स्रानुदेत् ॥

प्रयतेत सधर्मिण्या- ।

मुत्पादयितुमात्मजम् ॥

व्युत्पादयितुमाचारे ।

स्ववत् त्रातुमथापथात् ॥ ३० ॥

ततः पक्षेक्षणादेव कल्याणध्यायिनी ज्यहम् ॥ ९ ॥

सजालङ्काररहिता दर्भसंस्तरशायिनी ॥

क्षैरेयं यावकं स्तोकं कोष्ठशोधनकर्शनम् ॥ १० ॥

पर्णे शरावे हस्ते वा भुञ्जीत ब्रह्मचारिणी ॥

चतुर्थेऽहि ततः स्नाता शुक्लमाल्याम्बरा शुचिः ॥ ११ ॥

इच्छन्ती भर्त्तसदृशं पुत्रं पश्येत्पुरः पतिम् ॥

ऋतुस्तु द्वादशानिशाः पूर्वास्तिस्रोऽथ निन्दिताः ॥ १२ ॥

एकादशी च युग्मासु स्यात्पुत्रोऽन्यासु कन्यका ॥ १३ ॥

पुत्र उत्पन्न करण्याचा प्रकार वाग्भटांनी आपल्या अष्टांगहृदय नामक ग्रंथांत सांगितला आहे; तो असा—

जिला सोळा वर्षे पूर्ण झाली आहेत अशी स्त्री जर गर्भाशय, गर्भाचा मार्ग, रक्त, शुक्र, कोठ्यांतील वायु आणि मन ही शुद्ध असतांना— ज्याला वीस वर्षे पूर्ण झाली आहेत अशा पुरुषाशी समागम करील ॥ १ ॥ तर ती वीर्यवान् अशा पुत्राला प्रसवते. आणि वर जें स्त्रीपुरुषांचें वयोमान सांगितलें आहे, त्यापेक्षां जर त्यांचें वयोमान कमी असेल, तर त्यांच्या समागमानें जो गर्भ उत्पन्न होतो, तो रोगी, अल्पायु आणि पापी अर्थात् असमर्थ असा होतो. किंवा अशांच्या समागमानें गर्भच उत्पन्न होत नाहीं. ॥ २ ॥ पुरुषांचें शुक्र जर शुभ्रवर्ण, जड, स्निग्ध ( बुळबुळीत ),

टीका— प्रयतेत परमादरं कुर्यात् । कोऽसौ दर्शनिकः । किं कर्तुमुत्पादयितुं जनयितुं । कमात्मजमौरसं पुत्रं । क्षेत्रजाद्येकादशपुत्राणामनभ्युपगमात् । कस्यां सधर्मिण्यां समानो धर्मो अस्यामस्तीति नित्ययोगे इन् कुलस्त्रियामित्यर्थः । अत्रात्मनो जात आत्मज इत्यन्वर्थतासिद्ध्यर्थं कुलस्त्रीरक्षायां नित्यं यतितव्यमिति प्रतिपत्तव्यं । तथा प्रयतेत । कोऽसौ सः । किं कर्तुं व्युत्पादयितुं विविधमुत्कृष्टं ज्ञानं प्रापयितुं । कमात्मजं । क आचारे कुललोकसंव्यवहारे । किंवत् स्ववत् आत्मना तुल्यं । तथा प्रयतेतासौ । किं कर्तुं त्रातुं रक्षितुं निर्वर्तयितुमित्यर्थः । कमात्मजं । कस्मादपथात् धर्मादिभ्रंशनोपायात् दुराचारादित्यर्थः । स्ववदित्यत्रापि योज्यं । अथशब्दः समुच्चये ॥

मधुर आणि विपुल असें असून तुपासारखें असेल, तरच तें उत्तम गर्भ उत्पन्न करण्यास कारणीभूत होतें. आणि आर्तव ( स्त्रीचें रक्त ) ॥ ३ ॥ निवळलेल्या लाखेसारखें किंवा सशाच्या रक्तासारखें असून तें वस्त्राला लागलें असतां धुतल्यानें वस्त्राला ज्याचा डाग रहात नाही असें असेल तर, तें उत्तम गर्भ उत्पन्न करणारें होतें. अशा प्रकारें ज्याचें शुक्रशोणित शुद्ध आहे असें जें दंपत्य असेल तें नारोग असून परस्परांवर प्रेम करणारें असलें पाहिजे. ॥ ४ ॥ त्या दंपत्यानें, पुरुषगर्भ उत्पन्न करणारे म्हणून वैद्यशास्त्रांत जे स्निग्ध पदार्थ ( औषधांचा संस्कार केलेले तूप वगैरे पदार्थ ) सांगितले आहेत, ते भक्षण करून कोठा नेहमीं स्निग्ध ठेवावा. द वरचेवर बस्तिप्रयोग ( इनिमा ) करून कोठा शुद्ध ठेवावा. त्यांत पुरुषाला मधुर औषधांचा संस्कार केलेले दूध, तूप हे पदार्थ घावेत. ॥ ५ ॥ आणि स्त्रीला तेल, उडीद वगैरे पित्तकर पदार्थ भक्षणास घावेत. ज्यावेळीं स्त्रीचें मुख सुकलेलें पण स्वच्छ दिसत असेल,

अर्थः—आपल्या स्त्रीच्या ठिकाणीं पुत्र उत्पन्न व्हावा ह्मणून यत्न करावा, आणि आपणाप्रमाणेंच त्यानेंही धर्माचरणांत निपुण व्हावें, व दुराचारी न व्हावें, ह्मणूनही यत्न करावा. ह्मणजे त्याला तसें शिक्षण द्यावें. कारण,

आणि तिच्या कमरेचा मागचा भाग व स्तन स्फुरण पावत असतील ॥६॥ व तिचे नेत्र व उदर गळल्यासारखें होऊन तिला पुरुषसमागमाची इच्छा होत असेल त्या वेळीं तिला ऋतुमती असें समजावें. ज्याप्रमाणें सूर्य अस्ताला जाऊं लागला ह्मणजे कमल संकुचित होऊं लागतें ॥७॥ त्याप्रमाणें स्त्रीचा ऋतुकाल संपूं लागला ह्मणजे तिचें जननेंद्रिय संकुचित होऊं लागतें. आणि मग तें शुक्रग्रहण करीनासें होतें. एक महिन्यांत स्त्रीच्या गर्भाशयांत जें रक्त संचित होतें, तें रक्त कोठ्यांतील वायु-दोन धमनींच्या द्वारानें—तिच्या जननेंद्रियाच्या मार्गानें ऋतुकालीं पुनः बाहेर फेंकून देतो. तें रक्त थोडेसें काळसर असून दुर्गंध-रहित असतें. ह्याप्रमाणें जी स्त्री ऋतुमती झाली असेल तिनें तीन दिवस कोणतेहि वाईट विचार मनांत आणूं नयेत. ॥८॥९॥ तिनें तीन दिवस स्नान करूं नये, व अलंकारहि धारण करूं नयेत. तिनें दर्भाच्या शय्येवर शयन करावें. तिनें कोठा शुद्ध करणारें व त्यांतील मल काढून टाकणारें असें दुधांत शिजविलेलें सातूंचें पीठ पानावर अथवा मातीच्या भांड्यांत किंवा हातावर घेऊन फारच थोडें भक्षण करावें. तिनें त्या तीन दिवसांत पुरुषसमागम करूं नये. मग चवथ्या दिवशीं स्नान करून शुद्ध होऊन शुभ्रवस्त्र परिधान करावें. व शुभ्रपुष्पांच्या माला धारण कराव्यात. मग आपल्या पतीसारखा पुत्र आपल्याला व्हावा अशा इच्छेनें पतीचें मुखावलोकन करावें. स्त्रीचा

सत्पुत्ररहितेन श्रावकेणोत्तरपदं प्रति प्रोत्साहो दुष्करः स्यादिति  
दृष्टान्तेनोपष्टम्भयन्नाचष्टे—

विना सुपुत्रं कुत्र स्वं ।

न्यस्य भारं निराकुलः ॥

गृही सुशिष्यं गणिवत् ।

प्रोत्सहेत परे पदे ॥ ३१ ॥

टीका— कुत्र कस्मिन् पुंसि । स्वमात्मीयं । भारं पोष्यादि-  
निर्वाहभरं । न्यस्य स्थापयित्वा । निराकुलो निर्द्वन्द्वः सन् ।  
प्रोत्सहेत प्रकृष्टमुद्योगं कुर्यात् न कापीत्यर्थः । कौऽसौ गृही  
प्रकृतत्वादर्शनिकः । क पदे संयमस्थाने । किंविशिष्टे परे  
व्रतिकप्रतिमायां वानप्रस्थाद्याश्रमे वा । कथं विना अन्तरेण ।  
कं सुपुत्रं आत्मसमानमात्मजं । किवत् गणिवत् धर्माचार्यो यथा ।  
कं सुशिष्यमात्मसमानमेवाचार्याद्विना । कुत्र श्रमणे । स्वं भारं  
सङ्घनिर्वाहलक्षणं । न्यस्य । निराकुलो निर्व्यापेक्षः सन् । परे  
आत्मसंस्कारादौ मोक्षपदे वा । प्रोत्सहेत न कापीत्यर्थः । इदम-  
त्रैदम्पर्यं— दर्शनिकेन धर्माचार्येण च परं पदमाश्रयितुमिच्छता  
सत्पुत्रः सच्छिष्यश्चात्मवन्निष्पादनीयः ॥

अर्थः—धर्माचार्य जसा संघपोषण करण्याचा आपला  
भार उत्तम शिष्यावर टाकून, मोकळ्या मनाचा होऊन उत्कृष्ट  
पद प्राप्त करून घेण्यास उद्योग करतो; त्याप्रमाणें हा दर्शनिक  
हा ऋतुकाल बारा रात्रीपर्यंत असतो. त्यांत पहिल्या तीन व  
अकरावी ह्या रात्री निंद्य आहेत. आणि राहिलेल्या रात्रीपैकीं  
समरात्रीं समागम केला असतां पुत्र होतो. व विषमरात्रीं समागम  
केला असतां कन्या होते.

गृहस्थ व्रतिकप्रतिमा किंवा वानप्रस्थ वगैरे आश्रम प्राप्त करून घेण्यास—सुपुत्र असल्याशिवाय कोणावर बरें भार टाकून मोकळ्या मनाचा होऊन—उद्योग करील? ह्मणून सुपुत्र असला पाहिजे.

प्रकृतमर्थमुपसंहरन् व्रतिकप्रतिमारोहणयोग्यतां सूत्रयन्नाह—

आतां, चालू विषयाचा उपसंहार करून; व्रतिकप्रति-  
मेस चढण्याची योग्यता सांगतात.

दर्शनप्रतिमामित्थ- ।

मारुह्य विषयेष्वरम् ॥

विरज्यन् सत्त्वसज्जः सन् ।

व्रती भवितुमर्हति ॥ ३२ ॥

टीका— अर्हति योग्यो भवति । कोऽसौ श्रावकः । किं कर्तुं भवितुं सम्पत्तुं । किंविशिष्टो व्रती व्रतिकप्रतिमावान् । किंविशिष्टः सन् सत्त्वसज्जः धैर्यादिसात्विकभावनिष्ठः । किं कुर्वन् विरज्यन् स्वयमेव विरक्तिं गच्छन् । केषु विषयेषु कामिन्यादिषु । कथमरं पाक्षिकापेक्षया स्वस्य च प्राक्तनावस्थापेक्षयाऽतिशयेन । किं कृत्वा आरुह्य पर्यन्तं प्राप्य । कां दर्शनप्रतिमां । कथं इत्थमनेन पाक्षिकाचारसंस्कारेत्यादिपूर्वोक्तप्रकारेणेति भद्रम् ॥

अर्थः—पाक्षिकावस्थेच्या अपेक्षेनें किंवा आपल्या पूर्वीच्या अवस्थेच्या अपेक्षेनें दर्शनप्रतिमेस पूर्णपणें चढून—विषयांच्या ठिकाणीं अत्यंत विरक्त झालेला व धैर्य वगैरे सात्विक भावानें युक्त असा झालेला जो श्रावक तो व्रती होण्यास ह्मणजे व्रतें स्वीकारण्यास योग्य होतो. इति भद्रम् ॥

इत्याशाधरविरचितायां स्वोपश्रधर्माश्रितसागारधर्मदीपिकायां

भव्यकुमुदचन्द्रिकासञ्ज्ञायामादितो द्वादशः प्रक्रमाच्च

तृतीयोऽध्यायः समाप्तः ॥

अध्याय तिसरा समाप्त.

॥ अथ चतुर्थोऽध्यायः ॥

अथ व्रतिकप्रतिमामध्यायत्रयेण प्रपञ्चयिष्यन् अश्वमेधं तावत्त-  
द्वक्षणं संगृह्णाह—

सम्पूर्णदृग्मूलगुणो ।

निःशल्यः साम्यकाम्यः ॥

धारयन्नुत्तरगुणा- ।

नक्षूणान् व्रतिको भवेत् ॥ १ ॥

टीका—भवेत् । कोऽसौ व्रतिकः । किं कुर्वन् धारयन् अकृच्छ्रेण  
दधन् । कान् उत्तरगुणान् वक्ष्यमाणान् । किंविशिष्टान् अक्षूणान्  
निरतिचारान् । कया साम्यकाम्यया इष्टानिष्टयो रागद्वेषोपरम-  
वाञ्छया न पुनर्लाभादीच्छया । किंविशिष्टः सन् सम्पूर्णदृग्मूलगुणः  
सम्पूर्णा उपयोगमात्राश्रयेणान्तरङ्गेण चेष्टामात्राश्रयेण च बहिरङ्गे-  
णातिचारेण रहितत्वादस्वण्डा दृक् सम्यक्त्वं मूलगुणाश्च यस्य स  
तथोक्तः । पुनः किंविशिष्टः निःशल्यः शृणाति हिनस्तीति शल्यं  
शरीरानुप्रवेशिकाण्डादि, शल्यमिव शल्यं कर्मोदयविकारः शारी-  
रमानसबाधाहेतुत्वात् । तत् त्रिविधं मिथ्यात्वगायानिदानभेदात् ।  
मिथ्यात्वं विपरीताभिनिवेशः । माया वञ्चना । निदानं तपःसंय-  
माद्यनुभावेन कांक्षाविशेषः । शल्यान्निष्क्रान्तो निःशल्यः ॥ ननु च  
सम्पूर्णदृग्मूलगुण इत्यनेनैव शल्यपरिहारस्य सिद्धत्वात् व्यर्थमि-

दमिति चेत्सत्यं । किन्त्वचिरप्रतिपन्नव्रतस्य पूर्वविभ्रमसंस्कारारो-  
प्यमाणतत्परिणामानुसरणनिवारणार्थं भूयो यत्नः क्रियते । उप-  
देशे च पौनरुक्त्यं न दोषः ॥

अर्थः—ज्याचें सम्यक्त्व पूर्ण ह्मणजे अखंड अर्थात्  
निर्दोष आहे आणि मद्याविरति वगैरे मूल गुण अखंड  
आहेत; व मिथ्यात्व, माया ( वंचना, कपट ) आणि  
निदान ( करीत असलेल्या तपश्चरणादिकाचें अमुक एक

१ तपःसंयमाद्यनुभावेन कांक्षाविशेषो निदानम् । तत् द्वेषा  
प्रशस्तेतरभेदात् । प्रशस्तं पुनर्द्विविधम् । विमुक्तिसंसारनिमित्तभेदात्  
तत्र विमुक्तिनिमित्तं कर्मक्षयाद्याकाङ्क्षा ॥ उक्तं च—

तपश्चरण, संयम इत्यादिकाच्या प्रभावाच्या योगानें कोणत्या  
तरी इष्टफलाची इच्छा करणें याचें नांव निदान. तें दोन  
प्रकारचें आहे; एक प्रशस्त दुसरें अप्रशस्त. त्यांतही प्रशस्त  
दोन प्रकारचें आहे; एक मुक्तीला कारण, दुसरें संसाराला  
कारण. कर्मक्षयाची आकांक्षा करणें हें विमुक्तिनिमित्त ( मुक्तीला  
कारण ) प्रशस्त नांवाचें निदान होय. याविषयीं उक्तश्लोक  
आहे तो असा—

कर्मव्यपायं भवदुःखहानिं । बोधिं समाधिं जिनबोधसिद्धिम् ॥

आकांक्षितं क्षीणकषायवृत्तेर्विमुक्तिहेतुः कथितं निदानम् ॥१॥

अर्थ—ज्याचे कषाय ह्मणजे क्रोध, मान, माया लोभ हे क्षीण  
झाले आहेत अशा पुरुषानें; कर्माचा नाश, संसारदुःखाची हानि,  
बोध, समाधि आणि केवलज्ञानाची सिद्धि व्हावी अशी इच्छा  
धरणें याला विमुक्तिनिमित्त नांवाचें निदान ह्मणतात.

जिनधर्मसिद्धयर्थं तु जात्याद्याकाङ्क्षणं संसारनिमित्तम् ॥



फल प्राप्त व्हावें अशी इच्छा ) हीं तीन शक्यें ज्याला नाहींत अथवा ज्यानें नाहींशीं केलीं आहेत; आणि राग

जिनधर्मसिद्धीकरितां उत्तमजाति वगैरेची इच्छा करणें याला संसारनिमित्तनिदान ह्मणतात.

जातिं कुलं बन्धविवर्जितत्वं दरिद्रतां वा जिनधर्मसिद्धयै ॥

प्रवाचमानस्य विशुद्धवृत्तेः संसारहेतुर्गदितं निदानम् ॥२॥

अर्थः—उत्तमजाती, उत्तमकुल, बंधापासून मुक्ति व जिनधर्म-सिद्धीकरितां दारिद्र्य ह्यांची विशुद्धवृत्तीच्या मनुष्याला जी इच्छा होते ती संसारनिमित्तनिदान असें समजावें. तसेंच अप्रशस्त निदानही “ भोगार्थनिदान आणि मानार्थनिदान ” असें दोन प्रकारचे आहेत. घातकत्वनिदानाचा मानार्थनिदानामध्ये अंतर्भाव होत असल्यामुळे तें निराळे मानण्याचें कारण नाहीं. आतां या वर सांगितलेल्या निदानापैकी ‘ विमुक्तिनिदान ’ हें पहिल्या प्रतिमेमध्ये असलेल्या जीवास उपकारक आहे, परंतु पुढील तीन निदानें ( संसारहेतुनिदान, भोगार्थनिदान आणि मानार्थनिदान हीं साक्षात् व परंपरेनें जन्ममरण दुःखाला कारणीभूत असल्यानें केव्हांही बरीं नव्हेत. कारण—

मोक्षेऽपि मोहादभिलाषदोषो विशेषतो मोक्षनिषेधकारी ॥

यतस्ततोऽध्यात्मरतो मुमुक्षुर्भवेत्किमन्यत्र कृताभिलाषः ॥ ३ ॥

अर्थः—मोहामुळे मोक्षाविषयीही जरी एखाद्यास अभिलाष उत्पन्न झाला तर निश्चयानें तो अभिलाषी जीव मोक्षापासून भ्रष्ट होतो, म्हणून मुमुक्षु जीवानें निरंतर अध्यात्मरत असावें. दुसऱ्या कशाचाही अभिलाष करणें बरें नाहीं; असें सांगितलें आहे. याप्रमाणें वर सांगितलेल्या शक्यत्रयापासून जो निघून गेला

व द्वेष हे विकार नाहींसे व्हावेत अशा बुद्धीनें अतिचारराहित असे उत्तरगुण ( अहिंसा वगैरे व्रतें ) जो धारण करीत आहे तो व्रतिक होय.

शल्यत्रयोद्धरणे हेतुमाह—

आतां ; तीन शल्यें काढून टाकण्याचा हेतु सांगतात.

सागारो वाऽनगारो वा ।

यन्निःशल्यो व्रतीष्यते ॥

तच्छल्यवत्कुटुम्बाया- ।

निदानान्युद्धरेद्धृदः ॥ २ ॥

टीका—यद्यस्मात्कारणात् । इष्यते । कोऽसौ व्रती । किंवि-  
शिष्टो निःशल्यः । किंविशिष्टः सन् सागारो वा अनगारो वा ।  
अत्रेयं भावना— शल्यापगमे सत्येव व्रतसम्बन्धाद्धृती मन्यते ।  
न हिंसाद्युपरतिमात्रव्रतसम्बन्धात् । यथा बहुक्षीरघृतो गोमानिति  
व्यपदिश्यते । बहुक्षीरघृताभावात् सतीष्वपि गोषु न गोमान् ।  
तथा सशल्यत्वात् सत्स्वपि व्रतेषु न व्रती । यस्तु निःशल्यः स  
व्रतीति । तत्तस्मात् । उद्धरेत् निष्कासयेत् । कोऽसौ व्रतार्थी । कानि

( शल्यत्रयानें रहित झाला ) तो निःशल्य समजावा.

उक्तंच चारित्रसारे—

वधादसत्याच्चौर्याच्च कामाद्गन्थान्निवर्त्तनम् ॥

पञ्चधाऽणुव्रतं राज्यभुक्तिः षष्ठमणुव्रतम् ॥ ४ ॥

अर्थः—हिंसा, लबाडी, चोरी, मैथुन आणि परिग्रह ह्यांचा  
त्याग करणें हीं पांच अणुव्रतें आहेत, आणि रात्री न जेवणें हें  
सहावें अणुव्रत आहे.

कुट्टब्जायानिदानानि । कस्मात् हृदो हृदयात् । किंवत् शल्यवत्  
शल्यानि यथा ॥

अर्थः—गृहस्थ असो कीं यति असो, जो शल्यरहित  
असेल तोच व्रती समजावा. येथे असें समजावयाचें कीं,  
शल्य नाहीसें झाल्यावरच व्रतांच्या संबंधानें मनुष्य व्रती  
ह्मटला जातो. अंतःकरणांत शल्य असून अहिंसा वगैरे  
व्रतें पाळण्यानेंच त्याला व्रती ह्मणतां येणार नाहीं.  
जसें— ज्याच्या येथें दूध आणि तूप यांची समृद्धि आहे  
त्याला गोमान् ( गायीवाला ) ह्मणतात. आणि पुष्कळ  
गायी असूनहि जर दूधतूप नाहीं, तर त्याला गोमान्  
ह्मणत नाहींत. त्याप्रमाणें जो शल्यरहित आहे तो हिंसादि  
पातकें करीत नसला तरी त्याला व्रती ह्मणतां येणार  
नाहीं. तर जो निःशल्य आहे तोच व्रती होय. ह्मणून  
अंगांत बोंचणारा कांटा जसा आपण काढून टाकितों  
त्याप्रमाणें व्रतार्थी मनुष्यानें मिथ्यात्व माया आणि निदान  
हीं तीन्ही शल्यें हृदयांतून काढून टाकावीं.

शल्यसहचारीणि व्रतानि धिक्कुर्वन्नाह—

आतां, शल्यसहित व्रतांस धिक्कारतात.

आभान्त्यसत्यदृग्भाया- ।

निदानैः साहचर्यतः ॥

यान्यव्रतानि व्रतवत् ।

दुःखोदकाणि तानि धिक् ॥ ३ ॥

टीका—धिक् निन्द्यानि । कानि तानि अव्रतानि व्रताभासानि ।  
किंविशिष्टानि दुःखोदकाणि यतः दुःखमुदकं उत्तरफलं येषां तानि ।  
यानि किं यानि आभान्ति आभासन्ते । कानि अव्रतानि ।

किंवत् व्रतवत् व्रतानि यथा । कस्मात् साहचर्यतः सहचारित्वात् ।  
कैः असत्यदृशा मिथ्यात्वेन मायया निदानेन च ॥

अर्थः—असत्यदृक् ह्यणजे विपरीतश्रद्धान् अर्थात्  
मिथ्यात्व, माया आणि निदान यांसह असलेलीं जीं  
अव्रतें व्रताप्रमाणें भासतात तीं परलोकीं दुःख देणारीं  
आहेत. त्याचा धिक्कार असो !

उत्तरगुणनिर्णयार्थमाह—

आतां, उत्तरगुण सांगतात.

पञ्चधाऽणुव्रतं त्रेधा ।

गुणव्रतमगारिणाम् ॥

शिक्षाव्रतं चतुर्थेति ।

गुणाः स्युर्द्वादशोत्तरे ॥ ४ ॥

टीका—स्युः भवेयुः । के गुणाः संयमविकल्पाः । केषामगा-  
रिणां गृहिणां । किंविशिष्टाः उत्तरे मूलगुणानन्तरसेव्यत्वादुत्कृष्ट-  
त्वाच्च । कति द्वादश । कथमित्यनेन प्रकारेण । भवति । किं तत्  
अणुव्रतं अणुव्रतापेक्षया लघुव्रतमहिंसादि । कतिधा पञ्चधा अस्य  
पञ्चधात्वं बहुमतत्वादिष्यते । कचित्तु राज्यभोजनमप्यणुव्रतमुच्यते ।  
तथा भवति । किं तद्रुणव्रतं । कतिधा त्रेधा । गुणार्थमणुव्रताना-  
मुपकारार्थं व्रतं गुणव्रतं दिग्विरत्यादीनामणुव्रतानुबृंहणार्थत्वात् ।  
तथा भवति । किं तत् शिक्षाव्रतं । कतिधा चतुर्धा शिक्षायै  
अभ्यासाय व्रतं देशावकाशिकादीनां प्रतिदिवसाभ्यसनीयत्वात् ।  
अत एव गुणव्रतादस्य भेदः । गुणव्रतं हि प्रायो यावज्जीविक-  
माहुः । अथवा शिक्षाविद्योपादानं शिक्षाप्रधानं व्रतं शिक्षाव्रतं ।  
देशावकाशिकादेर्विशिष्टश्रुतज्ञानभावनापरिणतत्वेनैव निर्वाह्यत्वात् ॥

अर्थः—पांच अणुव्रतें तीन गुणव्रतें आणि चार शिक्षाव्रतें मिळून हीं बारा व्रतें गृहस्थांचे उत्तरगुण होत. मद्यविरति वगैरे आठ गुण प्रथम धारण करूनच हीं व्रतें धारण करावयाचीं असतात; ह्मणून यांना “ उत्तरगुण ” ह्मणतात. महाव्रतांच्या अपेक्षेनें लघु असणारीं तीं अणुव्रतें होत. हीं पांचच आहेत असें बहुमत आहे. कचित् रात्रिभोजनत्याग हें सहावें अणुव्रत मानिलें आहे. अणुव्रताला वाढविणारीं तीं गुणव्रतें होत. शिक्षेकरितां ह्मणजे दुर्व्यापारापासून निवृत्ति होण्याच्या संवयीकरितां जें व्रत ह्मणजे नियम असा एक अर्थ होतो. कारण इंद्रियांना दुर्व्यापारापासून परतविण्याचा अभ्यास देशावकाशिक वगैरे नियमांच्या योगानें केला पाहिजे. शिक्षाव्रत या शब्दाचा वर लिहिल्याप्रमाणें अर्थ केला आहे ह्मणून हें व्रत अणुव्रताहून भिन्न आहे असें सिद्ध होतें. कारण, अणुव्रतें बहुतकरून यावज्जीव पाळावीं असें आहे. दुसरा प्रकार— शिक्षा ह्मणजे विद्याग्रहण हेंच मुख्य ज्यामध्ये आहे असें व्रत असाही शिक्षाव्रत या शब्दाचा अर्थ होतो. कारण, देशावकाशिकादि नियमही विद्योपार्जनानें श्रुतज्ञानभावनारूप जो एक विलक्षण परिणाम होतो त्यानेंच निर्वाह्य आहेत ह्मणजे देशावकाशिकादि नियमांना तरी श्रुतज्ञानभावनारूप विद्योपार्जनानें उत्पन्न होणाऱ्या विलक्षण परिणामामुळेच व्रतत्व आलें आहे.

सामान्येन पञ्चाणुव्रतानि लक्ष्यन्ताह—

आतां, अणुव्रतांचें लक्षण व भेद सांगतात.

विरतिः स्थूलवधादे- ।

मनोवचोऽङ्गकृतकारितानुमतैः ॥

क्वचिदपरेऽप्यननुमतैः ।

पञ्चाहिंसाद्यणुव्रतानि स्युः ॥ ५ ॥

टीका —स्युः भवेयुः । कानि अहिंसाद्यणुव्रतानि । कति पञ्च ।  
विरतिः निवृत्तिः । कस्मात् स्थूलवधादेः । कैः मन इत्यादि—  
कृतादयो भावे कृताधनाः । मनश्च वचश्च अङ्गं च मनोवचोऽ-  
ङ्गानि । तेषां प्रत्येकं कृतं च कारितं चानुमतं च मनोवचोऽङ्गकृ-  
तकारितानुमतानि तैः । केषां पञ्चाणुव्रतानि स्युः । क्वचिद्गृहवास-  
निवृत्ते श्रावके तथा अपरे गृहवासनिरते श्रावके । अननुमतैर-  
नुमतिवर्जितैस्तैः पञ्चिस्तानि स्युरिति संक्षेपः । इतो विस्तरः—  
स्थूलजीवादिविषयत्वान्मिथ्यादृष्टीनामपि हिंसादित्वेन प्रसिद्धत्वाद्वा  
स्थूलो वधादिः स्थूला हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहा इत्यर्थः । ततो मन-  
सा वाचा कायेन च पृथक्करणकारणानुमननैर्निवृत्तिरहिंसासूनृतास्तेयब्र-  
ह्मचर्यापरिग्रहाख्यानि पञ्चाणुव्रतानि क्वचिद्गृहवासनिवृत्ते श्रावके  
भवेयुरित्युत्कर्षवृत्त्याऽणुव्रतान्युपदिश्यन्ते । यान्यपरे गृहवासनिरते  
श्रावकेऽननुमतैरनुमतिविवर्जितैर्भनस्करणादिभिः षड्विधः स्थूलहिंसा-  
दिनिवृत्त्या सम्पद्यन्ते तानि मध्यमवृत्त्या व्रतान्यभिमन्यन्ते ।  
तस्यापत्यादिभिर्हिंसादिकरणे तत्कारणे वा अनुमतेरशक्यप्रतिषेध-  
त्वात् । स एष द्विविधत्रिविधाख्यः स्थूलहिंसादिविरतिभङ्गो बहु-  
विषयत्वात् श्रेयान् । अपिशब्दः प्रकारान्तरेणापि स्थूलहिंसादिनिवृ-  
त्तेरणुत्वख्यापनार्थः । शक्यता हि व्रतं प्रतिपन्नं सुखनिर्वाहं श्रेयोऽर्थं  
च स्यात् । तद्विरतिभङ्गाः करणादित्रिकेण योगत्रिकेण च विशिष्य-  
माणा एकोनपञ्चाशद्भवन्ति । यथा हिंसां न करोति मनसा । १।

वाचा । २ । कायेन च । ३ । मनसा वाचा । ४ । मनसा कायेन । ५ । वाचा कायेन । ६ । मनसा वाचा कायेन च । ७ । एते करणेन सप्त-  
भङ्गाः । एवं कारणेन सप्त । अनुमत्याऽपि सप्त ॥ तथा हिंसां न करोति  
न कारयति च मनसा । १ । वाचा । २ । कायेन । ३ । मनसा वाचा  
। ४ । मनसा कायेन । ५ । वाचा कायेन । ६ । मनसा वाचा कायेन  
च । ७ । एते करणकारणाभ्यां सप्त ॥ एवं करणानुमतिभ्यां सप्त ॥  
कारणानुमतिभ्यामपि सप्त ॥ करणकारणानुमतिभिरपि सप्त ॥ एवं  
सर्वे मिलिता एकोनपञ्चाशद्भवन्ति ॥ एते च त्रिकालविषयत्वात्प्र-  
त्याख्यानस्य कालत्रयेण गुणिताः सप्तचत्वारिंशदधिकं शतं भवन्ति  
॥ १४७ ॥ त्रिकालविषयता चातीतस्य निन्दया साम्प्रतिकस्य  
संवरणेनानागतस्य च प्रत्याख्यानेनेति ॥ एते च भङ्गा अहिंसात्र-  
तवद्गतान्तरेष्वपि द्रष्टव्याः ॥ अत्रेयं भावना दिक् । तत्र तावद्वाहुल्ये-  
नोपदेशात् द्विविधत्रिविधभङ्गमाश्रित्योच्यते । स्थूलहिंसां न करोत्या-  
त्मना न कारयत्यन्येन मनसा वाचा कायेन चेति । तथा स्थूलहिंसां  
न करोति न कारयति मनसा वाचा । यद्वा मनसा कायेन अथवा यद्वा  
वचसा कायेन चेति । तत्र यदा मनसा वाचा न करोति न कारयति  
तदा मनसाऽभिसन्धिरहित एव वाचाऽपि हिंसकमब्रुवन्नेव कायेनैव  
दुश्चेष्टितादि असञ्जिवत्करोति । यदा तु मनसा कायेन न करोति न  
कारयति तदा मनसाऽभिसन्धिरहित एव कायेन दुश्चेष्टितादि  
परिहरन्नेवानामोगाद्वाचैव हन्मि घातयामि नेति ब्रूते । यदा तु  
वाचा कायेन च न करोति न कारयति तदा मनसैवाभि-  
सन्धीकृत्य करोति कारयति च । अनुमतिस्तु त्रिभिरपि सर्वत्रैवास्ति ।  
एवं शेषविकल्पा अपि भावनीयाः ॥ स्थूलग्रहणमुपलक्षणं । तेन  
निरपराधसङ्कल्पपूर्वकहिंसादीनामपि ग्रहणम् । एतेन— दण्डो हि  
केवलो लोकमिमं चामुं च रक्षति ॥ राज्ञा शत्रौ च पुत्रे च यथा-

दोषं समं धृत इति वचनादपराधकारिषु यथाविधदण्डप्रणेतृणामपि चक्रवर्त्यादीनामणुव्रतादिधारणं पुराणादिषु च बहुशः श्रूयमाणं न विरुध्यते । आत्मीयपदवीशक्त्यनुसारेण तैः स्थूलहिंसादिविरतेः प्रतिज्ञानात् ॥

अर्थः—स्थूलवधादिकांपासून ( स्थूलहिंसा, स्थूलानृत, स्थूलस्तेय, स्थूलाब्रह्म व स्थूलपरिग्रह यांतील प्रत्येकापासून ) मन, वाणी व शरीर यांतील प्रत्येकांची-करणे करविणें व अनुमति देणें यांच्यायोगानें जी निवृत्ति होणें तिला अणुव्रत असें ह्मणतात अर्थात् तीं अणुव्रतें “ अहिंसा, सूनृत, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह ” अशीं पांच आहेत हें सिद्धच आहे. गृहवासापासून निवृत्त झालेल्या श्रावकांचीं पांच अणुव्रतें आहेत. आणि गृहवासनिरत असलेल्या श्रावकाचे ठिकाणीं अनुमति-वांचून राहिलेल्या सहा प्रकारांनीं अणुव्रतें होतात. कारण, गृहवासनिरतश्रावकाच्या पुत्रादिकांनीं हिंसा केली असतां अगर कराविली असतां त्याला गृही श्रावकाची अनुमति नाहीं असें ह्मणतां येत नाहीं. ह्मणून, गृही श्रावकानें अनुमति सोडून राहिलेल्या सहा प्रकारांनींच अणुव्रत करावयाचें आहे. याचें कारण असें आहे कीं, आपले शक्तीप्रमाणें होण्यासारखें असेल तें व्रत केलें असतां तें सुखानें करितां येतें, व त्यापासून करणाराचें कल्याणही होतें. या श्लोकांतील मन, वाणी, काया या तिन्हींचा करणें, करविणें व अनुमति देणें या तिन्हींशीं एक, दोन, तीन अशा रीतीनें संबंध केला असतां होणारा विस्तार ह्मणजे निवृत्तीचे प्रकार



४९ होतात ; ते पुढे लिहिल्याप्रमाणें :—

हिंसा न करणें तें १ मनानें न करणें, २ वाणीनें न करणें, ३ शरीरानें न करणें, ४ मनानें व वाणीनें न करणें, ५ मनानें व शरीरानें न करणें, ६ वाणी आणि शरीरानें न करणें आणि ७ मन, वाणी व शरीर या तिहींनीं मिळून न करणें, हे न करण्याचे सात प्रकार झाले. तसेच न करविणें व अनुमति न देणें याचेही सात सात प्रकार होतात. तसेच हिंसा न करणें व न करविणें तें १ मनानें २ वाणीनें ३ शरीरानें; तसेच ४ मन व वाणी या दोहोंनीं, ५ मन व शरीर या दोहोंनीं, ६ वाणी व शरीर या दोहोंनीं, तसेच ७ मन, वाणी व शरीर या तीहींनीं मिळून. याचप्रमाणें करणें व अनुमति देणें या दोहींचे मिळून सात व करविणें व अनुमति देणें या दोहींचे मिळून सात असे एकंदर ४९ झाले. हे वर सांगितलेले निवृत्तीचे ( ४९ ) प्रकार भूत, वर्तमान व भविष्य या तीनही कालासंबंधी असल्यानें ते त्रिगुणित केले असतां १४७ एकशे सत्तेचाळीस होतात. ते असे:— पूर्वीं केलेल्या ४९ प्रकारच्या हिंसेची निंदा ( पश्चात्ताप ) करणें, वर्तमानकालीं ४९ प्रकारच्या हिंसेपासून निवृत्त होणें; आणि भविष्यकालीं ४९ प्रकारची हिंसा न करण्याचा निश्चय करणें मिळून १४७. हे जे १४७ भेद दाखविले आहेत ते फक्त अहिंसा व्रताचे दाखविले आहेत, बाकी राहिलेल्या सूत्रत, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व परिग्रह यांचेही प्रत्येकाचे भेद ( १४७ ) आहेत; ते विस्तारभयामुळे येथें दाखविले नाहींत. वर जे मनानें, वाणीनें, शरीरानें भेद

दाखविले आहेत, त्यांतील युग्माचे व त्रिकाचे कांहीं प्रकार घेऊन ते कसे संभवतात तें स्पष्ट करून दाखवितात.

स्थूलहिंसा आपण स्वतः मनानें, शरीरानें करीत नाही व दुसऱ्याकडूनही करवीत नाही; तसेच स्थूलहिंसा मनानें व वाणीनें किंवा मनानें व शरीरानें अथवा वाणीनें व शरीरानें, करीत नाही, असे न करण्याचे प्रकार झाले. यांत जेव्हां मनानें व वाणीनें करीत नाही व करवीत नाही त्या वेळीं मनानें त्याचें चिंतन न करतां व वाणीनेंही हिंसकाशीं न बोलतां उन्मत्ताप्रमाणें शरीराच्या दुष्ट व्यापारांनीं हिंसा करतो. तसेंच ज्या वेळीं मनानें व शरीरानें हिंसा करीत नाही व करवीत नाही तेव्हां मनानें तीविषयीं प्रवृत्त न होतां व शरीरानें कोणत्याही प्रकारचे दुर्व्यापार न करतां केवळ वाणीनेंच मारतो व मारवितो असें बोलतो. ज्या वेळीं वाणीनें व शरीरानें करीत नाही व करवीत नाही त्या वेळीं मनानेच हिंसा करण्याचा व करविण्याचा संकल्प करितो. वर दाखविलेल्या प्रकारांमध्ये अनुमति ही सर्वत्र आहे असें जाणावें. याप्रमाणेच राहिलेले प्रकारही जुळवावेत. या श्लोकांत स्थूलहिंसा असें पद घातलें आहे; त्यांत स्थूल हें पद लक्षण आहे; त्यायोगानें निरपराधजीवहिंसादेखील स्थूलहिंसा या शब्दानें घेतां येते. आणि ह्मणूनच 'दंडो हि केवलो

पंगुकुष्ठिकुणित्वादि दृष्ट्वा हिंसाफलं सुधीः ॥

निरागस्त्रसजन्तूनां हिंसां संकल्पतस्त्यजेत् ॥ ५ ॥

अर्थः—पांगळेपणा, कोड, किंवडेपणा हीं सर्व हिंसेचीं फळे होत. ह्मणून बुद्धिवंतानें निरपराधी त्रसजीवांची हिंसा करूं नये.

लोकमिमं चायं च रक्षति ॥ राज्ञा शत्रौ च पुत्रे च यथादोषं समं धृतः ॥ अर्थः—राजाने त्याचा शत्रु असो अथवा पुत्र असो, त्याच्या दोषाला अनुरूप दंड केला असता तो दंड राजाच्या इहपर लोकांचे रक्षण करितो. या वचनावरून अपराध्यास योग्य दंड करणाऱ्या चक्रवर्ती राजांचीदेखील अणुव्रते संपूर्ण झालीं अशा पुराणांतील कथांचा विरोध येत नाही. कारण त्या चक्रवर्ती राजांनी तरी आपल्या पदवीला व शक्तीला अनुसरून अणुव्रते करण्याचा संकल्प केला होता हे सिद्ध आहे.

स्थूलविशेषणं व्याचष्टे—

आतां, स्थूल या विशेषणाचे प्रयोजन सांगतात.

स्थूलहिंस्याद्याश्रयत्वात् ।

स्थूलानामपि दुर्दशाम् ॥

तत्त्वेन वा प्रसिद्धत्वा- ।

वधादि स्थूलमिष्यते ॥ ६ ॥

टीका—इष्यते अभिमन्यते आचार्यैः । किं तत् वधादि हिंसादिपापकर्मपञ्चकं । किंविशिष्टमिष्यते स्थूलं । कस्मात् स्थूल-हिंस्याद्याश्रयत्वात् स्थूला बादरा हिंस्यादयो हिंस्यभाष्यमोष्यपरिभोग्यपरिग्राह्या आश्रया आलम्बनानि यस्य तत्तदाश्रयं तद्भावात् । तथा वधादि स्थूलमिष्यते । कस्मात् प्रसिद्धत्वात् सम्प्रतिपन्नत्वात् । केषां स्थूलानामपि । किंलक्षणानां दुर्दशां मिथ्यादृष्टीनां । केन तत्त्वेन वधादिभावेन । वाशब्दात्स्थूलकृतत्वाच्चेत्यनुक्तं समुच्चीयते ॥

अर्थः—हिंसा ( वध ), अनृत ( खोटें बोलणें ), स्तेय ( चोरी ), अब्रह्मचर्य ( स्त्रीसंभोग ), परिग्रह ( द्रव्या-

दिकांचा संग्रह ) हीं पांच पापकर्मे ( आचार्यानां ) स्थूल अर्शांच इष्ट आहेत. कारण, वर सांगितलेलीं हिंसादिक पांच पापकर्मे ज्यांच्या आश्रयानें होतात त्या सर्व वस्तू ( ज्यांची हिंसा करावयाची, ज्याच्याशीं खोटें बोलावयाचें, जें चोरावयाचें, ज्या स्त्रीचा संभोग करावयाचा व ज्याचा संग्रह करावयाचा, त्या वस्तू ) स्थूल अशाच असल्या पाहिजेत; ह्मणून, अथवा सूक्ष्मज्ञानशून्य अशा मिथ्या-दृष्टि लोकांमध्ये स्थूलजीवांच्या हननादिकांलाच हिंसा वगैरे ह्मणतात; ह्मणून, हिंसादि शब्दांच्या मार्गे स्थूल ह्या पदाचा योग केला आहे. तात्पर्य—अणुव्रतांमध्ये ‘ स्थूल हिंसा, स्थूलानृत, स्थूलस्तेय, स्थूलब्रह्म, व स्थूल-परिग्रह ’ या पांच पापकर्मांच्या निवृत्तीचेंच ग्रहण केलें आहे.

इदानीमौत्सर्गिकमहिंसाणुव्रतं व्याचष्टे—

आतां, अहिंसा अणुव्रत कोणास होतें हें सांगतात.

शान्ताद्यष्टकषायस्य ।

सङ्कल्पैर्नवभिस्त्रिसान् ॥

अहिंसतो दयार्द्रस्य ।

स्यादहिंसेत्यणुव्रतम् ॥ ७ ॥

टीका—स्याद्भवेत् । किं तदणुव्रतं । किमाख्यमहिंसेति अहिं-  
सारूप्यं । कस्य शान्ताद्यष्टकषायस्य शान्ताः शमज्जताः शमिता  
वा आद्या अनन्तानुबन्धिनो अप्रत्याख्यानावरणाश्च अष्टौ कषायाः  
क्रोधादयो यस्य येन वा तस्य । पुनः किंविशिष्टस्य दयार्द्रस्य  
करुणामृदुहृदयस्य । प्रयोजनोद्देशेन कदाचित् स्थावरघाते प्रवृत्ता-  
वप्यनुकम्प्यमानमानसस्येति भावः । किं कुर्वतः अहिंसतो द्रव्यभाव.

प्राणैरवियोजयतः । कान् त्रसान् द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियजीवान् ।  
 कैः सङ्कल्पैः उत्तरसूत्रद्वयनिर्दिष्टैर्हिंसाभिसन्धिभिः । कतिभिर्नवभिः  
 मनोवाक्कायैः पृथक्करणकारणानुमनैरित्यर्थः । अत्र करणग्रहणं  
 कर्तुः स्वातन्त्र्यप्रतिपत्त्यर्थः । कारणाश्रयणं परप्रयोगापेक्षं । अनु-  
 मननोपादानं प्रयोजकस्य मानसपरिणामप्रदर्शनार्थं । तथाहि—  
 त्रसहिंसां स्वयं न करोमि त्रसान् हिनस्मीति मनःसङ्कल्पं न करोमी-  
 त्यर्थः । तथा मनसा त्रसहिंसामन्यं न कारयामि त्रसान् हिंसय  
 हिंसयेति मनसाऽन्यप्रयोजको न भवामीत्यर्थः । अत्र हिंसयेति  
 हन्त्यर्थाच्चेति हिनस्तेश्चुरादिपाठाणि जन्तस्य रूपं । तथाऽन्यं  
 त्रसहिंसां कुर्वन्तं मनसा नानुमन्ये सुन्दरमनेन क्रियते इति मनः-  
 सङ्कल्पं न करोमीत्यर्थः ॥ एवं वाचा स्वयं त्रसहिंसां न करोमि  
 त्रसान् हिनस्मीति स्वयं वाचं नोच्चारयामीत्यर्थः । तथा वाचा  
 त्रसहिंसां न कारयामि त्रसान् हिंसय हिंसयेति वाचं नोच्चारयामी-  
 त्यर्थः । तथाऽन्यं त्रसहिंसां कुर्वन्तं वाचा नानुमन्ये साधु क्रियते  
 त्वयेति वाचं नोच्चारयामीत्यर्थः । तथा कायेन त्रसहिंसां स्वयं न  
 करोमि त्रसहिंसने दृष्टिमुष्टिसन्धाने स्वयं कायव्यापारं न करो-  
 मीत्यर्थः । तथा कायेन त्रसहिंसां न कारयामि त्रसहिंसने हस्तादि-  
 सञ्ज्ञया कायेन परं न प्रेरयामीत्यर्थः । त्रसहिंसां कुर्वन्तमन्यं  
 कायेन नानुमन्ये त्रसहिंसने प्रवर्तमानमन्यं न खच्छोटिकादिना  
 नाभिनन्दामीत्यर्थः ॥

अर्थः—पहिले ह्यणजे अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया,  
 लोभ व अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया व लोभ हे  
 आठ कषाय ज्याचे नष्ट झाले आहेत किंवा ज्याने नाहीसे  
 केले आहेत असा, नऊ प्रकारच्या संकल्पांनी त्रस  
 ( द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरीन्द्रिय, पंचेन्द्रिय ) जीवांचा वध

न करणारा असा जो दयाळु ( करुणेने ज्याचे अन्तःकरण मृदु झाले आहे ह्मणजे कारण अमूनहि कदाचित् स्थावर जीवांचा घात करण्याचा प्रसंग आला असतांना ज्याला दया येते तो दयाळु ) भव्यात्मा त्याचे अहिंसा नांवाचे अणुव्रत सिद्ध होते. तो अहिंसा अणुव्रत पाळण्याला अधिकारी आहे.

वर सांगितलेले हिंसा न करण्याच्या संकल्पाचे नऊ प्रकार मन, वाणी आणि शरीर यांतील प्रत्येकांशीं न करविणें व अनुमति न देणें या तिन्हींचा योग केला असतां होतात. ते असेः— ( १ ) मी मनानें त्रसजीवांची हिंसा करीत नाहीं ह्मणजे त्यांना मारावें असें मनांत आणीत नाहीं. ( २ ) मनानें हिंसा करवीत नाहीं ह्मणजे दुसऱ्या कडून हिंसा करवावी असें मनांत आणीत नाहीं. ( ३ ) मनानें हिंसेला अनुमति देत नाहीं ह्मणजे दुसऱ्याने हिंसा केली असता त्याने फार चांगले केले असें मनांत आणीत नाहीं. ( ४ ) मी वाणीने हिंसा करीत नाहीं ह्मणजे मी हिंसा करितों असे शब्द उच्चारित नाहीं. ( ५ ) वाणीने हिंसा करवीत नाहीं ह्मणजे दुसऱ्याला तूं हिंसा कर असें सांगत नाहीं. ( ६ ) वाणीने हिंसेला अनुमति देत नाहीं ह्मणजे दुसरा मनुष्य हिंसा करीत असतां “ हें तूं फार चांगले करतोस ” असे शब्द उच्चारित नाहीं. ( ७ ) शरीरानें हिंसा करीत नाहीं ह्मणजे हिंसा करण्याकरितां मूठ वळणें वगैरे करीत नाहीं. ( ८ ) शरीरानें हिंसा करवीत नाहीं ह्मणजे हिंसा करण्याविषयीं खुणेनें सुचवीत नाहीं. ( ९ ) आणि शरीरानें हिंसेला अनुमति देत नाहीं

ह्यणजे हिंसा करण्याविषयीं दुसरा प्रवृत्त झाला असतां टाळ्या अथवा चुटक्या वाजवून आपली अनुमति आहे असें सुचवीत नाहीं असे संकल्पाचे नऊ प्रकार होतात.

एतदेव पद्यद्वयेन संगृह्यन्नाह—

इमं सत्त्वं हिनस्मीति ।

हिन्धि हिन्ध्येष साध्विमम् ॥

हिनस्तीति वदन्नाभि-

सन्दध्यान्मनसा गिरा ॥८॥

वर्तेत न जीववधे ।

करादिना दृष्टिमुष्टिसन्धाने ॥

न च वर्तयेत्परं तत् ।

परे नखच्छोटिकादि न च रचयेत् ॥९॥

टीकाः—नाभिसन्दध्यात् न सङ्कल्पयेत् । कोऽसौ त्यक्तगृहः श्रावकः । कं वधं हिंसां । केन मनसा तथा गिरा वाचा । कथमिति किमिति हिनस्मि हन्मि । कं सत्त्वं जीवं । किंविशिष्टं इमं पुरोवर्तिनं । तथा हिन्धि हिन्धि मारय मारय । कं इमं । तथा हिनस्ति हन्ति । कोऽसौ एषः पुरुषः । कं इमं । कथं साधु सुन्दरं । न वर्तेत न व्याप्रियेत । कोऽसौ त्यक्तगृहः । क जीववधे जीवानां सत्त्वकल्पितत्रसप्राणिनां प्राणव्यपरोपणे । क विषये दृष्टिमुष्टिसन्धाने दृष्टिश्चक्षुः मुष्टिर्हस्तांगुलिबन्धविशेषः दृष्टिश्च मुष्टिश्च दृष्टिमुष्टी ताभ्यां सन्धानं संयोजनं यस्मिन् प्रवृत्तिविषये तत् दृष्टिमुष्टिसन्धानं पुस्तकासनादिकमुपकरणवस्तु तस्मिन् । त्यक्तगृहस्यापि श्रावकस्य सम्भाविनि जीववधे करादिना हस्तांगुल्याद्यङ्गोपाङ्गेन न प्रवर्तेतेत्यर्थः । उक्तंच—आसनं शयनं यानं मार्गमन्यच्च वस्तु

यत् ॥ अदृष्टं तन्न सेवेत यथाकालं भजन्नपि ॥ १ ॥ दृष्टिग्रहणं ज्ञानक्रियोपलक्षणं । मुष्टिग्रहणं च ग्रहणादिक्रियोपलक्षणं । तथा न च वर्तयेत् । कोऽसौ त्यक्तगृहः । कं परं क तादृशे जीववधे । तथा न च रचयेत् न कुर्यात् । किं तत् नखच्छोटिकादि । क तत्परे जीववधे स्वयमेव वर्तमाने पुंसि ॥

अर्थः—गृहवासापासून निवृत्त झालेल्या श्रावकानें, पुढें असलेल्या या जीवाला मी मारतो असें केव्हांहि मनांत आणू नये व मुखानेंहि उच्चारूं नये. तसेच या जीवाला तूं मार असें व या जीवाला हा मारीत आहे हें फार चांगलें आहे असेंहि मनांत आणू नये व वाणीनेंहि उच्चारूं नये. तसेंच त्या श्रावकानें जीववधाकरितां त्या जीवाकडे क्रूर दृष्टीनें पाहणें व मूठ वळणें हेंहि करूं नये. आणि पुस्तक वगैरे उपकरण वस्तु घेतांना हिंसा होऊं नये ह्मणून नीट पाहून ध्यावी. तसेच जीववधाकरितां दुसऱ्या मनुष्याची प्रवृत्ति करूं नये. आणि जीववधाविषयीं स्वतः प्रवृत्त झालेल्यास पाहून आपण टाळ्या किंवा चुटके वाजविणें हेंहि करूं नये. याप्रमाणें गृहवासनिवृत्त झालेल्या श्रावकाचें अहिंसाणुव्रत सांगितलें.

एवं त्यक्तगृहस्योपासकस्याहिंसाणुव्रतविधानमुपदिश्येदानीं गृहवर्तिनस्तदुपदिशन्नाह—

आतां, गृहवासनिरत श्रावकाचें अहिंसाणुव्रत सांगतात.

१ आसनं शयनं यानं मार्गमन्यच्च वस्तु यत् ॥

अदृष्टं तन्न सेवेत यथाकालं भजन्नपि ॥ १ ॥

अर्थः—आसन, शयन, वाहन, मार्ग अथवा दुसरी कोणतीही वस्तु यांचें योग्यकाळीं देखील नीट पाहिल्यावांचून ग्रहण करूं नये.



इत्यनारम्भजां जह्या- ।

द्विसामारम्भजां प्रति ॥

व्यर्थस्थावरहिंसाव- ।

यतनामावहेद्गृही ॥ १० ॥

टीका—जह्यात् त्यजेत् । कोऽसौ गृही गृहवर्तिश्रावकः । कां हिंसां । किंविशिष्टामनारम्भजां अनारम्भे आसनोपवेशनादौ जातां तत्सम्भविनीमित्यर्थः । उक्तं च—गृहकार्याणि सर्वाणि दृष्टिपूतानि कारयेत् । कथं जह्यात् इति अनेन त्यक्तगृहोपासकोपदिष्टेन प्रकारेण ॥ तथा आवहेत् कुर्यात् । कोऽसौ गृही । कां यतनां समितिपरतां । कथं प्रत्युद्दिश्य कां हिंसां । किंविशिष्टां आरम्भजां कृप्याद्यारम्भसम्भविनीं । किंवत् व्यर्थस्थावरहिंसावत् निष्प्रयोजनैकेन्द्रियवधे यथा ॥

अर्थः—वर गृहवासापासून निवृत्त झालेल्या श्रावकाला उद्देशून सांगितल्याप्रमाणें गृहस्थश्रावकानें आरंभापासून होणाऱ्या हिंसेचाहि त्याग करवा. ह्यणजे बसणें, उठणें

२ हिंसा द्वेधा प्रोक्ताऽऽरम्भानारम्भभेदतो दक्षैः ॥

गृहवासतो निवृत्तो द्वेधाऽपि त्रायते तां च ॥ ६ ॥

गृहवाससेवनरतो मन्दकषायः प्रवर्तितारम्भः ॥

आरम्भजां स हिंसां शक्नोति न रक्षितुं नियतम् ॥ ७ ॥

अर्थः—हिंसा दोन प्रकारची आहे. पहिली आरंभहिंसा व दुसरी अनारंभहिंसा. जो गृहवासापासून दूर झाला आहे, तो दोन्ही हिंसा करीत नाही. कृषि वगैरे जीवनव्यापार करणारा आणि ज्याचे क्रोधादि कषाय मंद झाले आहेत असा गृहस्थ

वगैरे सावधगिरीनें करावें. कारण, “गृहकार्याणि सर्वाणि दृष्टिपूतानि कारयेत् । ह्यणजे सर्व गृहकृत्ये नीट पाहून करावीं ” असें सांगितलें आहे. तसेंच ज्याप्रमाणें विनाकारण एकेंद्रियजीवाची हिंसा न होण्याविषयीं सावधगिरी ठेविली जाते, त्याचप्रमाणें कृप्यादिकांपासून ह्यणजे जमीन नांगरणें, खुरपणें वगैरेपासून होणाऱ्या जीववधावद्दल ( जेणेंकरून फारशी हिंसा न होईल अशा रीतीनें ) दक्ष असावें.

स्थावरवधादपि निवृत्तिमुपपादयति—

आतां; एकेंद्रियजीवांचादेखील वध न करण्याविषयीं सांगतात.

यन्मुक्तङ्गमहिंसैव ।

तन्मुमुक्षुरुपासकः ॥

एकाक्षवधमप्युज्जेत् ।

यः स्यान्नावर्ज्यभोगकृत् ॥ ११ ॥

टीका —यद्यस्माद्भवति । किं तन्मुक्त्यङ्गं मोक्षसाधनं । किं अहिंसैव द्रव्यभावहिंसाविरमणमेव । तत्तस्मात् । उज्जेत् त्यजेत् । कोऽसौ उपासकः श्रावकः । किंविशिष्टो मुमुक्षुः बुभुक्षोर्नास्ति नियम इति भावः । कं एकाक्षवधमपि त्रसहिंसामिव स्थावरहिंसामपि । यः किं यः एकाक्षवधः । न स्यात् । किंविशिष्टः अवर्ज्यभोगकृत् अवर्ज्यानां

---

कृप्यादिकांपासून होणाऱ्या हिंसेचें निवारण करूं शकत नाहीं. असा नियम आहे. अर्थात् तो गृहस्थ अनारंभहिंसेचा त्याग करूं शकतो.

वर्जयितुमशक्यानामावर्ज्यानां वा अर्जनीयानां भोगानां सेव्यार्थानां कारणम् ॥

अर्थः—ज्याअर्थी एकेंद्रियादि सर्व जीवांच्या हिंसे-  
पासून निवृत्त होणें हें मोक्षाचें मुख्य साधन आहे; त्या  
अर्थी मुक्त होण्याची इच्छा करणाऱ्या श्रावकानें त्रसहिंसे-  
प्रमाणें एकेंद्रियजीवांच्या हिंसेचाहि त्याग अवश्य करावा.  
( मुक्तीची इच्छा न करणाऱ्याला हा नियम लागू नाही. )  
त्यांत अवश्य संग्राह्य अशा भोग्य वस्तूंच्या संपादनाकरितां  
होणाऱ्या एकेंद्रियजीवांच्या वधाचामात्र त्याग केलाच  
पाहिजे असें नाही.

१ जे तसकाया जीवा पुव्वुद्दिट्ठा ण हिंसिदव्वा ते ॥

एगिंदियावि णिकारणेण पढमं वदं थूळम् ॥ १ ॥

अर्थः—पूर्वी सांगितलेले जे त्रसकायिक जीव ते मारूं नयेत;  
आणि कारणावांचून एकेंद्रिय जीवही मारूं नयेत हें पहिलें  
स्थूलव्रत ( अहिंसाणुव्रत ) होय.

स्तोकैकेंद्रियघातात् गृहिणां सम्पन्नयोग्यविषयाणाम् ॥

शेषस्थावरमारणविरमणमपि भवति कर्तव्यम् ॥ २ ॥

भूपयःपवनाग्नीनां तृणादीनां च हिंसनम् ॥

यावत्प्रयोजनं स्वस्थं तावत्कुर्यादजन्तुजित् ॥ ३ ॥

अर्थः—ज्यांनीं एकेंद्रिय जीवांचा फारसा वध न करितां  
सेवण्यास योग्य असे पदार्थ संपादन केले आहेत अशा गृहस्थांनीं  
विनाकारण स्थावरजीवांजीहि हिंसा करूं नये. पृथ्वी, अप्, वायु,  
अग्नि आणि वनस्पति कायिक जीवांचा वध अहिंसकानें आपल्या  
उपयोगापुरताच करावा.

साङ्कल्पिकवधं नियमयति—

आतां; संकल्पपूर्वकहिंसेविषयीं सांगतात.

गृहवासो विनाऽऽरम्भा- ।

न चारम्भो विना वधात् ॥

त्याज्यः स यत्नात्तन्मुख्यो ।

दुस्त्यजस्त्वानुषङ्गिकः ॥ १२ ॥

टीका—न भवति । कोऽसौ गृहवासो गेहाश्रमः कथं विना । कस्मात् आरम्भात्कृष्यादिजीवनोपायात् । तथा न भवति कोऽसौ आरम्भः । कथं विना । कस्मात् वधात् प्राण्युपमर्दनात् । यत एवं तत्तस्मात्त्याज्यः । कोऽसौ स वधः । किंविशिष्टो मुख्यः इमं जन्तुमासाद्यार्थित्वेन हन्मीति सङ्कल्पप्रभवः । कस्माद्यत्नात् अवधानात् । तुर्विशेषे । तेन भवति । कोऽसावारम्भः । किंविशिष्टो दुस्त्यजः त्यक्तुमशक्यः । किंविशिष्टः आनुषङ्गिकः कृष्याद्यनुषङ्गे जातः कृष्यादौ क्रियमाणे सम्भवन्नित्यर्थः ॥

अर्थः—जमीन नांगरणें वगैरे हें जीविकेचें मुख्य साधन असल्यामुळें, गृहस्थश्रावकाचें त्यावांचून जीवन होणें शक्य नाहीं; व तें कर्षणादिकर्म हिंसेवांचून होणें शक्य नाहीं. ह्मणून “ मी मांसादिकांच्या इच्छेनें या जीवाचा वध करितों ” असा संकल्प करून जी जीवहिंसा करावयाची, तिचा अवश्य सर्व प्रयत्नांनीं त्याग करावा. आनुषंगिक ह्मणजे नांगरणें, खुरपणें वगैरेमध्ये होणाऱ्या हिंसेचा त्याग करणें हें गृहस्थश्रावकास अशक्य आहे.

प्रयत्नहेयां हिंसामुपदिशति.

आतां; गृहस्थानेंही सर्वदां हिंसेचा त्याग करण्याचा प्रयत्न करीत असावे हें सांगतात.

दुःखमुत्पद्यते जन्तो- ।

र्मनः संक्लिश्यतेऽस्यते ॥

तत्पर्यायश्च यस्यां सा ।

हिंसा हेया प्रयत्नतः ॥ १३ ॥

टीका—हेया त्याज्या गृहिणा । काऽसौ हिंसा । कस्मात्प्रय-  
त्नतः प्रणिधानेन । उत्पद्यते । किं दुःखं शारीरं दुःखं क्लेशः ।  
कस्य जन्तोर्जीवस्य परजीवस्य वा । तथा संक्लिश्यते सन्तप्यते ।  
किं तन्मनश्चित्तं जन्तोः । तथाऽस्यते विनाश्यते । कोऽसौ तत्प-  
र्यायः स चासौ पर्यायश्च तत्पर्यायो वर्तमानभवग्रहणम् ॥

अर्थः—हिंसा करण्याने ज्याची हिंसा होते, त्या  
जीवास शारीरिक दुःख फार होतें व मनासही मोठे क्लेश  
होतात. आणि त्याला प्राप्त झालेल्या पर्यायाचा  
( जन्माचा ) नाश होतो. ह्मणून गृहस्थ श्रावकांहींही  
तिचा त्यागच करण्याचा प्रयत्न करावा.

अहिंसाणुव्रताराधनोपदेशार्थमित उत्तरः प्रबन्धः । तत्र ताव-  
त्प्रयोक्तारमाश्रित्येदमुच्यते—

यापुढील ग्रंथ अणुव्रत करण्याविषयीं उपदेशाकरितां  
आहे. त्यांत आतां अणुव्रत करणाऱ्या श्रावकास  
उद्देशून सांगतात.

सन्तोषपोषतो यः स्या- ।

दुल्पारम्भपरिग्रहः ॥

भावशुद्ध्येकसर्गोऽसा- ।

वहिंसाणुव्रतं भजेत् ॥ १४ ॥

टीका—भजेत् आराधयेत् । कोऽसौ गृही । किं तदहिंसाणु-  
व्रतं । यः किं यः स्यात् । किंविशिष्टोऽल्पारम्भपरिग्रहः आरम्भश्च  
परिग्रहश्च ममेदमहमस्येति बुद्धिग्राह्यो भार्याद्यर्थः आरम्भपरिग्रहौ,  
अल्पौ दुर्ध्यानप्रकर्षानुत्पादकौ आरम्भपरिग्रहौ यस्य स तथोक्तः ।  
कस्मात् सन्तोषपोषतो धृतेः प्रकर्षात् । पुनः किंविशिष्टो भावशु-  
द्ध्येकसर्गो मनःशुद्धावेकाग्रः ॥

अर्थ—जो श्रावक, सहज सन्तोषवृत्तीच्या आधिका-  
मुळे कृप्यादिकमें अगदीं स्वल्प करितो व ज्याचा परिग्रह  
( हें माझे आहे व मी यांचा आहे अशी बुद्धी ज्यांच्याविषयीं  
आहे असा भार्या वगैरे पदार्थ ) स्वल्प आहे, व अंतःकरण  
शुद्धीविषयीं ज्याचा दृढ निश्चय झालेला आहे त्यानें अहिंसा  
नामक अणुव्रत करावें.

पञ्चातिचारान् परिहरन् वाङ्मनोगुप्त्यादिभावनापञ्चकेनाहिंसा-  
णुव्रतमुपयुज्जीतेत्युपदिशति—

आतां, पांच प्रकारचे अतिचार आपल्याकडून न होऊं  
देतां ' वाङ्मनोगुप्त्यादिस्वरूप ' पांच प्रकारच्या भावनांनीं  
अहिंसाणुव्रत साधावें असें सांगतात.

मुञ्चन् बन्धं वधच्छेदा- ।

वतिभारादिरोपणम् ॥

भुक्तिरोधं च दुर्भावा- ।

ज्ञावनाभिस्तदाविशेत् ॥ १५ ॥

टीका—आविशेदुपयुज्जीत । कोऽसौ व्रतिक. । किं तदहिंसा-  
णुव्रतं । काभिर्भावनाभिः वागुप्त्या मनोगुप्त्या ईर्यासमित्या आदा-  
ननिक्षेपणसमित्या आलोकितपानभोजनेनेति पञ्चभिरभ्यासविशिष्टैः ।

किं कुर्वन् मुञ्चन् वर्जयन् किं तत् बन्धादिपञ्चकं । कस्मात् दुर्भा-  
 वादिति समन्वयः । इतो विस्तरः— बन्धो रज्वादिना गोमनुष्या-  
 दीनां नियन्त्रणं । स च पुत्रादीनामपि विनयग्रहणार्थं विधीयते  
 अतो दुर्भावादित्युक्तं । दुर्भावं दुष्परिणामं प्रबलकषायोदयमा-  
 श्रित्य क्रियमाणो यो बन्धस्तं वर्जयन्नित्यर्थः । अत्रायं विधिः—  
 बन्धो द्विपदानां चतुष्पदानां वा स्यात् । सोऽपि सार्थकोऽनर्थको वा  
 तत्रानर्थकस्तावच्छ्रावकस्य कर्तुं न युज्यते । सार्थकः पुनरसौ द्वेधा ।  
 सापेक्षो निरपेक्षश्च । तत्र सापेक्षो यो दामग्रंथ्यादिना शिथिलेन  
 चतुष्पदानां विधीयते यश्च प्रदीपनादिषु मोचयितुं छेत्तुं वा  
 शक्यते । निरपेक्षो यन्निश्चलमत्यर्थममी बध्यन्ते । द्विपदानां तु  
 दासदासीचोरजारादिप्रमत्तपुत्रादीनां यदा बन्धो विधीयते तदा  
 सविक्रमणा एवामी बन्धनीया रक्षणीयाश्च यथाऽग्निभयादिषु न  
 विनश्यन्ति । यद्वा द्विपदचतुष्पदाः श्रावकेण त एव संग्राह्या ये  
 बद्धा एव तिष्ठन्तीति प्रथमोऽतिचारः ॥ १ ॥ बधो दण्डकशाघ-  
 मिघातः । सोऽपि दुर्भावाद्विधीयमानो बन्धवदतिचारः । यदि पुनः  
 कोऽपि न करोति विनयं तदा तं मर्माणि मुक्त्वा लतया दवरकेण  
 वा सकृत् द्विर्वा ताडयेदिति द्वितीयोऽतिचारः ॥ २ ॥ छेदः कर्ण-  
 नासिकादीनामवयवानामपनयनं । सोऽपि दुर्भावात्क्रियमाणोऽतिचा-  
 रो निर्दयं हस्तादीनां छेद इत्यर्थः । स्वास्थ्यापेक्षया तु गण्डव्रणा-  
 दिच्छेदनदहनादिकं ससान्त्वनं कुर्वतोऽपि नातिचारः स्यादिति  
 तृतीयः ॥ ३ ॥ अतिभारातिरोपणं न्याय्यभारादतिरिक्तस्य बोहुम-  
 शक्यस्य भारस्यारोपणं वृषभादीनां पृष्ठस्कन्धादौ वाहनोपाधिरोपणं ।  
 तदपि दुर्भावात्क्रोधाहोभाद्वा क्रियमाणमतिचारः । अत्राप्ययं  
 विधिः— श्रावकेण तावत् द्विपदादिवाहनेन जीविका प्रागेव  
 मोक्तव्येत्येष श्रेष्ठः पक्षः । अथान्योऽसौ न स्यात्तदा द्विपदो

यावन्तं भारं स्वयमुत्क्षिपति अवतारयति च तावन्तमेव वा वाह्यते  
मोच्यते चोचितवेलायाम् । चतुष्पदस्य तु यथोचितभारः किञ्चि-  
दूनः क्रियते । हलशंकटादिषु पुनरुचितवेलायामसौ मुच्यते इति  
चतुर्थः ॥ ४ ॥ भुक्तिरोधोऽन्नपानादिनिषेधः । सोऽपि दुर्भावाद्धन्ध-  
वदतिचारः । तीक्ष्णक्षुधादिपीडितः प्राणी म्रियत इत्यन्नादिनिरोधो  
न कस्यापि कर्तव्यः । अपराधकारिणि च वाचैव वदेदद्य ते न दास्यते  
भोजनादिकमिति । स्वभोजनवेलायां तु नियमत एवान्यं भोजयित्वा  
स्वयं भुञ्जीतान्यत्रोपवासचिकित्स्यज्वरादिव्याधितेभ्यः । शान्तिनि-  
मित्तं चोपवासाद्यपि कारयेदिति पञ्चमः ॥ ५ ॥ किंबहुना मूलगु-  
णस्यार्हिसालक्षणस्यातिचारो यथा न भवति तथा यतनया वर्तितव्यम् ॥

अर्थः— दुष्टहेतूनेंही करण्यास योग्य असलेल्या बंधादि  
पंचकाचा ह्मणजे इतरास बंधांत ठेवणें, वध करणें, छेद  
करणें, अतिशय ओझें लावणें व स्वाण्यापिण्यास हरकत  
करणें ( बंध, वध, छेद, अतिभाराधिरोपण व भुक्तिरोध )  
यांचा ज्यानें पूर्ण त्याग केलेला आहे अशा गृहस्थश्रावकांनें  
भावनापंचकांनें ( वाग्गुप्ति, मनोगुप्ति, इर्यासमिति आदान-  
निक्षेपणसमिति व आलोकित-पान-भोजन यांस भावना-  
पंचक असें नांव आहे ) अर्हिसा संज्ञक अणुव्रत करावें.  
असा या श्लोकाचा संक्षेपानें अर्थ झाला. यांतील विस्तार  
पुढें लिहिल्याप्रमाणें. वर बंधादिपंचक हें दुष्ट हेतूनेंही  
होण्यास योग्य आहे असें दर्शविलें आहे, त्यांतील तात्पर्य  
असें आहे कीं, बंध शब्दानें दोरी वगैरेनीं पशु किंवा मनुष्य  
यांस बांधून घालणें असा अर्थ होतो. आपण पुत्रादि-  
कांलासुद्धां योग्य शिक्षा होण्याकरितां बांधून घालितों,  
पण त्यांत दुर्भाव ह्मणजे दुष्टहेतु नाही, ह्मणून तें बांधून



घालणें अवश्य केलेंच पाहिजे. त्याचा त्या बंधादिपंचकांत समावेश होत नाही. तर दुर्भावानें केलेला ह्मणजे दुष्परिणामी अर्थात् ज्यावेळीं क्रोधादि कषाय मनुष्याच्या मनांत अतिरेकाला पावले असतील त्यावेळीं केलेल्या बंधाचेच बंधादिपंचकांत ग्रहण करावयाचें आहे व याकरितांच श्लोकांत ' दुर्भावात् ' असें पद ठेविलें आहे.

बंध—द्विपद ह्मणजे मनुष्ये आणि पक्षी; आणि चतुष्पद ह्मणजे पशु यांना बांधून घालणें किंवा कैदेत ठेवणें याला बंध ह्मणतात. तो दोन प्रकारचा आहे. एक सार्थक व २ निरर्थक. पैकीं निरर्थकबंध श्रावकानें केव्हांही करूं नये. ह्मणून त्याविषयीं विचार करणेचें येथें प्रयोजन नाही. सार्थकबंधहि सापेक्ष व निरपेक्ष असा दोन प्रकारचा आहे. कृषि वगैरे कामाकरितां गृहस्थाला पशु बाळगावे लागतात, ते बांधले पाहिजेत पण ते अशा रीतीनें बांधावयाचे, कीं त्यांच्या जागेंत आग लागली असतां तें बंधन सहज सोडतां आलें पाहिजे. याला सापेक्षबंध ह्मणतात. आणि त्यांना बळकट बांधणें याला निरपेक्षबंध ह्मणतात. हा चतुष्पदाविषयींचा विचार झाला. आतां द्विपद ह्मणजे दास दासी व वेढावलेलीं माणसें वगैरे यांचाहि बंध करावा लागतो. पण त्यांना हालचाल करितां येईल अशा तऱ्हेनें तो करावा. त्यांत एवढेंमात्र लक्षांत ठेविलें पाहिजे कीं ज्यांचा बंध करावयाचा त्यांचें आग वगैरे अपायापासून चांगलें रक्षण केलें पाहिजे. श्रावकानें कोणासहि बंधांत ठेजूं नये हा उत्तम पक्ष. आणि पशु वगैरे जे बाळगावयाचे त्यांना अग्नी संबय

लावून ठेवावी कीं, ते कोठेंही पळून जाणार नाहीत. दुष्ट-भावानें कैद करणें किंवा बांधूनघालणें हा बंधातिचार होय.

वध— कांठी किंवा चाबूक इत्यादिकांनीं अन्य जीवाला ताडन करणें याचें नांव वध. तो दुष्ट हेतूनें केला असतां अहिंसाव्रताचा अतिचार होतो. जर कोणी एखादा उगीच दांडगाई करित असेल तर त्यानें तसें करूं नये ह्मणून त्याला मर्म सोडून इतर अवयवावर बारीक अशा वेळीनें किंवा दुसऱ्या एखाद्या मृदुपदार्थानें एकदोनदां ताडन करावें हा वधाविषयीं विचार झाला.

छेद— कान, नाक, बोटें इत्यादि अवयव कांपणें याला छेद ह्मणतात. दुष्ट हेतूनें छेद केला असतां अहिंसा व्रताचा अतिचार होतो आणि बोट वगैरे अवयवाचे भाग जर कुजत असतील त्यांचा किंवा आवाळू, व्रण वगैरेचा छेद केला असतां अतिचार दोष येत नाही, कारण तसें करण्यांत करणाऱ्याचा हेतु दुष्ट नसतो.

अतिभारारोपण— बैल, घोडा वगैरे पशूंच्या पाठीवर किंवा मानेवर अधिक ओझे लादणें याला अतिभारारोपण ह्मणतात. श्रावकानें दास, दासी वगैरेकडून फार मोठीं ओझीं आणवून त्यावर आपलें जीवन करणें अगदीं सोडून द्यावें हा प्रथमपक्ष आहे. जर तसें होणें शक्य नसेल तर त्या दास दासी वगैरे जनांस सहज उचलून मस्तकावर ठेवितां येईल व त्यांचें त्यांसच उतरितां येईल असें ओझे त्यांकडून

नेववावें; व योग्यवेळीं त्यांस भोजनादि व्यापार करण्यास मोकळीक द्यावी. तसेंच चतुष्पद ह्मणजे पशु त्यांना देखील जितका भार वाहणें शक्य असेल, त्यापेक्षा थोडासा कमीच भार त्याजवर घालावा. व योग्यवेळीं त्यांना खाण्यापिण्याविरीं मोकळीक द्यावी. हें चवथ्या अतिभाराधिरोपण नांवाच्या अतिचाराचें विवेचन झालें.

**भुक्तिरोध**— दुसऱ्याच्या खाण्यापिण्याला हरकत करणें याला भुक्तिरोध ह्मणतात. हा भुक्तिरोधही दुर्भावानें (दुष्ट हेतूनें) केला असतां बंधाप्रमाणें अतिचार होतो. कारण कोणत्याही प्राण्याला अत्यंत तीव्र अशी क्षुधा व तृषा उत्पन्न झाली असतां त्याची शांती न झाल्यास तो प्राणी तडफडून मरतो. ह्मणून कोणाच्या अन्नपानांचा निरोध कधींही करूं नये. एखाद्याकडून कांहीं तरी अपराधच झाला असला तर थोडें कठोर भाषण केलें असतां चालेल. पण, त्याचा भुक्तिनिरोध करणें अगदीं योग्य नाही.

श्रावकानें प्रत्येक दिवशीं आपली भोजनाची वेळ झाली ह्मणजे दुसऱ्या क्षुधित झालेल्यांस आधीं भोजन घालून नंतर आपण भोजन करावें. एखादा उपवासाचा दिवस असल्यास अगर एखादा ज्वरादिक व्याधींनीं पीडित झाला असल्यास मात्र भोजन घालूं नये, त्यावेळीं भुक्तिनिरोध केला तरी तो अतिचार होत नाही. तसेंच शांतीकरितां कोणाकडून उपवास कराविला असतां तोही भुक्तिनिरोध होत नाही. हें

पांचव्या भुक्तिनिरोधसंज्ञक अतिचाराचें विवेचन झालें.  
तात्पर्य; अहिंसाव्रतांत अतिचार न होऊं देण्याविषयीं  
फार जपावें.

उक्तमेवार्थं मुग्धधियां सुखस्मृत्यर्थं किञ्चिदुपसंगृह्णन्नाह—

आतां; मंदबुद्धि जीवांस चांगलें ज्ञान व्हावें संपून  
पूर्वीं सांगितलेल्या अतिचारांचेंच आणखी विवेचन  
करितात.

गवाद्यैर्नैष्ठिको वृत्ति ।

त्यजेद्बन्धादिना विना ॥

भोग्यान् वा तानुपेयात्तं ।

योजयेद्वा न निर्दयम् ॥ १६ ॥

टीका—त्यजेद्वर्जयेत् । कोऽसौ नैष्ठिकः । पाक्षिकस्य तु नास्ति  
नियमः । कां वृत्तिं जीवनार्थं व्यापारं । कैः गवाद्यैर्गोमहिषतुरगा-  
दिभिः । एषः प्रशस्यतमः पक्षः । वा अथवा । उपेयात् परिगृही-  
यात् नैष्ठिकः । कानेतान् गवादीन् । किंविशिष्टान् भोग्यान्  
वाहदोहादावुपयोक्तुं शक्तान् । कथं विना । केन बन्धादिना  
नियन्त्रणताडनादिना एष मध्यमः पक्षः । अथवा न योजयेत्  
स्वयमन्येन वा न विधापयेत् नैष्ठिकः । कं तं बन्धादि । कथं  
निर्दयं । एषोऽधमः पक्षः । अत्राह कश्चित्—ननु हिंसैव श्रावकेण

१ व्रतानि पुण्याय भवन्ति जन्तो- । न सातिचाराणि निषेवितानि  
सस्यानि किं कापि फलन्ति लोके । मलोपलीढानि कदाचनापि ॥

अर्थः—अतिचारसहित पाळलेलीं व्रतें पुण्यप्रद होत नाहींत.  
असें पहा; जगांत मलिन धान्यें पेरून कधीं कोठेंतरी फळें  
आलेलीं पाहिलीं आहेत काय ?

प्रत्याख्याता न बन्धादयः । ततस्तत्करणेऽपि न दोषो हिंसाविरते-  
रखण्डितत्वात् । अथ बन्धादयोऽपि प्रत्याख्यातास्तदा तत्करणे  
व्रतभङ्ग एव विरतित्त्वण्डनात् । किं च वधादीनां प्रत्याख्येयत्वे  
व्रतेयत्ता विशीर्येत प्रतिव्रतमतिचारव्रतानामाधिक्यादिति । एवं च  
न बन्धादीनामतिचारतेति । अत्रोच्यते— सत्यमहिंसैव प्रत्याख्याता  
न बन्धादयः । केवलं तत्प्रत्याख्यानेऽर्थतस्तेऽपि प्रत्याख्याता  
द्रष्टव्या हिंसोपायत्वात्तेषां । नच बन्धादिकरणेऽपि व्रतभङ्गः किन्त्व-  
तीचार एव । कथं ? द्विविधं हि व्रतं अन्तर्वृत्त्या बहिर्वृत्त्या च  
तत्र मारयामीति विकल्पाभावेन यदा कोपाद्यावेशात्परप्राणप्रहाणम-  
विगणयन् बन्धादौ प्रवर्तते न च हिंसा भवति तदा निर्दयतावि-  
रत्यनपेक्षतया प्रवृत्तत्वेनान्तर्वृत्त्या व्रतस्य भङ्गो हिंसाया अभावा-  
द्बहिर्वृत्त्या पालनमिति देशस्य भङ्गजननाद्देशस्यैव पालनादति-  
चारव्यपदेशः प्रवर्तते । तदुक्तं— न मारयामीति कृतव्रतस्य विनैव  
मृत्युं क इहातिचारः । निगद्यते यः कुपितो वधादीन् करोत्यसौ  
स्यान्नियमानपेक्षः ॥ १ ॥ मृत्योरभावान्नियमोऽस्ति तस्य कोपाद्याहीन-  
तया हि भङ्गः । देशस्य भङ्गादनुपालनाच्च पूज्या अतीचारमुदाह-  
रन्ति ॥ २ ॥ यच्चोक्तं व्रतेयत्ता विशीर्येतेति तदयुक्तं विशुद्धाहिंसा-  
सद्भावे हि बन्धादीनामभाव एवातः स्थितमेतत् बन्धादयोऽतिचारा  
एवेति ॥

अर्थ—नैष्ठिक श्रावकाने गायी बैल वगैरेपासून आपलें  
जीवन करण्याचें अगदीं सोडून द्यावें हा उत्तमपक्ष आहे.  
कदाचित् गायी बैल वगैरे पशु दुधाकरितां व ओझे बाह-  
ण्याकरितां बाळगलेच तर त्यांस बंधन करूं नये, हा  
दुसरा पक्ष. कदाचित् बंधन करण्याचा प्रसंग आल्यास  
त्यांस निर्दयपणाने जखडून बांधूं नये. हा अधम पक्षजे

तिसरा पक्ष आहे. हा नियम नैष्ठिक श्रावकाविषयींचा आहे. पाक्षिकश्रावकांस हा नियम लागू नाही.

येथें कोणी शंका करील कीं;— श्रावकानें अणुव्रतामध्ये फक्त हिंसात्यागरूप अणुव्रताची प्रतिज्ञा केलेली असते.

१ न मारयामीति कृतव्रतस्य विनैव मृत्युं क इहातिचारः ॥

निगद्यते यः कुपितो वधादीन् करोत्यसौ स्यान्नियमानपेक्षः ॥

मृत्योरभावान्नियमोऽस्ति तस्य कोपाद्याहीनतया तु भग्नः ॥

देशस्य भंगादनुपालनाच्च पूज्या अतीचारमुदाहरन्ति ॥ २ ॥

अर्थ—“मी कोणाचीही हिंसा करणार नाही” असें व्रत ज्यानें धारण केलें आहे; त्याच्या हातून हिंसा घडल्यावांचून ‘अतिचार’ होतो असें ह्मणणें बरोबर नाही अशी शंका. यावर समाधान असें कीं— हिंसेवांचून अतिचार होत नाही असें ह्मणणें बरोबर नाही. कारण कीं, जर त्यानें क्रोधाच्या आवेशांत एखाद्या पशूस किंवा मनुष्यास कारणावांचून जखडून बांधून घातलें किंवा दुर्भावानें चाबूक किंवा काठी वगैरेनें अतिशय ताडन केलें, तर त्याच्या अहिंसाव्रताचा भंग होतो. तो आतां ह्मणजे अहिंसाव्रत ज्यानें धारण केलें आहे त्याच्या हातून हिंसेवांचून दुसरी कोणतीही [ वध बंध छेद वगैरे ] क्रिया घडली असतां अतिचार होत नाही असें ह्मणणाऱ्याच्या मतानें होणार नाही. यावर शंकाकाराचें ह्मणणें असें कीं; जर त्याच्या ताडन, बंधन वगैरे क्रियेपासून कोणाची प्राणहानि झालेली नसेल तर व्रतभंग झाला नाही ह्मणण्यास तरी काय हरकत आहे? यावर समाधान सांगणारे म्हणतात कीं; हिंसा होण्याला कारण क्रोधादिक मनोवृत्ति अनावर होणें हें आहे, तेव्हा

बंधादित्यागाचा व्रतत्वानें स्वीकार केलेला नसतो. ह्मणून बंधादि अतिचार व्रती श्रावकाच्या हातून घडले तरी अहिंसाव्रताचा भंग होणें शक्य नाहीं. श्रावकांकडून बंधादि अतिचार झाला असतां ह्मणजे एखाद्या पशूस अथवा मनुष्यास बांधून ठेविलें असतां त्यास ठार मारिलें असें मुळींच होत नाहीं. ह्मणून अहिंसाव्रताच्या भंगाला हिंसाच झाली पाहिजे; ती अतिचारांत होत नसल्यानें अहिंसाव्रताचा भंग होत नाहीं. तर बंधादित्यागाचाही व्रतत्वानें स्वीकार केला असेल आणि बंधादिक श्रावकाकडून घडतील तर व्रतभंग झाला असेंच ह्मटलें पाहिजे. कारण ज्याचा त्याग केला तेंच पुन्हा आपल्याहातून घडलें. तात्पर्य; बंधादिकरण हे अतिचार असें ह्मणणें योग्य नाहीं. आणि बंधादित्याग हा जर अवश्यकर्तव्य आहे, तर त्यांचें व्रतस्वरूपानेंच ग्रहण केलें पाहिजे असें सिद्ध होतें. आतां बंधादिकरणापासून विरति अवश्य व्हावयास पाहिजे ह्मणून बंधादित्यागा-

ज्यावेळीं व्रती श्रावक दुर्भावानें पश्चादिकाचें बंधन वगैरे करण्यास प्रवृत्त होतो त्यावेळीं त्यास क्रोध आलेला असतो, हें अगदी सिद्ध आहे. जो श्रावक अहिंसाव्रती आहे त्याचें अंतःकरण नेहमी दयेनें व्याप्त असणें योग्य आहे. तें तसें न राहतां क्रोधयुक्त झालें तर, जरी त्याच्या हातून साक्षात् हिंसा झाली नाहीं तथापि हिंसेचें कारण जो क्रोध तो उत्पन्न झाल्यामुळें अहिंसेच्या दोन भागांपैकी ( अहिंसेचे दोन भाग पूर्वी सांगितलेच आहेत कीं, व्रत हें अंतर्वृत्ति व बहिर्वृत्ति अशा दोन रूपानें असतें. त्यांत अंतर्वृत्ति ह्मणजे दया व बहिर्वृत्ति ह्मणजे प्राणहानि न करणें.

चेंही व्रतस्वरूपानें ग्रहण करावयास पाहिजे असें ह्मणार्थें तर [ निरुपायास्तव या व्रतांचाही अणुव्रतांतच संग्रह केला पाहिजे ह्मणून ] व्रतांची संख्या अधिक होते. त्यामुळें अणुव्रतें पांच आहेत अशी ग्रंथकाराची उक्ति चुकीची ठरते. कारण अतिचार हे प्रत्येक पापकर्माचे निराळे आहेत व ते प्रत्येक पापकर्माचे पांच पांच याप्रमाणें पंचवीस आहेत. तितक्या सर्वांचा व्रतांमध्येच संग्रह केल्यास व्रतांची संख्या अधिक होते हें स्पष्टच आहे. तात्पर्य—बंधादिकांना अतिचारही ह्मणतां येत नाहीं व बंधादित्यागाला व्रतही मानितां येत नाहीं. यावर समाधान असें आहे कीं—श्रावकानें हिंसात्यागच प्रतिज्ञात आहे असें जें वर ह्मटलें आहे तेंच खरें आहे. व बंधादिअतिचारांचा त्याग केला नाही, तरी कांहीं हरकत नाही. कारण जर हिंसेचा त्याग केला तर अर्थांतच ज्याच्या योगानें हिंसा होत्ये अशा साधनांचाही त्याग सिद्ध होतो. तेव्हा बंधादिक केले असतां व्रताचा भंग केला असें जरी होत नाही, तथापि अतिचार होणेंही तेव्हां अहिंसेचे दोन भाग एक दया व दुसरा प्राणहानि न करणें. ) दयारूप जो अंश त्याचा नाश झाला, व बंधनादि व्यापारांनीं प्रत्यक्ष प्राणहानी झाली नसल्यानें दुसऱ्या अंशाचें पालन झालें. तेव्हां एकदेश पालन झालें ह्मणून पूज्य असे प्राचीन आचार्य एकदेशभंगाला कारण असलेल्या बंधादि व्यापाराला अतिचार असें ह्मणतात. आतां शंकाकार ह्मणेल कीं, जर बंधादिकांचा त्यागही व्रतस्वरूपानें अवश्य स्वीकारावा लागेल तर व्रतांची संख्या अधिक होईल.



योग्य नाही. कारण, व्रत हे दोन प्रकारांनीं करावयाचें असतें. एक आंतरवृत्तीने व दुसरें बाह्यवृत्तीने. त्यांत जेव्हां 'याचा वध करावयाचा' अशी कल्पना नाही आणि क्रोधादिकामुळे दुसऱ्याची प्राणहानि होईल हें मनांत न येतां त्याच्या बंधाविषयीं श्रावक प्रवृत्त होतो, त्या वेळीं हिंसा जरी झाली नाही तथापि, निर्दयतारूप मनो-वृत्तीच्या त्यागाची अपेक्षा न करितां बंधाविषयीं प्रवृत्त झाला असल्यानें अंतर्वृत्तीने व्रताचा भंग झाला व हिंसा न झाल्यामुळे बाह्यवृत्तीने व्रताचें पालन झालें. तेव्हां एक देशाचें पालन झाल्यामुळे एकदेशाचा भंग (नाश) झाला हें सिद्ध आहे व ह्मणूनच बंधादिकांनां 'शास्त्रकारांना संमत असल्याप्रमाणें' अतिचार असें नांव दिलें आहे.

एतदेव संगृह्यन्नाह—

अतिचाराचें स्वरूप थोडक्यांत सांगतात.

न हन्मीति व्रतं क्रुध्य- ।

निर्दयत्वान्न पाति न ॥

भनक्त्यघ्नन् देशभङ्ग- ।

त्राणात्त्वतिचरत्यधीः ॥ १७ ॥

हेही ह्मणणें बरोबर नाही. कारण जर वास्तविक अहिंसा शुद्धभावानें स्वीकारिली असेल तर बंधादिकाविषयीं इच्छाच होणार नाही. ह्मणून बंधादिकांचा निराळा त्याग करून त्याचा व्रतत्वानें स्वीकार करण्याचेंही प्रयोजन नाही. एवढ्या विवेचना-बळून बंधादिक हे अतिचार आहेत असें सिद्ध होतें.

टीका—न पाति न पालयति । कोऽसौ अधीरज्ञोऽसमीक्ष्यकारी । किं तत् न हन्मीति व्रतं न मारयामीति नियमं । किं कुर्वन् क्रुध्यन् क्रोधावेशं गच्छन् । कुतो न पाति निर्दयत्वात् करुणारहितत्वात् । तथा न भनक्ति न नाशयति । कोऽसावर्धाः । किं तत् न हन्मीति व्रतं । किं कुर्वन्नघ्नन् प्राणैर्जीवभवियोजयन् । किं तर्हि करोतीत्याह— अतिचरति व्रतमतिक्रम्याधिवर्तते । तु पुनः । कस्मात् देशभङ्गत्राणात् भङ्गश्च त्राणं भङ्गत्राणं देशस्यान्तर्बहिर्वृत्त्युभयरूपव्रतैकदेशस्य भङ्गत्राणमन्तर्वृत्त्या भङ्गनं बहिर्वृत्त्या च पालनं तस्मात् ॥

अर्थ — योग्य कोणतें व अयोग्य कोणतें याचा विचार नसलेला व ह्मणूनच क्रोधानें व्याप्त होणारा असा श्रावक क्रोधामुळें निर्दय होऊन अहिंसा व्रताचें पालन करीत नाहीं ( कारण अहिंसा व्रताचें ग्रहण केलें असतां निर्दयता वृत्ति उत्पन्न होणें हें विरुद्ध आहे ) व केवळ बंधादिका-विषयीं प्रवृत्त होतो, ह्मणून साक्षात् हिंसा करीत नसल्यानें अहिंसाव्रताचा भंगही करीत नाहीं ; तर दुर्भावानें बंधादिक करण्याविषयीं प्रवृत्त झाला असल्यानें अहिंसाव्रताचें अतिक्रमण ( उल्लंघन ) करितो. ह्मणून, त्या उल्लंघनास अतिचार असें नांव दिलें आहे. ( तात्पर्य, अंतर्वृत्तीनें व्रतभंग करितो व बहिर्वृत्तीनें व्रताचें पालन करितो यामुळें एकदेशाचा जो भंगकव्यापार त्याला अतिचार असें ह्मणतात. )

अतिचरतीति पदार्थमभिव्यक्तुं भुक्तिरोधनं चेत्यत्र चशब्देन समुच्चितं चातिचारजातं वक्तुमाह—

आतां; अतिचारपदाचा स्पष्ट अर्थ सांगून, आणखी

किति एक क्रिया अतिचारशद्धानें संग्राह्य आहेत. त्या दाखवितात.

सापेक्षस्य व्रते हि स्या- ।

दतिचारोऽशभञ्जनम् ॥

मन्त्रतन्त्रप्रयोगाद्याः ।

परेऽप्यूह्यास्तथाऽत्ययाः ॥ १८ ॥

टीका—हि यस्मात् । स्याद्भवेत् । कोऽसावतिचारः । किं स्यादं-  
शभञ्जनं अन्तर्वृत्त्या बहिवृत्त्या वा खण्डनं । कस्य सापेक्षस्य । क्व व्रते  
प्रतिपन्नमहिंसाव्रतं न भनज्मीति अपेक्षमाणस्य पुंसः । तथा ऊह्याः  
वितर्क्याः । के अत्यया अतीचाराः । किंविशिष्टा मन्त्रतन्त्रप्रयो-  
गाद्याः मन्त्र इष्टकर्मसाधनसमर्थः पठितसिद्धोऽक्षरपिण्डः । तन्त्रं  
सिद्धौषधिक्रियाः मन्त्रश्चतन्त्रं च मन्त्रतन्त्रे तयोः प्रयोगो विधिव-  
त्कर्मणि व्यापारणं स आद्यो येषां ध्यानादीनां ते मन्त्रतन्त्रप्रयो-  
गाद्याः गतिस्तम्भमतिस्तम्भोच्चाटनादिदुष्टकर्मसाधनहेतवः । न केवलं  
ते परेऽपि शास्त्रान्तरनिर्दिष्टाश्च । कथमूह्याः । तथा तेन व्रतापेक्षा-  
पूर्वकं तदेकदेशभञ्जनलक्षणेन प्रकारेण मन्त्रादिकृत् ॥

अर्थः—मीं स्वीकारिलेल्या अहिंसाव्रताचा भंग होऊं  
देणार नाहीं अशी प्रतिज्ञा ज्यानें केली आहे अशा श्राव-  
काचा अंतर्वृत्तीनें अथवा बहिवृत्तीनें जो ( पूर्वी सांगितल्या-  
प्रमाणें बंधनादि व्यापारामुळे ) एकदेशभंग त्याला अति-  
चार असें ह्मणतात. पूर्वी सांगितलेल्या पांच अतिचा-  
राहून निराळें जारण मारण उच्चाटन वगैरे दुष्ट क्रियेला  
साधनीभूत असलेले मंत्र ह्मणजे ज्याच्या जपापासून  
इष्टसिद्धि होते असा सिद्धाक्षरांचा समुदाय व तंत्र ह्मणजे  
औषधक्रिया यांचे यथाविधि प्रयोग व दुसऱ्या शास्त्रांमध्ये

सांगितलेले आणखी असेच दुर्व्यापार हे देखील अतिचार आहेत असेच समजावे. कारण, हे व्यापारही पूर्वी सांगितल्याप्रमाणे एकदेशाचे भंजक आहेत.

बन्धादीनामतिचारत्वसमर्थनपुरस्सरमतिचारपरिहारे यत्नं कारयन्नाह—

आतां; मंत्रादिकांनीं केलेल्या बंधनादि व्यापाराला अतिचारत्व आहे असे समर्थन करून; व्रती श्रावकानें अतिचार न होऊं देण्याविषयीं फार जपावे असे सांगतात.

मन्त्रादिनाऽपि बन्धादिः ।

कृतो रज्जादिवन्मलः ॥

तत्तथा यतनीयं स्या- ।

न यथा मलिनं व्रतम् ॥ १९ ॥

टीका—भवति । कोऽसौ बन्धादिः बन्धनताडनादिः । किं स्यान्मलः यथोदितशुद्धिप्रतिबन्धित्वादर्हिसाणुव्रतातिचारः स्यात्तदेकदेशभञ्जकत्वाविशेषात् । किंविशिष्टः कृतो विहितः । केन मन्त्रादिना मन्त्रतन्त्रादिना । न केवलं रज्जादिनेत्यपिशब्दार्थः । केनेव रज्जादिवत् पाशकर्शादिना यथा । तत्तस्माद्यतनीयं मैत्र्यादिभावनालक्षणया प्रमादपरिहारपूर्वकचेष्टारूपया च यतनया वर्तितव्यं । कथं तथा तेन विशुद्धाध्यवसायलक्षणेन प्रकारेण । यथा किं । यथा न स्यात् । किं तत् व्रतं । किंविशिष्टं मलिनं सातिचारम् ॥

अर्थः—मंत्रादिकांनीं केलेले बंधादिव्यापारही, दोरी वगैरे साधनांनीं केलेल्या बंधनादिकाप्रमाणे मल ह्मणजे दोषच आहेत. ह्मणून व्रती श्रावकानें सर्वदा असा यत्न करावा कीं, ज्यायोगानें आपल्या व्रताचा भंग केव्हांही होणार नाही.

अहिंसाणुव्रतस्वीकारविधिमाह—

अहिंसाव्रताच्या स्वीकाराचा विधी सांगतात.

हिंस्यहिंसकाहिंसात- ।

तफलान्यालोच्य तत्त्वतः ॥

हिंसां तथोज्जेन्न यथा ।

प्रतिज्ञाभङ्गमाप्नुयात् ॥ २० ॥

टीका—उज्जेत् व्रतयेत् । कोऽसौ श्रावकः । कां हिंसां । कथं तथा तेन स्वशक्त्यनुसारलक्षणेन प्रकारेण । किं कृत्वा आलोच्य गुरुसधर्मश्रेयोऽर्थिभिः सह विमृश्य । कानि हिंस्यहिंसक-हिंसातत्फलानि वध्यवधकवधतत्साध्यानि । कस्मात् तत्त्वतः याथा-त्म्येन । यथा किं यथा नाप्नुयात् । कोऽसौ व्रती प्रतिपन्नव्रतः । कं प्रतिज्ञाभङ्गं नियमखण्डनम् ॥

अर्थः— ( हिंस्य ह्यणजे ज्याची हिंसा करावयाची ती वस्तु, हिंसक ह्यणजे हिंसा करणारा व हिंसा ह्यणजे देहाचा आणि प्राणांचा वियोग करणें. ) श्रावकानें हिंस्य ह्यणजे काय ? हिंसक ह्यणजे काय ? हिंसा ह्यणजे काय ? व तिचें फळ कशाप्रकारचें आहे याचा नीट विचार करून आपल्या शक्तीप्रमाणें हिंसेचा त्याग करावा. कीं जेणें-करून आपल्या प्रतिज्ञेचा भंग केव्हांही होणार नाही.

हिंसकादील्लक्षयति—

आतां; हिंसक, हिंस्य आणि हिंसा यांचें स्वरूप क्रमानें सांगतात.

प्रमत्तो हिंसको हिंस्या ।

द्रव्यभावस्वभावकाः ॥

## प्राणास्तद्विच्छिदा हिंसा ।

तत्फलं पापसञ्चयः ॥ २१ ॥

टीका—भवति कोऽसौ हिंसकः । किंरूपः प्रमत्तः कषायाद्या-  
विष्टः । प्रपञ्चितं चैतदहिंसामहाव्रतोपदेशप्रस्तावे प्रागिति न पुनरिह  
प्रपंच्यते । तथा भवन्ति । के हिंस्याः प्राणाः । किमात्मानो द्रव्य-  
भावस्वभावकाः द्रव्यात्मकाः पुद्गलविवर्तरूपाः भावात्मकाश्च चित्प-  
रिणामलक्षणाः । तथा भवति । काऽसौ हिंसा । किंलक्षणा  
तद्विच्छिदा तेषां द्रव्यभावप्राणानां वियोगकारणं । तथा भवति ।  
किं तत् तत्फलं हिंसासाध्यं । किं पापसञ्चयः दुष्कर्मबन्धः ॥

अर्थः— प्रमत्त ह्यणजे क्रोधादि कषायांनी व्याप्त झालेला  
पुरुष हा 'हिंसक' होय. पुद्गलात्मक व भावात्मक जीव  
हे 'हिंस्य' होत. आणि त्या पुद्गलात्मक किंवा भावा-  
त्मक जीवांचा वियोग करणें, याला 'हिंसा' असें ह्यण-  
तात. व 'दुष्कर्मबंध' हें त्या हिंसेचें फल होय,  
असें जाणावें.

गृहिणोऽप्यहिंसाव्रतनैर्मल्याय विधिविशेषमाह—

आतां; अहिंसा अणुव्रत विशेष निर्मल ठेवण्याचा विधि  
सांगतात.

कषायविकथानिद्रा- ।

प्रणयाक्षविनिग्रहात् ॥

नित्योदयां दयां कुर्यात् ।

पापध्वान्तरविप्रभाम् ॥ २२ ॥

टीका—कुर्यात् । कोऽसावहिंसाणुव्रतनैर्मल्यार्थी । कां दयाम-

नुकम्पां । किंविशिष्टां नित्योदयां अविच्छिन्नोल्लासां । पुनः किंविशिष्टां पापध्वान्तरविप्रभां पापं बन्धाद्यतिचारदुष्कृतं तत् ध्वान्तमिव पुण्यप्रकाशविरोधित्वात् तत्र रविप्रभावत्तदनवगाह्यत्वात् । कस्मात् कषायेत्यादि । कषायाः क्रोधादयः, विकथा मार्गविरुद्धाः कथाः, निद्रा भुक्तान्नपरिणामहेतुः स्वापः, प्रणयो मोहः स्नेहानुबन्धान्ममायमिति ग्रहः, अक्षाणि स्पर्शादिविषयरागद्वेषततानीन्दियाणि, तेषां पञ्चदशप्रमादानां विनिग्रहात् विधिपूर्वकनिग्रहात् । अत्र मार्गविरुद्धाः कथाः भक्तस्त्रीदेशराजसम्बन्धिन्यः । तत्र भक्तकथा इदं चेदं श्यामाकषायमोदकादि साधु भोज्यं, साध्वनेन भुज्यते, अहमपि वेदं भोक्ष्ये इत्यादिरूपा । तथा स्त्रीकथा स्त्रीणां नेपथ्याङ्गहारहावभावदिवर्णनरूपा कर्णाटी सुरतोपचारचतुरा लाटी विदग्धा प्रियेत्यादिरूपा वा । तथा देशकथा दक्षिणपथः प्रचुरान्नपानस्त्रीसम्भोगप्रधानः, पूर्वदेशो विचित्रवस्त्रगुडखण्डशालिमद्यादिप्रधानः । उत्तरापथे शूराः पुरुषाः जविनो वाजिनो गोधूमप्रधानानि धान्यानि सुलभं कुंकुमं मधुराणि द्राक्षादाडिमकपित्थादीनि । पश्चिमदेशे सुखस्पर्शानि वस्त्राणि, सुलभा इक्षवः सितं वारीत्येवमादि ॥ राजकथा शूरोऽस्मदीयो राजा सधनः शौण्डः । गजपतिर्गौडः । अश्वपतिस्तुरुष्कः इत्यादिरूपा । एवं प्रतिकूला अपि भक्तादिकथा वाच्याः । यदा तु रागद्वेषावनास्कन्दन् धर्मकथाङ्गत्वेन अर्थकामकथाः कथयति तदा न वैकथिकः स्यात् । एवं प्रणयस्यापि धर्मविरोधित्वेनैव प्रमादत्वं बोध्यम् ॥

अर्थः— क्रोध, मान, माया आणि लोभ हे चार कषाय ; भक्तकथा ( अमुक एक प्रकारचें अन्न हें फार चांगलें असतें तें मला फार आवडतें किंवा अमक्या एकास आवडतें इत्यादि गोष्टी. ) स्त्रीकथा ( अमुक स्त्री सुंदर

आहे, अमुक स्त्री चतुर हावभाव करणारी आहे इत्यादि गोष्टी. ) राजकथा ( आमचा राजा शूर आहे, दयाळू आहे, सुरूप आहे इत्यादि गोष्टी. ) आणि देशकथा ( अमक्या देशांत अन्नजलांची समृद्धि आहे, अमक्या देशांतले लोक कुरूप आहेत, अमक्या देशांत नाजुकवस्त्र उत्पन्न होतें, अमक्या देशांतले लोक विलासी आहेत इत्यादि गोष्टी. ) ह्या चार विकथा, निद्रा, प्रणय ( स्नेह ) आणि पांच इंद्रियें मिळून पंधरा प्रमाद, यांचा निग्रह करून; श्रावकानें पापरूपी अंधकार घालविणारी जणूं सूर्यप्रभांच कीं काय ; अशी दया सतत सर्व जीवांवर करावी.

गृहस्थस्याहिंसादुष्परिपाल्यत्वशङ्कामपाकरोति —

आतां; गृहस्थाला अहिंसाव्रत पाळणें अशक्य आहे या शंकेचें समाधान सांगतात.

विष्वग्जीवचिते लोके ।

क्व चरन् कोऽप्यमोक्षत ॥

१ स्नेहानुबिद्धहृदयो ज्ञानचरित्रान्वितोऽपि न श्लाघ्यः ॥

दीप इवापादयिता कज्जलमलिनस्य कार्यस्य ॥ १ ॥

अर्थ—ज्याचें हृदय प्रेमानें घायाळ झालें आहे असा मनुष्य ज्ञानी व चारित्रशील असला तरी तो-काजळरूपी मळ उत्पन्न करणाऱ्या दीपाप्रमाणें-अश्लाघ्य होय.

२ पुण्यं तेजोमयं प्राहुः प्राहुः पापं तमोमयम् ॥

तत्पापं पुंसि किं तिष्ठेद्यादीधितिमालिनि ॥ २ ॥

अर्थः—पुण्य हें प्रकाशमय आहे आणि पाप हें तमःस्वरूप आहे असें सांगितलें आहे. तेंव्हा, दयारूपी प्रकाशमय किरणांचा सूर्य अशा पुरुषाचे ठिकाणीं पाप कसें राहूं शकेल ?



भावैकसाधनौ बन्ध- ।

मोक्षौ चेन्नाभविष्यताम् ॥ २३ ॥

टीका—अमोक्ष्यत मोक्षमगमिष्यत् । कोऽसौ कोऽपि मुमुक्षुः । किं कुर्वन् चरन् चेष्टमानः । कस्मिन् क न कापि प्रदेशे । कस्मिन् लोके जगति । किंविशिष्टे विष्वग्जीवचिते समन्ताज्जन्तुव्याप्ते । चेद्यदि वा नाभविष्यतां नाजनिष्यतां । कौ बन्धमोक्षौ । किंविशिष्टौ भावैकसाधनौ भावः परिणाम एकमुत्कृष्टं प्रधानं साधनं निमित्तं ययोः । तत्र शुभाशुभोपयोगौ पुण्यपापरूपबन्धस्य शुद्धोपयोगश्च मोक्षस्य प्रधानं कारणमिति विभागः ॥

अर्थः— बंध व मोक्ष हे जर आत्म्याच्या शुभादिपरिणामावर अवलंबून नसते, तर सर्वत्र त्रसस्थावर जीवांनी व्यसप्त झालेल्या ह्या जगांत संचार करणारा कोणता तरी जीव मुक्त झाला असता काय ! मुळींच झाला नसता. स्पष्टीकरण—जगांतील सर्व प्रदेशांत जीव भरले आहेत. तेथे यत्किंचित् सुद्धां हालचाल करण्यास अवकाश नाही. अशा ठिकाणीं वास करणारा प्राणी अहिंसा व्रत पाळणार कसे ? अहिंसाव्रतावांचून मोक्ष होणे शक्यतर नाही. यावर आचार्यांचे ह्मणणे असे आहे कीं ; जीवाला अशुभ परिणामानें पापबंध होतो व शुभपरिणामानें पुण्यबंध होतो आणि शुभ व अशुभ या दोन्ही परिणामांच्या त्यागानें ह्मणजे शुद्धपरिणामानें मुक्ति होते. तेव्हां, हिंसा न होण्याविषयीं सावधगिरी ठेवून वागल्यानंतर कदाचित् न कळत हिंसा झाली; तरी तिच्यायोगें पापबंध होणार नाही. कारण, हिंसा करण्याचा हेतु त्यांत नसतो.

एवमतिचारपरिहारद्वारेणाहिंसाणुव्रतपरिपालनमुपदिश्य साम्प्रतं रात्रिभोजनवर्जनव्रतबलेन तदुपदिशन्नाह—

आतां, रात्रिभोजनत्यागाच्चै कारण सांगतात.

अहिंसाव्रतरक्षार्थं ।

मूलव्रतविशुद्ध्ये ॥

नक्तं भुक्तिं चतुर्धाऽपि ।

सदा धीरस्त्रिधा त्यजेत् ॥ २४ ॥

टीका—त्यजेत् । कोऽसौ व्रती । कां भुक्तिं भोजनं । कतिधा चतुर्धाऽपि अन्नपानखाद्यलेह्यप्रकारमपि । कदा नक्तं रात्रौ । कथं सदा सर्वदा यावज्जीवं । कथं त्रिधा मनोवाक्यैः । किंविशिष्टः सन् धीरः परीषहोपसर्गैरक्षोभ्यः सत्त्वभावनानिष्ठ इत्यर्थः । किमर्थं अहिंसाव्रतरक्षार्थं । मूलव्रतविशुद्ध्ये च मूलगुणान्विमलीकर्तुमहिंसाणुव्रतं च रक्षितुमित्यर्थः ॥

अर्थ—अहिंसा व्रताच्या रक्षणाकरितां व मूलगुण विशेष निर्मल होण्याकरितां रात्रीं चार प्रकारचें भोजन ( अन्न-भात, वगैरे, पान-दूध, पाणी, सरबत वगैरे; खाद्य लाडू, चिवडा वगैरे आणि लेह्य-आमटी, लोणचें वगैरे खाणें ) करण्याचें—धीर होऊन ह्मणजे त्रास झाला तरी तो सोसून; मनानें, वचनानें व कायेनें सोडून द्यावें.

दृष्टादृष्टदोषभूयिष्ठमपि रात्रिभोजनमाचरन्तं वक्रमणित्या तिरस्कुर्वन्नाह—

जलोदरादिकृद्यूका- ।

द्यङ्क्रमप्रेक्ष्यजन्तुकम् ॥

प्रेताद्युच्छिष्टमुत्सृष्ट- ।

मप्यश्नन्निश्यहो सुखी ॥ २५ ॥

टीका—अहो आश्चर्यं कष्टं च । भवति । कोऽसौ जनः । किंविशिष्टः सुखी सुखिनमात्मानं मन्यते इहामुत च दुःखभागेव भवतीति भावः । किं कुर्वन् अश्नन् भोज्यमाहरन् । क निशि रात्रौ । किंविशिष्टमपि जलोदरादिकृच्छूकाद्यङ्कमपि अपिशङ्खोऽन्तदीपकत्वाच्चतुर्भिरपि विशेषणैः सम्बध्यते । जलोदरमादिर्येषां कुष्ठादीनामपायानां तान् कुर्वन्तीति तत्कृतो जलोदरादिहेतवस्ते च ते यूकादयश्च यूकामर्कटिकादयस्ते तथाविधा अङ्काः कलङ्का अङ्के वा उत्सङ्गे मध्ये यस्यान्नपानादेर्भोज्यवस्तुनस्तथोक्तं । तत्र यूका भोजनेन सह भुक्ता जलोदरं करोति । कौलिकः कुष्ठं, मक्षिका छर्दि, मुद्गिका मेदोहानि, व्यञ्जनान्तःपतितो वृश्चिकस्तालुव्यथां, कण्टकः काष्ठखण्डं वा गलव्यथां, बालश्च गले लग्नः स्वरभङ्गमित्यादयो दृष्टदोषाः सर्वेषां प्रतीतिकरा, रात्रिभोजने सम्भवन्ति । तथा अप्रेक्ष्यजन्तुकमपि अप्रेक्ष्यास्तमसा छन्नत्वाद्द्रष्टुमशक्या जन्तुका अल्पजन्तवः सूक्ष्मजीवाः कुन्थादयो जलघृतादिमध्ये पातिताः । मोदकखर्जूरानुपङ्क्तिणो वा यत्र तत्तथोक्तं । किंच निशिभोजने क्रियमाणेऽवश्यं पाकः सम्भवी । तत्र च षड्जीवनिकायवधोऽवश्यम्भावी । भाजनधावनादौ च जलगतजन्तुविनाशो जलोद्भवे च भूमिगतकुन्थुपिपीलिकादिजन्तुघातश्च संभवति । तथा प्रेताद्युच्छिष्टमपि प्रेता अधमव्यन्तरा आदयो येषां पिशाचराक्षसादीनां तैरुच्छिष्टं स्पर्शादिना अभोज्यतां नीतं । एते पूर्वे चादृष्टदोषाः । तथा उत्सृष्टमपि प्रत्याख्यातमपि वस्तु घोरान्धकाररुद्धदृशां तदुपलक्षणासम्भवादेशोऽप्यदृष्टो दोषः ॥

अर्थ—जलोदर, कुष्ठ वगैरे रोग उत्पन्न होण्यास कारण होणारे जे कोष्ठी किंवा कोळी वगैरे किडे, ते ज्यांत पडलेले असतात; शिवाय किती यत्न करून पाहिलें तरी न दिसून येणारे असेहि जंतु ज्यांत भरले आहेत, आणि नीच प्रतीचे व्यंतर पिशाच वगैरे रात्रीं फिरत असतात ते आपणास न कळत आपल्या पात्रांतलें अन्न हुंगतात; त्यामुळें उष्टें झालेलें, आणि रात्रीं चांगलेंसें दिसत नसल्यामुळें, आपण पूर्वी ज्या पदार्थाचा त्याग केला आहे, तोच ज्यांत पडला आहे अशा प्रकारचेंहि अन्न, रात्रीं खाऊन मनुष्य आपणास सुखी समजतों, हें आश्चर्य होय ! किंवा ही गोष्ट मोठी खेदाची होय !

वनमालादृष्टान्तेन रात्रिभोजनदोषस्य महत्तां दर्शयति—

आतां; वनमालेचा दृष्टांत देऊन रात्रिभोजनाच्या दोषाचें महत्त्व सांगतात.

त्वां यद्युपैमि न पुनः सुनिवेश्य रामं ।

लिप्ये वधादिकृदघैस्तदिति श्रितोऽपि ॥

सौमित्रिरस्य शपथान्वनमालयैकं ।

दोषाशिदोषशपथं किल कारितोऽस्मिन् ॥२६॥

टीका—किल रामायणे ह्येवं श्रूयते । कारितो विधापितः । कोऽसौ सौमित्रिर्लक्ष्मणः । कया वनमालया स्वभार्यया । कं दोषा-शिदोषशपथं दोषाशिनो रात्रिभोजिनो दोषो महापातकारुयः तेन लिप्येऽहमिति शपथं । किंविशिष्टं एकं शपथान्तररहितं । क अस्मिन् लोके । किंविशिष्टोऽपि श्रितोऽपि प्रतिपन्नोऽपि । कान्

अन्यशपथान् शपथान्तराणि । कथं इति अनेन प्रकारेण । यदि नोपैमि नागच्छामि । कां त्वां । कथं पुनर्व्याघुष्य । किं कृत्वा सुनिवेश्य सुव्यवस्थितं कृत्वा । कं रामं । तत् ततः । लिप्ये संयोज्येऽहं । कैः कर्तृभिः वधादिकृद्घैः गोस्त्र्यादिघातकादिपापैः । तत्कथा यथा — लक्ष्मणो दशरथपितृनिदेशात्सह रामेण सीतया च दक्षिणापथे प्रस्थितोऽन्तरा कूर्चनगरे महीधरराजतनयां वनमालां परिणीतवान् । ततश्च रामेण सह परतो देशान्तरं गियासन् स्वभार्या वनमालां प्रति मोचयति स्म । सा तु तद्विरहकातरा पुनरागमनमसम्भावयन्ती लक्ष्मणं शपथानकारयत् । यथा प्रिये रामं मनीषिते देशे परिसंस्थाप्य यद्यहं भवतीं स्वदर्शनेन न प्रीणयामि तदा प्राणातिशानादिपातकिनां गतिं यामीति । सा तु तैः शपथैरतुष्यन्ती यदि रात्रिभोजनकारिणां शपथं करोषि तदा त्वां प्रति मुञ्चामि नान्यथेति । स च तथेत्यभ्युपगत्य देशान्तरं प्रस्थितवानिति ॥

अर्थ—रामाला इष्टप्रदेशांत पोंचवून पुनः परत तुझ्या-जवळ न येईन तर मी हिंसा, लवाडी वगैरे पातकांनीं लिपला जाईन अशा इतर शपथा लक्ष्मणानें घेतल्या तरी त्याची स्त्री जी वनमाला तिणें, या जगांत मुख्य अशी रात्रिभोजनदोषाची शपथ त्याच्याकडून कराविली. असें रामायणांत लिहिल्याचें ऐकण्यांत येतें. याविषयीं रामायणांत अशी कथा आहे—दाशरथि राम सीतेसह वन-वासास निघाले, तेव्हां त्यांच्याबरोबर लक्ष्मणहि आपण होऊन बंधुमेमानें गेले होते. ते दक्षिणदेशांत गेले, तेव्हां वाटेंत उत्तराकूर्च नगरचा राजा महीश्वर नांवाचा होता, त्याची कन्या वनमाला नांवाची होती, तिणें लक्ष्मणास

वरिलें. पुढें तेथून लक्ष्मण रामचंद्राबरोबर देशांतरास निघाले त्या समयीं ती वनमाला विरहानें दीन होऊन तिनें पुनः लवकर परत येण्याविषयीं शपथ मागितली. तेव्हां लक्ष्मण झणाले, प्रिये, रामाला इच्छित स्थलाला पोचवून तेथें त्यांची नीट व्यवस्था करून मी जर पुनः परत येऊन माझ्या दर्शनानें तुला संतुष्ट न करीन, तर मला हिंसादि पंच पातकें केल्याचा दोष लागेल. ही शपथ तिला नापसंत होऊन तिनें लक्ष्मणाकडून “परत न आल्यास रात्रिभोजन केल्याचा दोष लागेल” अशी शपथ करविली; आणि मग देशांतरीं जावयास आपली संमती दिली. या कथेवरून इतकेंच लक्षांत ठेवावयाचें कीं रात्रि-भोजन हें महापाप आहे.

लौकिकसंवाददर्शनेनापि रात्रिभोजनप्रतिषेधमाह—

यत् सत्पात्रदानादि ।

किञ्चित्सत्कर्म नेष्यते ॥

कोऽद्यात्तत्रात्ययमये ।

स्वहितैषी दिनात्यये ॥ २७ ॥

टीका—कः स्वहितैषी आत्मनो लोकद्वयेऽपि पथ्यमिच्छुः अद्यात् न कश्चित्स्वहितैषी भुञ्जीतेत्यर्थः । क तत्र दिनात्यये रात्रिसमये । किंविशिष्टे अत्ययमये दोषभूयिष्ठे दोषनिवृत्ते वा । यत्र किं यत् नेष्यते बाह्यैरपि नाभिमन्यते । किं तत् सत्कर्म शुभक्रिया किंविशिष्टं किञ्चित् किमपि किं पुनः सर्वं । किंविशिष्टं तत् सत्पात्रदानादि सत्पात्रदानं स्नानं देवार्चनमाहुतिः श्राद्धं विशेषतो भोजनं च ॥

अर्थ—रात्री सत्पात्रदान, स्नान, देवतार्चन, श्राद्ध, आहुती वगैरे सत्क्रियाहि करूं नयेत असें मिथ्यादृष्टीचें सुद्धां ह्मणणें आहे. ह्मणून सर्व दोषांनीं युक्त अशा रात्रीच्या समयीं कोण बरें हिताची इच्छा करणारा मनुष्य भोजन करील ! कोणीच करणार नाही.

दिनरात्रिभोजनद्वारेण पुंसामुत्तममध्यमजघन्यभावमाह—

आंता ; रात्र आणि दिवस ह्यांत भोजन करण्यासंबंधानें श्रावकांचे होत असलेले उत्तम, मध्यम, अधम हे तीन प्रकार सांगतात.

भुञ्जतेऽहः सकृद्वर्या ।

द्विर्मध्याः पशुवत्परे ॥

रात्र्यहस्तद्वतगुणान् ।

ब्रह्मोद्यान्नावगामुकाः ॥ २८ ॥

टीका—भुञ्जते अश्नन्ति । के ते वर्या उत्तमाः शुभकर्मणो-  
स्त्वणाः । कथं सकृत् एकवारं । कस्य अहो दिनस्य मध्ये ।  
तथा भुञ्जते के मध्याः मध्यमाः शुभक्रियाभिरनुत्तमाधमाः । कथं द्विः  
द्विवारं । कस्याहः । तथा परे अधमाः पापकर्माणः । भुञ्जते ।  
किंवत् पशुवत् गोमहिषादिभिस्तुर्यं । कथं रात्र्यहं नक्तंदिनं ।  
किंविशिष्टाः सन्तो नावगामुकाः अजानानाः कान् तद्वतगुणान्  
रात्रिभोजनवर्जनोपकारकधर्मान् । किंविशिष्टान् ब्रह्मोद्यान् सर्वज्ञप्र-  
तिपाद्यान् ॥

अर्थ—श्रेष्ठ लोक दिवसांतून एक वेळ जेवतात. मध्य-  
मप्रतीचे लोक दिवसाच दोन वेळ जेवतात आणि जिनानें  
उपदेशिलेल्या रात्रिभोजनत्यागाच्या व्रताचा माहिमा न

जाणणारे अधम लोके पशूप्रमाणें रात्रंदिवस पाहिजे तेव्हां खातात.

शास्त्रनिदर्शनं विना सकलजनानुभवसिद्धं रात्रिभोजननिवृत्ति-  
फलविशेषमाह—

आतां; रात्रिभोजनत्यागाचें विशेष फळ सांगतात.

योऽत्ति त्यजन् दिनाद्यन्त- ।

मुहूर्तो रात्रिवत्सदा ॥

स वर्ण्येतोपवासेन ।

स्वजन्मार्द्धं नयन् कियत् ॥ २९ ॥

टीका—योऽत्ति भोजनं करोति । किं कुर्वन् त्यजन् वर्जयन् ।  
कौ दिनाद्यन्तमुहूर्तो दिवसस्यादावन्ते च द्वे द्वे घटिके । किंवत्  
रात्रिवत् रात्रिं यथा । कथं सदा नित्यं । स कियत् कियन्मात्रं । वर्ण्येत  
स्तूयेत सद्भिः । किं कुर्वन् नयन् गमयन् । किं तत् स्वजन्मार्धं  
अर्थे निजं जन्म । केन उपवासेन चतुर्विधाहारपरिहारेण । समांशे  
विषमांशे वाऽत्रार्धशब्दो व्याख्येयः ॥

अर्थ—जो गृहस्थ रात्रीप्रमाणेंच दिवसां सकाळीं सूर्यो-  
दयानंतरच्या दोन घटिका व सायंकाळीं अस्तापूर्वीच्या  
दोन घटिका सोडून भोजन करितो तो आपल्या जन्मांतील  
अर्धे आयुष्य उपवासानें घालवितो. तेव्हां त्याचें किती  
वर्णन करावें !

अथ रात्रिभोजनवर्जनवन्मूलव्रतविशुद्ध्यज्ञत्वादहिसाव्रतरक्षाज्ञत्वाच्च  
श्रावकस्य भोजनान्तरायान् श्लोकचतुष्टयेन व्याचष्टे—

आतां; चार श्लोकांत श्रावकांनीं पाळावयाचे भोजनाचे  
अंतराय सांगतात.



अतिप्रसङ्गमसितुं ।

परिवर्धयितुं तपः ॥

व्रतबीजवृत्तीर्भुक्ते- ।

रन्तरायान् गृही श्रयेत् ॥ ३० ॥

टीका—श्रयेत् प्रतिपद्येत । कोऽसौ गृही व्रतिको गृहस्थः । कान् अन्तरायान् । कस्या भुक्तेः भोजनवर्जनहेतूनित्यर्थः । किंवि-  
शिष्टान् व्रतबीजवृत्तीः बीजस्येव व्रतानामावेष्टकान् रक्षोपायत्वात्  
अहिंसाणुव्रतशीलभूतानित्यर्थः । किं कुर्वन् असितुं त्यक्तुं । कं  
अतिप्रसङ्गं विहितातिक्रमेणोपर्योपरि प्रवृत्तिं । तथा परिवर्द्धयितुं सम-  
न्तादुपचेतुं । किं तत् तपः इच्छानिरोधम् ॥

अर्थ—पुढें होणारी दुरवस्था टाळण्याकरितां व तप  
ह्मणजे इच्छेचा निरोध वाढविण्याकरितां व्रतरूपी बीजाचे  
फोलासारखे असे जे अंतराय ते व्रती श्रावकानें पाळावे.

तानेव श्लोकत्रयेण विशेषतो निर्देष्टुं विवृणोति—

दृष्ट्वाऽऽर्द्रचर्मास्थिसुरा- ।

मांसासृक्पूयपूर्वकम् ॥

स्पृष्ट्वा रजस्वलाशुष्क- ।

चर्मास्थिशुनकादिकम् ॥ ३१ ॥

श्रुत्वाऽतिकर्कशाक्रन्द- ।

विड्वरप्रायनिःस्वनम् ॥

भुक्त्वा नियमितं वस्तु ।

भोज्येऽशक्यविवेचनैः ॥ ३२ ॥

संसृष्टे सति जीवद्भि- ।

जीवैर्वा बहुभिर्मृतैः ॥

इदं मांसमिति दृष्ट- ।

सङ्कल्पे चाशनं त्यजेत् ॥ ३३ ॥

टीका—त्यजेत् कोऽसौ व्रतिकः । किं तदशनं तात्कालिकमे-  
वाहारं न तु वैकालिकादिकं । किं कृत्वा दृष्ट्वा स्पृष्ट्वा चेत्यपि द्रष्टव्यं ।  
किं तत् आर्द्रेत्यादि—आर्द्रमशुष्कं चर्माजिनं अस्थि च कीकसं ।  
तथा सुरां मद्यं । मांसं पिशितं । असृक् शोणितं । पूयं व्रणा-  
दिगतं पकासृक् । पूर्वशब्दाद्वशात्त्रादि । तथा स्पृष्ट्वा । किं तत्  
रजस्वलां पुष्पवतीं स्त्रीं । शुष्के चर्मास्थिनी । शुनकं श्वानं  
आदिशब्देन मार्जारश्वपचादि । तथा श्रुत्वा आकर्ण्य । कं अति-  
कर्कशनिःस्वनं अस्य मस्तकं कृन्धि इत्यादिरूपं । आक्रन्दनिः-  
स्वनं हाहेत्याद्यार्तस्वरस्वभावं । विडूरप्रायनिःस्वनं परचक्रागमना-  
तङ्कप्रदीपनादिविषयं । तथा भुक्त्वा अशित्वा । किं तत् वस्तु ।  
किंविशिष्टं नियमितं प्रत्याख्यातं । तथा अशनं त्यजेत् । क सति  
भोज्ये भोक्तव्ये द्रव्ये सति । किंविशिष्टे संसृष्टे मिलिते । कैर्जी-  
वैर्द्वित्रिचतुरिन्द्रियप्राणिभिः । किं कुर्वद्भिः जीवद्भिः प्राणद्भिः ।  
किंविशिष्टैः सद्भिः अशक्यविवेचनैः भोज्यद्रव्यात्पृथक्कर्तुमशक्यैः ।  
वा अथवा संसृष्टैः कैर्मृतैर्जीवैः । कतिभिर्बहुभिस्त्रिचतुरादिभिः ।  
तथा । इदमित्यादि—इदं भुज्यमानं वस्तु मांसं सादृश्यात् इदं  
रुधिरमिदमस्थ्ययं सर्प इत्यादिरूपेण मनसा विकल्प्यमाने भोज्य-  
वस्तुनीत्यर्थः ॥

अर्थ—वाळलेलें किंवा ओलें चामडें, हाड, मांस, रक्त,  
पू इत्यादि व रजस्वला ( विटाळशी बायको, ) कुत्रा, मांजर

ह्यार, मांग वगैरे जीवांस पाहिलें असतां किंवा स्पर्श केला असतां तसेंच अत्यंत कर्कश ( याचें डोकें कापलें ! हा मरेल कधीं इत्यादि आक्रोशाचें ) ओरडणें ; व लुटारू, रोग इत्यादि कारणांनीं तळमळत ओरडलेले शब्द ऐकण्यांत आले असतां ; त्याचप्रमाणें ज्याचा त्याग केला आहे असा पदार्थ खाण्यांत आला असतां, व जे काढून टाकतां येण्यासारखे नाहींत असे जीवंत किंवा मेलेले द्रव्यादि जीव आपल्या पात्रांतील अन्नांत मिसळले असतील किंवा भोजन करीत असतांना पात्रांतील अन्न पाहून— हें मांसासारखें दिसतें, हें अमुक एका वाईट पदार्थासारखें दिसतें, हा पदार्थ सर्पासारखा दिसतो-इत्यादि विकल्प मनांत येईल तर तत्काळ तें भोजन सोडावें.

अथाहिंसाणुव्रतशीलत्वेन मौनव्रतं व्याचिरव्यासुः पञ्चश्लोकीमाह—

आतां, पांच श्लोकांत मौनव्रत सांगतात. कारण, मौन हें अहिंसाव्रताचें शील आहे. ह्यणून अहिंसाव्रत पाळणारांनीं मौनव्रतहि पाळलेंच पाहिजे,

गृध्रै हुङ्कारादिसञ्ज्ञां ।

संक्लेशं च पुरोऽनु च ॥

मुञ्चन् मौनमदन् कुर्यात् ।

तपःसंयमबृंहणम् ॥ ३४ ॥

टीका—कुर्याद्व्रतिकः । किं तत् मौनमजरूपनं । किं कुर्वन् अदन् भोजनं कुर्वन् । पुनः किं कुर्वन् मुञ्चन् वर्जयन् । कां हुङ्कारादिसञ्ज्ञां हुङ्कारात्कारभूमूर्धागुलिचलनादिभिः स्वाभिप्रायज्ञापनं । कस्यै गृध्रै इष्टमोज्यार्थं । तन्निषेधार्थं तु हुङ्कारादिना सञ्ज्ञाकरणे

अपि न दोषः । अथवा गृध्यै भोजनाभिकांक्षाप्रवृत्त्यर्थं । तथा मुञ्चन् । कं संक्लेशं कोपदैत्याद्यविशुद्धपरिणामं । कथं पुरोऽनु च पूर्वं पश्चाच्च । किंविशिष्टं मौनं तपःसंयमबृंहणं इच्छानिरोधस्य प्राणेन्द्रियसंयमस्य च पुष्टिकरम् ॥

अर्थ—भोजन करतांना अमुक एक पदार्थ पाहिजे ह्मणून हुंकार वगैरे खुणा करण्याचें सोडून; आणि पूर्वीचा व नंतरचा दीन किंवा क्रुद्ध परिणाम सोडून, तप व संयम ह्यास वाढविणारें असें मौन अवश्य धरावें ह्मणजे जेवतांना कोणत्याहि प्रकारचें भाषण करूं नये. आणि अमुक एक जित्तस पाहिजे ह्मणून हुंकार किंवा बोट वगैरे करून खुणा करूं नयेत. नको असल्यास खुणेनें निषेध मात्र करावा.

१ हुंकारांगुलिखात्कारभ्रूमूर्धचलनादिभिः ॥

मौनं विदधता संज्ञा विधातव्या न गृध्यै ॥ १ ॥

अर्थ—मौन पाळणारांनीं जिभेची लालूच पुरविण्याकरितां हुंकार किंवा बोटाच्या खुणा किंवा भुंवई व मस्तक हलविणें इत्यादि क्रियांनीं खुणा करूं नयेत.

भ्रूनेत्रहुंकारकरांगुलीभिः ॥

गृद्धिप्रवृत्त्यै परिवर्ज्य संज्ञाम् ।

करोति भुक्तिं विजिताक्षवृत्तिः ।

स शुद्धमौनव्रतवृद्धिकारी ॥ २ ॥

अर्थ—अमुक एक पदार्थाची इच्छा झाली असतांना ती पूर्ण करण्याकरितां भुंवई, नेत्र, हुंकार किंवा हाताचीं बोटें इत्यादि-कांच्या खुणा करण्याचें सोडून देऊन जो जितेंद्रिय पुरुष शांतपणें भोजन करितो, तो शुद्ध असें मौनव्रत वाढविणारा होय.

मौनस्य तपोवर्द्धकत्वं श्रेयःसञ्चायकत्वं च श्लोकद्वयेन समर्थ-  
यते—

आतां, मौन हैं तप वाढविणारें असून पुण्यसंचय कर-  
णारें आहे; असें पुढील दोन श्लोकांनीं सांगतात.

अभिमानावने गृद्धि- ।

रोधाद्धर्धयते तपः ॥

मौनं तनोति श्रेयश्च ।

श्रुतप्रश्रयतायनात् ॥ ३५ ॥

टीका—वर्धयते । किं तन्मौनं । किं तपः । कस्मिन्निमित्ते सति  
अभिमानावने अयाचकत्वव्रतरक्षायां सत्यां । तथा गृद्धिरोधात्  
भोजनलौल्यप्रतिबन्धाद्धेतोः । तथा तनोति स्फीतीकरोति । किं तत्  
मौनं किं श्रेयः पुण्यं । कस्मात् श्रुतप्रश्रयतायनात् श्रुतज्ञानविन-  
यानुबन्धात् ॥

अर्थ—मौनव्रत हैं याचना न करण्याचा अभिमान राख-  
ण्याकारितां केलें, तरी जिव्हालौल्याचा निरोध करण्या-  
पासून तें तपाला वाढवितें; आणि श्रुतज्ञान व विनय वाढ-  
विल्यापासून पुण्य वाढवितें.

२ सर्वदा शस्यते जोषं भोजने तु विशेषतः ॥

रसायनं सदा श्रेष्ठं सरोगत्वे पुनर्न किम् ॥ ३ ॥

अर्थ—मौन हैं केव्हांही स्तुत्यच आहे. त्यांत भोजनकालीं  
तर तें विशेष स्तुत्य मानिलें आहे. औषध हैं सर्वदां हिताचें  
असतें, मग रोगाच्या अवस्थेंत तें कां बरें हितकर होणार नाही?  
होईलच.

शुद्धमौनान्मनःसिध्या ।

शुक्लध्यानाय कल्पते ॥

वाक्सिध्या युगपत्साधु- ।

स्त्रैलोक्यानुग्रहाय च ॥ ३६ ॥

टीका—कल्पते सम्पद्यते समर्थो भवति । कोऽसौ साधु-  
देशसंयतः संयतश्च । कस्मै शुक्लध्यानाय । कया मनःसिध्या  
चित्तवशीकरणेन । कस्माज्जातया शुद्धमौनात् भोजनादौ निरति-  
चारमौनव्रतात् । तथा साधुः कल्पते । कस्मै त्रैलोक्यानुग्रहाय  
त्रिजगद्भव्यजनानुपकर्तुं । कथं युगपत् एककालं । कया वाक्-  
सिध्या युगपत्त्रिजगदनुग्रहसमर्थभारतीविभूत्या ॥

अर्थ—दोषरहित मौनव्रत पाळिल्यानें मन वश होतें

१ सन्तोषं भाव्यते तेन वैराग्यं तेन दृश्यते ॥

संयमः पोष्यते तेन मौनं येन विधीयते ॥ ४ ॥

अर्थ—जो गृहस्थ मौनव्रत पाळितो तो आपला संतोष व  
वैराग्य हीं व्यक्त करितो आणि संयमाची वृद्धि करितो असें  
जाणावे.

लौल्यत्यागात्तपोवृद्धिरभिमानस्य रक्षणम् ॥

ततश्च समवाप्नोति मनःसिद्धिं जगत्रये ॥ ५ ॥

अर्थ—जिभेची लालूच सोडून दिल्यामुळे तप वाढतें आणि  
याचना न करण्याविषयीच्या अभिमानाचे रक्षण होतें आणि  
त्यायोगानें त्याचे मन त्याला पूर्ण वश होतें.

श्रुतस्य प्रश्नात् श्रेयःसमृद्धेः स्यात्समाश्रयः ॥

ततो मनुजलोकस्य प्रसीदति सरस्वती ॥ ६ ॥

आणि त्यामुळे साधुपुरुष शुद्धध्यानास आणि वचनसिद्धीनें तीन्ही जगावर एकदम अनुग्रह करण्यास समर्थ होतो. ह्मणजे केवली होऊन जगास उपदेश करून त्याचें कल्याण करण्यास समर्थ होतो.

नियतकालिकसार्वकालिकमौनयोरुद्यतनविशेषनिर्णयार्थमाह—

आतां; नियमितकालपर्यंत केलेलें व जन्मभर कराव-  
याचें अशा दोन्ही प्रकारच्या मौनव्रतांच्या उद्यापनाचे  
निरनिराळे प्रकार सांगतात—

उद्योतनं महेनैक- ।

घण्टादानं जिनालये ॥

असार्वकालिके मौने ।

निर्वाहः सार्वकालिके ॥ ३७ ॥

अर्थ—मौन पाळण्यानें श्रुतज्ञानाचा विनय राखल्यासारखा  
होतो, विनय राखण्यानें पुण्याची समृद्धि होते आणि त्यायोगानें  
मनुष्याला सरस्वती प्रसन्न होते.

वाणी मनोरमा तस्य शास्त्रसन्दर्भगर्भिता ॥

आदेया जायते येन क्रियते मौनमुज्ज्वलम् ॥ ७ ॥

अर्थ—जो निर्मळ असें मौनव्रत पाळितो त्या गृहस्थाची  
शास्त्रवचनानें गर्भित व मनोहार अशी भाषा सर्वास ग्राह्य होते.

पदानि यानि विद्यन्ते वन्दनीयानि कोविदैः ॥

सर्वाणि तानि लभ्यन्ते प्राणिना मौनकारिणा ॥ ८ ॥

अर्थ—पंडितांस मान्य अशीं जितकीं ह्मणून पदे आहेत तीं  
सर्व मौन करणारांस आपोआप मिळतात.

टीका—भवति विधीयते वा । किं तत् उद्योतनं फलाति-  
शयलाभाय माहात्म्यापादनं । क मौने । किंविशिष्टे असार्वकालिके  
यथात्मशक्ति नियतकालं कृते । किं तदेकेत्यादि— एकघण्टादानं  
एकस्या घण्टाया वितरणं । क जिनालये अर्हचैत्यगृहे । कथं  
सह । केन महेनोत्सवेन पूजया वा । तथा सार्वकालिके यावज्जीवं  
प्रतिपन्ने मौने । उद्योतनं भवति । किं तत् निर्वाहो निराकुलं  
बहनं । नान्यत् ॥

अर्थ—नियमित कालपर्यंत पाळलेल्या मौनव्रताचें  
उद्यापन ( फलातिशयाच्या लाभाकरितां केला जाणारा  
उत्सव ) करितांना पूजा अर्चा वगैरे करून उत्सव करून  
जिनमंदिरांत एक घंटा अर्पण करावी. आणि आमरण  
पाळिलें जाणारें मौनव्रत व्याकुल न होऊन पाळणें हेंच  
त्याचें उद्यापन होय.

आवश्यकदिपु शक्तिः सर्वदाऽपि मौनविधानेन वाग्दोषो-  
च्छेदमाह—

१ भव्येन शक्तिः कृत्वा मौनं नियतकालिकम् ॥

जिनेन्द्रभवने देया घण्टैका समहोत्सवम् ॥ ९ ॥

अर्थ—भव्य श्रावकानें आपल्या शक्तीप्रमाणें कांहीं कालाच्या  
प्रमाणानें मौनव्रत पाळून त्याच्या उद्यापनाकरितां श्रीजिनाच्या  
मंदिरांत उत्सव करून एक घंटा अर्पण करावी.

२ न सार्वकालिके मौने निर्वाहव्यतिरेकतः ॥

उद्योतनं परं प्राज्ञैः किंचनापि विधीयते ॥ १० ॥

अर्थ—सर्वकाल पाळलें जाणारें मौनव्रत सतत एकसारखें  
पाळणें हेंच त्याचें उद्यापन होय. याशिवाय निराळें कांहीं नको.



आवश्यक मलक्षेपे ।

पापकार्ये च वान्तिवत् ॥

मौनं कुर्वीत शश्वद्वा ।

भूयो वाग्दोषविच्छिदे ॥ ३८ ॥

टीका—कुर्वीत । कोऽसौ साधुः । किं तन्मौनं । क आवश्यक सामयिकादिकर्मषट्के । तथा मलक्षेपे विष्मूत्रोत्सर्गे । तथा पाप-कार्ये हिंसादिकर्मणि परेण क्रियमाणे । चशब्देन स्नानाशनमैथुना-दौ च । यतेस्तु भ्रामरीप्रवेशेऽपि । किंवत् वान्तिवत् । छर्द्या यथा छर्दनादनन्तरमाचमनं यावदित्यर्थः । अथवा मौनं कुर्वीत । कथं शश्वत् नित्यं । किमर्थं भूय इत्यादि—भूयसां कायदोषापेक्षया बहुतराणां वाग्दोषाणां परुषादिवचनकृतपापस्रवाणां विच्छेदार्थम् ॥

अर्थ—वांति ज्ञाल्यावर शुद्ध होऊन आचमन करीतों-पर्यंत जसें मौन धरितों त्याप्रमाणेंच—सामायिक वगैरे सहा क्रिया करितांना; मल व मूत्र सोडितांना; दुसऱ्यानें हिंसादि पापकर्म केल्याचें आपल्यास समजलें असतां; व मैथुन, स्नान, आचमन करितांनाहि मौन अवश्य धरावें. आणि वचनदोष दूर करण्याकरितां निरंतर मौन पाळावें.

अथ सत्याणुव्रतरक्षणार्थमाह—

आतां; सत्याणुव्रताचे रक्षणाकरितां सांगतात—

कन्यागोक्षमालीककूट- ।

साक्ष्यन्यासापलापवत् ॥

स्यात्सत्याणुव्रती सत्य- ।

मपि स्वान्यापदे त्यजन् ॥ ३९ ॥

टीका—स्यात् । कोऽसौ व्रतिकः श्रावकः । किंविशिष्टः सत्याणु-  
व्रती । किं कुर्वन् त्यजन् वर्जयन् । किं तत् सत्यमपि चोरे चोरोऽय-  
मित्यादिरूपं तथ्यमपि । किमर्थं स्वान्यपदे स्वपरविपत्त्यर्थं यत्तथा-  
भूतं तत्सत्यमपि । किंवत् कन्यालीकादिवत् । यस्मिन्नुक्ते स्वपरयोर्वध-  
बंधादिकं राजादिभ्यो भवति तत्स्थूलासत्यं तादृक् सत्यं च स्वयमवदन्  
परांश्चावादयन् सत्याणुव्रती स्यादित्यर्थः । तत्र कन्यालीकं यथा—  
भिन्नां कन्यामभिन्नां वा विपर्ययं वा वदतो भवति । इदं सर्वस्य  
कुमाराद्विपदविषयकस्यालीकस्योपलक्षणं । गवालीकं— अल्पक्षीरां  
गां बहुक्षीरां विपर्ययं वा वदतः स्यात् । इदमपि सर्वचतुष्पदवि-  
षयालीकस्योपलक्षणं । क्षमालीकं— परस्वकामपि भूमिमात्मस्वकां  
विपर्ययं वा वदतो भवेत् । इदं चाशेषपादपाद्यपदद्रव्यविषया-  
लीकस्योपलक्षणं । कन्याद्यलीकानां च लोकेऽतिगर्हितत्वेन रूढ-  
त्वात् द्विपदादिग्रहणं न क्रियते । कन्याद्यलीकत्रयं लोकविरुद्ध-  
त्वान्न वाच्यं । कूटसाक्ष्यं— प्रमाणीकृतस्य लज्जामत्सरादिना कूटं  
वदतः स्यात् । यथाऽहमत्र साक्षीति । अस्य च परपापसमर्थकत्व-  
विशेषेण पूर्वेभ्यो भेदः । तच्च धर्मविपक्षत्वान्न वदेत् । धर्म्यं  
ब्रूयान्नाधर्म्यमिति विवादिभिरभ्यर्थितत्वात् । न्यासापलापः— न्यस्यते  
रक्षणार्थमन्यस्मै समर्प्यत इति न्यासः सुवर्णादिद्रव्यं तदपलापं  
नालपेत् विश्वसितघातकत्वात् । किं चाज्ञानसंशयादिनाऽप्यसत्यं न  
ब्रूयात् किं पुना रागद्वेषाभ्याम् ॥

अर्थ—कन्यालीक, ( कन्येसंबंधी खोटें बोलणें )  
गवालीक, ( गायीसंबंधी खोटें बोलणें ) क्षमालीक, ( भूमी-  
संबंधी खोटें बोलणें ) खोटी साक्ष देणें, दुसऱ्याने ठेवि-  
लेल्या ठेवीच्या संबंधानें खोटें बोलणें ह्या गोष्टी जशा  
टाकावयाच्या, त्याचप्रमाणें ज्या खऱ्या किंवा खोट्या

बोलण्याने आपल्यावर किंवा दुसऱ्यावर राजादिकापासून वध बंधन वगैरे संकट येतील, अशा तऱ्हेचे खरे किंवा खोटे न बोलणे व दुसऱ्याकडून न बोलविणे हे सत्याणुव्रताचे स्वरूप आहे, अशा रीतीने वागणारा श्रावक सत्याणुव्रती होतो. ' कन्यालीक ' हे कन्या, अन्य जातीची असता ती सजातीय आहे असें ह्मटल्याने, अथवा स्वजातीची असता ती अन्यजातीची आहे असें बोलल्याने, अथवा याप्रमाणेच जे गुणदोष तिच्या ठिकाणी असतील ते नाहीत असें ह्मणण्याने, व नसतील ते आहेत असें ह्मटल्याने होतें. ह्या ' कन्यालीक ' शब्दांतील कन्या शब्दाने केवळ मुलगी एवढाच अर्थ ध्यावयाचा नाही, तर त्या कन्या शब्दाने द्विपद जीव ह्मणजे मुलगी, मुलगा किंवा दुसरा कोणीहि दोन पायांचा जीव इतका अर्थ ध्यावा. ' गवालीक ' हे गायी वगैरे सर्व चतुष्पाद जीवासंबंधी जे गुण किंवा दोष असतील ते आपल्यास माहित असतां नाहीं असें ह्मटल्याने, अथवा जे गुणदोष नसतील ते आहेत असें ह्मटल्याने होतें. वर कन्यालीक शब्दांतील कन्या शब्दाचा अर्थ ज्याप्रमाणे सर्व द्विपदजीव असा केला आहे, त्याप्रमाणे गवालीक शब्दांतील गो शब्दाचा अर्थहि सर्व चतुष्पादजीव असा ग्रहण करावा. तसेंच ' क्षमालीक ' हे दुसऱ्याचे जमीन, झाड अथवा अन्य कोणतेही स्थावर पदार्थ हे आपले आहेत असें ह्मटल्याने किंवा आपले असतां हे दुसऱ्याचे आहेत असें ह्मटल्याने होतें. येथेही क्षमालीक शब्दांतील क्षमा शब्दाचा अर्थ फक्त जमीन असा न घेतां झाडे वगैरे स्थावर पदार्थ असा ध्यावयाचा आहे.

वरील तीन्हीं प्रकारचीं खोटीं भाषणें लोकप्रसिद्ध आहेत ती लोकविरुद्ध अशीं असल्यामुळें केव्हांही बोलूं नयेत. तसेंच कूटसाक्ष्य हें साक्षीदारानें लांच घेऊन, अथवा द्वेषान 'याविषयीं मी साक्षीदार आहे' असें ह्मणून खोटी साक्ष दिली असतां होतें. साक्षीदारानें खोटें बोलावयाचें ह्मणजे दुसऱ्याला (प्रतिपक्षाला) दोषी ठरवावयाचें, हें त्या खोटें बोलण्याचें निराळेंच फळ असल्यानें वरच्या तीन्हीं प्रकारच्या खोटें बोलण्यांत ह्याचा समावेश होत नाही, ह्मणून कूटसाक्ष्य हें तीन्हींपेक्षां निराळें मानिलें आहे. तें धर्मविरुद्ध असल्यानें बोलूं नये. कारण, 'धर्माला अनुसरून बोल, अधर्मानें बोलूं नको' अशी प्रतिपक्षाची प्रार्थना असते. न्यासापलाप ह्मणजे दुसऱ्यानें आपल्या जवळ ठेवण्याकरितां दिलेल्या वस्तूसंबंधी भलतेंच कांहीं तरी बोलणें, हेंही करूं नये. कारण, त्या बोलण्यानें विश्वासघात होतो. दुसरे असें कीं, ज्याविषयीं आपल्याला कांहीं माहीत नाही त्याविषयीं व ज्याविषयीं आपल्यास संशय आहे त्या विषयींदेखील खोटें बोलूं नये. मग प्रेमानें अथवा द्वेषानें खोटें बोलूं नये ह्यांत काय सांगावयाचें आहे?

लोकव्यवहाराविरोधेन च तदप्रयोगमुपादिशति—

आतां, लोकव्यवहागला अनुसरून कोणतें भाषण करावें व कोणतें भाषण न करावें हें सांगतात—

लोकयात्रानुरोधित्वा- ।

त्सत्यसत्यादि वाक्त्रयम् ॥

ब्रूयादसत्यासत्यं तु ।

तद्विरोधान्न जातुचित् ॥ ४० ॥

टीकाः—ब्रूयात् । कोऽसौ सत्याणुव्रती । किं तत् सत्यसत्या-  
दिवाक्यं वक्ष्यमाणलक्षणं । कस्मात् लोकयात्रानुरोधित्वात्  
लोकव्यवहारविसंवादित्वात् । न तु ब्रूयात् । किं तत् असत्यासत्यं ।  
कथं जातुचित् कदाचिदपि । कस्मात् तद्विरोधात् लोकयात्राविप्र-  
लम्भनात् ॥

अर्थ— सत्यसत्यादि तीन प्रकारचें भाषण [ सत्यसत्य  
सत्यासत्य व असत्यसत्य असे भाषणाचे तीन प्रकार  
आहेत. यांविषयीं पुढें सांगावयाचें आहे ] लोकव्यवहारास  
अनुसरून असत्यामुळें अवश्य बोलावें व असत्यासत्य  
भाषण हें लोकव्यवहाराशीं विरुद्ध असत्यामुळें केव्हांही  
बोलूं नये.

सत्यसत्यादीनि श्लोकत्रयेण लक्षयन्नाह—

आतां; सत्यसत्यादि तीन प्रकारच्या भाषणांचें  
स्वरूप सांगतात—

यद्वस्तु यद्देशकाल- ।

प्रमाकारं प्रतिश्रुतम् ॥

तस्मिँस्तथैव संवादि ।

सत्यसत्यं वचो वदेत् ॥ ४१ ॥

टीकाः—वदेत् सत्याणुव्रती । किं तत् वचः । किंविशिष्टं  
सत्यसत्यं । किंलक्षणं संवादि तथाभूतं । क तस्मिन् प्रतिज्ञाते  
वस्तुनि । कथं तथैव तेनेव तद्देशकालपरिणामरूपत्वेन प्रकारेण ।

यतिकं यद्वस्तु । प्रतिश्रुतं प्रतिज्ञातं । किंविशिष्टं यद्देशकालप्रमाकारं  
प्रमा परिमाणं संख्या च, आकारो वर्णसंस्थानादिरूपं, देशश्च  
कालश्च प्रमा च आकारश्च देशकालप्रमाकाराः प्रतिज्ञाविषयीकृता  
यस्य तत्तथोक्तम् ॥

अर्थ—जो कोणताही पदार्थ, ज्या देशावर, ज्या  
कालीं, ज्या परिमाणाचा व ज्या आकाराचा आहे असें  
आपण कबूल केलें असेल; त्या पदार्थाविषयीं तसेंच  
( पूर्वी कबूल केल्याप्रमाणेंच ) बोलावें, ह्यास सत्यसत्य  
भाषण असें ह्मणतात.

असत्यं वय वासोऽन्धो ।

रन्धयेत्यादि सत्यगम् ॥

वाच्यं कालातिक्रमेण ।

दानात्सत्यमसत्यगम् ॥ ४२ ॥

टीका—वाच्यं वक्तव्यं सत्याणुव्रतिना । किं तद्वचः । किं-  
विशिष्टमसत्यं । किंविशिष्टं सत् सत्यगं सत्याश्रितं । असत्यमपि  
किञ्चित्सत्यमेवेत्यर्थः । तदेव वयेत्यादिना दर्शयति—भोः कुविन्द  
वय आतानवितानीभावरूपतया आसूत्रय त्वं । किं तद्वासो वस्त्रं ।  
वस्त्रनिर्माणयोग्यतन्तुषु वस्त्रशङ्खप्रयोगादसत्यत्वं । तथा भो भक्तकर-  
न्धय पच त्वं । किं तत् अन्धः कूरं । अन्धोयोग्यतण्डुलेष्व-  
न्धशङ्खप्रयोगादसत्यत्वं । आदिशङ्खाद्भोः पेषक कणिकां पिष्टीत्या-  
दिरूपं ग्राह्यं । अत्र तत्तच्छङ्खावाच्यत्वेऽपि लोके तथाव्यवहारा-  
त्सत्यत्वं । इदमसत्यसत्यं ॥ तथा वाच्यं । किं तत्सत्यं । किंवि-  
शिष्टमसत्यगं सत्यासत्यमित्यर्थः । कुतः सम्भवद्दानात् वितरणात् ।  
केन कालातिक्रमेण । यथा अर्द्धमासतमे दिवसे तवेदं देयमित्या-

स्थाय मासतमे संवत्सरतमे वा दिवसे ददातीति अत्र दानाव्यभि-  
चारात्सत्यत्वं । प्रतिपन्नतत्कालव्यभिचाराच्चासत्यत्वं । इदमपि  
लोके तथा व्यवहारात्कचिद्वक्तव्यम् ॥

अर्थ—सत्याणुव्रत करणाऱ्या श्रावकानें सत्याश्रित  
असलेलें ह्मणजे लोकव्यवहाराला अनुसरून विचार केला  
असतां जें सत्य आहे असेंच वाटतें असें असत्य भाष-  
णही बोलवें. उदाहरण—‘कोष्ट्यास, अरे! तूं वस्त्र वीण’  
असें ह्मणणें. ह्या वाक्यांतील विणणें ही क्रिया वस्त्रा-  
वर व्हावयाची नसून तंतूवर (सुतावर) व्हावयाची आहे.  
असें असतां वस्त्रासंबंधानें तसा प्रयोग करणें जरी अस-  
त्यासारखेंच आहे, तथापि लोकांत असा प्रयोग कर-  
ण्याची वहिवाट असल्यानें तें भाषण खोटें मानिलें जात  
नाहीं. ह्मणून सत्याणुव्रती श्रावकानेंही तसें बोलल्यास  
सत्याणुव्रताचा नाश होत नाहीं. तसेंच—पाचकास  
(स्वयंपाक करणाऱ्यास) अरे! तूं भात शिजीव! असें  
बोलणें, हेंही पूर्वीप्रमाणेंच सत्याश्रित असत्य (असत्य-  
सत्य) भाषण होतें. कारण, ह्या वाक्यांत ‘भात’ ह्या  
शब्दाचा प्रयोग तांदूळ ह्या अर्थी केलेला आहे. वस्तुतः  
भात शिजवावयाचा नसून तांदूळ हेच शिजवावयाचे  
आहेत. त्यांना ‘भात’ ह्मणतां येत नाहीं. भात ह्मणजे  
तांदूळ शिजल्यानंतर जें त्या तांदळांचें अवस्थांतर होतें  
तें, असा अर्थ खरा आहे. तथापि, लोकव्यवहाराला  
अनुसरून तसाही प्रयोग केला असतां सत्याणुव्रताचा  
नाश होत नाहीं. तसेंच ‘पीठ दळ’ इत्यादि प्रयोगही  
ह्याच अर्थाचे आहेत. ह्मणजे अशा प्रकारच्या शब्द-

प्रयोगासही 'असत्यसत्यभाषण' असेंच समजावें. तात्पर्य, वर दाखविल्याप्रमाणें लोकव्यवहारांत ज्यांचा प्रयोग सर्वदा आढळतो, असें सत्याश्रित असत्य ह्मणजे 'असत्यसत्य' भाषण केलें असतां, सत्याणुव्रताची हानि होत नाही. तसेंच सत्यासत्य भाषण हेंही सत्याणुव्रताचा नाश करणारें होत नसल्यामुळें बोलण्यास हरकत नाही. उदाहरण— अमुक एक वस्तू तुला आजपासून पंधरा दिवसांनीं देतो असें ह्मणून कोणत्याही अनिवार्य अडचणीमुळें पंधरा दिवसांनीं न देतां महिन्यानें अथवा वर्षानें देणें, ह्या व्यवहारांत 'पंधरा दिवसांनीं देतो' असें ह्मटलेलें भाषण हें 'सत्यासत्य' होय. कारण वस्तू देतो ह्मटल्याप्रमाणें दिल्ली असल्यानें भाषणांतलि कांहीं अंशाला सत्यता आणि पंधरा दिवसाबद्दल महिना अथवा वर्ष इत्यादि अवधीचा काल लागल्यामुळें कालाचा मात्र व्यत्यास झाल्यानें कांहीं अंशास असत्यताही आली. त्यामुळें हें भाषण सत्यासत्य स्वरूपाचें झालें. अशा प्रकारचें भाषण करण्याची लोकव्यवहारांत रूढी असल्यानें त्यापासूनही प्रकृत सत्याणुव्रताचा नाश होत नाही. ह्मणून एखादे वेळीं तसेंहि बोलण्यास हरकत नाही.

यत्स्वस्य नास्ति तत्कल्पे ।

दास्यामीत्यादिसंविदा ॥

व्यवहारं विरुन्धानं ।

न सत्यासत्यमालपेत् ॥ ४३ ॥



टीका—न आलपेत् न ब्रूयात् सत्याणुव्रती । किं तत् अस-  
त्यासत्यं वचः । किं कुर्वाणं विरुन्धानं बाधमानं कं व्यवहारं  
लोकयात्रां । कया यदित्यादि— यद्वस्तु नास्ति । कस्य स्वस्यात्मनः  
सम्बन्धी । तदास्यामि तुभ्यं वितरिष्यामि । कदा कल्ये प्रातः ।  
इत्यादिरूपया संविदा प्रतिज्ञया ॥

अर्थ—जो पदार्थ आपला नव्हे, किंवा आपल्या जवळ  
नाहीं, तो पदार्थ मी तुला उद्यां सकाळीं खचित देईन,  
अशी प्रतिज्ञा करणें हें असत्यासत्य भाषण होय.  
कारण पदार्थ आपला नसल्यानें किंवा आपल्या जवळ  
नसल्यानें तो उद्यां अथवा कालांतरीं केव्हाही देतां येत  
नाहीं. ह्मणून हें वरील भाषण अगदींच खोटें ठरतें.  
तें लोकव्यवहाराला विरुद्ध असल्यानें केव्हाही सत्या-  
णुव्रती श्रावकानें बोलूं नये. त्यापासून सत्याणुव्रताचा  
नाश होतो.

सावद्यव्यतिरिक्तानृतपञ्चकस्य नित्यं वर्जनीयत्वमाह—

आतां; ज्यावाचून गृहस्थाश्रमी श्रावकास व्यवहारांत  
फारच अडचण येते, त्यावाचून बाकीच्या अनृताचा  
त्याग त्यानें सुद्धां अवश्य करावा असें सांगतात.

मोक्तुं भोगोपभोगाङ्ग- ।

मात्रं सावद्यमक्षमाः ॥

ये तेऽप्यन्यत्सदा सर्वं ।

हिंसेत्युज्झन्तु वाऽनृतम् ॥ ४४ ॥

टीका—अत्रायोग्याविशेषवचनवाच्यतानिवृत्तावशक्तान् प्रति  
सावद्यविशेषवक्तव्यतानुवृत्त्यर्थो वाशङ्कः किं बहुनेत्यर्थः । वा किं

बहुना । उज्जन्तु त्यजन्तु । के तेऽपि धर्मैषिणः । किं तत् अनृतं । किंविशिष्टमन्यत् सावद्यव्यतिरिक्तं सदपलपनादि । क्रियत् सर्वं पञ्चधाऽपि । कथं सदा नित्यं । कथं कृत्वा हिंसेति यतः सर्वमनृतं हिंसापर्यायत्वाद्विषैव प्रमादयोगाविशेषात् । यत्र तु प्रमत्तयोगो नास्ति तद्वियाऽनुष्ठानाद्यनुवदनं नास्त्यं । एतेनेदमपि संगृहीतं— सा मिथ्याऽपि न गीर्मिथ्या या गुर्वादिप्रसादिनी इति । के ते इत्याह— ये भवन्ति । किंविशिष्टा अक्षमा असमर्थाः । किं कर्तुं मोक्तुं त्यक्तुं । किं तत् सावद्यं वचः क्षेत्रं कृषेत्यादिरूपं प्राणिवधादिप्रवर्तकं । किंविशिष्टं सत् भोगोपभोगाङ्गमात्रं भोगो भोजनादिः, उपभोगः कामिन्यादिः भोगश्चोपभोगश्च भोगोपभोगौ तयोरङ्गं साधनं तदेव तन्मात्रं न पुनस्तदसाधनं । सावद्यं वचः— तत्र नास्त्यात्मेत्यादि सदपलपनं । सर्वगत आत्मा श्यामाकतण्डुलमात्रो वेत्यादिकमसदुद्भावनं । गामश्चमभिवदतो विपरीतं । काणं काणमभिदधानस्याप्रियं । अरे बान्धकिनेय इत्यादि गर्हितं साक्रोशमित्यन्यत् ॥

अर्थ—जे श्रावक भोग व उपभोग ह्या दोहोंच्या

१ भोग ह्मणजे ज्या पदार्थांचा उपयोग एकवारच करितां येतो दुसऱ्या वेळीं करितां येत नाहीं असें अन्न, माला, चंदन, जल वगैरे पदार्थ होत. हे पदार्थ एकवारच उपयोगास येतात. कारण, जें अन्न आपण भक्षण केलें तेंच अन्न पुनः भक्षण करितां येणार नाहीं. तसेंच, जें उदक एकदा प्यालें, तें पुनः प्राशन करितां येणें शक्य नाहीं. ह्मणून ह्यांना भोग असें नांव आहे.

२ उपभोग ह्मणजे ज्यांचा उपयोग अनेक वेळां करितां येतो

प्राप्तीला साधक असलेल्या 'ही जमीन आमची आहे, आम्ही जमीन नांगरणार' वगैरे पापयुक्त भाषणांचा त्याग करण्यास असमर्थ असतील, त्यांनीदेखील पांचही

असे स्त्री, वस्त्र, गृह, शय्या वगैरे पदार्थ वरच्याप्रमाणे नसून पुनःपुनः उपयोगांत आणितां येतात. ह्मणून ह्यांना उपभोग असे नांव आहे.

१ या भाषणास 'पापयुक्त भाषण' असें ह्मणण्याचें कारण असें आहे की, 'ही जमीन आमची आहे असें झटल्यानें ह्या जमिनीच्या संबंधानें होणारी हिंसा आम्ही करीत असतो हें तात्पर्यानें सिद्ध होते. तसेंच 'ही जमीन आम्ही नांगरणार' असेंच सिद्ध होते. त्यांत हिंसा हें पाप आहे ह्मणून पापाचा ज्या भाषणापासून तात्पर्यानें बोध होतो अशा प्रकारच्या भाषणास पापयुक्तभाषण झटलें आहे.

२ असत्यभाषण "१ सदपलपन, २ असदुद्भावन, ३ विपरीत, ४ अप्रिय व ५ गार्हित" असें पांच प्रकारचे आहे. त्यांत— १ 'आत्मा नाही' असें ह्मणणें ह्यास सदपलपन असें ह्मणतात. कारण, ह्या भाषणांत वास्तविकपणें असलेल्या आत्म्याचा अपलाप ह्मणजे निषेध केलेला आहे. २ "सर्वत्र व्याप्त असलेला आत्मा हा साव्याच्या तांदुळायेवढ्या परिमाणाचा आहे" असें ह्मणणें ह्यास 'असदुद्भावन' असें ह्मणतात. कारण, ह्या वाक्यांत आत्म्याला जें साव्याच्या तांदुळाचें परिमाण मानिलें आहे तें त्याच्या (आत्म्याच्या) ठिकाणीं वास्तविक नसतांना मानिलें आहे. ह्मणून जें परिमाण आत्म्यावर नाही तें मानिलें हें 'असदुद्भावन' होय. ३ "गायीला घोडा" ह्मणणें, ह्यास 'विपरीत' असें ह्मणतात. ४ एका डोळ्यानें

प्रकारचें अनृत भाषण 'हिंसा' असें समजून ' सोडावें.

सत्याणुव्रतस्य पञ्चातिचारान् हेयत्वेनाह—

आतां; सत्याणुव्रताचे पांच अतिचार ( ज्यांच्या योगानें व्रताचें अतिक्रमण होतें अशीं कमें ) टाळण्यास सांगतात.

आंधळा असलेल्या मनुष्यास " तूं एका डोळ्याने आंधळा आहेस" असें ह्मणणें हें अप्रियभाषण होय. कारण, तें ऐकणाऱ्यास वाईट लागतें. आणि " अरे वेश्यापुत्रा ! ( रांडेच्या लेका ) असें ह्मणणें हें निंद्य भाषण असें समजावें.

१ असत्यभाषणास 'हिंसा' असें समजण्याचें कारण असें आहे कीं, अनृताचा व हिंसेचा परिणाम ( दुसऱ्याच्या अंतःकरणाला क्लेश उत्पन्न करणें हा ) सारखाच आहे. व दोन्हीकडे ( असत्यभाषण व हिंसा ह्या दोन्हीकडे ) प्रमाद ( कषाय ) ह्याचा योगही सारखाच असतो. जर रागद्वेषादि कषायांचा योग भाषण करणाऱ्यामध्ये नसेल, तर, त्याकडून झालेली हिंसा जशी हिंसा होत नाही; त्याप्रमाणें त्यानें उच्चारिलेलें अनृत भाषणही प्रमादाचा ( रागद्वेषादि कषायांचा ) योग नसल्यास अनृत होत नाही. आणि ह्मणूनच " सा मिथ्याऽपि न गीर्मिथ्या या गुर्वादिप्रसादिनी " ह्मणजे जें भाषण गुरु अथवा वडील मनुष्ये यांच्या अंतःकरणास आनंद देणारें असेल, तें जरी खोटें असलें, तथापि तें खोटें नव्हे; असें कोणी पंडितांनीं ह्मटलें आहे, त्याचाही ह्यांत समावेश होतो. कारण, त्यांतही ( गुरु वगैरे यांना आनंद देणाऱ्या भाषणांतही ) प्रमादयोग नाही. ह्मणून पूर्वीप्रमाणें हेंही भाषण अयत्य होत नाही.

मिथ्यादिशं रहोऽभ्याख्यां ।

कूटलेखक्रियां त्यजेत् ॥

न्यस्तांशविस्मर्त्रनुज्ञां ।

मन्त्रभेदं च तद्व्रतः ॥ ४५ ॥

टीका — त्यजेत् । कोऽसौ तद्व्रतः तत्स्थूलालीकादिवचनविरति-  
लक्षणं व्रतं यस्यासौ सत्याणुव्रतीत्यर्थः । किं तत् मिथ्यादिशमि-  
त्यादि पञ्चकं । तत्र मिथ्यादिक् मिथ्योपदेशः । अभ्युदयनिः-  
श्रेयसार्थेषु क्रियाविशेषेष्वन्यस्यान्यथा प्रवर्तनं । परेण सन्देहापत्तेन  
पृष्ठेऽज्ञानादिनाऽन्यथाकथनमित्यर्थः । अथवा प्रतिपन्नसत्यव्रतस्य  
परपीडाकरं वचनमसत्यमेव । ततः प्रमादात्परपीडाकरणे उपदेशे  
अतिचारो यथा बाह्यन्तां खरोष्ट्रादयो हन्यन्तां दस्यव इति निष्प्र-  
योजनं वचनं । यद्वा विवादे स्वयं परेण वाऽन्यतरातिसन्धानोपायो-  
पदेशो मिथ्योपदेशः ॥ रहोऽभ्याख्या— रहस्येकान्ते स्त्रीपुंभ्यामनु-  
ष्ठितस्य क्रियाविशेषस्याभ्याख्या प्रकाशनं यया दम्पत्योरन्यस्य  
वा पुंसः स्त्रिया वा रागप्रकर्ष उत्पद्यते । सा च हास्यक्रीडादिनैव  
क्रियमाणोऽतिचारो न त्वभिनिवेशेन । तथा सति व्रतभङ्ग एव  
स्यात् ॥ कूटलेखक्रिया— अन्येनानुक्तमननुष्ठितं च यत्किञ्चित्तस्य  
परप्रयोगवशादेवं तेनोक्तमनुष्ठितं चेति वञ्चनानिमित्तं लेखनं । अन्य-  
सरूपाक्षरमुद्राकरणमित्यन्ये । न्यस्तांशविस्मर्त्रनुज्ञा—न्यस्तस्य निक्षि-  
प्तस्य हिरण्यादिद्रव्यस्य अंशमेकमंशं विस्मर्तुर्विस्मरणशीलस्य  
निक्षेपुर्ननुज्ञा । द्रव्यमनुनिक्षेपुर्विस्मृततत्संख्यस्याल्पसंख्यं तद्बहुत  
एवमित्यनुमतिवचनं । सोऽयं न्यासापहाराख्योऽतिचारः ॥ मन्त्रभेदः  
अङ्गविकारभ्रूक्षेपादिभिः पराभिप्रायं ज्ञात्वाऽसूयादिना तत्प्रकटनं ।  
विश्वसितमित्रादिभिर्वा आत्मना सह मन्त्रितस्य लज्जादिकरस्या-

र्थस्य प्रकाशनं ॥ यत्तु—मन्त्रभेदः परीवादः पैशून्यं कूटलेखनम् । मुधा साक्षिपदोक्तिश्च सत्यस्यैते विघातकाः ॥ इति यशस्तिलके अतिचारान्तरवचनं तत्परेऽप्युद्धास्तदात्यया इत्यनेन संगृहीतं प्रतिपत्तव्यम् ॥

अर्थ—सत्याणुव्रत पाळणाच्या श्रावकानें ज्यांच्या योगानें त्या सत्याणुव्रताचा अतिक्रम होतो असे “ मिथ्यादिश, रहोऽभ्याख्या, कूटलेखाक्रिया, न्यस्तांशविस्मर्तनुज्ञा व मंत्रभेद ” हे पांचही अतीचार अवश्य वर्ज्य करावे.

मिथ्यादिश ( मिथ्यादेश ) ह्मणजे एखाद्या मनुष्यास स्वर्ग कशानें मिळतो, व मोक्ष कशानें मिळतो, ह्याविषयीं संशय येऊन, त्यानें त्याबद्दल विचारलें असतां; आपल्यास माहित नसून भलतेंच सांगणें अथवा ज्यानें सत्याणुव्रत स्वीकारलें आहे; त्यानें दुसऱ्यास दुःख होईल असें बोलणें; हें त्याचें असत्य भाषणच आहे. ह्मणून प्रमादामुळे ( द्वेषादि कषायामुळे ) परपीडा ज्या भाषणांत व्यक्त होत आहे, असें भाषण कारणावांचून बोलणें. जसें “ ह्या गाढवावर किंवा उंटावर तुम्ही आंग्रे लादा, ” असें उगीच बोलणें. अथवा “ चोरांना मारा ” असें बोलणें. हाही एकप्रकारचा ‘ मिथ्यादेश ’ च आहे असें समजावें. किंवा दोघे मिळून कांहीं उद्योग करीत असतां, त्यांतल एकाला दुसऱ्यास फसविण्याची युक्ती सांगणें, अथवा दुसऱ्याकडून सांगविणें, हाही एक ‘ मिथ्यादेशाचा ’ प्रकार आहे; असें समजावें.

२ “ रहोऽभ्याख्या ” ह्मणजे एकांत स्थलीं स्त्रीपुरुषांनीं केलेल्या गुप्तकृत्याचें प्रकाशन करणें. उदाहरण— पति व

पत्नी यांचें एकमेकाविषयीं प्रेम उत्पन्न करण्याकरितां, किंवा कोणत्याही एखाद्या स्त्रियेचें अथवा पुरुषाचें कोणत्याही एखाद्या पुरुषावर अथवा स्त्रियेवर प्रेम उत्पन्न करण्याकरितां त्यांच्या एकांतांत घडलेल्या गोष्टी हसणें वगैरे सहज व्यापारांनीं, सत्याणुव्रती श्रावकानें प्रकाशित केल्या तर तो अतिचार असें समजावें. आणि जर 'हे ह्या स्त्रीपुरुषांचे एकांतीं झालेले व्यापार उघडकीस आणावयाचे' अशा द्वेषबुद्धीनें सत्याणुव्रती श्रावकानें, त्या एकांतांतील गोष्टी मुद्दाम उघडकीस आणल्या तर त्याचा व्रतभंग झाला असेंच समजावें.

३ "कूटलेखक्रिया" ह्मणजे जे व्यवहार दुसऱ्यानें बोललेले नाहीत किंवा केलेले नाहीत ते व्यवहार त्यानें बोललेले आहेत किंवा केलेले आहेत असें स्वतः किंवा एखाद्याच्या सांगण्यावरून ( ज्यानें ते व्यवहार केलेले अथवा बोललेले नाहीत त्यास फसविण्याकरितां ) खोटे लिहिणें. कितीएक पंडित—'दुसऱ्याच्या अक्षरासारखें अक्षर, त्याला न समजतां लिहिणें—' ह्यास "कूटलेखक्रिया" असें ह्मणतात.

४ "न्यस्तांशविस्मर्तृनुज्ञानं" ह्मणजे कोणी एखाद्यानें ठेव ठेवलेल्या सुवर्णादिद्रव्याचा कांहीं अंश ती ठेव ठेवणारा मनुष्य विसरला असतां, त्यास त्याच्या विस्मृतीबद्दल अनुमती देणें. ( उदाहरण—कोणी एका देवदत्त नांवाच्या मनुष्यानें वसुमित्र नांवाच्या मनुष्याजवळ पांचहजार रुपये ठेव ह्मणून ठेविले. पुढें देवदत्त याला वसुमित्राजवळ ठेव ठेविलेल्या पांच हजाराची विस्मृती होऊन, चार हजार

ठेव ठेविली आहे असें वाटूं लागलें ; तर त्यास ( देव-  
दत्तास ) ‘ तूं माझ्या जवळ चार हजार रुपयेच आणून  
ठेविले आहेस’—असें सांगणें ; ह्यास ( न्यस्तांशविस्मर्त-  
नुज्ञान ) असें ह्मणतात. ह्यालाच “ न्यासापहार ” असें  
दुसरें नांव आहे.

५ “ मंत्रभेद ” ह्मणजे कांहीं खाणाखुणांनीं व भुवया  
वांकड्या करणें वगैरे व्यापारांनीं दुसऱ्याचा अभिप्राय  
आपण ओळखून तो दुष्टपणानें भलत्याच एखाद्यास सांगणें  
किंवा आपल्या मित्र वगैरेनीं आपल्याजवळ गुप्त ह्मणून  
सांगितलेल्या लज्जाकर व्यवहाराचा परिस्फोट दुसऱ्या  
जवळ करणें, ह्यासही ‘ मंत्रभेद ’ असें ह्मणतात. आतां  
येथें—यशस्तिलकांत ( ह्या नांवाच्या ग्रंथांत ) ‘ मंत्रभेद,  
निंदा, चहाडी, खोटा लेख, खोटी साक्ष देणें ’ ह्यास  
सत्याणुव्रताचे अतीचार मानिले आहेत व वरील श्लोकांत  
जे मिथ्यादेशादि अतीचार सांगितले ते ह्यापेक्षां निराळेच  
सांगितले आहेत. तेव्हां दोहोंची संगति कशी लागते  
अशी एक शंका येते. याचें समाधान असें आहे कीं,  
यशस्तिलकांत सांगितलेले अतीचार जरी वरील श्लोकांत  
सांगितलेल्या अतिचाराहून निराळे आहेत आणि ह्मणूनच  
ह्यांतील योग्य अतीचार कोणते याबद्दल संशय येतो ; तरी  
पुढें “ ह्याहून निराळे अतिचार जे असतील ते आपण  
तर्कानें जाणावेत ” असें ग्रंथकार लिहिणार आहेत, त्यानें  
ह्या यशस्तिलकांत सांगितलेल्या अतीचारांचा संग्रह होतो  
असें समजावें.

अथाचौर्याणुव्रतलक्षणार्थमाह—



आतां; अस्तेय ( चोरी न करणें ) नांवाच्या अणुव्रताचें स्वरूप सांगतात.

चौरव्यपदेशकर- ।

स्थूलस्तेयव्रतो मृतस्वधनात् ॥

परमुदकादेश्चाखिल- ।

भोग्यान्न हरेद्ददीत न परस्वम् ॥ ४६ ॥

टीका—न हरेत् न गृह्णीयात् । नापि ददीत न परस्मै वितरेत् । कोऽसौ चौरेत्यादि—चौरोऽयमुपलक्षणाद्धर्मपातकोऽयं वधकारो अयमित्यादिव्यपदेशं नाम करोतीति चौरादिव्यपदेशकरं, स्थूलस्तेयं बादरचौर्यं खात्रखननादिकं, तत्पूर्वमत्तादानं वा, तत्र व्रतं नियमस्तस्माद्वा व्रतं निवृत्तिर्यस्य स तथोक्तोऽचौर्याणुव्रतीत्यर्थः । किं तत् परस्वं परस्य धनं चेतनमचेतनं वा द्रव्यं सामर्थ्याददत्तं तस्यैव परस्वामिकत्वोपपत्तेर्दत्तस्य च स्वस्वामिकत्वसम्भवात् । किंविशिष्टं परमन्यत् । कस्मात् मृतस्वधनात् मृतश्चासौ स्वो ज्ञातिश्च मृतस्वः अर्थात्पुत्रादिरहितो लोकान्तरप्राप्तो बन्धुस्तस्य धनं तस्मात् अन्यत् जीवतां ज्ञातीनामित्यर्थः । न केवलं ततः परं उदकादेश्च तोयतृणप्रभृतेश्च । किंविशिष्टात् अखिलभोग्यात् अखिलैः सर्वैः स्थिरैरागन्तुभिश्च लोकैर्भोक्तुं योग्यत्वेन राजादिसमुत्कलितात् ॥

अर्थ—जे घेतल्याने आपल्यास लोक हा चोर आहे असें ह्मणतील असे दुसऱ्याचे पदार्थ घ्यावयाचे नाहीत असा ज्यानें नियम केला आहे, अशा श्रावकांनें, मृत झालेल्या स्वकीय मनुष्याच्या ( जो मृत झाल्यानंतर त्याला पुत्र वगैरे नसल्यामुळे त्याचा वारसा आपल्यासच येतो

अशा मनुष्याच्या ) स्थावर जंगम इष्टेटीवांचून, दुसऱ्या कोणाचेंही स्थावर अथवा जंगम कसलेंही द्रव्य, त्या द्रव्याच्या मालकानें दिल्यावांचून आपण घेऊं नये. ( जो मनुष्य मृत झाला असतां त्याचा वारसा आपल्यास येणार तो मनुष्य जीवंत असतांना त्याचें द्रव्यदेखील त्यानें दिल्याशिवाय आपण घेऊं नये, व दुसऱ्यास देऊं नये. ) तसेंच जे उदक वगैरे पदार्थ सार्वजनिक ( तेथील लोकांनां अथवा दुसऱ्या कोणत्याही लोकांना ज्याचा उपभोग पाहिजे तसा आपल्या इच्छेप्रमाणें करितां येतो ) ह्मणून राजाकडून नोंदले गेले असतील त्यांशिवाय दुसरे कोणतेही पदार्थ— त्या पदार्थाच्या मालकानें दिल्यावांचून— आपण घेऊं नयेत व दुसऱ्यासही देऊं नयेत.

प्रमत्तयोगात्परकीयतृणस्याप्यदत्तस्यादाने दाने चाचौर्यव्रतभङ्गं दर्शयति—

आतां, राग लोभ वगैरे कषायांच्या संबंधामुळे— दुसऱ्याचें स्वामित्व ज्या पदार्थावर आहे असा कोणताही ( गवत वगैरे देखील ) पदार्थ, त्यावर ज्याची मालकी असेल त्यानें दिल्यावांचून आपण घेतला असतां व दुसऱ्यास दिला असतां अचौर्यव्रताचा ( चोरी न करणें ह्या व्रताचा ) नाश होतो असें सांगतात.

संक्लेशाभिनिवेशेन ।

तृणमप्यन्यभर्तृकम् ॥

अदत्तमाददानो वा ।

ददानस्तस्करो ध्रुवम् ॥ ४७ ॥

टीका—ध्रुवं निश्चितं भवति । कोऽसौ पुरुषः । कीदृशः तस्करश्चौरः । किं कुर्वाणः आददानः आत्मसात्कुर्वन् । ददानो वा परस्मै प्रयच्छन् । किं तत् तृणमपि किं पुनः सुवर्णादिकं । किंविशिष्टं अन्यभर्तृकं अन्यः स्वस्मात्परो भर्ता स्वामी यस्य तदन्यभर्तृकमन्यदीयमित्यर्थः । किंविशिष्टं सत् अदत्तं तत्स्वामिना अवितीर्णं । केन संक्लेशाभिनिवेशेन रागाद्यावेशेन । एतेनेदमुक्तं भवति— प्रमत्तयोगे सत्येवादत्तस्यादाने दाने वा चौर्यं स्यान्नान्यथा ॥

अर्थ—दुसऱ्याचें स्वामित्व ज्यावर आहे असा तृण वगैरे अतिस्वल्प देखील पदार्थ, जो श्रावक— त्या पदार्थाच्या मालकाच्या आज्ञेवांचून 'आपल्यास त्या पदार्थाची गरज आहे' अशा लोभानें, अगर दुसऱ्या कोणत्याही कारणानें— घेईल अथवा दुसऱ्याला देईल तर तो खचित चोर होय. व त्याच्या अस्तेयाणुव्रताचा ( चोरी न करणें ह्या नियमाचा ) नाश होतो. ह्यावरून— मालकाच्या आज्ञेशिवाय त्याचा पदार्थ घेणारा जो मनुष्य त्याच्या मनांत लोभ प्रेम वगैरे कषाय, तो पदार्थ घेण्याचे वेळीं उत्पन्न झाले असतील तरच ती चोरी होते. जर तसें नसेल ( प्रमादयोग नसेल ) तर ती चोरी होत नाही; असें सिद्ध होतें.

निधानादिधनं राजकीयत्वसमर्थनेन व्रतयन्नाह—

आतां; ठेव किंवा जमिनींत अगर दुसरे कोठेंही ठेवलेल्या द्रव्यावर त्याचा योग्य मालक नसल्यास राजाची मालकी असते असें सांगतात.

नास्वामिकमिति ग्राह्यं ।

निधानादिधनं यतः ॥

धनस्यास्वामिकस्येह ।

दायादो मेदिनीपतिः ॥ ४८ ॥

टीका—न ग्राह्यं नादेयमचौर्याणुव्रतिना । किं तत् निधाना-  
दिधनं नदीगुहाविवराकरादिस्थितं द्रव्यं । कथं कृत्वा अस्वामि-  
कमिति नास्य कश्चित् स्वामीति परस्वं न भवतीति सङ्कल्प्य ।  
कुत इत्याह यतो यस्मात् । भवति । कोऽसौ मेदिनीपतिः राजा ।  
कीदृशः दायादः साधारणः स्वामी । कस्य धनस्य । कीदृशस्या-  
स्वामिकस्य स्वामिरहितस्य । क इहलोक्ये ॥

अर्थ—ज्या द्रव्याचा स्वामी कोण आहे हे माहीत नाही  
असे जमीनीत पुरून ठेविलेले द्रव्यही आपण घेऊं नये.  
कारण ज्या द्रव्याचा मालक कोणीच मिळत नाही त्या  
द्रव्याचा राजा हा मालक असतो.

स्वामिसांशयिके स्वधनेऽपि नियमं कारयन्नाह—

आतां; आपले द्रव्य असूनहि ह्या धनाचे मालक आपण  
आहोंत किंवा नाही ह्याविषयी संशय उत्पन्न झाला असतां,  
ते द्रव्य देखील घेऊं नये, असा नियम करण्याचें सांगतात.

स्वमपि स्वं मम स्याद्वा ।

न वेति द्वापरास्पदम् ॥

यदा तदाऽऽदीयमानं ।

व्रतभङ्गाय जायते ॥ ४९ ॥

टीका—जायते सम्पद्यते । किं तत् स्वमपि स्वं आत्मी-  
यमपि द्रव्यं । कस्मै व्रतभङ्गाय अचौर्यव्रतभङ्गं करोतीत्यर्थः । किं  
क्रियमाणं दीयमानं आकरप्रश्लेषादादीयमानं च । कदा तदा

तस्मिन् काले । यदा यस्मिन् काले भवति । किं तत् स्वमपि स्वं ।  
किंविशिष्टं द्वापरास्पदं संशयस्थानं । कथं कृत्वा इदं धनं मम  
स्याद्भवेद्वा न वा स्यादित्येवं ॥

अर्थ—ज्या द्रव्याविषयीं हें द्रव्य आपलें आहे किंवा  
नाहीं असा संशय येतो, तें द्रव्य आपण घेतलें असतां,  
अथवा दुसऱ्याला दिलें असतां त्या घेण्यानें व देण्यानें  
अचौर्यव्रताचा नाश होतो.

अचौर्याणुव्रतातिचारप्रहाणार्थमाह—

आतां; अचौर्यव्रताचे जे अतीचार त्यांचा व्रती श्राव-  
कानें त्याग करावा ह्मणून सांगतात—

चोरप्रयोगचोराहत- ।

ग्रहावधिकहीनमानतुलम् ॥

प्रतिरूपकव्यवहति ।

विरुद्धराज्येऽप्यतिक्रमं जह्यात् ॥ ५० ॥

टीका—जह्यात् त्यजेत् । कोऽसावचौर्याणुव्रती । किं तत्  
चोरप्रयोगाद्यतिचारपञ्चकमिति समन्वयः । तत्र चोरप्रयोगः—  
चोरयतः स्वयमन्येन वा चोरय त्वमिति चोरणक्रियायां प्रेरणं ।  
प्रेरितस्य वा साधु करोषीत्यनुमननं । कुशिकाकर्तरिकाघर्घरिका-  
दिचोरोपकरणानां वा समर्पणं विक्रयणं वा । अत्र च यद्यपि  
चौर्यं न करोमि न कारयामीत्येवं प्रतिपन्नव्रतस्य चोरप्रयोगो व्रत-  
भङ्ग एव तथाऽपि किमधुना यूयं निर्व्यापारास्तिष्ठथ, यदि वो  
भक्तादिकं नास्ति तदाऽहं तद्दामि, भवदानीतमोषस्य वा यदि  
क्रेता नास्ति तदाऽहं विक्रेष्ये इत्येवंविधवचनैश्चौरान् व्यापारयतः  
स्वकरूपनया तद्व्यापारणं परिहरतो व्रतसापेक्षस्यासावतिचारः ॥

चौराहृतग्रहः— अप्रेरितेनाननुमतेन च चौरैणानीतस्य कनकवस्त्रादे-  
रादानं मूल्येन मुदिकया वा । चौरानीतं च काणक्येण मुदिकया वा  
प्रच्छन्नं गृह्णश्चौरो भवति ततश्चौर्यकरणाद्गतभङ्गः । वाणिज्यमेव मया  
क्रियते न चौरिकेत्यव्यवसायेन व्रतसापेक्षत्वादभङ्ग इति भङ्गाभङ्ग-  
रूपोऽतिचारः ॥ अधिकहीनमानतुलं— मानं प्रस्थादि हस्तादि च ।  
तुला उन्मानं । मानं च तुला च मानतुलं, अधिकं च हीनं चाधिकहीनं  
तच्च तन्मानतुलं च, अधिकमानं हीनमानं, अधिकतुला हीनतुला  
चेत्यर्थः । तत्र न्यूनेन मानादिनाऽन्यस्मै ददाति, अधिकेनात्मनो  
गृह्णातीत्येवमादिकूटप्रयोगो हीनाधिकमानोन्मानमित्यर्थः ॥ प्रतिरू-  
पकव्यवहृतिः— प्रतिरूपकं सदृशं व्रीहीणां पलंजि, घृतस्य वसा,  
हिङ्गोः खदिरादि वेष्टस्तैलस्य मूत्रं, जात्यसुवर्णरूप्ययोर्युक्तसुवर्ण-  
रूप्ये, इत्यादिप्रतिरूपकेण व्यवहृतिर्व्यवहारो व्रीह्यादिषु पलंज्यादि  
प्रक्षिप्य तद्विक्रयणं । एतत् द्वयं परधनग्रहणरूपत्वाद्भङ्ग एव ।  
केवलं खात्रखननादिकमेव चौर्यं प्रसिद्धं । मया तु वाणिज्यैव  
कृतेति भावनया व्रतरक्षणोद्यतत्वादतिचार एवेति ॥

विरुद्धराज्येऽप्यतिक्रमः । अपिः समुच्चये । विरुद्धं विनष्टं विगृ-  
हीतं वा राज्यं राज्ञः पृथ्वीपालनोचितं कर्म विरुद्धराज्यं छत्रभङ्गः  
पराभियोगो वेत्यर्थः । तत्रातिक्रम उचितन्यायादन्येनैव प्रकारेणा-  
र्थस्य दानग्रहणं । विरुद्धराज्येऽल्पमूल्यलभ्यानि महार्घ्याणि द्रव्याणि  
इति प्रयततः । अथवा विरुद्धयोरर्थाद्राज्ञो राज्यं नियमिता भूमिः  
कटकं वा विरुद्धराज्यं तत्र । षष्ठीसप्तम्योरर्थं प्रति भेदाभावात् ।  
तस्यातिक्रमो व्यवस्थालङ्घनं । व्यवस्था च परस्परविरुद्धराजकत्वे  
एव । तल्लघनं चान्यतरराज्यनिवासिन इतरराज्ये प्रवेशः । इतर-  
राज्यनिवासिनो वा अन्यतरराज्ये प्रवेशः । विरुद्धराज्यातिक्रमस्य  
च यद्यपि स्वस्वामिनोऽननुज्ञातस्यादत्तादानलक्षणयोगेन तत्कारिणां च

चौर्यदण्डयोगेन चौर्यरूपत्वाद्भूतभङ्ग एव । तथाऽपि विरुद्धराज्या-  
तिक्रमं कुर्वता मया वाणिज्यमेव कृतं न चौर्यमिति भावनया  
व्रतसापेक्षत्वालोके च चोरोऽयमिति व्यपदेशाभावादतिचारता स्यात् ॥  
अथवा चोरप्रयोगादयः पञ्चाप्येते व्यक्तचौर्यरूपा एव । केवलं  
सहकारादिना वा प्रकारेण कियमाणास्तेऽतिचारतया व्यपदिश्यन्ते ।  
न चैते राज्ञां तत्सेवकादीनां वा न सम्भवन्तीति वाच्यम् । यतः  
प्रथमो द्वितीयः स्पष्ट एव । तृतीयस्तुर्यश्च यदा राजा भाण्डागारे  
हीनाधिकमानोन्मानं द्रव्याणां विनिमयं च कारयति तदा राज्ञोऽप्य-  
तिचारौ स्तः ॥ विरुद्धराज्यातिक्रमस्तु यदा सामन्तादिः कश्चित्  
स्वस्वामिनो वृत्तिमुपजीवति तद्विरुद्धस्य च सहायो भवति तदा  
अस्यातिचारः स्यात् । सोमदेवपण्डितस्तु मानन्यूनत्वाधिकत्वेन  
द्वावतीचारौ मन्यमान इदमाह— मानवन्त्यूनताधिक्ये स्तेनकर्म ततो  
ग्रहः ॥ विग्रहे संग्रहोऽर्थस्यास्तेयस्यैते निवर्तकाः ॥

अर्थ—अस्तेयाणुव्रती श्रावकाने चौरप्रयोग, चोराहृत-  
ग्रह, अधिकहीनमानतुला, प्रतिरूपकव्यवहृति आणि  
विरुद्धराज्यातिक्रम हे पांच अतीचार अवश्य सोडावेत.

१ “चौरप्रयोग” ह्यणजे आपण स्वतः अगर दुसऱ्या  
कोणाकडून एखाद्यास तूं चोरी कर अशी प्रेरणा करणें.  
तसेंच चोरी करण्याविषयी प्रेरणा केलेली असेल त्याला  
“हें तूं फार चांगलें करतोस” असे ह्यणून त्याच्या  
त्या चोरीच्या कृत्यास अनुमोदन देणें किंवा देवविणें,  
ह्यास चौरप्रयोग असे ह्यणतात. आतां येथें— चोरी  
मी स्वतः करणार नाहीं व करविणार नाहीं असें व्रत  
ज्यानें स्वीकारिलें आहे, त्यानें वर सांगितलेला चौर-

प्रयोग केल्याने त्या व्रताचा नाशच होतो मग ह्या चौरप्रयोगास अतीचार असें कसें ह्मणतां ? अशी शंका जरी उत्पन्न होते, तरी “तुम्ही कांहीं न करितां उगीच स्वस्थ कां बसला ? जर तुम्हांस कांहीं खावयास नसेल, तर मी देतो, तुम्ही आणलेले जिन्नस जर कोणी विकत घेत नसतील तर ते मी घेईन. ” अशा प्रकारच्या भाषणांनीं चोरांना दुष्कृत्य करण्याविषयीं प्रवृत्त करणारा, [ ह्या वरील भाषणांत चोरी करा असें स्पष्ट जरी सांगितलें नाहीं तरी ज्यापेक्षां हें भाषण चोरांस उद्देशून आहे; त्यापेक्षां, तात्पर्यानें चोरी करण्याविषयीं प्रवृत्त करणें सिद्ध होतें. ] व आपण व्यापाराकरितां जिन्नस आणावयास सांगितले आहेत अशी समजूत आपणच करून घेणारा असा जो श्रावक असेल त्याचाही वरील चौरप्रयोग अतिचारस्वरूप होतो, व्रतभंग करणारा होत नाहीं; असें तात्पर्य आहे.

२ ‘चौराहतग्रह’ ह्मणजे आपण ज्याला चोरी करण्याबद्दल सांगितलें नाहीं किंवा अनुमोदनही दिलेलें नाहीं अशा चोरानें आणलेले सुवर्ण, वस्त्र वगैरे पदार्थ विकत घेणें. हे चोरानें आणलेले पदार्थ अधिक किमतीचे असून कमी किमतीनें घेतले असतां, तसेंच ते पदार्थ गुप्तपणें घेतले असतां घेणारा चोर ठरतो, ह्मणून ह्या अतीचारांत चोरीही संभवते व व्यापारही संभवतो. त्याकरितां ज्या वेळीं ह्या चौराहतग्रहरूप अतीचारांत वर सांगितल्याप्रमाणें चोरी संभवते त्यावेळीं अचौर्य-व्रताचा नाश होतो, आणि ज्यावेळीं व्यापार संभवतो



त्यावेळीं व्रताचा भंग न होतां, केवळ अतीचारच होतो असें समजावें.

३ ' अधिकहीनमानतुला ' ह्मणजे कोणताही पदार्थ दुसऱ्याला देण्याचे वेळीं लहान मापानें देणें व दुसऱ्याकडून घेण्याचे वेळीं मोठ्या मापानें घेणें, तसेच पदार्थ घ्यावयाचे वेळीं हलक्या वजनानें देणें व घ्यावयाचे वेळीं जड वजनानें घेणें हा ' अधिकहीनमानतुला ' नांवाचा अतिचार असें समजावें.

४ ' प्रातिरूपकव्यवहति ' ह्मणजे कोणत्याही पदार्थांत त्याच्यासारखाच दिसणारा असा दुसरा एखादा ( कमी किमतीचा ) पदार्थ मिश्र करून ज्यास्त दरानें विकणें. जसें — भातांत फोल मिसळणें, तुपांत तेल, हिंगांत कात वगैरे न समजेल असा पदार्थ मिसळणें, तेलांत मूत्र मिसळणें, तसेंच उत्तम सुवर्णांत व रुप्यांत कमी प्रतीचे सोने व रुपें मिसळणें; आणि अशाप्रकारें तयार केलेला माल उंची दरानें विकणें. ह्यांतही दुसऱ्याच्या अडचणीच्या वेळीं त्यास अशा प्रकारचा माल देऊन त्याचें द्रव्य हरण केल्यामुळे अचौर्यव्रताचा नाश संभवतो. पण चोरी करणें ह्मणजे ' दुसऱ्याचें घर फोडून माल नेणें ' अशी वास्तवीक समजूत असल्यामुळे, अचौर्यव्रताचा नाश होईल ह्मणून जपत असलेल्या श्रावकानें वर लिहिल्याप्रमाणें मिश्रण करून केवळ व्यापाराच्या बुद्धीनें क्रयविक्रय केला असतां मात्र व्रतनाश न होतां अतीचार होतो. याप्रमाणें हाही अतीचार एखादे प्रसंगीं व्रताचा नाश करणारा होतो व एखाद्या प्रसंगीं अतिचारस्वरूप होतो असा ह्यांत सूक्ष्म भेद आहे.

५ “ विरुद्धराज्यातिक्रम ” ह्मणजे मूल्यवान् वस्तु कमी किमतीनें बलात्कारानें घेणें. एखाद्या राजाचे अधिकार काढून घेतले असतां, अथवा एखादा राजा दुसऱ्या बलाढ्य शत्रूच्या ताब्यांत सांपडल्यामुळे आपले योग्य अधिकार चालविण्यास असमर्थ झाला असतां, त्यावेळीं त्या देशांत योग्य नियामक कोणी नसल्यानें व सर्व लोक भ्यालेले असल्यानें, तसेंच शत्रूच्या लोकांचें बळ अधिक झालें असल्यानें, पाहिजे त्यानें वाटेल तसें करावें व जो बलवान् असतो, तो दुर्बलाजवळचे पदार्थ पाहिजे त्या तऱ्हेनें काढून घेतो, असाही प्रसंग असतो त्यावेळीं मूल्यवान् पदार्थ थोड्या किमतीनें ( बलात्कारानें ) घेतां येतो. अथवा एकमेकांशीं द्वेष करीत असलेल्या राजांच्या सरहद्दी किंवा त्यांचें सैन्य ह्यासंबंधानें त्यांनीं ( त्या राजांनीं ) केलेल्या नियमांचें अतिक्रमण करणें. ( ते नियम न मानतां त्या नियमाच्या उलट वागणें. ) उदाहरण— परस्परांशीं द्वेष करणाऱ्या राजांच्या देशांत तिसऱ्या राज्यांतील मनुष्यानें [ कांहीं दुर्बुद्धीनें ] जाणें, अथवा ह्या दोन राज्यांतील मनुष्यानें तिसऱ्या राज्यांत जाणें. आतां येथे—उगीच एखाद्याच्या राज्यांत दुसऱ्यानें जाणें ह्यापासून कांहींच दोष होत नसल्यानें तें जाणें कांहीं तरी दुष्ट इच्छेनेंच असलें पाहिजे असें तात्पर्यानें सिद्ध होतें. आणि त्यांतही ‘ दुष्ट इच्छा ’ शब्दानें अनेक अर्थाचा जरी समावेश होतो, तरी प्रकृतप्रसंगाला ( अचौर्याणुव्रताचा अतीचार सांगावयाचा आहे ह्या प्रसंगाला ) अनुसरून ती दुष्ट इच्छा ह्मणजे दुसऱ्यानें दिल्यावांचून घेण्याविषयीच असली

पाहिजे हेंही सिद्ध होतें. मग जर एखाद्याने आपल्या राजाच्या आज्ञेवाचून दुसऱ्याच्या राज्यांत जाऊन तेथील वस्तू हरण केल्या तर त्यास चोरी केल्याचाच अपराध लागू पडतो तेव्हां अशा रीतीने द्रव्य हरण होतें तें कोणी दिल्यावाचून होतें. ह्मणून अचौर्यव्रताचा भंग होणेंच योग्य आहे; मग ह्यास अतीचार कसें ह्मणावें अशी एक शंका उत्पन्न होते. त्याचें समाधान असें कीं,

वर सांगितल्याप्रमाणें जर दुष्ट इच्छा नसेल व त्यामुळे परद्रव्यापहार होत असेल, तर व्रतभंग अवश्य होईल. परंतु 'मी हा व्यापारच करीत आहे, चोरी करीत नाहीं' अशीच ज्याची वास्तवीक समजूत आहे व अशा समजुतीनेच जो मनुष्य परराज्यांत वर सांगितलेल्या प्रसंगीं जाऊन स्वल्पमूल्यानें मोठ्या किमतीचे पदार्थ विकत घेतो, त्यास 'चोर' असें समजण्याचा लोकांत संप्रदाय नसल्यानें तो चोर ठरत नाहीं. ह्मणून अशा कृत्यानें त्याचा व्रतभंग होत नाहीं अतीचार मात्र होतो. ह्मणून अशा प्रसंगीं त्या कृत्यास अतीचार असें समजावें. किंवा 'चौरप्रयोग' वगैरे पांचही क्रिया ह्या चोरीचाच एक प्रकार आहे, परंतु त्या जर विचार न करितां सहज घडतील तर तो अतीचार असें समजावें; व विचारपूर्वक समजून उमजून घडतील एर ती चोरी असेंच समजावें.

आतां हे वर सांगितलेले अचौर्याणुव्रताचे पांच प्रकारचे अतीचार राजा किंवा राजसेवक यांचे ठिकाणी मुळींच संभवत नाहीत; असें कित्येकांचें ह्मणणें

आहे, तें अगदीं बरोबर नाहीं. कारण पहिले दोन अतीचार (चौरप्रयोग व चौराव्हतग्रह) हे राजा किंवा राजसेवक ह्यांचे ठिकाणीं संभवतात हें वर केलेल्या अर्थावरून सहज समजण्यासारखें आहे ह्मणून त्याबद्दल मुळींच शंका घेतां येत नाहीं.

आतां पुढचे दोन अतीचार (अधिकहीनमानतुला व प्रतिरूपकव्यवहृती) हे दोनीही राजाचे ठिकाणीं संभवतात, तें असें— ज्यावेळीं राजा आपल्या जामदारखान्यांतील वस्तूंचें मोजमाप करितो किंवा सेवकांक-कडून 'अमूक रीतीनें करा' असें सांगून करवितो त्यावेळीं 'अधिकहीनमानतुला' हा अतीचार राजाच्या हातून घडणें व राजसेवकांच्या हातून घडणें अगदीं शक्य आहे. आणि ज्यावेळीं राजा आपल्या वस्तू मोबदला देऊन, दुसऱ्या वस्तू घेतो, त्यावेळीं प्रतिरूपकव्यवहृती हा अतीचार त्याच्या हातून घडणें संभवनीय आहे.

आतां पांचवा विरुद्धराज्यातिक्रम हा अतीचार होण्याचा प्रसंग असा येतो कीं,— ज्यावेळीं एखादा मांडलिक राजा— ज्या राजाकडील देणगीचा उपभोग करित असेल त्या राजाच्या विरुद्ध असलेल्या दुसऱ्या एखाद्या राजाला सहाय करण्यास प्रवृत्त होतो, त्या प्रसंगाला त्या मांडलिक राजाची खोड मोडण्याकरितां त्याच्यावर तो मांडलिक राजा ज्याच्या ताब्यांतील असेल असा मुख्य राजा चालून गेला असतां त्यावेळीं त्या मुख्यराजाच्या हातून विरुद्धराज्यातिक्रम हा अतीचार होणें शक्य आहे.

ह्याप्रमाणें बरील शंकेचा निरास होतो. सोमदेवाचार्यांनीं ह्या पांच प्रकारच्या अतीचारांपैकीं अधिकहीनमानतुला ह्या एका अतीचारांत मानन्यूनता व मानाधिक्य असे दोन अतीचार निराळे मानिले आहेत. त्याबद्दल त्यांची कारिका अशी आहे—

मानवन्न्यूनताऽऽधिक्ये स्तेनकर्म ततो ग्रहः ॥

विग्रहो संग्रहार्थश्चास्तेयस्यैते निवर्तकाः ॥ १ ॥

अर्थ—ज्या पदार्थाचें मोजणें किंवा तोलणें हें परिमाण आहे त्या पदार्थाच्या मोजण्यांत अथवा तोलण्यांत दुसऱ्यास देतांना कमीपणा करणें, तसेंच ( आपण घेतांना ) अधिक वजनानें अथवा मापानें घेणें, चोरी करविणें, चोरापासून त्यांनीं चोरून आणिलेले पदार्थ विकत घेणें व द्रव्य मिळाविण्याकरितां युद्ध करणें हीं सर्व अचौर्याणुव्रताचे अतीचार होत.

अथ स्वदारसन्तोषाणुव्रतस्वीकारविधिमाह—

आतां; स्वदारसंतोषव्रत करण्याविषयीं सांगतात.

प्रतिपक्षभावनैव न ।

रती रिरंसारुजि प्रतीकारः ॥

इत्यप्रत्ययितमनाः ।

श्रयत्वहिंस्रः स्वदारसन्तोषम् ॥ ५१ ॥

टीका—श्रयतु स्वीकरोतु । कोऽसौ अहिंस्रः ईषद्विसनशीलोऽणुव्रती । कं स्वदारसन्तोषं स्वदारेषु स्वभार्यायां स्वदरैर्वा सन्तोषो मैथुनसञ्ज्ञावेदनाशान्त्या देहमनसोः स्वास्थ्यापादनं । किंविशिष्टः

सन् । अप्रत्ययितमनाः प्रत्ययो विश्वासः प्रत्ययः सञ्जातोऽस्येति प्रत्ययितं न प्रत्ययितमप्रत्ययितं मनो यस्यासावप्रत्ययितमना असञ्जातविश्वासचित्त इत्यर्थः । कथं इति अनेन सदुपदेशप्रकारेण । तमेव दर्शयति— भवति । कोऽसौ प्रतीकारः प्रशमनोपायः । कस्यां रिरंसारुजि योन्यादौ रन्तुमिच्छारूपायां वेदनायां । किं प्रतीकारः प्रतिपक्षभावनैव ब्रह्मचर्यस्य प्रागुक्तविधिना पुनः पुनश्चेतसि सन्निवेशनमेव । न पुनर्भवति तत्र प्रतीकारः । किं रतिः स्त्रीसम्भोगः ॥

अर्थ—ब्रह्मचर्य हेच स्त्रीसंभोगाविषयी उत्पन्न होणाऱ्या इच्छेचा नाश करण्याला समर्थ आहे. वारंवार स्त्रीसंभोग केल्याने स्त्रीसंभोगेच्छा केव्हाही निवृत्त व्हावयाची नाही असा ज्याच्या अंतःकरणाचा निश्चय झालेला नाही, अशा स्थूलहिंसाणुव्रत करणाऱ्या श्रावकांने आपल्या विवाहित-स्त्रीच्या योगानें मैथुनसंज्ञेपासून होणारे क्लेश घालवून देहाचा व मनाचा स्वस्थपणा अवश्य संपादन करावा.

स्वदारसन्तोषिणं व्याचष्टे—

आतां, स्वदारसंतोषी कोणाला ह्मणावें, तें सांगतात.

सोऽस्ति स्वदारसन्तोषी ।

योऽन्यस्त्रीप्रकटस्त्रियौ ॥

न गच्छत्यंहसो भीत्या ।

नान्यैर्गमयति त्रिधा ॥ ५२ ॥

टीका — अस्ति भवति । कोऽसौ स गृहाश्रमी । कीदृशः स्वदारसन्तोषी स्वदारेषु निजधर्मपत्न्यां सन्तुष्यति मैथुनसञ्ज्ञां प्रतिषि-कीर्षयन् भजतीत्येवंव्रतः । स्वदारेषु सन्तोषोऽस्यास्तीति वा । यः

किं यः न गच्छति न भजति । के अन्यस्त्रीप्रकटस्त्रियौ अन्यस्त्री  
 परदाराः परिगृहीता अपरिगृहीताश्च । तत्र परिगृहीताः सस्वा-  
 मिकाः । अपरिगृहीता स्वैरिणी प्रोषितभर्तृका कुलाङ्गना वा  
 अनाथा । कन्या तु भाविभर्तृकत्वात्पित्रादिपरतन्त्रत्वाद्वा सनाथे-  
 त्यन्यस्त्रीतो न विशिष्यते । प्रकटस्त्री वेश्या । अन्यस्त्री च प्रकटस्त्री  
 च अन्यस्त्रीप्रकटस्त्रियौ । ते द्वे अपि यो न भजति । कया भीत्या  
 भयेन । कस्मात् अंहसः पापात् न राजादेः । नापि यो गमयति  
 उपभोजयति । के ते द्वे । कैः कर्तृभिः अन्यैः परदारादिलम्पटैः ।  
 कथं त्रिधा मनोवाक्यायैः कृतकारिताभ्यामनुमत्याऽपि वा । तदेत-  
 द्ब्रह्माणुव्रतं निरतिचारं मद्यामिषक्षौद्रपञ्चोदुम्बरविरतिलक्षणाष्टमूल-  
 गुणान् प्रतिपन्नवतो विशुद्धसम्यग्दशः श्रावकस्योपदिश्यते । यस्तु  
 स्वदारवत्साधारणस्त्रियोऽपि व्रतयितुमशक्तः परदारानेव वर्जयति  
 सोऽपि ब्रह्माणुव्रतीप्यते । द्विविधं हि तद्व्रतं । स्वदारसन्तोषः  
 परदारवर्जनं चेति । एतच्चान्बस्त्रीप्रकटस्त्रियाविति स्त्रीद्वयसेवाप्रति-  
 षेधोपदेशाल्लभ्यते । तत्राद्यमभ्यस्तदेशसंयमस्य नैष्ठिकस्येप्यते ।  
 द्वितीयं तु तदभ्यासोन्मुखस्य । तदाह श्रीसोमदेवपण्डितः— वधू-  
 वित्तस्त्रियो मुक्त्वा सर्वत्रान्यत्र तज्जने ॥ माता स्वसा तनूजेति  
 मतिर्ब्रह्म गृहाश्रमे ॥ यस्तु— पंचुंबरसहियाई सत्त वि वसणाइ जो  
 विवज्जेइ । सम्मत्तविसुद्धमइ सो दंसणसावओ भणिओ ॥ इति  
 वसुनन्दिस्सैद्धान्तिमतेन दर्शनप्रतिमायां प्रतिपन्नस्तस्येदं ॥ तन्मतेनैव  
 व्रतप्रतिमां विभ्रतो ब्रह्माणुव्रतं स्यात् तद्यथा— पव्वेसु इत्थिसेवा  
 अणंगकीडा सया विवज्जेइ ॥ थूळअड वंभयारी जिणेहिं भणिदो  
 पवयणम्मि ॥ यस्तु “सम्यग्दशनशुद्धः संसारशरीरभोगानिर्विण्णः ।  
 पञ्चगुरुचरणशरणो दर्शनिकस्तत्त्वपथगृह्य इति” । स्वामिमतेन  
 दर्शनिको भवेत्तस्येदं ब्रह्माणुव्रतमतिचारवर्जनार्थमेवात्रानूद्यते ॥

अर्थ—जो श्रावक पापाच्या भीतीमुळे परस्त्री व वेश्या ह्यांचा उपभोग मन, वाणी व शरीर ह्या तीहींच्या योगानें आपण करीत नाहीं व दुसऱ्याकडून करवीत नाहीं, तो 'स्वदारसंतोषी' असें समजावें. ( ह्या श्लोकांत ' अन्यस्त्री ' ( परस्त्री ) असें पद आहे ती अन्यस्त्री परिगृहीत व अपरिगृहीत अशी दोन प्रकारची आहे. जी सभर्तृका असते ती परिगृहीत होय व जी [ सभर्तृका असूनही ] पतीच्या ताब्यांत न राहतां यथेच्छ वागणारी, किंवा जिचा पती फार दिवस गांवाला गेला असून त्याचा शोध लागत नाहीं अशी जी असते ती ' अपरिगृहीता ' समजावी. जिचा विवाह झालेला नाहीं अशी कन्या जरी सभर्तृका नाहीं तथापि ती पिता, बंधू, माता, वगैरेच्या आधीन अशी असल्यामुळे तिला ' परस्त्री ' समजणेंच योग्य आहे.

अथ यद्यपि गृहस्थस्य प्रतिपन्नं व्रतमनुपालयतो न तादृशः पापबन्धोऽस्ति तथापि यतिधर्मानुरक्तत्वेन तत्प्राप्तेः प्राग्गार्हस्थ्येऽपि कामभोगविरक्तः सन् श्रावकधर्मं प्रतिपालयति तं वैराग्यकाष्ठा-मुपनेतुं सामान्येनाब्रह्मदोषानाह—

आतां; स्त्रिसंभोगांत दोष आहेत असें सांगतात. ह्या ठिकाणीं " स्वदारसंतोषाणुव्रत गृहस्थाश्रमी श्रावकानें अवश्य करावें ' असें पूर्वी विधान केलें आहे. जर स्त्रीसंभोगांत दोष आहेत, तर मग स्वदारसंतोषाणुव्रताचें विधान कसें केलें " अशी शंका येते. त्याचें समाधान असें कीं, ज्यापेक्षां स्वदारसंतोषाणुव्रताचें विधान केलें आहे, त्यापेक्षां ज्या गृहस्थाश्रमी श्रावकानें ब्रह्मचर्या-णुव्रत स्वीकारलेलें असेल, त्याला स्वस्त्रीच्या उपभोगानें



फारसा पापबंध नाही, हें तात्पर्यानें सिद्ध होतें, तेव्हां ह्या दोषकथनाचा संबंध स्वदारसंतोषाणुव्रती श्रावकाकडे जरी नाही, तथापि ज्या गृहस्थश्रावकांना यतिधर्माविषयीं भक्ती उत्पन्न झाली असेल, ते यतिधर्म स्वीकारण्याच्या पूर्वी गृहस्थाश्रमामध्ये असतांही कामभोगाविषयीं विरक्त होऊनच श्रावकधर्माचें परिपालन करीत असतात. अशा प्रकारचे जे श्रावक असतील त्यांचें मूळचेंच असलेलें कामभोगाविषयींचें ( स्त्रीसंभोगाविषयींचें ) वैराग्य अधिक वृद्धिंगत व्हावें आणि ह्मणूनच सामान्यतः स्त्रीसंभोगांत दोष आहेत असें सांगावयाचें आहे, असें समजावें; ह्मणजे वरील शंका उत्पन्न होण्यास मुळींच अवकाश रहात नाही. या उद्देशानेंच स्त्रीसंभोगांत दोष आहेत, ह्मणजे स्त्रीसंभोग दुष्ट असल्यामुळे तो सुखकर नाही, असें सांगतात.

सन्तापरूपो मोहाङ्गः ।

सादतृष्णानुबन्धकृत् ॥

स्त्रीसम्भोगस्तथाऽप्येष ।

सुखं चेत्का ज्वरेऽक्षमा ॥ ५३ ॥

टीका— भवति । कोऽसौ स्त्रीसम्भोगः । कीदृशः सन्तापरूपः स्त्रीसम्पर्कस्य पित्तप्रकोपहेतुत्वात्सन्तापयतीति सन्तापः सन्तापकरूपं यस्य स सन्तापरूपः । ज्वरपक्षे तु सन्तपनं सन्तापः संज्वरः स एव रूपमस्येति विग्रहः । तथा चोक्तं सन्तापात्कोपजो ज्वर इति । पुनः कीदृशः मोहेत्यादि— मोहो हिताहितविवेकविकलत्वं, अंगसादः शरीरनिःसहत्वं तृष्णानुबन्धः तर्षाविच्छेदः

पक्षे पिपासासातत्यं मोहश्चांगसादश्च तृष्णानुबन्धश्च मोहांगसा-  
दतृष्णानुधास्तान् करोति । यद्यप्येवंविध एष तथाऽपि सुखं चेत्  
मन्यसे भो आत्मन् तदा न काऽपि त्वया कार्या । काऽसौ  
अक्षमा । क ज्वरे ज्वरोऽपि सुखं मन्तव्य इति भावः । तथा  
चोक्तमार्धे— स्त्रीभोगो न सुखं चेतस्सम्मोहाद्वात्रसादनात् । तृष्णा-  
नुबन्धात्सन्तापरूपत्वाच्च यथा ज्वरः ॥ १ ॥

अर्थ— स्त्रीसंभोग हा— ( स्त्रीसंसर्गानें पिताची वृद्धि  
होते व पितापासून शरीराचा दाह होतो ह्मणून )— संताप  
उत्पन्न करणारा आहे. तसेच तो मोह करतो, ह्मणजे  
चांगलें कोणतें व वाईट कोणतें ह्याविषयीं विचार सुचूं  
देत नाहीं. देहाला कृशपणा आणतो, व त्याचें कितीहि  
सेवन केलें तथापि तो अधिकच इच्छा वाढवितो. ह्मणून  
हे जीवा ! ह्याप्रमाणें दुष्ट असलेला स्त्रीसंभोग जर तुला  
सुखकर वाटत असेल, तर मग तुला ज्वर आला असतां  
तो जाण्याकरितां औषध घेऊं नको. कारण ज्वरहि संताप  
करतो, मोह ह्मणजे भ्रांति उत्पन्न करितो, अंग कृश  
करितो व पाणी पिण्याची इच्छा वाढवितो. तेव्हां स्त्री-  
संभोगापासून ज्या तऱ्हेचें दुःख होतें त्याच तऱ्हेचें दुःख  
ज्वरापासून होतें. मग जर दोहोंपासून सुख नसून दुःख  
सारखेंच आहे, तर स्त्रीसंभोगाविषयीं जशी तूं इच्छा  
करतोस त्याप्रमाणें ज्वराविषयींहि तुला इच्छा उत्पन्न  
होणें योग्य आहे.

परदाररतौ सुखाभावमुपदिशति—

आतां परस्त्रीसंभोगांतही सुख नाहीं; असें युक्तीनें  
सांगतात.

समरसरसरङ्गोद्गम- ।

मृते च काचित्क्रिया न निर्वृतये ॥

स कुतः स्यादनवस्थित- ।

चित्ततया गच्छतः परकलत्रम् ॥ ५४ ॥

टीका— न च भवति । काऽसौ क्रिया प्रवृत्तिः । किंवि-  
शिष्टा काचित् आलिङ्गनचुम्बनादिका । कस्यै निर्वृतये सुखार्थं ।  
कथं ऋते विना । कं समरसरसरङ्गोद्गमं । समसमायोगं समानर-  
तिमित्यर्थः । कुतः स्यान्न कुतश्चिद्भवेदित्यर्थः । कोऽसौ समरसर-  
सरङ्गोद्गमः । कस्य पुंसः । किं कुर्वतो गच्छतः सेवमानस्य ।  
किं तत् परकलत्रं । कया अनवस्थितचित्ततया स्वपरजनशंका-  
तंकाकुलितमनस्कतया ॥

अर्थ—समागमकालीं एकमेकाविषयीं विलक्षण प्रेम  
असलेल्या स्त्रीपुरुषांच्या अंतःकरणांत एकमेकांच्या समा-  
गमाची उत्कट इच्छा उत्पन्न झाल्यावांचून स्त्रीपुरुषांच्या  
समागमापासून केव्हांही सुख व्हावयाचें नाहीं. मग  
असें प्रेम व अशी इच्छा, “दुसरे कोणी आपल्याला  
पहातील ” अशा भीतीनें ज्याचें अंतःकरण व्यग्र झालें  
आहे अशा परस्त्री गमन करणाऱ्या पुरुषाच्या अंतः-  
करणांत कशी उत्पन्न व्हावी? मुळींच उत्पन्न होणें  
शक्य नाहीं.

स्वदाररतस्यापि भावतो द्रव्यतश्च हिंसासम्भवं नियमयति—

आतां; स्वस्त्रीच्या ठिकाणीं आसक्त असणाऱ्या  
श्रावकाकडून भावहिंसा व द्रव्यहिंसा ह्या दोनीही होतात,  
असें सांगतात.

स्त्रियं भजन् भजत्येव ।

रागद्वेषौ हिनस्ति च ॥

योनिजन्तून् बहून् सूक्ष्मान् ।

हिंस्रः स्वस्त्रीरतोऽप्यतः ॥ ५५ ॥

टीका— भवति । कोऽसौ नरः । किंविशिष्टो हिंस्रः । भावद्रव्याभ्यां हिंसनशीलः । किंविशिष्टोऽपि स्वस्त्रीरतोऽपि स्वस्त्रियां रतं मैथुनं यस्य सोऽपि विशेषतस्तु परस्त्रीरतः । तत्र रागद्वेषयोर्बहुतरत्वसम्भवात् । कस्मादत एतस्मात्कारणात् । यतो भजत्येव अवश्यमाश्रयति । कोऽसौ स्त्रियं भजन् स्त्रियं सेवमानः पुमान् । कौ रागद्वेषौ प्रीत्यप्रीती । तथा हिनस्ति हन्ति । कान् योनिजन्तून् भगजीवान् । किंविशिष्टान् सूक्ष्मान् दुर्लक्ष्यान् । कति बहून् प्रचुरान् । वात्स्यायनोऽपि योनौ जन्तूनिच्छति तथा च तद्ग्रन्थः— रक्तजाः कृमयः सूक्ष्मा मृदुमध्यादिशक्तयः ॥ जन्मवर्त्मसु कण्डूतिं जनयन्ति तथाविधाम् ॥ १ ॥

अर्थ—स्त्रीचा उपभोग करणाच्या मनुष्याच्या अंतःकरणांत प्रेम व द्वेष हे दोन्ही विकार उत्पन्न होतात. तशीच योनीच्या ठिकाणी उत्पन्न होणाऱ्या पुष्कळ सूक्ष्म जीवांची हिंसा त्यांच्याकडून घडते; ह्मणून, तो हिंसा करणाराच ठरतो. अंतःकरणांत स्वस्त्रीविषयीं जें प्रेम असतें व तिच्यासंबंधानेंच दुसरा कोणी इच्छा करील ह्मणून जो द्वेष असतो त्यास 'भावहिंसा' असें ह्मणतात. योनिजजंतूंचा जो उपभोगकालीं नाश होतो, ती 'द्रव्याहिंसा' असें समजावें. तात्पर्य, स्त्री संभोगापासून दोनही प्रकारची हिंसा होते, ह्मणून

स्वस्त्री व परस्त्री ह्या दोघींचाही उपभोग करूं नये.

ब्रह्मचर्यमहिमानमभिष्टौति—

आतां; ब्रह्मचर्याच्या महत्वाची स्तुति करितात.

स्वस्त्रीमात्रेऽपि सन्तुष्टो ।

नेच्छेद्योऽन्याः स्त्रियः सदा ॥

सोऽप्यद्भुतप्रभावः स्यात् ।

किं वर्ण्यं वर्णिनः पुनः ॥ ५६ ॥

टीका— यो नेच्छेत् नाभिलषेत् । काः स्त्रियः नारीः । किंविशिष्टाः अन्याः स्वस्त्रीतो व्यतिरिक्ताः । किंविशिष्टः सन् सन्तुष्टः सन्तोषं गतः । केन स्वस्त्रीमात्रेण निजनार्थेव । स्यात् कोऽसौ सोऽपि स्वदारसन्तुष्टोऽपि । किंविशिष्टः अद्भुतप्रभावो लोकविस्मयनीयमाहात्म्यः । किं वर्ण्यं किं माहात्म्यं स्तुत्यं । कस्य वर्णिनः सर्वस्त्रीनिवृत्तस्य कथं पुनः प्राग्वर्णितप्रायत्वादित्यर्थः ॥

अर्थ—जो पुरुष केवळ विवाहित स्त्रीच्या योगानेंच तुष्ट होऊन केव्हांही दुसऱ्या स्त्रीची इच्छा करीत नाही तो पुरुष देखील विलक्षण प्रभावशाली होतो. तर ( ह्याप्रमाणें स्वदारसंतोषरूपी एकदेशी ब्रह्मचर्याचें जर इतकें सामर्थ्य आहे तर ) मग जे मुळींच स्त्रीस-मागम न करणारे असे असतील, त्यांचें वर्णन काय करावें; अर्थात् त्यांचें वर्णन करणें अगदींच शक्य नाही.

इदानीं स्वभर्तृमात्रसेवनव्रतायाः स्त्रिया बहुमान्यतां दृष्टान्तेन स्पष्टयति—

आतां; केवळ स्वपतीचीच सेवा करणाऱ्या स्त्रीची योग्यता उदाहरणानें स्पष्ट दाखवितात.

रूपैश्वर्यकलावर्य- ।

मपि सीतेव रावणम् ॥

परपूरुषमुज्झन्ती ।

स्त्री सुरैरपि पूज्यते ॥ ५७ ॥

टीका— पूज्यते सत्क्रियते । काऽसौ स्त्री । कैः सुरैर्देवैः किं पुनर्मनुष्यादिभिरित्यपिशब्दार्थः । किं कुर्वती उज्झन्ती व्रतयन्ती । कं परपूरुषं स्वभर्तुरन्यं पूरुषं । अत्र हेतौ शतृङ् परपूरुषोऽज्झनेन सुरपूजाया जन्यत्वात् । किंविशिष्टमपि रूपेत्यादि— रूपमाकार-सौन्दर्यं । ऐश्वर्यं पूजार्थाज्ञाधिपत्यं, कला गीतनृत्यादिकाः रूपं चैश्वर्यं च कलाश्च ताभिर्वर्यमुत्कृष्टमसाधारणरूपादिमन्तमित्यर्थः । अपिर्विस्मये । केव कमित्याह— सीतेव रावणं जानकी यथा लंकेश्वरम् ॥

अर्थ— रावणाचा ज्याप्रमाणें सीतेने त्याग केला त्याप्रमाणें आपल्या पतीपेक्षां दिसण्यांत सुंदर, संपत्तिमान् व अनेक कलांनीं युक्त असलेल्या अशा देखील परपुरुषाचा जी स्त्री त्याग करिते, तिची देवसुद्धां पूजा करितात. ( त्या स्त्रीला देव देखील मान देतात. )

ब्रह्माणुव्रतातिचारानाह—

आतां; ब्रह्मचर्याणुव्रताचे अतीचार सांगतात.

इत्वरिकागमनं पर- ।

विवाहकरणं विटत्वमतिचाराः ॥

स्मरतीव्राभिनिवेशोऽ ।

नङ्गक्रीडा च पञ्च तुर्ययमे ॥ ५८ ॥

टीका— इत्वरिकागमनादयः पञ्चातिचारास्तुर्ययमे सार्वकालिकब्रह्मचर्याणुव्रते भवन्तीति सम्बन्धः । तत्तेत्वरिकागमनं अस्वामिका असती गणिकात्वेन पुंश्चालित्वेन वा पुरुषानेति गच्छतीत्येवंशीला इत्वरी । तथा प्रतिपुरुषमेतीत्येवंशीलेति व्युत्पत्त्या वेश्यापीत्वरी । ततः कुत्सायां के इत्वरिका तस्यां गमनमासेवनं । इयं चात्र भावना— भाटिप्रदानान्नियतकालस्वीकारेण स्वकलत्रीकृत्य वेश्यां वेत्वरिकां सेवमानस्य स्वबुद्धिकल्पनया स्वदारत्वेन व्रतसापेक्षचित्त्वादल्पकालपरिग्रहाच्च न भंगो वस्तुतोऽस्वदारत्वाच्च भंग इति भंगाभंगरूपत्वादित्वरिकाया वेश्यात्वेनान्यस्यास्त्वनाथतयैव परदारत्वात् । किं चास्य भाट्यादिना परेण किञ्चित्कालं परिगृहीतां वेश्यां गच्छतो भंगः कथञ्चित्परदारत्वात्तस्याः । लोके तु परदारत्वारूढेर्न भंग इति भंगाभंगरूपोऽतिचारः । अन्ये त्वपरिगृहीतकुलांगनामप्यन्यदारवर्जिनोऽतिचारमाहुः । तत्कल्पनया परस्य भर्तुरभावेनापरदारत्वादभङ्गो लोके च परदारतया रूढेर्भङ्ग इति भङ्गभङ्गरूपत्वात्तस्य । एतेनेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनलक्षणमतिचारद्वयं तत्त्वार्थशास्त्रोद्दिष्टमपि संगृहीतं भवति । परविवाहकरणादयस्तु चत्वारो द्वयोरपि स्फुरन्तीति प्रथमोऽतिचारः ॥१॥

परविवाहकरणं— स्वापत्यव्यतिरिक्तानां कन्याफललिप्सया स्नेहसम्बन्धादिना वा परिणयनविधानं । एतच्च स्वदारसन्तोषवता स्वकलत्तेतरदारवर्जकेन च स्वकलत्रवेश्याभ्यामन्यत्र मनोवाक्कायैर्मैथुनं न कार्यं न च कारणीयमिति व्रतं यदा गृहीतं भवति तदाऽन्यविवाहकरणं मैथुनकरणमित्यर्थतः प्रतिषिद्धमेव च भवति । तद्व्रती तु मन्यते विवाह एवायं मया क्रियते न मैथुनं कार्यत इति व्रतसापेक्षत्वादतिचारः । कन्याफललिप्सा च सम्यग्दृष्टेरप्युत्पन्नावस्थायां सम्भवति । मिथ्यादृष्टेस्तु भद्रकावस्थायामनुग्रहार्थं व्रतादाने

सा सम्भवति । ननु परविवाहनवत् स्वापत्यविवाहनेऽपि समान एव दोष इति चेत् सत्यं । किं तर्हि यदि स्वकन्याविवाहो न कार्यते तदा स्वच्छन्दचारिणी स्यात् । ततश्च कुलसमयलोकविरोधः स्यात् । विहितविवाहात् पतिनियतस्त्रीत्वेन न तथा स्यात् । एष न्यायः पुत्रेऽपि विकल्पनीयः । यदि पुनः कुटुम्बचिन्ताकारकः कोऽपि स्वभ्रात्रादिर्भवेत्तदा स्वापत्यविवाहनेऽपि नियम एव श्रेयान् । यदा तु स्वदारसन्तुष्टो विशिष्टसन्तोषाभावात् अन्यत्कलत्रं परिणयति तदाऽप्यस्यायमतिचारः स्यात् । परस्य कलत्रान्तरस्य विवाहकरणमात्मना विवाहनमिति व्याख्यानादिति द्वितीयोऽतिचारः ॥ २ ॥

विटत्वं भाण्डिमा तत्प्रधानवाक्प्रयोगः ॥ ३ ॥ स्मरतीव्राभिनिवेशः— कामेऽतिमात्रमाग्रहः । परित्यक्तान्यसकलव्यापारस्य तद्व्यवसायितेत्यर्थः । यथा मुखकक्षोपस्थान्तरेष्ववितृप्ततया लिङ्गं प्रक्षिप्य महतीं वेलां निश्चलो मृत इवास्ते । चटक इव चटकां मुहुर्मुहुः स्त्रियमारोहति । जातबलक्षयश्च वाजीकरणान्युपयुङ्क्ते । अनेन खल्वौषधादिप्रयोगेण गजप्रसेकी तुरगावमर्दा च पुरुषो भवतीति बुध्या इति चतुर्थः ॥ ४ ॥

अनङ्गकीडा अङ्गं साधनं देहावयवो वा तच्चेह मैथुनापेक्षया योनिर्मेहनं च ततोऽन्यत्र मुखादिप्रदेशे रतिः । यतश्च चर्मादिमयैर्लिङ्गैः स्वलिङ्गेन कृतार्थोऽपि स्त्रीणामवाच्यदेशं पुनःपुनः कुद्राति । केशकर्षणादिना वा क्रीडन् प्रचलरागमुत्पादयति साऽप्यनङ्गक्रीडोच्यते । इह च श्रावकोऽत्यन्तपापभीरुतया ब्रह्मचर्यं चिकीर्षुरपि यदा वेदोदयासहिष्णुतया तत्कर्तुं न शक्नोति तदा यापनामात्रार्थं स्वदारसन्तोषादि प्रतिपद्यते । मैथुनमालेण च यापनायां सम्भवत्यां विटत्वादित्रयमर्थतः प्रतिषिद्धमेव । तत्प्रयोगे हि न कश्चिदुणः ।



प्रत्युत सद्योऽतिरागोद्दीपनं बलक्षयस्तात्कालिकी च्छिदा राजयक्ष्मा-  
दिरोगाश्च स्युः । तदुक्तं— ऐदम्पर्यमतो मुक्त्वा भोगानाहारवद्भ-  
जेत् ॥ देहदाहोपशान्त्यर्थमभिध्यानविहानये ॥ १ ॥ एवं प्रतिषि-  
द्धाचरणाद्भक्तो नियमाबाधनाच्चाभङ्ग इत्येतेऽपि विटत्वादयस्त्रयोऽ  
तिचाराः । यद्वा स्वदारसन्तोषी मैथुनमेव मया वेश्यादौ प्रत्याख्या-  
तमिति स्वकल्पनया तत्र तदेव वर्जयति न विटत्वादिकं । परदार-  
विवर्जकोऽपि परदारेषु मैथुनमेव वर्जयति नाशिष्टवाक्प्रयोगालिङ्गना-  
दीनीति तयोः कथञ्चिद्भूतसापेक्षत्वाद्विटत्वादयोऽतिचाराः । स्त्रियास्तु  
पूर्ववत्परविवाहकरणादयः । प्रथमस्तु यदा स्वकीयपतिर्वारकादिने  
सपत्न्या परिगृहीतो भवति तदा सपत्नीवारकं विलुप्य तं परिभु-  
ञ्जानाया अतिचारोऽतिक्रमादिना च परपुरुषं ( इव ) स्वपतिं वा  
ब्रह्मचारिणमभिसरत्याः स्यात् ॥

अर्थ—ब्रह्मचर्याणुव्रताचे “ इत्वरिकागमन, परविवाह-  
करण, विटत्व, स्मरतीव्राभिनिवेश आणि अनंगक्रीडा ”  
असे पांच अतीचार आहेत. ह्यांतील प्रत्येकांचे अर्थ पुढे  
दिल्याप्रमाणे—

जी स्त्री पती किंवा पिता वगैरे दुसरे कोणीच नसल्याने  
स्वतंत्र झाल्यामुळे प्रसिद्धपणे अथवा गुप्तरीतीने परपुरुषाशीं  
समागम करित असेल तिला ‘इत्वरी’ असे ह्मणतात.  
त्याचप्रमाणे प्रत्येक पुरुषाबरोबर समागम करणारी अस-  
ल्याने वेश्येलाही ‘इत्वरी’ ह्मणतात. अशाप्रकारच्या  
स्त्रीचे सेवन करणे हा ब्रह्मचर्याणुव्रताचा अतीचार आहे.  
हा भंग व अभंग उभयस्वरूप आहे. कारण, जर एखादा  
परस्त्रीत्यागाणुव्रत पाळणारा श्रावक कांहीं द्रव्य देऊन  
नियमितकालपर्यंत एखाद्या वेश्येला आपल्या स्त्रीप्रमाणे

ताब्यांत ठेऊन तिचा उपभोग करीत असेल, तर त्याची “ आपण परस्त्रीत्यागाणुव्रत स्वीकारिलेलें आहे व ही वेश्या जरी आहे, तरी द्रव्य देऊन हिला कांहीं कालपर्यंत आपली स्त्रीच केली असल्यानें हिच्या उपभोगानें व्रतभंग होत नाही ” अशी कल्पना असल्यानें त्याच्या बुद्धीनें व्रतभंग होत नाही. आणि वास्तवीक विचार केला असतां, त्या वेश्येशीं यथाविधि विवाह झाला नसल्यानें ती स्वस्त्री होत नाही. ह्मणून परस्त्रीचा उपभोग केल्यासारखेंच होतें, येवढ्याकरितां व्रतभंग होतो.

तसेंच; पती, पिता किंवा ज्यांच्या आज्ञेचें अतिक्रमण करतां येत नाही असे दुसरे कोणीं नसल्यानें जी स्त्री स्वतंत्र झालेली असते, तिचेंही ‘ इत्वरिका ’ शब्दानें ग्रहण होत असल्यानें तिच्याशीं समागम करणें हाही भंगाभंगरूपच अतिचार होतो. कारण, कोणाचेंच स्वत्व नसल्यानें तिला परस्त्री ह्मणतां येत नाही. ह्मणून तिच्या उपभोगानें व्रतभंग न होतां केवळ अतिचार मात्र होतो. व लोकव्यवहारांत तिला परस्त्री समजण्याची रूढी असल्यानें व्रतभंग होतो. तात्पर्य, इत्वरिकागमनापासून भंगाभंगरूप अतिचार घडतो हें युक्तीनें सिद्ध आहे. वेश्यागमनापासून जो अतिचार घडतो त्याचा एक प्रकार वर दाखविला.

आतां दुसराही एक प्रकार त्याविषयींचाच आहे तो असा— दुसऱ्या एखाद्या मनुष्यानें द्रव्य देऊन आपल्या ताब्यांत जर एखादी वेश्या ठेवलेली असेल, तर ती— जितकी कालपर्यंत त्याच्या स्वत्वांत असेल तितका

कालपर्यंत— परस्त्री असल्याने तिच्या समागमानें परस्त्री-समागम होऊन व्रतभंग होतो; व लोकांत तशा प्रकारच्या वेश्येलाहि परस्त्री ह्मणण्याची रूढी नसल्याने व्रतभंग न होतां केवळ अतीचार होतो. अशा प्रकारेही इत्वरि-कागमनरूपी अतिचाराला भंगाभंगरूपता येते.

दुसरे कितीएक पंडित “ अस्वामिक अशा कुलस्त्रीशीं गमन करणें, हा, ज्यानें परस्त्रीसंभोग वर्ज्य केला आहे अशा श्रावकाचा अतीचार होतो ” असें ह्मणतात. हा अतिचारही भंगाभंगस्वरूपच होतो. कारण, जी स्त्री अनाथ असते तिच्यावर पतीचें स्वत्व नसल्याने ती परस्त्री होत नाहीं ह्मणून तिच्या संभोगानें व्रतभंग केला असें होत नाहीं. आणि लोकव्यवहारांत तिलाही ‘ परस्त्री ’ असें समजण्याचा संप्रदाय असल्यानें व्रतभंग होतो. तत्त्वार्थसूत्रांत ब्रह्मचर्यव्रताचे जे पांच अतीचार सांगितले आहेत त्यांत विवाहित असून व्यभिचार करणाऱ्या स्त्रीचा संभोग करणें व अविवाहित असून व्यभिचार करणाऱ्या स्त्रीचा संभोग करणें हे दोन अतीचार मानिले आहेत, त्यांचाही ह्या मतांत संग्रह होतो. बाकीचे अति-चार दोघांच्याही मतानें सारखेच आहेत. ह्मणून, त्याबद्दल विवेचन करण्याचें कारण नाहीं.

दुसऱ्या अतिचाराचें नांव ‘ परविवाहकरण ’ असें आहे. ह्याचा अर्थ— आपल्या मुलीवांचून दुसऱ्या कोणाच्याही मुलीचें, आपल्याला कन्यादानाचें फळ मिळावें ह्या बुद्धीनें अथवा प्रेमानें लग्न करणें असा होतो. हें स्वदारसंतोषव्रताचा ज्यानें स्वीकार केला आहे, त्यानें

देखील करूं नये. कारण, स्वदारसंतोषव्रती श्रावकानें मनानें वाणीनें व शरीरानें स्वस्त्रीवांचून इतर स्त्रीशीं समागम करणें अथवा करविणें हें वर्ज्य केलेलें असतें; ह्मणून दुसऱ्याचा विवाह करणें ह्मणजे परंपरेनें त्या स्त्रीपुरुषांचा समागम केल्याप्रमाणेंच होत असल्यानें परविवाहकरण हें कर्म निषिद्ध ठरतें. आतां, हा अतिचार पूर्वीच्या अतिचाराप्रमाणें व्रतभंग करणारा नाही. कारण, व्रती श्रावक “मी केवळ दुसऱ्याचा विवाहच करीत आहे, दुसऱ्याकडून स्त्रीसंभोग करवीत नाही; तसें केलें असतां माझ्या व्रताचा भंग होईल, असें समजत असून ” व्रतभंग न होऊं देण्याची इच्छा करीत असल्यानें व्रतभंग न होतां फक्त व्रताचा अतिक्रम केल्यासारखें होतें ह्मणून परविवाह केला असतां अतिचार होतो, व्रतभंग होत नाही.

येथें अशी एक शंका उत्पन्न होते कीं— “दुसऱ्याच्या कन्येचा विवाह केल्यानें जसा अतिचार होतो, त्याप्रमाणेंच आपल्या मुलीचाहि विवाह केला असतां अतिचार कां होऊं नये ?” ह्यावर समाधान असें कीं— जर आपल्या मुलीचा विवाह केला नाही तर ती स्वच्छंद वागणारी होईल व त्यायोगानें कुलाचार व लोकाचार ह्या दोन्हींच्या विरुद्ध असें वर्तन तिच्याकडून होऊन ती भ्रष्ट होईल. तसें होऊं नये, ह्मणून तिचा विवाह केला पाहिजे. कारण, विवाह केला असतां, ती परतंत्र झाल्यामुळें तिच्या हातून तसें विरुद्ध वर्तन होणें शक्य नाही. [पुत्राचे ठिकाणींही अशीच कल्पना समजावी ] त्यांतूनही कुटुंबाची काळजी घेणारा आपला बंधू किंवा

दुसरा कोणी असेल तर त्याच्याकडून आपल्या मुलाचा व मुलीचा विवाह करवावा. आपण करूं नये हेंच योग्य आहे. स्वदारसंतोष व्रत करणारा श्रावक जर ह्या स्त्रीपासून व्हावा तितका संतोष होत नाही ह्मणून दुसरी स्त्री करील; तर, तसें करणें हेंही 'परविवाहकरणच' असल्यानें अतीचार होतो.

'विटत्व' हा तिसरा अतीचार आहे. ह्याचा 'स्त्रियांबरोबर थट्टा करणें' असा अर्थ होतो. हा अतिचार वाणीनेंच होतो.

'स्मरतीत्राभिनिवेश' हा चवथा अतीचार आहे. ह्याचा "स्त्रीसंभोगाविषयीं अत्यंत आसक्ती, ह्मणजे दुसरीं सर्वकामें सोडून केवळ स्त्रीसंभोगाचेंच चिंतन करणें" असा अर्थ होतो. ह्याच्या योगानें मनुष्य पक्ष्याप्रमाणें सर्वदा स्त्रीसमागम करण्यास प्रवृत्त होतो; आणि त्या योगानें शक्तीचा न्हास झाला ह्मणजे, पुनः शक्ती यावी ह्या बुद्धीनें वाजीकरण वगैरे औषधोपचार करतो.

'अनंगक्रीडा' हा पांचवा अतीचार आहे. ह्याचा अर्थ "मैथुनास अयोग्य अशा अवयवांचे ठिकाणीं मैथुनक्रीडा करणें" असा आहे. ह्या सर्व अतीचारांचा त्याग करावा. कारण, पापभीरू असा जो श्रावक ब्रह्मचर्यव्रत चालविण्याविषयीं नियम करूनही फार प्रबल झालेल्या मनोविकाराला सहन करण्यास असमर्थ झाला असेल, त्यानें केवळ ते प्रबलमनोविकार घालविण्याकरितांच स्वस्त्रीसंतोषव्रताचा स्वीकार करावयाचा आहे. मग अशा रीतीनें जर त्या मनोविकारापासून होणाऱ्या वेदनेची शांती होणें

शक्य आहे; तर अर्थातच बाकींच्या व्यवहारांची आवश्यकता नाही, हें सिद्ध आहे व ह्या हेतूनेच त्यांचा निषेध केला आहे. दुसरे असे की; वेदनांच्या शांतीकरितां ह्मणून दुसरे व्यापार करण्याची जरूरहि पडत नाही. व त्यांत कांहीं गुणही नसून उलट त्यापासून बलक्षय होतो, अथवा राजयक्ष्मा ( क्षय ) रोग उत्पन्न होतो. आणि ह्मणूनच वैद्यशास्त्रांत-स्त्रीसंभोगाविषयीं अत्यंत आसक्त न होतां फक्त वेदनाशांतीकरितां-जसें क्षुधेच्या शांतीकरितांच आपण भोजन करितों, त्याप्रमाणें स्त्रीसंभोग करावा, त्याचें सर्वदा चिंतन मुळींच करूं नये, असें सांगितलें आहे. ह्मणून शास्त्रानें त्याचा निषेध केलेला आहे. ह्या अतिचारांचा त्याग जसा पुरुषानें केला पाहिजे त्याप्रमाणें ब्रह्मचर्याणुव्रत स्वीकार केलेल्या स्त्रीनेंही अवश्य केलाच पाहिजे.

अथ परिग्रहपरिमाणानुव्रतं व्याचष्टे—

आतां, परिग्रह परिमाणार्थे स्वरूप सांगतात.

ममेदमिति सङ्कल्प- ।

श्रिदचिन्मिश्रवस्तुषु ॥

ग्रन्थस्तत्कर्शनात्तेषां ।

कर्शनं तत्प्रमाव्रतम् ॥ ५९ ॥

टीका— भवति । कोऽसौ ग्रन्थः परिग्रहः । किलक्षणो ममेदमिति सङ्कल्पः इदं चेतनमचेतनं मिश्रं वा वस्तु मम सम्बन्धि मदीयं मत्त्वामिकमिति सङ्कल्पो मानसोऽध्यवसायो ममत्वपरिणामो मूर्च्छति यावत् । केषु चिद्वस्तुषु कलत्रपुत्रादिषु, अचिद्वस्तुषु

गृहसुवर्णादिषु । मिश्रवस्तुषु चेतनाचेतनेषु । बहिः पुष्पवाटिकादिषु ।  
अन्ततश्च मिथ्यात्वादिषु । भवति । किं तत् तत्प्रमात्रं परिग्रहपरि-  
माणाख्यमाणव्रतं । किं कर्शनमल्पीकरणं । केषां तेषां चित्तमचित्तां  
चिदाचितां च वस्तूनां । कस्मात् तत्कर्शनात् यथोक्तमूर्च्छालक्ष-  
णपरिग्रहाल्पीकरणात् ॥

अर्थ—चेतन (स्त्री, पुत्र वगैरे) अचेतन (गृह,  
सुवर्ण वगैरे) आणि मिश्र (चेतन व अचेतन ह्यांचें  
मिश्रण ज्यांत आहे अशीं बागवगीचे शेतें वगैरे) ह्या  
पदार्थाविषयीं 'हे माझे आहेत' असा जो निश्चय त्याला  
'परिग्रह' असें ह्मणतात. आणि त्या चेतन अचेतन  
आणि मिश्र अशा प्रकारच्या पदार्थांच्या कमी करण्यानें जें  
'हें माझें आहे' अशा प्रकारचा निश्चय शिथिल करणें  
ह्यास परिग्रहपरिमाण असें ह्मणतात.

अन्तरङ्गसङ्गनिग्रहोपायमाह—

आतां, अंतरंगपरिग्रहत्यागाचा उपाय सांगतात.

उद्यत्क्रोधादिहास्यादि-

षट्कवेदत्रयात्मकम् ॥

अन्तरङ्गं जयेत्सङ्गं ।

प्रत्यनीकप्रयोगतः ॥ ६० ॥

टीका—जयेत् निगृहीयात् । कोऽसौ पञ्चमाणव्रतार्थी । कं  
सङ्गं ग्रन्थं । किंविशिष्टं अन्तरङ्गं आध्यात्मिकं किमात्मकं उद्यदित्यादि  
उद्यन्ति उच्चलन्ति विपच्यमानानि, उदितानां दुर्जयत्वात्, क्रोधा-  
दयोऽनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानावरणवर्जिताः, तान्मिथ्यात्वसाहितान्नि-  
गृह्यैव देशसंयमस्य प्रवृत्तत्वात्, अष्टौ प्रत्याख्यानावरणसंज्वलनाख्या

इह गृह्यन्ते, हास्यादिषट्कं हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्साः, वेदाः स्त्रीपुत्रपुंसकवेदा रागाख्यास्तेषां त्रयं वेदत्रयं, क्रोधादयश्च हास्यादिषट्कं च वेदत्रयं च क्रोधादिहास्यादिषट्कवेदत्रयाणि, उद्यन्ति च तानि क्रोधादिहास्यादिषट्कवेदत्रयाणि च तान्येव आत्मा स्वरूपं यस्यासौ तदात्मकस्तं । केन जयेत् प्रत्यनीकप्रयोगतः यथास्वमुत्तमक्षमादिभावनया ॥

अर्थ—उत्पन्न होणारे क्रोध, मान, माया व लोभ हे ४ कषाय; हास्य, रति, अरति शोक, भय व जुगुप्सा हे सहा विकार; पुंवेद, नपुंसकवेद व स्त्रीवेद हे तीन वेद आणि मिथ्यात्व अशा भेदानें चौदा प्रकारचे अंतरंगपरिग्रह उत्तम क्षमा वगैरे दहा प्रकारच्या धर्माच्या भावनेनें जिंकावे.

बहिरङ्गसङ्गत्यागविधिमाह—

आतां, बाह्यपरिग्रहांचा अवश्य त्याग करावा, असें सांगतात.

अयोग्यासंयमस्याङ्गं ।

सङ्गं बाह्यमपि त्यजेत् ॥

मूर्च्छाङ्गत्वादपि त्यक्तु- ।

मशक्यं कृशयेच्छनैः ॥ ६१ ॥

टीका—त्यजेत् । कोऽसौ पञ्चमाणुवती । कं सङ्गं किंविशिष्टं बाह्यं वास्तुक्षेत्रादिकं । अन्तरङ्गसङ्गत्यागापेक्षयाऽपिशङ्कः समुचये । किंविशिष्टमङ्गं साधनं । कस्य अयोग्यासंयमस्य अयोग्यः श्रावकस्य कर्तुमनुचितोऽसंयमः स चेहानारम्भजस्रसवधो व्यर्थः स्थावरवधः परदारगमनादिश्च, अयोग्यश्चासावसंयमश्चायोग्यासंयमस्तस्य । कुतो हेतोः मूर्च्छाङ्गत्वात् मोहोदयनिमित्तत्वात् । यस्त्वसौ त्यक्तुमशक्य-



स्तत्यागविधिमाह— कृशयेत् स्वल्पीकुर्यात् । कं तं बाह्यसङ्गं । किंविशिष्टमपि त्यक्तुमशक्यमपि अशक्यवर्जनमपि । कथं शनैः मनाक् समयपरिपाट्या कालक्रमेण परिग्रहसञ्ज्ञाया अनादिसन्तत्या प्रवर्तमानत्वेन सहसा तत्यागस्य कर्तुमशक्यत्वात् कृतस्यापि तद्वासनावशाद्भङ्गसम्भावनाच्चैतदुच्यते ॥

अर्थ—श्रावकाच्या ठिकाणीं असण्यास अयोग्य अशा इंद्रियांच्या उच्छृंखलपणाला उत्पन्न करणारा बाह्यपरिग्रह ( घर, शेत, स्त्री, पुत्र वगैरे ) देखील मोह उत्पन्न करणारा आहे, ह्मणून अवश्य टाकावा. आणि जरी त्या परिग्रहाचा त्याग करणें अशक्य असलें तथापि तो हळू हळू कमी करावा. कारण परिग्रह हा एक जीवधर्म असल्यानें जीवाचे ठिकाणीं त्याचा अनादिकालापासून संबंध आहे, ह्मणून एकदम त्याग करणें फारच अशक्य आहे. आणि जरी तसा एकदम त्याग केला तथापि त्याची वासना दृढ असल्यानें कदाचित् व्रतभंग होण्याचा संभव आहे.

एतदेव प्रपञ्चयन्नाह—

आतां, हेंच किंचित् स्पष्टपणानें सांगतात.

देशसमयात्मजात्या- ।

द्यपेक्षयेच्छां नियम्य परिमायात् ॥

वास्त्वादिकमामरणा- ।

त्परिमितमपि शक्तिः पुनः कृशयेत् ॥६२॥

टीका—परिमायात् परिमितं कुर्यात् । किं तत् वास्त्वादिकं वास्तुक्षेत्रधनधान्याद्विपदचतुष्पदशयनासनयानकुप्यभाण्डलक्षणं दशभेदं बाह्यग्रन्थं । किं कृत्वा नियम्य सन्तोषभावनाया निगृह्य । कां

इच्छां परिग्रहे तृष्णां । कया देशेत्यादि देशो वास्यमानो जनपदः, समयः कालः, आत्मा स्वात्मा, जातिः वणिक्त्वादिः, देशश्च संयमश्च आत्मा च जातिश्च ताः आदयो येषां स्वान्वयवयःपदव्यादीनां ते देशादयस्तेषामपेक्षया तानाश्रित्येत्यर्थः । कथं परिमायात् आमरणात् मरणावधि यावज्जीवमित्यर्थः । तथा कृशयेच्छ्रावकः । किं तत्परिमितमपि वास्त्वादिकं । कथं पुनः । कस्मात् शक्तितः नैस्सङ्गचभावनया समुत्पन्नां स्वशक्तिमपेक्षेत्यर्थः ॥

अर्थ—श्रावकाने आपल्या इच्छेचें नियमन करून देश, काल, शरीरशक्ती, आपली जाती, वंश, कुल, वय आणि आपली योग्यता इतक्यांच्या अनुरोधानें ( ह्या सर्वांना निभावेल अशा रीतीनें ) गृहादि ( १ घर, २ शेत, ३ धन, ४ धान्य, ५ द्विपद, ६ चतुष्पद, ७ शयन, ८ आसनं, ९ यान, १० तांबें वगैरे धातूंचे पदार्थ ) दहा प्रकारचाही परिग्रह—मरणपर्यंत परिमित करावा. ह्यणजे इतका परिग्रह ठेवीन अधिक ठेवणार नाहीं अशी प्रतिज्ञा करून तितकाच परिग्रह ठेवावा. आणि अशाप्रकारें परिमित झालेला परिग्रहदेखील आपल्या शक्तीप्रमाणें आणखी कमीच करावा.

परिग्रहं वक्रभणित्या दूषयन्नाह—

आतां, वक्रोक्तीनें परिग्रहाविषयीं दोषोद्धावन करितात.

अविश्वासतमोनक्तं ।

लोभानलघृताहुतिः ॥

आरम्भमकराम्भोधि- ।

रहो श्रेयः परिग्रहः ॥ ६३ ॥

टीका—अहो आश्चर्य । श्रेयः सेव्यः पुंसां कल्याणं वा । कोऽसौ परिग्रहः । किंविशिष्टः अविश्वासतमोनक्तं अविश्वास एव तमो ध्वान्तं दुःखहेतुत्वात् तत्र नक्तं रात्रिस्तद्धेतुत्वादिति अविश्वासतमोनक्तं । तथा लोभ एवानलोऽग्निश्चित्तसन्तापकत्वात् तत्र घृताहुतिः सर्पिःप्रक्षेपः प्रदीपकत्वादिति लोभानलघृताहुतिः । तथा आरम्भमकराम्भोधिः आरम्भाः कृष्यादयस्त एव मकरास्त्रासा-तङ्कनिमित्तत्वात् तत्र अम्भोधिः समुद्रः उत्पत्तिनित्यप्रवृत्तिनिमित्तत्वादित्यारम्भमकराम्भोधिः ॥

अर्थ— हा परिग्रह अविश्वासरूपी अंधकारानें भरलेली रात्र, लोभरूपी अग्नीला प्रज्वलित करणारी तुपाची आहुती, किंवा उदरपोषणाच्या उद्योगाचा ( कृषि वगैरे हिंसाजनक कर्माचा ) समुद्र— असा असूनही, ‘ हा कल्याणकर आहे ’ असें ह्मणणें, हें मोठेंच आश्चर्य आहे.

पञ्चमाणुव्रतातिचारपञ्चकनिषेधविधिमाह—

आतां त्याचे पांच अतीचार सांगतात.

वास्तुक्षेत्रे योगा- ।

धनधान्ये बन्धनात्कनकरूप्ये ॥

दानात्कुप्ये भावा- ।

न गवादौ गर्भतो मितिमतीयात् ॥६४॥

टीका — नातीयान्नातिक्रमेत् । कोऽसौ परिग्रहपरिमाणानुव्रती । कां मितिं व्रतविषयीकृतं परिमाणं । क वास्तुक्षेत्रे वास्तुनि च क्षेत्रे च । कस्मात् योगात् वास्त्वन्तरसंयोजनं क्षेत्रान्तरसंयोजनं चाश्रित्य । तथा धनधान्ये धने च धान्ये च न मितिमतीयात् । कस्मात् बन्धनात् बन्धनं रज्ज्वादिनियन्त्रणं सत्यङ्कारदानादि

चाश्रित्य । तथा कनकरूप्ये सुवर्णे च रूप्ये च न मितिमतीयात् । कस्माद्दानात् दानमाश्रित्य । तथा कुप्ये सुवर्णरूप्याभ्यामन्यत्र कौस्यरथादिद्रव्ये न मितिमतीयात् । कस्मात् भावात् भावं परिमाणान्तरं अभिप्रायं वाऽऽश्रित्य । तथा गवादौ गोमहिषीवडवादिचतुष्पदपत्तिशुकादिद्विपदवर्गे न मितिमतीयात् । कस्मात् गर्भतो गर्भमाश्रित्येति समन्वयः ॥

इतस्तदर्थो विस्तरतः कथ्यते— तत्र वास्तु गृहादि ग्रामनगरादि च । तत्र गृहादि त्रेधा खातोच्छ्रिततदुभयभेदात् । तत्र खातं भूमिगृहादिकं, उच्छ्रितं प्रासादादिकं, खातोच्छ्रितं च भूमिगृहोपरिगृहादिसन्निवेशः । क्षेत्रं सस्योत्पत्तिभूमिः । तत् त्रेधा सेतुकेतुभयभेदात् । तत्र सेतुक्षेत्रं यदरघट्टादिजलेन सिच्यते । केतुक्षेत्रं आकाशोदकपातान्निष्पाद्यसस्यं । उभयमुभयजलनिष्पाद्यसस्यं । वास्तु च क्षेत्रं च वास्तुक्षेत्रमिति समाहारनिर्देशोऽत्रोत्तरत्र च बाह्यग्रन्थस्य पञ्चविधत्वकल्पनयाऽतीचारपञ्चकस्य सुखप्रयोजनार्थं । तत्र वास्तुक्षेत्रे योगाद्भित्तिवृत्त्याद्यपनयेन वास्तुक्षेत्रान्तरमीलनान्तरमाश्रित्य परिमितपरिग्रहः श्रावको न मितिमतीयात् देवगुरुसाक्षिकव्रतग्रहणकाले यावज्जीवं चतुर्मासादिकालावधि वा प्रतिपन्नां संख्यां नातिक्रमेत् । वास्त्वादिकमेव मया विपुलीक्रियते न प्रतिपन्ना तत्संख्याऽतिक्रम्यत इति बुध्या तद्विषयं वा हस्तादिपरिमाणं सहसाकारादिना नातिक्रमेत् । अन्यथा वास्तुक्षेत्रप्रमाणातिक्रमो नाम प्रथमोऽतिचारः स्यात् । व्रतसापेक्षस्यैव स्वबुध्या व्रतभङ्गमकुर्वतोऽतिचारत्वव्यवस्थापनात् ॥ १ ॥

धनं गणिमादिभेदात् चतुर्विधं । तत्र गणिमं पूगफलजातिफलादि । धरिमं कुंकुमकर्पूरादि । मेयं स्नेहलवणादि । परीक्ष्यं रत्नवस्त्रादि । धान्यं व्रीह्यादिभेदात्पञ्चदशधा । उक्तं च— व्रीहिर्यवो

मसूरो गोधूमो मुद्रमाषतिलचणकाः । अणवः प्रियंगुकोद्रवमयु-  
ष्ठिकाशालिराढक्यः ॥ १ ॥ किं च कलायकुलित्थौ पञ्चदशधा-  
न्यानीति च । धनं च धान्यं च धनधान्यं । तत् स्वगृहगतधनादे-  
र्विक्रये व्यये वा कृते गृहिष्यामीति भावनया बन्धनात् रज्ज्वादि-  
नियन्त्रणलक्षणात् सत्यङ्कारदानादिरूपाद्वा स्वीकृत्य धनधान्यं  
विक्रेतृगृहे एव स्थापयन्न मितिमतीयात् । अन्यथा द्वितीयोऽ  
तिचारः स्यात् ॥ २ ॥

कनकं सुवर्णं घटितमघटितं वाऽनेकप्रकारमेवं रूप्यमपि, कनकं  
च रूप्यं च कनकरूप्यं तत्र । दानात् स्वव्रतकालावधौ पूर्णे  
गृहिष्यामीति अभिप्रायेण तुष्टराजादितः स्वप्रतिपन्नसंख्यां ततोऽ  
धिके लब्धेऽन्यस्मै वितरणान्न मितिमतीयात् अन्यथा तृतीयोऽ  
तिचारः स्यात् ॥ ३ ॥

कुप्ये रूप्यसुवर्णव्यतिरिक्ते कांस्यलोहताम्रसीसकत्रपुमृद्धाण्ड-  
वंशविकारोदक्लिकाकाष्ठमञ्चकमञ्चिकामसूरकरथशकटहलप्रभृतिद्रव्ये-  
भावात् द्वयोर्द्वयोर्भेलनेनैकीकरणरूपात् पर्यायान्तराद्भूतावधौ पूर्णे  
गृहिष्यामीति अन्यप्रदेयतया व्यवस्थापनेनार्थित्वरूपाभिप्रायाद्वा न  
मितिमतीयादन्यथा चतुर्थोऽतिचारः स्यात् । कुप्यस्य हि या  
संख्या कृता तस्याः कथञ्चित् द्विगुणत्वे सति व्रतभङ्गभयात् भावतो  
द्वयोर्द्वयोर्भेलनेनैकीकरणरूपात्पर्यायान्तरात्स्वाभाविकसंख्याबाधनात्  
संख्यामात्रपूरणाच्चातीचारः । अथवा भावतोऽभिप्रायादर्थित्वलक्षणा-  
द्विवक्षितकालावधेः परतो गृहिष्याम्यतो नान्यस्मै प्रदेयतया  
व्यवस्थापयतोऽसौ स्यात् ॥ ४ ॥

गवादौ गौरादिर्यस्य द्विपदचतुष्पदवर्गस्यासौ गवादिः । आदि-  
शब्देन हस्त्यश्च महिष्यादिचतुष्पदानां शुकसारिकादिद्विपदानां पत्न्यु-  
परुद्धदासपदात्यादीनां संग्रहः । तत्र गर्भतो न मितिमतीयात् ।

गवादीनां गर्भग्रहणादुपलक्षणादन्येषां यथास्वमनाभोगादिनाऽतिक्रमादिना वा संख्यां नातिक्रमेत् । गोमहिषीवडवादेर्हि विवक्षितसंवत्सराद्यवधिमध्ये एव प्रसवे अधिकगवादिभावाद्वतभङ्गः स्यादिति तद्भयात्कियत्यपि काले गते गर्भग्रहणाद्गर्भस्थगवादिभावेन बहिस्तदभावेन च कथञ्चिद्भूतभङ्गात्पञ्चमोऽतिचारः स्यात् ॥ ५ ॥

एते च क्षेत्रवास्तुहिरण्यरूप्यधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमा इति तत्त्वार्थमतेन पञ्चातिचाराः प्रपञ्चिताः । स्वामिमतेन त्विमे— अतिवाहनातिसंग्रहविस्मयलोभातिभारवहनानि । परिमितपरिग्रहस्य च विक्षेपाः पञ्च वक्ष्यन्ते ॥ १ ॥ अत्रातिवाहनं लोभावेशवशात् वृषभादीनां शक्त्यतिक्रमेण हटान्मार्गे नयनं । अतिसंग्रहः इदं धान्यादिकमग्रे विशिष्टं लाभं दास्यतीति लोभावेशादतिशयेन संग्रहणं । अतिविस्मयो धान्यादौ प्रपन्नलाभेन विक्रीते मूलतोऽप्यसंगृहीते वा तत्क्रयाणकेनाधिकेऽर्धे लब्धे लोभावेशादतिविषादः । अतिलोभो विशिष्टेऽर्धे लब्धेऽपि अधिकलाभाकांक्षा । अतिभारवहनं लोभावेशादधिकभारारोपणं ॥ सोमदेवपण्डितस्त्वदमाह— कृतप्रमाणो लोभेन धनाद्यधिकसंग्रहः ॥ पञ्चमाणुव्रतज्यानीं करोति गृहमेधिनानाम् ॥ १ ॥ तच्चैतच्च परेऽप्यूह्यास्तदत्यया इत्यनेन संगृहीतम् ॥

अर्थ— १ घर व शेत ह्यांत दुसऱ्याची जागा मिसळून, परिमाणाचा अतिक्रम करूं नये. २ धन व धान्ये ह्यांच्या संबंधानें विकण्यास प्रतिबंध करून ( संचकार देऊन घेतलीं असें समजून तशींच ठेवण्यानें ) परिमाणाचा अतिक्रम करूं नये. ३ सोने व रुपें ह्यांविषयीं दुसऱ्यास देऊन परिमाणाचा अतिक्रम करूं नये. ४ धातुमय अथवा काष्ठपाषाणमय अशा दुसऱ्या कोणत्याही पदार्थासंबंधानें, आपल्या संख्येपेक्षां अधिक वाढूं न देण्याच्या

समजुतीनें परिमाणाचा अतिक्रम करूं नये. ५ आणि पक्षी, पशु, ह्यांत गर्भानें परिमाणाचा अतिक्रम करूं नये. प्रत्येक अतिक्रम केला असतां अतीचार होतो. ह्या पांचही अतीचारांचें स्पष्टीकरण खालील विवेचनावरून कळेल.

वास्तु ह्यणजे ज्यांना तळघर आहे अशीं व ज्यांना दुमजला आहे अशीं व ज्यांना तळघर व दुमजला हे दोन्ही आहेत अशीं मिळून तीन प्रकारचीं घरे. क्षेत्र ह्यणजे विहिरीच्याच पाण्यानें पिकणारीं, पावसाच्या पाण्यानें पिकणारीं व दोन्ही प्रकारांनीं पिकणारीं अशीं तीन प्रकारचीं शेतें. ह्या दोहोंत दुसऱ्याची जागा मिसळल्यानें, ह्यणजे आपली भिंत दुसऱ्याच्या जाग्यांत बांधून त्याची जागा आपल्या घरांत सामील केल्यानें व आपल्या शेतांचें कुंपण काढून दुसऱ्याच्या जाग्यांत घालून ती जागा आपल्या शेतांत सामील केल्यानें— यावज्जीव किंवा चातुर्मास्यादि कांहीं नियमित कालपर्यंत ज्या श्रावकानें परिमितपरिग्रहव्रत स्वीकारलें असेल त्याचा अतीचार होतो. हा 'वास्तुक्षेत्रप्रमाणातिक्रम' नांवाचा पहिला अतीचार होय.

गणिम ( सुपारी, जायफळ वगैरे ) धरिम ( केशर, कापूर वगैरे ) मेय ( तेल, तूप, मीठ वगैरे ) आणि परीक्ष्य ( रत्न, वस्त्र वगैरे ), अशा चार प्रकारच्या पदार्थांस 'धन' असें नांव आहे. आणि, भात, जव, मसूर, गहू, मूग, उडीद, तीळ, हरभरा, जिरगे भात, राळे, हरीक, मटक्या, साळीचें भात, वाटाणा, कुळध्या

अशा पंधरा प्रकारच्या पदार्थांस ' धान्य ' असें ह्मणतात. हें धनधान्य— ज्यानें ' अमुक इतकेच संग्रह करावयाचे ' असा संकल्प केला असेल त्या श्रावकानें— आपल्या घरांत असलेलें विकलें असतां अथवा कांहीं कारणानें संपविलें असतां, पुढें ह्मणजे व्रताचा काल संपल्यावर— घेतां येईल अशा समजुतीनें, आजच संचकार देऊन— ( त्या धनधान्याचा परिग्रहपरिमाणव्रत संपेपर्यंत घरांत संग्रह करावयाचा नसल्यामुळे ) ' हें विकू नको ' असें सांगून विकणाऱ्याच्याच घरीं तें ठेवणें हा परिग्रहपरिमाणाणुव्रत ज्यानें स्वीकारलें आहे अशा श्रावकाचा अतीचार होतो. हा धनधान्य-प्रमाणातिक्रम या नांवाचा दुसरा अतीचार होय.

संतुष्ट झालेला राजा अथवा दुसरा कोणीही ह्याच्या-पासून आपल्यास मिळत असलेलें सोने किंवा रूपे, व्रताचा काल संपेपर्यंत आपल्यास घ्यावयाचे नाही ह्मणून ' व्रतकाल संपल्यावर मी घेईन ' अशा बोलीनें दुसऱ्यास देणें. ह्यायोगानें परिग्रहपरिमाणाणुव्रत करणाऱ्या श्रावकाचा अतिचार होतो. ह्मणून तेंही करूं नये. हा कनकरूप्य-प्रमाणातिक्रम नांवाचा तिसरा अतीचार होय.

इतर धातूंचीं ( कांसें, लोखंड, तांबें, शिसें, कथील वगैरेची व मातीचीं ) भांडीं व लांकडाचे रथ, गाडी वगैरे पदार्थ, हे अमुक इतकेच असावयाचे असा निश्चय करूनही, कांहीं कारणानें ते अधिक झाले असतां आपल्या पूर्वीच्या संख्येंतच त्या सर्वांचा समावेश करण्याच्या बुद्धीनें, थोरल्या भांड्यांत धाकटें भांडें घालून दोनीं



एकच मानून मोजणें, अथवा दोन भांड्यांची जोडी ठरवून मोजणें, किंवा आपला व्रतकाल संपेपर्यंत दुसऱ्या कोणाजवळ 'पुढें आह्मी घेऊं' अशा बोलीनें ठेवणें, असें केलें असतां परिग्रहपरिमाणाचा अतिक्रम होतो. ह्मणून तेंही करूं नये. हा कुप्यप्रमाणातिक्रम नांवाचा चवथा अतीचार होय.

गाई, ह्यशी वगैरे पशू, पक्षी, किंवा दास दासी वगैरे मनुष्ये, ह्यांत गर्भ उत्पन्न करविला असतां त्या गर्भाच्या योगानें ठरलेल्या परिमाणाचा अतिक्रम होतो. कारण गर्भयुक्त असलेली गाय, ह्यस, घोडी किंवा पक्ष्यांच्या स्त्रिया अथवा मनुष्यस्त्रिया ह्या दिसण्यांत जरी एकव्यक्ति-स्वरूपच दिसतात, तरी उदरांतील गर्भामुळे ते दोन जीव असल्यानें व्रतग्रहणकालीं ठरलेल्या संख्येचा अतिक्रम होतो. ह्मणून व्रताचा काल संपेपर्यंत कोणासही गर्भ धारण होऊं देऊं नये. हा संख्यातिक्रम नांवाचा पांचवा अतीचार होय.

हे अतीचार तत्त्वार्थसूत्राच्या अभिप्रायाप्रमाणें सांगितले. श्रीस्वामी समंतभद्राचार्य ह्यांच्या मताप्रमाणें जे अतीचार मानिले आहेत, ते वर दाखविलेल्या अतीचारांपेक्षां अगदींच भिन्न आहेत. ते येणेंप्रमाणें—

१ 'अतिवाहन' ह्मणजे लोभामुळे बैल वगैरे पशूस अथवा मनुष्यास त्याच्या शक्तीच्या बाहेरची मजल करविणें. २ 'अतिसंग्रह' ह्मणजे ह्या धान्यादिकांपासून पुढें आपल्यास अधिकद्रव्यलाभ होईल अशा लोभानें त्या धान्यादिकांचा अधिक संग्रह करणें. ३ 'विस्मय' ह्मणजे

जें धान्य अथवा दुसरा कोणताही पदार्थ आपण थोड्याशा नफ्याने पूर्वी विकलें असेल, अथवा मुळीच त्याचा आपण संग्रह केला नसेल, अशा प्रसंगीं दुसऱ्यानें तेंच धान्य अथवा दुसरा पदार्थ विकल्यामुळें त्याला पुष्कळ नफा झालेला पाहिला असतां त्याबद्दल फार खेद होणें. ४ 'अतिलोभ' आपल्याला योग्य नफा झाला असतांही अधिक नफा मिळावा अशी इच्छा. ५ 'अतिभारवहन' ह्मणजे, लोभाच्या अधीन होऊन आपल्याला न जाईल इतकें ओझे घेणें. तसेंच सोमदेवपंडितांनीं 'पूर्वी जें परिमाण स्वीकारलें असेल, त्यापेक्षां अधिक संग्रह लोभा-मुळें केला असतां व्रताचा अतिचार होतो' असें सांगितलें आहे; ह्या सर्वांचाहि समावेश करणें आवश्यक आहे; ह्मणून 'दुसरेही कित्येक अतीचार होतात, ते तर्कांनें जाणावेत' असें ग्रंथकारांनीं सांगितलें आहे. त्यायो-गानें त्यांचाही संग्रह प्रकृत ग्रंथांत होतो, असें समजावें.

एवं निर्मलीकृतपरिग्रहव्रतपालकस्य फलं दृष्टान्तेन स्फुटयन्नाह—

आतां, ह्याप्रमाणें वर सांगितलेले दोष ज्यांत नाहींत अशा प्रकारच्या परिग्रहव्रताचें पालन करणारांस फल काय प्राप्त होतें, तें, उदाहरणानें स्पष्ट करून सांगतात.

यः परिग्रहसंख्यान- ।

व्रतं पालयतेऽमलम् ॥

जयवज्जितलोभोऽसौ ।

पूजातिशयमश्रुते ॥ ६५ ॥

टीका— यः पालयते रक्षयति । किं तत्परिग्रहसंख्यानव्रतं ।

कथं कृत्वा अमलं यथोक्तातिचाररहितं । असौ श्रावकः पूजाति-  
शयं शक्रादिकृत्तामर्चनामश्रुते लभते । किंविशिष्टः यतो जितलोभः  
जितलोभत्वादित्यर्थः । किंवत् जयवत् मेघस्वराख्यकुरुराजो यथा ॥

अर्थ—जो मनुष्य परिग्रहाचें प्रमाण करण्याचें व्रत  
निरतिचार पाळतो तो हा निर्लोभ मनुष्य जयकुमारा-  
प्रमाणें पूजातिशयाला पावतो....इंद्रादिक देव त्याला मान  
देतात.

इत्थं निरतिचाराणुव्रतपरिणत्यनुपालनाय निर्मलशीलसप्तकपाल-  
नायामुपासकमुत्थापयितुं तदनुभावमाह—

ह्याप्रमाणें वर्णन केलेल्या पांचही प्रकारच्या व अती-  
चारवर्जित अशा अणुव्रतांच्या रक्षणाकरितां पुढें सांगि-  
तलेल्या निर्मलशीलसप्तकाच्या पालनाविषयीं उपासकाची  
प्रवृत्ती व्हावी ह्मणून त्या अणुव्रती जीवांचा प्रभाव कसा  
असतो; हें सांगतात.

पञ्चाप्येवमणुव्रतानि समतापीयूषपानोन्मुखे ।  
सामन्येतरभावनाभिरमलीकृत्यार्पितान्यात्मनि ॥  
त्रातुं निर्मलशीलसप्तकमिदं ये पालयन्त्यादरात् ।  
ते सन्यासविधिप्रमुक्ततनवःसौवीःश्रियो भुंजते ॥६६॥

टीका—भुञ्जते अनुभवन्ति । के ते निर्मलाणुव्रतशीलपालिनो  
भव्याः । काः श्रियः सम्पदः । किंविशिष्टाः सौवीः स्वर्भवाः यथास्वं  
सौधर्माद्यच्युतान्तकरूपसम्बन्धिनीः । किंविशिष्टाः सन्तः सन्न्यासे-  
त्यादि सन्न्यासविधिना सप्तदशाध्यायोक्तेन प्रकर्षेण सकलसङ्घसम-  
क्षतालक्षणेन मुक्ता त्यक्ता तनुः शरीरं यैस्ते यथोक्ताः । सति

साधने निस्तरणभणितिरियं । ये के ये पालयन्ति । किं तत् इद-  
मनन्तराध्याये वक्ष्यमाणं । निर्मलशीलसप्तकं । कस्मात् आदरात्  
तत्परतया । किं कर्तुं त्रातुं पालयितुं । निर्वहणार्थमिदं । कानि  
अणुव्रतानि । कति पञ्च अपिशङ्कादेकं द्वे त्रीणि चत्वारि वा ।  
कथं एवं उक्तप्रकारेण । किंविशिष्टानि सन्ति अर्पितानि परिणमि-  
तानि । क आत्मनि अन्तस्तत्त्वे । उद्यपनप्रकाशनेयं । किंविशिष्टे  
समतापीयूषपानोन्मुखे साम्यामृतपानाद्यभिमुखे । किं कृत्वा अम-  
लीकृत्य तत्तदतीचारेभ्यः प्रच्याव्य । उद्धोतनोक्तिरियं । काभिः  
सामान्येतरभावनाभिः सामान्यभावनाभिर्भैरव्यादिभिर्विशेषभावनाभिः  
प्रतिव्रतं पञ्चशो नियमिताभिर्महाव्रताधिकारोक्ताभिरिति भद्रम् ॥

अर्थ— ह्याप्रमाणें सामान्यभावना व विशेषभावना ह्या  
दोहोंच्या योगानें अतिचारांचें निवारण करून, सर्वत्र  
समबुद्धि असणें हेंच जें अमृत त्याच्या पानाविषयीं  
( सर्वत्र समान दृष्टि ठेवण्याविषयीं ) उद्युक्त असलेल्या  
आत्म्याचे ठिकाणीं ज्यांचा संस्कार घडविला आहे अशीं  
पांचही अणुव्रतें रक्षण करण्याकरितां; जे भव्य जीव,  
पुढें ( पुढल्या अध्यायांत ) सांगितलेल्या शीलसप्तकाचें  
परमादरानें पालन करितात, ते भव्यजीव ज्यांनीं सर्वा-  
समक्ष संन्यासविधीनें आपल्या देहाचा त्याग केला आहे  
असे होत्साते— स्वर्गातील संपत्तीचा अनुभव करितात.

इत्याशाधरविरचितायां स्वोपज्ञधर्मांमृतसागारधर्मदीपिकायां

भन्यकुमुदचन्द्रिकासञ्ज्ञायामादितत्त्वयोदशः

प्रक्रमान् चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ॥

अध्याय चवथा समाप्त.

## ॥ अथ पञ्चमोऽध्यायः ॥

अथ शीलसप्तकं व्याकर्तुकामस्तद्विकल्पभूतानि गुणव्रतानि तावलक्षयति—

आतां; शीलसप्तकाच्चै स्पष्टीकरण करण्याकरितां तदंगभूत असलेल्या गुणव्रतांचें स्वरूप सांगतात.

यद्गुणायोपकाराय- ।

गुणव्रतानां व्रतानि तत् ॥

गुणव्रतानि त्रीण्याहु- ।

दिग्विरत्यादिकान्यपि ॥ १ ॥

टीका—तत्तस्मादाहुर्ब्रुवन्ति । स्वामिमतानुसारिणः । कानि गुणव्रतानि कति त्रीणि । कानि तानि दिग्विरत्यादिकानि दिग्विरतिमनर्थदण्डविरतिं भोगोपभोगपरिमाणं । अपिशब्दः सितपटोक्त-स्वरकर्मज्ञापनार्थः । यद्यस्मात् भवन्त्यमूनि व्रतानि । कस्मै गुणाय । कोऽर्थः उपकाराय । केषामणुव्रतानाम् ॥

अर्थ— ज्याकरितां-दिग्विरति वगैरे हीं तीन व्रतें, अणुव्रतांचीच पूर्णता करणारीं आहेत- त्याकरितां ह्या दिग्विरत्यादि तीन व्रतांस जैनमतानुयायी पंडित गुणव्रतें असें ह्मणतात.

किं तद्विग्रतमित्याह —

आतां त्यांतील दिग्व्रत कोणतें तें सांगतात.

यत्प्रसिद्धैरभिज्ञानैः ।

कृत्वा दिक्षु दशस्वपि ॥

नात्येत्यणुव्रती सीमां ।

तत्स्यादिग्विरतिर्व्रतम् ॥ २ ॥

टीका— स्यात् । किं तत् व्रतं गुणव्रतमित्यर्थः । नामैकदेशो हि व्रतशब्दो नाम्न्यपि वर्तते भीमादिवत् । किं नाम दिग्विरतिः दिक्षु विरतिर्नियमितसीम्नो बहिर्यातायातनिवृत्तिः । यत्किं यन्नात्येति नातिक्रम्य गच्छति । कोऽसावणुव्रती न तु महाव्रती तस्य सर्वारम्भपरिग्रहविरतत्वेन समितिपरत्वेन च नृलोके यथाकामं सञ्चारादिग्विरत्यनुपपत्तेः । कां नात्येति सीमां मर्यादां । किं कृत्वा प्रतिपद्य । कां सीमां । कासु दिक्षु । कतिषु दशसु । अपिशब्दादेकद्वित्र्यादिष्वपियावज्जीवमल्पकालं चापि । कैरभिज्ञानैः समुद्रनद्यादिभिश्चिन्हैः । किंविशिष्टैः प्रसिद्धैः दिग्विरतिमर्यादाया दातुर्गृहीतुश्च प्रतीतैः ॥

अर्थ— जें, अणुव्रती श्रावक प्रसिद्ध अशा नदी पर्वत बगैरे खुणांनीं दशदिशांचे ठिकाणीं एक मर्यादा ठरवून, यावज्जीवपर्यंत किंवा कांहीं कालपर्यंत, त्या मर्यादेचें उल्लंघन करीत नाहीं, तें ' दिग्विरतिव्रत ' होय !

दिग्व्रतेनाणुव्रतिनोऽपि महाव्रतित्वमुपपादयति—

आतां ; ह्या दिग्विरतिव्रतानें अणुव्रतीदेखील महाव्रती होतो, असें उपपादन करितात.

दिग्विरत्या बहिः सीम्नः ।

सर्वपापनिवर्तनात् ॥

तप्तायोगोलकल्पोऽपि ।

जायते यतिबद्धही ॥ ३ ॥

टीका— जायते भवति । गृही । किंवा यतिवत् महाव्रती यथा । कस्मात्सर्वपापनिवर्तनात् सर्वपापानि स्थूलेतरहिंसादीनि भोगोपभोगादीनि च तेभ्यो निवर्तनात् विरमणात् तेषां निवारणाद्वा । क बहिः परतः । कस्याः सीमः प्रतिपन्नमर्यादायाः । कया दिग्विरत्या दिग्विरतिगुणव्रतेन । किंविशिष्टोऽपि गृही तप्तायोगोलकरूपोऽपि सन्तप्तलोहपिण्ड इव आरम्भपरिग्रहपरत्वेन सर्वत्र गमनभोजनशयनादिक्रियासु जीवोपमर्दकरत्वात् ॥

अर्थ— दिग्विरतिव्रताच्या योगानें, तें व्रत करणाऱ्या श्रावकाचीं सर्वप्रकारचीं पापें, आपण केलेल्या मर्यादेच्या बाहेर करणेचीं बंद झाल्यामुळें, तो श्रावक, लोखंडाच्या तापलेल्या गोळ्यासारखा जरी असला ( ज्याप्रमाणें तापलेला लोखंडाचा गोळा उगीच हलला तरी सहज हिंसा होते त्याप्रमाणें ज्याच्या हातून इच्छा नसतांही गमन, शयन, भोजन इत्यादि व्यवहारांत सहज हिंसा होते असा असला ) तथापि एकाद्या यतीप्रमाणें होतो.

एतदेव दृढयन्ताह—

हेंच क्षणें बरोबर आहे असें निश्चित होण्याकरितां सांगतात.

दिग्व्रतोद्रिक्तवृत्तघ्न- ।

कषायोदयमान्द्यतः ॥

महाव्रतायतेऽलक्ष्य- ।

मोहे गेहिन्यणुव्रतम् ॥ ४ ॥

टीका— महाव्रतायते महाव्रतमिवाचरति नियमितदिग्विभागाद्बहिः सर्वसाधननिवर्तकत्वात् । न तु महाव्रतं भवति तत्प्रति-

बन्धकोदयसद्भावात् । किं तत् अणुव्रतं । क गेहिनि गृहस्थे । किंविशिष्टेऽलक्ष्यमोहे निश्चेतुमशक्यभावे प्रत्याख्यानावरणाख्यचारित्रमोहपरिणामे । कस्मात् दिग्ब्रतेत्यादि दिग्ब्रतेनोद्विक्तमुत्कर्षं नीतं व्रतधनकषायाणां प्रत्याख्यानावरणाख्यद्रव्यक्रोधादीनामुदयस्य विपाकस्य मान्द्यमनौत्कट्यं यत्तस्मात् दिग्विरतिमन्दतरीकृतप्रत्याख्यानावरणविपाकादित्यर्थः ॥

अर्थ—व्रतविघातक अशा क्रोधादि कषायांस दिग्विरतिव्रताच्या उत्कर्षानें जो मंदपणा येतो त्यामुळे—ज्याचे ठिकाणीं चारित्रमोह अवश्य असलाच पाहिजे असें झणतां येत नाहीं अशा गृही श्रावकाचेठायीं कोणतेंही व्रत—महाव्रताप्रमाणेंच होतें.

दिग्विरत्यतिचारानाह—

आतां; दिग्विरतिव्रताचे अतीचार सांगतात.

सीमविस्मृतिरूर्ध्वाध- ।

स्तिर्यग्भागव्यतिक्रमाः ॥

अज्ञानतः प्रमादाद्वा ।

क्षेत्रवृद्धिश्च तन्मलाः ॥ ५ ॥

टीका—भवन्ति । के ते तन्मलाः दिग्ब्रतातिचाराः । कति पञ्च । कथं सीमविस्मृतिरूर्ध्वभागव्यतिक्रमोऽधोभागव्यतिक्रमस्तिर्यग्भागव्यतिक्रमः क्षेत्रवृद्धिश्चेति । कस्मात् अज्ञानतः प्रमादाद्वेति संक्षेपः । इतो विस्तरः— तत्र सीमविस्मृतिः— नियमितमर्यादाया अज्ञानतो मत्पटाटवसन्देहादिना प्रमादाद्वाऽतिव्याकुलत्वान्यमनस्कत्वादिना स्मृतिभ्रंशः । तथाहि केनचित्पूर्वस्यां दिशि योजनशतरूपं परिमाणं कृतमासीत् । गमनकाले च स्पष्टतया न स्मरति



किं शतं परिमाणं कृतमुत पञ्चाशत् तस्य चैवं पञ्चाशतमतिक्रामतोऽतिचारः । शतमतिक्रामतो भङ्गः सापेक्षत्वनिरपेक्षत्वाच्चेति प्रथमोऽतिचारः । ऊर्ध्वेत्यादि— ऊर्ध्वं गिरितरुशिखरादेः, अधो ग्रामभूमि-गृहकूपादेः, तिर्यक्भूर्वादिदिक्षु येऽमी भागा नियमितप्रदेशास्तेषां व्यतिक्रमाः लङ्घनानि । एते च त्रयोऽनाभोगातिक्रमादिभिरेवातिचारा भवन्ति । अन्यथा प्रवृत्तौ तु भङ्गा एव । क्षेत्रवृद्धिः— क्षेत्रस्य पूर्वादिदेशस्य दिग्विरतिविषयस्य ऋस्वस्य सतो वृद्धिः पश्चिमादिक्षेत्रान्तरपरिमाणप्रक्षेपेण दीर्घाकरणं । तथाहि केनचित्पूर्वापरदिशोः प्रत्येकं योजनशतं परिमाणीकृत्यैकत्र क्षेत्रं गमनकाले वर्द्धयतो व्रतसापेक्षत्वादतिचारः । यदि चाप्रणिधानात् क्षेत्रपरिमाणमतिक्रान्तं भवति तदा निवर्तितव्यं ज्ञाते वा न गन्तव्यमन्योऽपि न विसर्जनीयः । अथाज्ञतया कोऽपि गतः स्यात्तदा यत्नेन लब्धं तत्त्याज्यमिति पञ्चमः ॥

अर्थ— १ सीमविस्मृति, २ ऊर्ध्वभागव्यतिक्रम, ३ अधोभागव्यतिक्रम, ४ तिर्यग्भागव्यतिक्रम आणि ५ क्षेत्रवृद्धि हीं पांच कर्में, न समजून अथवा चुकीमुळे (लक्ष नसून) झालीं असतां दिग्विरतिव्रताचे अतीचार होतात. ह्यांचं विवरण पुढें लिहिल्याप्रमाणें—

१ सीमविस्मृति क्षणजे अज्ञान, बुद्धीचा अचतुरपणा, संशय, चुकी, मनास सुचेनासैं होणें किंवा तें दुसरीकडे गुंतणें, ह्यापैकीं कोणत्याही कारणामुळे पूर्वीं ठरलेली मर्यादा विसरणें होय. ह्यामुळे अतीचार होतो. तो असा कीं, कोणी एका श्रावकानें पूर्वदिशेकडे शंभर योजने पर्यंत मर्यादा ठरविली असून तो त्या दिशेकडे जाऊं लागला असतां 'आपण पूर्वीं शंभर योजनें ठरविली

आहे कीं पन्नास योजनें ठरविली आहे? ह्याचें विस्मरण झाल्यामुळे जर पन्नास योजनांहून अधिक जाईल तर वास्तविक मर्यादा पुढेंच असल्यानें अतीचार होतो. व शंभर योजनांहून अधिक जाईल तर वास्तविक मर्यादेचा अतिक्रम झाल्यामुळे व्रताचा भंग होतो.

२ उर्ध्वभागातिक्रम ह्मणजे पर्वत, वृक्ष वगैरे उंच प्रदेशावर अमूक इतकेंच जाईन अशी मर्यादा ठरवून तिचें उल्लंघन करणें.

३ अधोभागव्यतिक्रम ह्मणजे तळघरें, आड, विहीरी वगैरे ह्यांत उतरण्या संबंधानें केलेल्या मर्यादेचा अतिक्रम करणें.

४ तिर्यग्भागव्यतिक्रम ह्मणजे तिरकस जाण्यासंबंधी केलेल्या मर्यादेचें उल्लंघन करणें. उर्ध्वभागव्यतिक्रम वगैरे हे तीनही अतीचार पहिल्या अतिचारांत सांगितल्याप्रमाणें मर्यादेची विस्मृति होऊनही वास्तविक असलेल्या मर्यादेचें उल्लंघन झालें नसेल तरच समजणेचे आहेत. वास्तविक ठरलेल्या मर्यादेचा अतिक्रम झाला असतां अतीचार न होतां पूर्वीप्रमाणें व्रतभंगच होतो असें समजावें.

५ क्षेत्रवृद्धि ह्मणजे चारी दिशेस जी मर्यादा ठरविली असेल ती वाढविणें. उदाहरण—पूर्वेकडे व पश्चिमेकडे शंभर शंभर योजनें मर्यादा ठरविली असतां, पूर्वेकडील मर्यादेत आपल्या सोयीकरितां पश्चिमेकडील कांहीं अंश सामील करून पूर्वेकडील मर्यादा सवासें योजनें अथवा दीडशें योजनें असें समजून पश्चिमेकडील मर्यादा पाउणशें योजनें अथवा पन्नास योजनें असें समजणें. ह्यांत

पूर्वेकडील मर्यादा जरी वाढविली आहे तथापि पूर्व व पश्चिम दोहोंकडील मिळून जे दोनशें योजनांचें क्षेत्र ठरलें आहे तें वाढविलें असें होत नाही. म्हणून व्रतभंग न होतां ह्या क्रियेनें केवळ अतीचारच होतो. जर लक्ष नसल्यामुळे वास्तविक क्षेत्रमर्यादेचें उलंघन झालें असेल तर तेथूनच मार्ग परतावें. आणि जर आपण केलेल्या मर्यादेचें आपल्यास ज्ञान असेल तर पुढें जाऊं नये. आणि अज्ञानानें जर एखाद्यानें क्षेत्रमर्यादेचा अतिक्रम केला असेल तर त्यानें त्या अधिक झालेल्या क्षेत्रांत जें आपल्याला मिळालें असेल त्याचा त्याग करावा.

अथानर्थदण्डव्रतं लक्षयति—

आतां ; अनर्थदण्डव्रताचें लक्षण सांगतात.

पीडा पापोपदेशाद्यै- ।

देहाद्यर्थाद्विनाऽङ्गिनाम् ॥

अनर्थदण्डस्तत्त्यागो ।

ऽनर्थदण्डव्रतं मतम् ॥ ६ ॥

टीका—मतं सम्मतं सूरिणां । किं तत् अनर्थदण्डव्रतं । किं तत्तत्त्यागस्तस्यानर्थदण्डस्य वर्जनं । यः किं योऽनर्थदण्डः । किं पीडा पीडनं । केषां अङ्गिनां त्रसस्थावरजीवानां । कैः पापोपदेशाद्यैः पापोपदेशहिंसादानदुःश्रुत्यपध्यानप्रमादचर्याख्यैर्व्यापारैः । कथं विना । कस्मात् देहाद्यर्थात् स्वस्य स्वकीयजनानां वा शरीर-वाङ्मनःप्रयोजनात् ॥

अर्थ—आपलें अथवा आत्मीय अशा दुसऱ्या कोणाचें योग्य कार्य व्हावयाचें असल्यावांचून पापोपदेशादि व्यापा-

रांनीं—( पापोपदेश, हिंसादान, दुःश्रुति, अपध्यान व प्रमादचर्या हे पापोपदेशादिव्यापार असें समजावें. ह्यांचा अर्थ पुढें येणार आहे. ) त्रस किंवा स्थावर जीवांस पीडा करणें, ह्यास ‘ अनर्थदंड ’ असें ह्मणतात ; आणि ह्या अनर्थदंडाचा जो त्याग त्यास ‘ अनर्थदंडव्रत ’ असें नांव आहे.

पापोपदेशस्वरूपं तद्विरतिं चाह—

आतां ; पापोपदेशाचें स्वरूप सांगून त्याचा त्याग करावा असें सांगतात.

पापोपदेशो यद्वाक्यं ।

हिंसाकृष्यादिसंश्रयम् ॥

तज्जीविभ्यो न तं दद्या- ।

नापि गोष्ठ्यां प्रसञ्जयेत् ॥ ७ ॥

टीका —भवति कोऽसौ स पापोपदेशः । यत्किं यद्वाक्यं । किंविशिष्टं हिंसाकृष्यादिसंश्रयं । हिंसा मृषावादादिभिः कृषिवाणि-  
ज्यादिभिश्च संश्रयः सम्बन्धो यस्य तत्तथोक्तं तद्विषयमित्यर्थः ।  
हिंसाद्यारम्भेति पाठे तु हिंसादिप्रधाना आरम्भा उपक्रमा इति  
व्याख्येयं । न दद्यात् मृगास्तोयाशयमायाताः किमुपविष्टास्तिष्ठते-  
त्यादिरूपेण न सम्पादयेत् । कोऽसावनर्थदण्डव्रतार्थी । कं तं  
पापोपदेशं । केभ्यः तज्जीविभ्यः व्याधवञ्चकचोरादिभ्यः कृषीवल-  
किरातादिभ्यश्च । नापि प्रसञ्जयेत् पुनःपुनः प्रवर्तयेत् कथान्त-  
रसम्बन्धे वा नावतारयेत् । कं तं । कस्यां गोष्ठ्यां सङ्कथायाम् ॥

अर्थ—हिंसा, कृषि इत्यादीसंबंधीं जें बोलणें त्यास ‘ पापोपदेश ’ असें ह्मणतात. ह्मणून हिंसा कृषी इत्या-

दिकांवर उदरनिर्वाह करणाऱ्या मनुष्यांस तो पापोपदेश करूं नये. इतकेंच नव्हे, तर त्यांचीं मनें हिंसादि व्यापारासंबंधीं गोष्टींत सुद्धां आसक्त करूं नयेत. तात्पर्य, एखाद्या पारध्यास 'अरे तळ्यांत हरीण पाणी पिण्यास आले आहेत, तूं असा स्वस्थ कां बसलास' असें बोलूं नये. कारण, त्या पारध्यास ह्या भाषणानें आपण हिंसेस प्रवृत्त केल्यासारखें होतें. त्याचप्रमाणें कृषीसंबंधी भाषणही हिंसा करण्यास प्रवृत्त करणारें असल्यामुळे कृषीवलाशीं ह्मणजे शेतकऱ्याशीं तें बोलूं नये.

हिंसोपकरणदानपरिहारमाह—

आतां; हिंसेला साधनीभूत असलेल्या वस्तू न देणें ( हिंसादान ) ह्याविषयीं सांगतात.

हिंसादानं विषास्त्रादि- ।

हिंसाङ्गस्पर्शनं त्यजेत् ॥

पाकाद्यर्थं च नाग्न्यादि ।

दाक्षिण्याविषयेऽर्पयेत् ॥ ८ ॥

टीका—त्यजेन्न कुर्यादनर्थदण्डव्रतार्थी । किं तत् हिंसोपकरणाणां दानं हिंसादानं । मयूरव्यंसकत्वात्समासः । तदेव व्याचष्टे विषास्त्रेत्यादिना विषास्त्रादीनां गरुडप्रहरणहलशकटकुशिकुद्दालादीनां हिंसांगानां प्राणिवधसाधनानां स्पर्शनं दानं विषास्त्रादि-हिंसाङ्गस्पर्शनं । न चार्पयेत् नापि दौक्येदसौ । किं तत् अग्न्यादि बन्धिघरदृमुसलोलखलादि । किमर्थं पाकाद्यर्थं पचनपेवणकुट्टनादिनिमित्तं । क दाक्षिण्याविषये परस्परव्यवहारविषयादन्यत्र ॥

अर्थ—अनर्थदण्डव्रत करणाऱ्या श्रावकानें हिंसादान

ह्यणजे विष, शस्त्र वगैरे हिंसेचीं साधनें दुसऱ्यानें मागितलीं असतां देणें हें करूं नये. तसेंच अस्त्रसिद्धि करण्याकरितां लागणारे अग्नि, उखळ, मुसळ वगैरे पदार्थ, ज्याविषयीं आपल्यास भरंवसा नाही अशा मनुष्यांस देऊं नयेत.

दुःश्रुत्यपध्यानयोः स्वरूपं परिहारं चाह—

आतां; दुःश्रुति व अपध्यान ह्यांचें स्वरूप व त्यांचा त्याग हें सांगतात.

चित्तकालुष्यकृत्काम- ।

हिंसाद्यर्थश्रुतश्रुतिम् ॥

न दुःश्रुतिमपध्यानं ।

नार्तरौद्रात्म चान्वियात् ॥ ९ ॥

टीका—नान्वियात् नानुवर्तयेत् प्रसङ्गवशादायातमपि तत्क्ष-  
णान्निवर्तयेदित्यर्थः । कोऽसावनर्थदण्डव्रतार्थी । कां दुःश्रुतिं ।  
कीदृशीं चित्तेत्यादि । कामश्च मन्मथो हिंसा च प्राणातिपातः काम-  
हिंसे ते आदी येषां आरम्भादीनां ते कामहिंसादयोऽर्था अभिधेया  
येषां तानि कामहिंसाद्यर्थानि तानि श्रुतानि शास्त्राणि । तत्र काम-  
शास्त्रं वात्स्यायनादि । हिंसाशास्त्रं लटकादिमतं । आरम्भपरिग्र-  
हशास्त्रं वार्तानीति । साहसशास्त्रं वीरकथा । मिथ्यात्वशास्त्रं ब्रह्मा-  
द्वैतादि मतं । मदशास्त्रं वर्णानां ब्राह्मणो गुरुरित्यादिग्रन्थः ।  
रागशास्त्रं वशीकरणादितन्त्रं । तेषां श्रुतिराकर्णनं उपलक्षणादर्ज-  
नाद्यपि । चित्तस्य मनसः कालुष्यं रागद्वेषाद्यावेशश्चित्तकालुष्यं  
तत्करोतीति चित्तकालुष्यकृत् । सा चासौ कामहिंसाद्यर्थश्रुतश्रुतिश्च  
ताम् । न चान्वियादसौ । किं तत् अपध्यानं अपकृष्टं ध्यानमेकाम-  
चित्तानिरोधं । किरूपं आर्तरौद्रात्म आर्तं ऋते दुःखे भवं । यदि

न आर्तिः पीडा यातना च तत्र भवं । रौद्रं रोधयति अपरानिति  
 रुद्रो दुःखहेतुस्तेन कृतं तस्य वा कर्म । आर्तं च रौद्रं च आर्तरौद्रे  
 ते आत्मानौ स्वभावौ यस्य तदार्तरौद्रात्म आर्तरौद्रविकल्पमित्यर्थः ।  
 न दुःश्रुतिमपध्यानमार्तरौद्रात्म चान्वियादिति पाठे तु- दुःश्रुति  
 कामादिशास्त्रश्रवणलक्षणां, अपध्यानं च नरेन्द्रत्वस्वचरत्वाप्सरोविद्या-  
 धरीपरिभोगादिविषयं, आर्तं वैरिघाताग्निघातादिविषयं, रौद्रं वा  
 नान्वियादिति व्याख्येयम् ॥

अर्थ—अनर्थदंडव्रताची इच्छा करणाऱ्या श्रावकानें  
 दुःश्रुति ( अंतःकरणास बिघडाविणारें कामशास्त्र हिंसाशास्त्र  
 वगैरे शास्त्रांचें श्रवण ) करूं नये. ( कामशास्त्र ह्यणजे  
 वात्स्यायनानें केलेलें अनंगशास्त्र. हिंसाशास्त्र ह्यणजे  
 चरकादिकांनीं सांगितलेली शस्त्रक्रिया (फाडण्याची क्रिया).  
 आरंभशास्त्र ह्यणजे परिग्रहाविषयींचें शास्त्र. वार्ता ह्यणजे  
 दंडनीति. साहसशास्त्र ह्यणजे वीरांच्या गोष्टी. मिथ्यात्व-  
 शास्त्र ह्यणजे ब्रह्माद्वैतमत वगैरे. मदशास्त्र ह्यणजे ' ब्राह्मण  
 सर्व वर्णांचा गुरु आहे ' अशा प्रकारचीं वाक्यें. रागशास्त्र  
 ह्यणजे बशकिरण वगैरे तंत्र. तसेंच, अपध्यान ह्यणजे  
 आर्तध्यान व रौद्रध्यान हीं दोन्हीं टाकावीत.

प्रमादचर्यालक्षणं तत्त्यागं च श्लोकद्वयेनाह—

आतां ; दोन श्लोकांनीं प्रमादचर्येचें स्वरूप व तिचा  
 त्या गहेंसांगतात.

प्रमादचर्या विफल- ।

क्षमानिलाग्न्यम्बुभूरुहाम् ॥

स्वातव्याघातविध्याप-

## सेकच्छेदादि नाचरेत् ॥ १० ॥

टीका—नाचरेत् न कुर्यादनर्थदण्डविरतः । कां प्रमादचर्या । किंरूपां विफलमित्यादि । विफलं निष्प्रयोजनं क्षमादीनां स्वातादि विफलभूखननादिलक्षणमित्यर्थः । तत्र क्षमायाः भूमेः स्वातं खननं विफलं नाचरेत् । अनिलस्य वातस्य व्याघातं स्वयमागच्छतः कवा-टादिना प्रतिबन्धं विफलं नाचरेत् । अग्नेर्विध्यापं जलादिना विध्या-पनं विफलं नाचरेत् । अम्बुनो जलस्य सेकं सेचनं भूम्यादौ प्रक्षेपं विफलं नाचरेत् । भूरुहां वनस्पतीनां छेदादि छेदनपत्रपुष्पफल-त्रोटनादि विफलं नाचरेत् ॥

अर्थ—प्रमादचर्या ह्यणजे कांहीं फल नसतां उगीच जमीन उकरणें, वारा आपल्याकडे येत असतां उगीच त्याला प्रतिबंध करणें, अग्नीवर उगीच पाणी शिंपडून विझाविणें, वाटेल तेथें कारणावाचून जमिनीवर पाणी शिंपडणें, कारणावांचून एखाद्या वृक्षाची फांदी किंवा पानें अगर फळें तोडणें हे व्यापार करूं नयेत.

तद्वच्च न सरेद्व्यर्थ ।

न परं सारयेन्महीम् ॥

जीवन्नजीवान् स्वीकुर्या- ।

न्मार्जारशुनकादिकान् ॥ ११ ॥

टीका—न सरेत्करचरणादिव्यापारं न कुर्यात् । किंविशिष्टं व्यर्थं निष्प्रयोजनं । किंवत् तद्वच्च क्षमाखननादिवदेवं तथा न सारयेत् करचरणादिव्यापारं न कारयेत् । कं परं भृत्यादिकं । कथं व्यर्थं वृथा । न स्वीकुर्यात् न परिगृह्णीयात् । कान् जीवन्न-



जीवान् प्राणिघातकप्राणिनः । किंविशिष्टान् मार्जारशुनकादिकान्  
विडालमण्डलनकुलकुक्कुटप्रभृतीन् । कथं नियमेन फलवतोऽपि  
नात्मसात्कुर्यादित्यर्थः ॥

अर्थ—तसेच आपण उगीच हातपाय वगैरे हालवूं नयेत  
व दुसऱ्यासही हालवावयास लावूं नयेत; आणि दुसऱ्या  
जीवांस मारणारे असे मांजर, कुत्रा, मुंगुस, कोंबडा वगैरे  
प्राणी बाळगूं नयेत.

अनर्थदण्डव्रतातिचारपरिहारमाह—

आतां; अनर्थदण्डव्रताचे अतीचार सांगून त्यांचा त्याग  
करावा हें सांगतात.

मुञ्चेत्कन्दर्पकौत्कुच्य- ।

मौखर्याणि तदत्ययान् ॥

असमीक्ष्याधिकरणं ।

सेव्यार्थाधिकतामपि ॥ १२ ॥

टीका—मुञ्चेद्द्वर्जयेदनर्थदण्डविरतः । कान् तदत्ययान् तद्व्र-  
तातिचारान् । किंविशिष्टान् कन्दर्पादीन् पञ्च । तत्र कन्दर्पः  
कामस्तद्धेतुस्तत्प्रधानो वाक्प्रयोगोऽपि कन्दर्पो रागोद्रेकात्प्रहास-  
मिश्रोऽशिष्टवाक्प्रयोग इत्यर्थः । कौत्कुच्यं कुदिति कुत्सायां  
निपातो निपातानामानन्त्यात् । कुत् कुत्सितं कुचति भ्रूयनौष्ठ-  
नासाकरचरणमुखविकारैः संकुचतीति कुत्कुचः सङ्कोचादिक्रिया  
भाक् तद्भावः कौत्कुच्यं । प्रहासो भण्डिमावचनं च भण्डिमोपेतका-  
यव्यापारप्रयुक्तमित्यर्थः । एषः पूर्वश्च द्वावपि प्रमादचर्याविरतेर-  
तिचारौ । मौखर्यं मुखमस्यास्तीति मुखरोऽनालोचितभाषो वाचाट-  
स्तस्य भावो घाष्ट्यर्चप्रायमसत्यासंबद्धबहुप्रलापित्वं । अयं च पापो-

पदेशविरतेरतीचारो मौख्ये सति पापोपदेशसम्भवादिति तृतीयः । असमीक्ष्याधिकरणं प्रयोजनमनालोच्य कार्यस्याधिक्येन करणं । यथा बहुमपि कटमानयत, यावता मे प्रयोजनं तावदहं क्रेष्यामि शेषमन्ये बहवोऽर्थिनः सन्ति तेऽपि क्रेष्यन्ति अहं विक्रापयिष्यामीत्येवमनालोच्य बह्वारम्भतृणाजीविभिः कारयति । एवं काष्ठच्छेदेष्टकापाकादिष्वपि वाच्यं । तथाहि स्वोपकरणं द्विसोपकरणान्तरेण संयुक्तं धारयति यथा संयुक्तमुखखलेन मुसलं हलेन फालं शकटेन युगं धनुषा शरान् इत्यादि । तथा सति यः कश्चित् संयुक्तमुखखलमुसलादिकमाददीत । वियुक्ते तु तस्मिन् सुखेन परः प्रतिषेधुं शक्यते । एतद्विसोपकारिदानविरतेरतीचारः । सेव्यार्थाधिकतां सेव्यस्य भोगोपभोगलक्षणस्य जनको यावानर्थस्तताऽधिकस्य तस्य करणं भोगोपभोगानर्थक्यमित्यर्थः । अत्रायं सम्प्रदायः यदि बहूनि स्नानसाधनानि तैलखल्यामलकादीनि गृह्णाति तदा लौल्येन बहवः स्नानार्थं तडागादौ गच्छन्ति । ततश्च पूरकायाष्कायिकादिवधोऽधिकः स्यात् । न चैवं युज्यते ततो गृह एव स्नातव्यं । तदसम्भवे तु तैलादिभिर्गृह एव शिरो घर्षयित्वा तानि सर्वाणि साधयित्वा तटागादितटे निविष्टो गालितजलेनावजलिभिः स्नायात् । तथा येषु पुष्पादिषु संसत्तिः सम्भवति तानि परिहरेदिति सर्वत्र वक्तव्यमिति षष्ठोऽपि प्रवादविरतेरतीचारः ॥

अर्थ—अनर्थदंडव्रती श्रावकाने कंदर्प, कौत्कुच्य, मौख्य, असमीक्ष्याधिकरण व सेव्यार्थाधिकता हे पांचही अतीचार सोडावेत ! [ ह्यांचे स्पष्टीकरण असे— १ कंदर्प ह्मणजे ज्यांत स्त्रीसंभोगेच्छा गर्भित आहे असें परिहासयुक्त ग्राम्य भाषण. २ कौत्कुच्य ह्मणजे चावटपणाने केलेला नाक मुरडणे भोवयी चढाविणे वगैरे शरीरव्यापार. हे

दोनीही प्रमादचर्याविरतीचे अतीचार आहेत. ३ मौख्य (उरमटपणानें खोटें व असंबद्ध असें पुष्कळ बोलणें.) हा पापोपदेशविरतीचा अतीचार होतो. ४ असमीक्ष्याधिकरण ह्मणजे उपयोगांचा विचार न करता कोणतेंही कृत्य आवश्यक असल्यापेक्षां अधिक करणें. जसें एखाद्यास 'तूं पुष्कळ गवत काप' मला जेवढें पाहिजे आहे तेवढें मी घेईन!! राहिलेलें गवत दुसरे जरूरी असलेले लोक पुष्कळ आहेत, ते घेतील; नाहीतर मी विकून देईन!!! असें, विचार न करतां बोलून गवत कापण्यासंबंधानें अधिक हिंसा करावयास लावणें. तसेंच हिंसेस साधनीभूत असलेले उखळ, मुसळ, नांगर व फाळ, गाढी व तिचें जू धनुष्य व बाण वगैरे पदार्थ एकमेकांशीं विलग न ठेवितां मुसळ उखळाजवळ ठेवणें, नांगरास फाळ लाऊन ठेवणें. हे पदार्थ संयुक्त असलेले जर कोणीं एखाद्यानें पाहिले तर तो धान्य कांडणें वगैरे त्यापासून होणारें आपलें कार्य करून घेण्यास प्रवृत्त होईल व ह्या योगानें हिंसेला मदत केल्यासारखें होईल. ह्मणून ते पदार्थ विलग असेच ठेवावेत. ह्मणजे त्या पदार्थांची इच्छा करणाऱ्या मनुष्याचा निषेध करता येतो. असमीक्ष्याधिकरण हा हिंसादानविरतीचा अतीचार आहे.

५ सेव्यार्थाधिकता ह्मणजे भोगोपभोगाम साधनीभूत असलेले पदार्थ आपल्यास पाहिजे असतील त्यापेक्षां अधिक संपादन करणें. ह्यासंबंधानें प्राचीनांची अशी प्रवृत्ती आहे कीं; स्नानास लागणारें तेल, आवळा वगैरे पदार्थ पुष्कळ घेऊन स्नानाकरितां तळ्यास अथवा

नदीस जातात. तसें केलें ह्मणजे त्या पदार्थाच्या लोभानें ( स्नानाचे वेळीं आपल्यालाही अंगास ते लावण्यास मिळतील अशा लोभानें ) पुष्कळ मंडळी स्नानाकरितां येतात. मग तितक्या लोकांनीं तें तेल वगैरे पदार्थ आपापल्या डोक्यास लाऊन घांसल्यानें पुष्कळ जीवांची हिंसा होते. ह्मणून तसें न करतां तेल वगैरे पदार्थांनीं आपण आपलें शरीर घरींच मर्दन करावें व स्नानही घरींच करावें. तसें होणें शक्य नसेल तर तळयावर वगैरे स्नानास जावें, व वस्त्रपूत केलेल्या उदकानें आपल्या ओंजळीनें स्नान करावें. ह्याप्रमाणें केलें असतां हिंसेस मदत केल्यासारखें होत नसून हिंसाही अधिक होत नाही. ह्मणून सेव्यार्थाधिकतेचा त्याग केला पाहिजे. ही ( सेव्यार्थाधिकता ) प्रमादचर्याविरतीचाच अतिचार होतो.

अथ भोगोपभोगपरिमाणाख्यतृतीयगुणव्रतस्वीकरणविधिमाह—

आतां; भोगोपभोगपरिमाण नांवाच्या तिसऱ्या गुणव्रताच्या स्वीकाराचा प्रकार सांगतात.

भोगोऽयमियान् सेव्यः ।

समयमियन्तं सदोपभोगोऽपि ॥

इति परिमायानिच्छं- ।

स्तावधिकौ तत्प्रमाव्रतं श्रयतु ॥ १३ ॥

टीका—श्रयतु स्वीकरोतु । कोऽसौ गुणव्रती । किं तत् तत्प्रमाव्रतं तयोर्भोगोपभोगयोः प्रमा परिमाणं तत्प्रमा तत्प्रमेव व्रतं तत्र वा व्रतं तत्प्रमाव्रतं भोगोपभोगपरिमाणव्रतमित्यर्थः । किं

कुर्वन्ननिच्छन् अनाकांक्षन् । कौ तौ भोगोपभोगौ । किंविशिष्टा-  
वधिकौ सेव्यासेव्यतया प्रतिज्ञाताभ्यामतिरिक्तौ । किं कृत्वा परिभाष्य  
परिमैतीकृत्य । कथमिति किमिति भोग इत्यादि । अत्रैकं प्रति-  
षेधमुखेन वाक्यमन्यच्च विधिमुखेन । तत्राद्यं भोगोऽयं समय-  
मियन्तं न सेव्यः इति । द्वितीयं भोगोऽयमियान्वा समयमियन्तं  
सेव्य इति । तत्राद्यं व्याख्यायते— न सेव्यो नोपयोक्तव्यः । कोऽ-  
सावयं भोग्यतया प्रसिद्धो भोगो माल्यताम्बूलादिः । केन मया ।  
कं समयं कालं । कियन्तमियन्तं एतावन्मात्रं यावज्जीवं दिवस-  
मासादिपरिच्छिन्नं वा कालमित्यर्थः । द्वितीयव्याख्या त्वयं । वा  
अथवा । सेव्यः कोऽसावयं भोगः । केन मया । कियान् इयान्  
एतावान् । कं समयं । किंविशिष्टमियन्तं । तथा उपभोगोऽयं  
समयमियन्तं न सेव्यो मयेत्येकं उपभोगोऽयमियान्वा समयमि-  
यन्तं मया न सेव्य इति द्वितीयं । एतयोरपि पूर्ववद्व्याख्या ॥

अर्थ—गुणव्रत करणाऱ्या श्रावकानें ‘हे भोग पदार्थ  
अमुक इतक्या प्रमाणाचे अमुक इतका कालपर्यंत सेवन  
करीन ! अथवा हे अमुक भोग्य पदार्थ अमुक प्रमा-  
णाचे अमुक कालपर्यंत सेवन करणार नाहीं’ असे त्या  
भोग्य पदार्थांचें व त्यांच्या सेवनाच्या कालाचें प्रमाण  
कल्पून, त्या प्रमाणापेक्षां अधिकांची इच्छा न करणें  
ह्यास भोगपरिमाण व्रत म्हणतात. आणि ह्याप्रमाणेंच  
उपभोगपदार्थांविषयीं कालाची व पदार्थाची ईयत्ता ठर-  
वून, त्याप्रमाणें सेव्य उपभोगपदार्थांच्या ईयत्तेचा अतिक्रम  
न होऊं देतां, ठरविलेल्या कालापर्यंत त्यांचें सेवन  
करणें, अथवा त्याग करणें, ह्यास उपभोगपरिमाण असें  
म्हणतात. आणि हे दोन्ही ( भोगपरिमाण व उपभोग-

परिमाण ) एकत्र करून, भोगोपभोगपरिमाण नांवाचें गुण-  
व्रत समजावें.

भोगोपभोगयोर्लक्षणं तत्त्यागस्य च यावर्ज्जीविकस्य नियत-  
कालस्य च सञ्ज्ञाविशेषावाचष्टे—

आतां; भोग व उपभोग ह्यांचें लक्षण आणि त्यांच्या  
त्यागाच्या मर्यादेचीं नांवे सांगतात.

भोगः सेव्यः सकृदुप- ।

भोगस्तु पुनःपुनः स्रगम्बरवत् ॥

तत्परिहारः परिमित- ।

कालो नियमो यमश्च कालान्तः ॥ १४ ॥

टीका—स भोगो भण्यते । यः सकृदेकवारं सेव्यः सेव्यते  
मुक्त्वा पुनर्न भुज्यते इत्यर्थः । किंवत् स्रगवत् उपलक्षणान्माख्य-  
चन्दनताम्बूलादिर्यथा । स उपभोगो भण्यते तुर्विशेषे । यः पुनः  
पुनः सेव्यो भूयोभूयः सेव्यते सेवित्वाऽपि पुनः सेव्यते इत्यर्थः ।  
किंवत् अम्बरवत् अत्राप्युपलक्षणाद्वस्त्राभरणकामिन्यादिर्यथा ।  
अथवा स्रगम्बरवच्चेति भोगोपभोगलक्षणयोर्यथासंख्यमुदाहरणे उदा-  
हरणस्य दिङ्मात्रप्रदर्शकत्वात् । एवं तयोर्लक्षणमुक्त्वा तत्त्याग-  
विशेषयोः सञ्ज्ञाविशेषप्रकाशनार्थमाह तदित्यादि— व्यपदिश्यते ।  
कोऽसौ तत्परिहारः किं नियमः । नियम इति सञ्ज्ञया व्यवन्द्ध्यते  
इत्यर्थः । किंविशिष्टः परिमितकालः एकद्वित्रयादिसंख्यापरिच्छिन्न-  
दिवसमासादिसमयः । तथा व्यपदिश्यते । कोऽसौ तत्परिहारः ।  
किं यमः यम इति नाम्ना व्यवन्द्ध्यत इत्यर्थः । किंविशिष्टः  
कालान्तः कालो मरणमन्तोऽवसानं यस्य स कालान्तो मरणपर्यन्त  
इत्यर्थः ॥

अर्थ—एकवार सेवन करण्यास योग्य अशा वस्तूस ' भोग ' ह्मणतात. उदाहरण— अन्न, उदक वगैरे. आणि ज्या वस्तूंचें अनेकवार सेवन करतां येते, त्यास ' उप-भोग ' असें ह्मणतात. उदाहरण— माला, वस्त्र, चंदन, स्त्री, गृह वगैरे. त्या भोगोपभोगवस्तूंचा महिना, वर्ष, दोन वर्षे वगैरे परिमित कालापर्यंत जो त्याग त्याला नियम ह्मणतात. आणि मरणपर्यंत जो त्याग त्याला यम असें ह्मणतात.

त्रसघातबहुवधप्रमादविषयानिष्ठानुपसेव्यार्थत्यागव्रतपञ्चकमप्यत्रै-  
वान्तर्भावयितुमाह—

आतां; त्रसवध ( द्वींदियजीववध ) बहुवध ( स्थावरजी-  
ववध ) प्रमादविषय ( ज्याच्या सेवनापासून मनुष्य धर्म-  
भ्रष्ट होईल असे पदार्थ, भांग अफू वगैरे ) अनिष्ट ( न  
आवडणारे पदार्थ ) व अनुपसेव्य ( ज्यांच्या सेवनावि-  
षयीं शिष्टांचा आचार नाही असे पदार्थ ) ह्या सर्वांचा  
त्यागही भोगोपभोगपरिमाणव्रतांतच अंतर्भूत होतो,  
असें सांगतात.

पलमधुमद्यवदखिल- ।

स्त्रसबहुघातप्रमादविषयोऽर्थः ॥

त्याज्योऽन्यथाऽप्यनिष्टो ।

ऽनुपसेव्यश्च व्रताद्धि फलमिष्टम् ॥ १५ ॥

टीका—त्याज्यः प्रत्याख्यातव्यः । कोऽसावर्थ इन्द्रियोपभोग्यो  
रसश्च । केन भोगोपभोगपरिसंख्यानव्रतिना । किंविशिष्टः त्रसे-  
त्यादि— त्रसा द्वीन्द्रियादिजीवाः बहवः प्रचुरास्त्रसस्थावरजीवाः

त्रसाश्च बहवश्च त्रसबहवस्तेषां घातौ त्रसबहुघातौ त्रसघातो बहुघातश्चेत्यर्थः । प्रमादो धर्मभ्रंशनोपायः । त्रसबहुघातौ च प्रमादश्च त्रसबहुघातप्रमादाः ते विषया यस्य स त्रसबहुघातप्रमादविषयः । किंविशिष्टोऽखिलः सर्वः । किंवत् पलमधुमद्यवत् । यथा त्रसघाताश्रयत्वात्पिशितं त्यज्यते, यथा च बहुवधाश्रयत्वान्माक्षिकं त्यज्यते, यथा च प्रमादाश्रयत्वान्मद्यं त्यज्यते तथा यथासंख्यं त्रसघाताद्याश्रयोऽर्थस्त्याज्य इत्यर्थः । तत्र त्रसघातविषयोऽन्तः सुषिरप्रायं नालीनलपलवयामृणालनालप्रमुखमागन्तुजन्तूनां सम्मूर्च्छिमजन्तूनां च योग्यमध्यावकाशं तथा बहुजन्तुयोग्यस्थानं केतकीनिम्बार्जुनारणिशिग्रुपुष्पमवूकबिल्वादिफलादि च वस्तु । बहुघातविषयो गुडूचीमूलकलशुनार्द्रशृङ्गबेरादिकं । प्रमादविषयो दूषिविषभाङ्गिकाधत्तूरकादि वस्तु । एतेन धनार्थं क्रूरव्यापाराणामपि त्याज्यत्वमुक्तं प्रतिपत्तव्यं । तथा त्याज्यो धर्मार्थिना । कोऽसावखिलोऽर्थः । किंविशिष्टोऽनिष्टः । कथमन्यथाऽपि त्रसघाताद्यविषयोऽप्यर्थो योऽनिष्टो यदा स्वस्याप्यनभिमतः प्रकृतिसात्मको न भवति सोऽपि तदा प्रत्याख्येय इत्यर्थः । तथा त्याज्यः कोऽसावखिलोऽर्थः । किंविशिष्टोऽनुपसेव्यः इष्टोऽपि शिष्टानां शीलनायोग्यः चित्रवस्त्रविकृतवेषाभरणादिरुद्गारलालामूत्रपुरीषश्लेष्मादिश्च । एतत्प्रत्याख्यानस्याप्यभिमतार्थहेतुत्वमुखेन करणीयत्वं समर्थयते त्रताद्धि फलमिष्टमिति— हि यस्माद्भवति किं तत् फलं साध्यं । किंविशिष्टमिष्टमभिप्रेतमभ्युदयादिकं । कस्माद्भतात् योग्याद्विषयादभिसन्धिकृताया विरतेः ॥

अर्थ—ज्याप्रमाणे त्रसघात होतो ह्मणून मांस, अनेक स्थावरजीवांचा वध होतो ह्मणून मद्य व धर्मभ्रष्टता येते ह्मणून मद्य, हे पदार्थ त्याज्य आहेत, त्याप्रमाणेच देवनळ,



कमलाचें देंठ, आंत पोकळ असल्यामुळें ज्यांत अनेक सूक्ष्म जीव राहण्यास जागा आहे असे पदार्थ व शेव-  
ग्याच्या शेंगा, ज्येष्ठमध, बेलफळ, उंबर वगैरे फळें हे  
पदार्थ टाकावेत. तसेंच स्थावरजीवहिंसा होते ह्मणून  
मुळा, लशून, आलें वगैरे पदार्थ सोडावेत. आणि बेसा-  
वध करणारे ह्मणून भांग, अफू, वगैरे पदार्थ सोडावेत.

द्रव्यप्राप्तीकरितां क्रूरव्यापारही करूं नयेत, असें ह्याव-  
रूच सिद्ध होतें. कारण भांग, अफू वगैरे मादक पदार्थ,  
ज्याप्रमाणें मनुष्यास विस्मृति उत्पन्न करितात, त्याच-  
प्रमाणें क्रूरकर्मास प्रवृत्त होण्यानेंही सद्विचाराची विस्मृति  
होते. तसेंच ज्यापदार्थांच्या भक्षणानें त्रसघात वगैरे  
होत नाहीं असे पदार्थ देखील आपल्यास प्रिय नसल्यास  
अगर सोसत नसल्यास सोडावेत. तसेंच जे पदार्थ आप-  
ल्यास इष्ट असूनही शिष्टसंप्रदायास अगदी विरुद्ध अस-  
तील, तसले पदार्थ ह्मणजे चित्रवस्त्र, भाड्याचे दागिने  
वगैरे पदार्थही स्वीकारूं नयेत. ह्याप्रमाणें केलें असतां  
व्रतापासून इष्टफलप्राप्ती होते.

उक्तमेवार्थं संव्यवहारप्रसिध्यर्थं श्लोकत्रयेण दर्शयति—

आतां; सदाचार सर्वांस नीट समजावा ह्मणून, पुढल्या  
तीन श्लोकांत मागील श्लोकांत सांगितलेला विषयच  
पुनः सांगतात.

नालीसूरणकालिन्द- ।

द्रोणपुष्पादि वर्जयेत् ॥

आजन्म तद्भुजां ह्यल्पं ।

## फलं घातश्च भूयसाम् ॥ १६ ॥

टीका—वर्जयेत् धर्मार्थं त्यजेत् । किं तत् नालीत्यादि-  
आदिशब्देन मूलकार्द्रकनिम्बकुसुमकेतकादि । कथं आजन्म याव-  
ज्जीवं । कुत इत्याह— हि यस्मात् भवति । किं तत् फलं जिह्वे-  
न्द्रियप्रीणनमात्रं । किंविशिष्टमल्पं स्तोकं भक्ष्यमाणक्षणमात्रभावि ।  
केषां तद्भुजां नालीसूरणादिभक्षकाणां । भवति च कोऽसौ घातः  
तद्भक्षणे वधः । केषां भूयसां बहुतराणां तदाश्रितजीवानाम् ॥

अर्थ— नाली, ( पालाभाजी ) सूरण, कालिंद ( तर-  
बूज ), द्रोणपुष्प (?) वगैरे पदार्थ, यावज्जीव वर्ज करा-  
वेत. कारण, हे पदार्थ सेवन करणाऱ्यांस जरी थोडा  
वेळपर्यंत ( तोंडांत घातल्यापासून चावून गिळेरपर्यंत सुख )  
होतें, तरी त्यांच्या भक्षणांत अनेक जीवांची हिंसाही होते !

उक्तमेवार्थं व्रतदार्ढ्यार्थं पुनर्विशेषतोऽभिधत्ते—

हाच व्यवहार व्रताच्या दृढतेकारितां पुनः स्पष्ट विवेचन  
करून सांगतात.

अनन्तकायाः सर्वेऽपि ।

सदा हेया दयापरैः ॥

यदेकमपि तं हन्तुं ।

प्रवृत्तो हन्त्यनन्तकान् ॥ १७ ॥

टीका—हेयाः प्रत्याख्येयाः । सदा नित्यं । के अनन्तकायाः ।  
कति सर्वेऽपि । कैः दयापरैः अनुकम्पाप्रधानैः श्रावकैः । कुत  
इत्याह— यद्यस्मात् । हन्ति हिनस्ति । कोऽसौ पुरुषः । कान्  
अनन्तकान् अनन्तप्रमितान् जीवान् कशब्देनात्र जीवार्थस्य विव-

क्षितत्वादनन्ताश्च ते कायाश्च जीवाश्चेति विग्रहः । किंविशिष्टः प्रवृत्तः । किं कर्तुं हन्तुं भक्षणादिद्वारेण मारयितुं । कं तमनन्तकायं । किंविशिष्टमेकं व्यवहारेणैकसंख्यमपि किं पुनर्द्यादीन् । एते चानन्तैर्जीवैरुपलक्षितः कायो येषां तेऽनन्तकाया मूलादिप्रभवा वनस्पतिकायिकाः । तथा हि मूलजा आर्द्रकहरिद्राप्रभृतयः । अग्रजा आर्यकोदिश्च (?) प्रभृतयः । पर्वजा देवनालेक्षुवेत्रादयः । कन्दजाः पलाण्डुसूरणादयः । स्कन्धजाः सलर्काकण्टकपलाशादयः । बीजजाः शालिगोधूमादयः । सम्मूर्च्छिमाः नियतबीजाभावे स्वयोग्यपुद्गलैर्निष्पन्नशरीराः । उक्तं च— मूलंगपोरबीजा कंदा तह खंडबीजबीजरुहा । सम्मुच्छिमा य भणिया पत्तेया णंतकाया य ॥ १ ॥

अर्थ— दयाळु स्वभावाच्या श्रावकांनी सर्वप्रकारचे अनंतकाय जीव, सर्वदा वर्ज करावेत. कारण त्या अनंतकाय जीवांपैकीं एकालाही मारण्याविषयीं प्रवृत्त झालेला श्रावक [ त्या एका जीवासंबंधानें ] अनंत जीवांस मारतो. [ ह्या श्लोकांतील अनंतकाय जीव ह्मणजे वनस्पतिकाय जीव असें समजावें. ते वनस्पतिकायजीव 'मूलज, अग्रज, सर्वज, कंदज, स्कंधज, बीजज आणि सम्मूर्च्छिम' असे सात प्रकारचे आहेत. त्यांत मूलज ह्मणजे सूळालाच फुटणारे आलें, हळद वगैरे. अग्रज ह्मणजे शेंड्यास फुटणारे वाळा वगैरे. सर्वज ह्मणजे सर्व अवयवापासून फुटणारे देवनळ, ऊंस वेत वगैरे. कंदज ह्मणजे गड्ड्यास फुटणारे कांदा, सुरण वगैरे. स्कंधज ( ढापीपासून फुटणारे ) सलई, वड वगैरे. बीजज ह्मणजे केवल बीजापासून उत्पन्न होणारे भात, गहूं, वगैरे. आणि सम्मूर्च्छिम ह्मणजे ज्यांच्या उत्पत्तीला साधनीभूत बीज वगैरे कांहीं नसून जे

एक प्रकारचे विजातीय परमाणू एकत्र झाल्यामुळे उत्पन्न झाले आहेत अशीं माळावरील लहान झुडपे वगैरे. हे पदार्थ भक्षण केले असतां अनेक जीवांची हिंसा होते.

आमगोरससम्पृक्तं ।

द्विदलं प्रायशोऽनवम् ॥

वर्षास्वदलितं चात्र ।

पत्रशाकं च नाहरेत् ॥ १८ ॥

टीका—नाहरेत् न भक्षयेद्दयापरः । किं तत् द्विदलं मुद्रमा-  
षादिधान्यं । किंविशिष्टं आमेत्यादि—आमेनानभिपकेन गोरसेन  
क्षीरेण दध्ना अकथितक्षीरादिसम्भूतेन तत्रेण च सम्पृक्तं मीलितं ।  
तद्धि सूक्ष्मबहुलजन्त्वाश्रितमागमे श्रूयते । तथा नाहरेत् किं तत्  
द्विदलं । किंविशिष्टमनवं पुराणं । कथं प्रायशः प्रायोग्रहणात्पुराणस्यापि  
चिरकालकृष्णीभूतकुलित्यादेरदृष्टजन्तुसम्मूर्च्छनस्याप्रतिषेधः । तथा  
नाहरेत् । किं तत् द्विदलं । किंविशिष्टमदलितमकृतद्विधाभावं ।  
कदा वर्षासु प्रावृषि हि मुद्रादीनामन्तःप्ररोहस्यायुर्वेदे प्रसिद्धत्वात्  
त्रससम्मूर्च्छनस्य च दृष्टत्वेन सम्भाव्यमानत्वादभोज्यत्वं । एतेन  
रूढानामपि तेषां निषेध उक्तः स्यात् । तथा नाहरेत् किं तत्  
पत्रशाकं पत्ररूपं हरीतकं न तु फलादिरूपं । तत्र तत्परजन्तुभू-  
यिष्ठत्वात् । कदा वर्षासु तदा त्रसस्थावरसंसक्तिबहुलत्वात्प-  
त्रशाकस्याल्पफलत्वाच्च ॥

अर्थ—कच्चे दूध, किंवा कच्च्या दुधाचेच बनलेले  
दही अगर तसल्या दह्याचे केलेले ताक ह्यांत मिसळलेले  
द्विदल, ( हरभरे, उडीद, तुरी, मूग वगैरे ज्यांची डाळ  
निघते असे पदार्थ ) दयाळू श्रावकाने भक्षण करू नयेत.

भङ्गसद्भावेऽप्यतिचाराभिधानं व्रतसापेक्षस्याप्रणिधानातिक्रमादिना प्रवृत्तौ द्रष्टव्यमिति प्रथमः ॥ १ ॥

तेन सम्बद्धं सचित्तेनोपश्लिष्टं सचेतनवृक्षादिना संबद्धं गोन्दादिकं पक्कफलादिकं वा सचित्तान्तर्बीजं खर्जूराम्रादि च तद्भक्षणं हि सचित्तभोजनवर्जकस्य प्रमादादिना सावद्याहारप्रवृत्तिरूपत्वादति-  
चारः । अथवा बीजं त्यक्ष्यामि तस्यैव सचेतनत्वात् कटाहं तु भक्षयिष्यामि तस्याचेतनत्वादिति बुद्ध्या पक्कं खर्जूरदिफलं मुखे प्रक्षिपतः सचित्तवर्जकस्य सचित्तप्रतिबद्धाहारोऽसौ द्वितीयः ॥ २ ॥

सम्मिश्रं तेन सचित्तेन व्यतिकीर्णं विभक्तुमशक्यं सूक्ष्मजन्तुक-  
मित्यर्थः । अथवा सचित्तशबलं तत्संमिश्रं यथा आर्द्रकदाडिमबीज-  
चिर्भटादिमिश्रं पूरणादिकं तिलमिश्रं च यवधानादिकं अयमपि पूर्ववदतिचारस्तृतीयः ॥ ३ ॥

दुष्पक्कं सान्तस्तण्डुलभावेन अतिक्लेदनेन वा दुष्टं पक्कं मन्दपक्कं वा दुष्पक्कं, तच्चार्षस्विन्नं पृथुकतण्डुलयवगोधूमस्थूलमण्डकफलादिक-  
मामदोषावहत्वेनैहिकप्रत्यवायकारणं । तथा यावतांशेन तत्सचेतनं तावता तत्परलोकमप्यपहन्ति । पृथुकादेर्दुष्पक्कतया किञ्चित्सचेतना-  
वयवत्वात्पक्त्वाच्च चेतनाचेतनमिति भुञ्जानस्यातिचारश्चतुर्थः ॥ ४ ॥

अभिषवं सौवीरादिद्रवं वा वृष्यं वा । अयमप्यतिक्रमादिनाऽ  
तिचारः पञ्चमः ॥ ५ ॥

चारित्रसारे पुनः सचित्ताद्याहाराणामतिचारत्वोपपादनार्थमिद-  
मुक्तं एतेषामभ्यवहरणे सचित्तोपयोग इन्द्रियमदवृद्धिर्वार्तादिप्रकोपो  
वा स्यात् । तत्प्रतीकारविधाने पापलेपो भवति । अतिथ-  
यश्चैनं परिहरेयुरिति ॥

अत्राह स्वामी यथा— विषयविषतोऽनुपेक्षाऽनुस्मृतिरतिलौल्य-  
मतिवृषानुभवौ ॥ भोगोपभोगपरिमा व्यतिक्रमाः पञ्च कथ्यन्ते ॥ १ ॥

विषयविषतो विषकरूपेषु विषयेषु अनुपेक्षा आदरो विषयानुभ-  
वात्तद्वेदनाप्रतीकारे जातेऽपि पुनरभीष्टाङ्गनासम्भाषणालिङ्गनाद्यवर्ज-  
नरूपः प्रथमः ॥ अनुस्मृतिस्तु तदनुभवात्तत्प्रतीकारे जातेऽपि पुनः  
पुनर्विषयाणां सौन्दर्यसुखसाधनत्वाद्यनुचिन्तनमत्यासक्तिहेतुत्वादति-  
चारः ॥ अतिलौल्यं अतिगृद्धिस्तत्परिहारे जातेऽपि पुनःपुनस्तद-  
नुभवाकांक्षेत्यर्थः ॥ अतितृषा कामिनीभोगादेरतिगृध्या प्राप्त्याकांक्षा ।  
अत्यनुभवो नियतकालेऽपि यदा भोगोपभोगावनुभवति तदा अ-  
त्यासक्त्याऽनुभवति, न पुनर्वेदनाप्रतीकारतयाऽतोऽतिचार इति ॥  
एतेऽपि चात्र ग्रन्थे परेऽप्युद्धास्तदत्यया इति वचनात्संगृहीता एव ॥

तद्वच्चेमेऽपि श्रीसोमदेवबुधाभिमताः— दुष्पक्कस्य निषिद्धस्य  
जन्तुसम्बद्धमिश्रयोः ॥ अवीक्षितस्य च प्राशस्तत्संख्याक्षतिकार-  
णम् ॥ १ ॥ अत्राह सिताम्बराचार्यः— भोगोपभोगसाधनं यद्व्यं  
ददुपार्जनाय यत्कर्म व्यापारस्तदपि भोगोपभोगशब्देनोच्यते  
कारणे कार्योपचारात् । ततः कोट्टपालनादिस्वरकर्मापि त्याज्यं ।  
तत्र स्वरकर्मत्यागलक्षणे भोगोपभोगव्रते अङ्गारजीविकादीन् पञ्चद-  
शातिचाराँस्त्यजेदिति । तदचारु । लोके सावद्यकर्मणां परिगणनस्य  
कर्तुमशक्यत्वात् । अथोच्यते अतिमन्दमतिप्रतिपत्त्यर्थं तदुच्यते  
तर्हि तान् प्रतीदमप्यस्तु । मन्दमतीन् प्रति पुनस्त्रसबहुधातविष-  
यार्थत्यागोपदेशेनैव तत्परिहारस्य प्रदर्शितत्वादिति ॥

अर्थ—सचित्तपदार्थ भक्षण करणें, सचित्तपदार्थांशीं  
संबंध पावलेले पदार्थ भक्षण करणें, सचित्तपदार्थांनीं  
मिसळलेले पदार्थ भक्षण करणें, ज्यांचें पचन व्हावें  
तसें झालें नाहीं असे पदार्थ भक्षण करणें व अभिषव  
भक्षण करणें हे पांच व्यापार करणारा व्रती श्रावक,  
त्या भोगोपभोगव्रताचा अतीचार करतो ( हे पांच व्यापार

केले असतां भोगोपभोगव्रताचा अतीचार होतो. ) ह्याचें स्पष्टीकरण असें—

१ ‘ सचित्तपदार्थ ह्यणजे सजीव पदार्थ हिरव्या रंगाची न पिकलेली कांकडी ( बाळक ) वगैरे पदार्थ खाऊं नयेत. कारण ते सजीव असल्याने त्यांच्या भक्षणापासून जीवाहेंवा होते. [ हे सजीवपदार्थ न खाण्याविषयीं येथें सांगण्याची मुर्तीच जरूर नव्हती. कारण, मागील १५ व्या श्लोकांत तसघात व बहुघात ह्याबद्दल केलेल्या निषेधानेंच प्रकृत सजीवपदार्थांच्या निषेधाची गती होते. ह्यणून ह्या श्लोकांत तोच निषेध पुनः केला असल्याने त्यास व्यर्थता येते. आणि दुसरें असें कीं, पूर्वीच हे पदार्थ खाण्याविषयीं स्पष्ट निषेध केला असतांही जर हे पदार्थ भक्षण केले तर व्रताचा भंगच झाला पाहिजे हें योग्य आहे, असें असून अतीचार होतो असें ह्यणणें अगदीं विरुद्ध दिसतें अशी शंका येथें संभवते. हें जरी खरें आहे, तथापि थोडा विचार केल्यानें ह्या शंकेचा सहज निरास होतो. तो असा— वर दाखविल्याप्रमाणें एकच निषेध दोन श्लोकांत आल्यानें दुसऱ्या श्लोकांतील निषेध व्यर्थ होतो हें ह्यणणें जरी संभवनीय आहे; तरी त्यापासून असा एक तर्क होतो कीं, पूर्वीच्या निषेधांत आणि ह्या निषेधांत कांहींतरी तात्पर्याचा फरक अवश्य असलाच पाहिजे. तो असा कीं, पूर्वी ज्या पदार्थांचा निषेध केला आहे ते पदार्थ बुद्धिपूर्वक भक्षण केले असतां व्रतभंग होतो हें पूर्वीच्या निषेधानें सिद्ध

होतें. आतां असें असून ज्यापेक्षां दुसऱ्या श्लोकांत पुनः निषेध केला आहे, त्यापेक्षां ते निषिद्ध पदार्थ जर न समजतां चुकीनें भक्षण केले, तर व्रतभंग न होतां अतिचार होतो, असेंच ह्याटलें पाहिजे. ह्याप्रमाणें विचार मनांत आला असतां पूर्वीची शंका सहज निघून जाते. आणि ग्रंथकारांचें असेंच तात्पर्य आहे. ] हा पहिला अतीचार झाला.

२ सचित्तपदार्थांशीं संबंध पावलेले पदार्थ भक्षण करणें हा दुसरा अतीचार होय. ह्यांतील 'सचित्त, शब्दाचाही अर्थ पूर्वीप्रमाणेंच सजीव असा करावयाचा आहे. ह्यास उदाहरण पकफल आंबा, खारीक वगैरे हें होय. कारण ह्या फलांत असलेलें बीज हा सजीवपदार्थ आहे, आणि बाकीचा ह्यणजे त्या बीजाहून निराळा राहिलेला भक्ष्य पदार्थ त्या सजीवपदार्थाशीं संबंध पावलेला पदार्थ आहे. ह्यणून ते पदार्थ, जर एकाद्या व्रती श्रावकानें प्रमादानें भक्षण केले तर निषिद्धपदार्थाच्या भक्षणाविषयीं त्याची प्रवृत्ती झाली असल्यानें तो अतिचार होईल. किंवा 'बीज हें सजीव आहे ह्यणून तें टाकून देतो, व वरील भक्षणयोग्य असलेला पदार्थच भक्षण करितो. कारण तो कांहीं सजीव नव्हे' अशा बुद्धीनें जर कोणी व्रती श्रावकानें एखादा खारीक वगैरे पदार्थ तोंडांत टाकिला तर तें सचित्तपदार्थाशीं संबंध असलेल्या पदार्थांचेंच भक्षण झाल्यामुळें अतिचार झाला.

३ सजीवपदार्थानें व्याप्त असलेले ह्यणजे ज्यांतील सजीव पदार्थाचा व बाकीच्या निर्जीव पदार्थाचा विभाग



करितां येत नाहीं असे पदार्थ भक्षण करणें, किंवा सचित्तपदार्थ ज्यांत मिसळले आहेत असे पदार्थ भक्षण करणें, हा तिसरा अतीचार होय. ह्याचें उदाहरण आलें, डाळिंबाचे दाणे, चिबूड किंवा तीळ ज्यांत मिसळले आहेत अशा लाह्या. हे पदार्थ कांहीं सजीव पदार्थांनीं व्याप्त आहेत; व कांहीं सजीवपदार्थ ज्यांत मिसळले आहेत असे आहेत. ह्मणून हे पदार्थही प्रमादानें भक्षण केले असतां अतीचार होतो. हा तिसरा अतीचार झाला.

४ दुष्पक्क ह्मणजे ज्यांचें पचन व्हावें तसें झालेलें नाहीं असे पदार्थ भक्षण करणें हा चवथा अतीचार होय. ह्याचें उदाहरण, ज्यांत तांदूळ शिजल्यावांचून तसेच राहिले आहेत, किंवा कच्चे शिजले आहेत, किंवा अतिशय शिजले आहेत असें अन्न. ह्यांत, अर्धेकच्चे पक्क झालेले व न पक्क झालेले असे तांदूळ, गहूं वगैरे पदार्थ असल्यानें त्यापासून आमदोष उत्पन्न होतात, हा ऐहिक दोष. व ते तांदूळ वगैरे पदार्थ, जेवढ्या अंशानें पक्क झाले नसतील, तेवढ्या अंशानें, ते सचेतनच असल्यामुळें, तितक्या अंशानें परलोकाचीहि हानी करितात, हा पारलौकिक दोष. ह्याप्रमाणें अपक्क अथवा अर्धपक्क अन्न भक्षण केल्यानें दोन प्रकारचे दोष होत. असल्या अन्नाच्या भक्षणांत प्रमाद असल्यास अतीचार होतो, नाहीं तर व्रतभंग होतो. पोहे, चुरमुरे, हे पदार्थही दुष्पक्क आहेत ह्मणजे अधिक शिजलेले असतात. ह्मणून ह्यांच्या भक्षणानें देखील अतीचार होतो. हा चवथा अतीचार झाला.

५ अभिषव ह्मणजे पातळ पदार्थ, ह्याचें उदाहरण,

आंबत ठेवलेली पेज, किंवा दुसरा एखादा वीर्यवर्धक पातळ पदार्थ ' उडदाच्या डाळीची खीर ' वगैरे हे पदार्थ भक्षण केले असतां अतीचार होतो, हा पांचवा अतीचार होय.

चारित्रसारांत सजीव पदार्थ भक्षण करणें हा अतीचार आहे असें युक्तीनें दाखविण्याकरितां असें लिहिलें आहे कीं— भोजनांत सजीव, अपक्व, अथवा अर्धपक्व अशा पदार्थांचा उपयोग केला असतां इंद्रियें अनावर होतात, व वातप्रकोपादिकही होतात. त्यांच्या उपशमाकरितां कांहीं औषधोपचार करावा तर पुनः वनस्पती वगैरे सजीव पदार्थांची हिंसा होऊन पापसंपादन होतें. ह्मणून व्रती मनुष्यानें अशा प्रकारच्या आहाराचा अवश्य त्याग करावा. श्रीसमंतभद्रस्वामींनीं जे अतीचार लिहिले आहेत, ते पूर्वीपेक्षां निराळे आहेत. ते असे—

विषयविषतोऽनुपेक्षाऽनुस्मृतिरतिलौल्यमतितृषानुभवौ ॥  
भोगोपभोगपरि माव्यतिक्रमाः पञ्च कथ्यन्ते ॥ १ ॥ ह्या कारिकेचा अर्थ— विषाप्राप्त्येन असलेल्या विषयांची उपेक्षा न करणें, ह्मणजे स्त्रीसंभोगानें वेदनेची निवृत्ती झाली असतांही पुनः आपल्यास अत्यंत प्रिय असलेल्या स्त्रीबरोबर संभाषण करणें, आलिंगन करणें वगैरे व्यापारांचा त्याग न करणें, हा प्रथमातिचार होय. तसेंच विषयसंभोगानें एकदा वेदनेचा परिहार झाला असूनही पुनः त्याच विषयाचें सौंदर्य, सुखसाधनत्व ह्याचें चिंतन करणें, हें अत्यासक्तीचें साधन आहे, ह्मणून, हा दुसरा अतिचार होय. अतिलौल्य ह्मणजे ज्याच्या

अनुभवानें वेदनाशांति झाली त्याच विषयाच्या पुनः-  
पुनः अनुभवाची इच्छा करणें, हा तिसरा अतीचार.

आतितृषा ह्मणजे पुढें सहज प्राप्त होणारा विषय  
अधाशीपणामुळें ह्यावेळीं मिळावा अशी इच्छा करणें, हा  
चवथा अतीचार. आणि अत्यनुभव ह्मणजे नियमि-  
तकालीं जो विषयानुभव करावयाचा तो केवळ वेदना  
शांत होण्याकरितांच न करता, अत्यासक्तीनें करणें, हा  
पांचवा होय. ह्या ग्रंथांत “ परेऽप्युह्यास्तदत्ययाः ॥

ह्मणजे दुसरेही कित्येक व्यापार त्या व्रताचे अतीचार  
होतात, ते तर्कानें समजावे अशा वाक्यानें ह्या सर्व  
अतीचारांचा संग्रह केलेला आहे. तसेंच श्रीसोमदेव  
पंडिताच्या मतानें ‘ दुष्पक, निषिद्ध, जंतुसंबंध, जंतुमिश्र  
व अवीक्षित ’ यांचें सेवन हे पांच अतीचार ठरविलेले  
आहेत. आतां सितांबराचार्यांचें ह्मणणें असें आहे  
कीं- भोगोपभोगांस साधनीभूत जें द्रव्य, त्याच्या संपा-  
दनाकरितां जो व्यापार, तोही भोगोपभोगशब्दानेंच  
ग्रहण करावा. ह्मणजे तसा अर्थ मानिल्यानें दुर्गरक्ष-  
काचे व्यापार ( किल्ल्याचें रक्षण करण्याकरितां नेम-  
लेल्या पुरुषाचें काम ) हें भोगोपभोगास साधनीभूत  
असलेल्या द्रव्याचें साधक असून क्रूरकर्म आहे, तेंही  
त्याज्य ठरतें. व ह्यावरून अशाच प्रकारचीं असलेलीं  
अग्निजीविका वगैरे पंधरा प्रकारचीं क्रूर कर्मे, त्याज्य  
ठरतात. आणि असें केल्यानें तुमच्या ग्रंथांत ज्या  
त्याज्य कर्मांचा संग्रह झाला नाही, त्यांचा संग्रहही  
केल्यासारखा होतो वगैरे. परंतु ह्या कल्पनेनें मुळींच

संतोष होत नाही. कारण, ह्या कल्पनेत क्रूरकर्मे पंधरा प्रकारचीं मानिलीं आहेत, पण जगांतील दुष्कर्मे इतकींच आहेत असें ठरविणें अगदींच अशक्य आहे. आतां 'अतिमंदबुद्धि लोकांस कळण्याकरितां आह्मी तसें ह्मणतो' असें जर सितांबराचार्य ह्मणत असतील, तर आमची हरकत नाही. कारण आमच्या व्याख्यानांतील ज्या ठिकाणीं त्रसाघात व बहुघात ह्यांच्या त्यागाविषयीं उपदेश केला आहे, त्या ठिकाणीं मंदबुद्धि जीवांस समजण्याकरितां क्रूरकर्मत्यागाचाही त्यांतच अंतर्भाव होत असल्याचें दाखविलें आहे. त्यामुळे मंदबुद्धिजीवांच्या जिज्ञासेची निवृत्ती होणें शक्य आहे. आतां राहिलेले जे अतिमंदबुद्धिजीव त्यांच्याकरितां तुमचा हा खटाटोप आहेच आहे. [एकंदरीत सितांबराचार्यांचें पांडित्य व्यर्थ आहे, असें तात्पर्य.]

एतदेव श्लोकत्रयेण संगृह्यन्नाह—

हेंच तात्पर्य पुढल्या तीन श्लोकांनीं थोडक्यांत वर्णन करितात.

व्रतयेत्स्वरकर्मात्र ।

मलान् पञ्चदश त्यजेत् ॥

वृत्तिं वनग्न्यनस्फोट- ।

भाटकैर्यन्त्रपीडनम् ॥ २१ ॥

निर्लाञ्छनासतीपोषौ ।

सरःशोषं दवप्रदाम् ॥

विषलाक्षादन्तकेश- ।

रसवाणिज्यमङ्गिरुक् ॥ २२ ॥

इति केचिन्न तच्चारु ।

लोके सावद्यकर्मणाम् ॥

अगण्यत्वात्प्रणयं वा ।

तदप्यतिजडान् प्रति ॥ २३ ॥

टीका—व्रतयेत् प्रत्याख्यायाच्छ्रवकः । किं तत् खरकर्म  
खरं क्रूरं प्राणिबाधकं कर्म व्यापारं । तथा त्यजेत् तद्व्रती । कान्  
मलान् कर्मादानसञ्ज्ञान् । कति पञ्चदश वृत्तिमित्यादिना निर्दि-  
ष्टान् । क्व अत्र खरकर्मव्रते । अत्र तावत् वृत्तिं जीविकां त्यजेत् ।  
कैः वनाग्न्यनःस्फोटभाटकैः वनं चामिश्र अनश्च स्फोटश्च  
भाटकं च तैः पञ्चभिः । तथा यन्त्रपीडनं त्यजेत् । तथा निर्ला-  
ञ्छनासतीपोषौ त्यजेत् निर्लाञ्छनं चासतीपोषश्चेति द्वन्द्वः ।  
तथा सरःशोषं त्यजेत् । तथा दवप्रदां दवदानं त्यजेत् । तथा  
विषादिवाणिज्यपञ्चकं त्यजेत् । किंविशिष्टमङ्गिरुक् प्राणिबाधकं ॥

तत्र वनजीविका छिन्नस्याच्छिन्नस्य वा वनस्पतिसमूहादेर्विक्र-  
येण तथा गोधूमादिधान्यानां धरदृशिलादिना पेषणेन दलनेन  
वा वर्तनम् ॥ १ ॥

अग्निजीविका अङ्गारजीविकास्या षड्जीवनिकायविराधनाहेतुना  
अङ्गारकरणाद्यग्निकर्मणा जीवनं ॥ २ ॥

अनोजीविका शकटजीविका शकटरथतच्चक्रादीनां स्वयं परेण  
वा निष्पादनेन वाहनेन विक्रयणेन वृत्तिर्बहुभूतग्रामोपमर्दिका  
गवादीनां च बन्धादिहेतुः ॥ ३ ॥

स्फोटजीविका उडादिकर्मणा पृथिवीकायिकाद्युपमर्दहेतुना  
जीवनं ॥ ४ ॥

भाटकजीविका शकटादिभारवाहनमूल्येन जीवनं ॥ ५ ॥

यन्त्रपीडाकर्म तिलयन्त्रादिपीडनं तिलादिकं च दत्त्वा तैलादि-  
प्रतिग्रहणम् । तत्कर्मणश्च पीलनाय तिलादिक्षोदात्तद्रुतत्रसघाताच्च  
दुष्टत्वं ॥ ६ ॥

निर्लाञ्छनं निर्लाञ्छनकर्म वृषभादेर्नासावेधादिना जीविका ।  
निर्लाञ्छनं नितरां लाञ्छनमङ्गावयवच्छेदः ॥ ७ ॥

असतीपोषः प्राणिघ्नप्राणिपोषो भाटिग्रहणार्थं दासपोषश्च ॥ ८ ॥

सरःशोषो धान्यवपनाद्यर्थं जलाशयेभ्यो जलस्य सारण्या  
कर्षणं । तत्र च जलस्य तद्गतानां त्रसानां तत्पालितानां च षण्णां  
जीवनिकायानां घात इति दूष्यत्वम् ॥ ९ ॥

वधदानं दावाग्नेस्तृणादिदहनार्थं वितरणं । तच्च फलनिरपेक्ष-  
तात्पर्याद्वेनेचरैर्वाहिज्वालनं व्यसनजमुच्यते । पुण्यबुद्धिजं तु यथा  
मदीये मरणकाले ह्यन्तो मम श्रेयोऽर्थं दीपोत्सवाः करणीया इति  
पुण्यबुद्ध्या क्रियमाणं । तृणदाहे सति नवतृणांकुरोद्भेदाद्वावश्चर-  
न्तीति वा क्षेत्रे वा सस्यसम्पत्तिवृद्धयेऽग्निज्वालनं । अत्र जीवकोटी-  
नां वधो व्यक्त एव ॥ १० ॥

विषवाणिज्यं जीवघ्नवस्तुविक्रयः ॥ ११ ॥

लाक्षावाणिज्यं लाक्षाविक्रयणं । लाक्षायाः सूक्ष्मत्रसजन्तुघाता-  
नन्तकायिकप्रवालजालोपमर्दाविनाभाविना स्वयोनिवृक्षादुद्धरणेन  
टङ्कणमनःशिलासकूमालिप्रभृतीनां बाह्यजीवघातहेतुत्वेन गुग्गुलि-  
काया जन्तुघाताविनाभावित्वेन धातकीपुष्पत्वचश्च मद्यहेतुत्वेन  
तद्विक्रयस्य पापाश्रयत्वात् ॥ १२ ॥

दन्तवाणिज्यं हस्त्यादिदन्ताद्यवयवानां पुलिन्दादिषु द्रव्यदानेन तदुत्पत्तिस्थाने वाणिज्यार्थं ग्रहणं । ते हि तथा ग्रहणे तत्प्रतिक्रयार्थं हस्त्यादिवधं कुर्वन्ति । अनाकारे तु दन्तादिक्रयविक्रये न दोषः ॥ १३ ॥

केशवाणिज्यं द्विषदादिविक्रयः । तत्र च दोषः तेषां पारवश्य-  
वधबन्धादयः क्षुत्पिपासापीडा चेति ॥ १४ ॥

रसवाणिज्यं नवनीतादिविक्रयः । नवनीते हि जन्तुसमूच्छन्नं ।  
मधुवसामद्यादौ तु जन्तुघातोद्भवत्वं । मद्येन मदजनकत्वं तद्गत-  
क्रिमिविघातश्चेति तद्विक्रयस्य दुष्टत्वं ॥ १५ ॥

इति केचित् एवं सिताम्बराचार्या उवते । न तच्चारु तदसुन्दरं ।  
कुत अगण्यत्वात् परिसंख्यातुमशक्यत्वात् । केषां सावद्यकर्मणां  
सपापक्रियाणां । क लोके व्यवहारार्थिजने वर्तमानानां । प्रणयं  
वा प्रतिपाद्यं वा । किं तत् तदपि स्वरकर्मव्रतमपि । कथं प्रति  
उद्दिश्य । कान् अतिजडान् अतिमुग्धबुद्धीन् । जडान् प्रति  
त्रसबहुघातेत्यादिनैवोक्तत्वादिति भावः ॥ इति गुणव्रतप्रकरणम् ॥

अर्थ— व्रत करणाऽप्या श्रावकाने ह्या भोगोपभोग-  
परिमाणव्रतांत ज्यापासून कोणत्याही जीवांस पीडा होईल  
अशा प्रकारचा कूरकर्माचा त्याग करावा. आणि वन-  
जीविका, अग्निजीविका, अनोजीविका, भाटकजीविका,  
यंत्रपीडन, निर्लाछन, असतीपोष, सरःशोष, दवप्रदा,  
ज्यापासून कोणत्याही जीवांस पीडा होईल अशा प्रका-  
रचें विषवाणिज्य, लाक्षावाणिज्य, दन्तवाणिज्य, केश-  
वाणिज्य आणि रसवाणिज्य ह्या कर्मादानसंज्ञक पंधरा  
मलांचा— (दुष्कर्मांचा)—ही त्याग करावा. असें कित्ये-

कांचें (सितांबराचार्यांचें) ह्मणणें आहे. परंतु त्यांत मुळींच चमत्कार नाही.

कारण, जगांत दुष्कर्म इतकींच आहेत (पंधराच आहेत) अशी संख्या ठरावितां येत नाही. बरें, अति मंदबुद्धी अशा लोकांस 'अमुक व्यापार दुष्कर्म आहे, असें समजण्याकरितां हें वरील सितांबराचार्यांचें पांडित्य आहे ह्मणावें तर, पूर्वी (पलमधुमद्यवदखिल ह्या श्लोकांत) 'त्रसजीव व स्थावरजीव ह्यांची ज्यापामून हिंसा होईल अशा प्रकारचे व्यापार ह्मणजे द्रव्यलाभाकरितां करावीं लागणारीं क्रूरकर्म ह्यांचा त्याग करावा ' असें सांगितलें असल्यानें सितांबराचार्यांच्या ह्मणण्याचा ह्यांत स्पष्टच समावेश होतो आहे. ह्मणून वरील विवेचन निष्फल ठरतें. आतां अतिमंदबुद्धिजीवांस ज्ञान होण्याकरितांच जर तें विवेचन असेल, तर मात्र आमची हरकत नाही. ह्यांतील शब्दांचे अर्थ—

१ 'वनजीविका' ह्मणजे तोडलेल्या किंवा न तोडलेल्या वनस्पती विकून, अथवा गहूं, जोंधळे वगैरे धान्ये दळून किंवा कांडून उपजीविका करणें. ह्या व्यापारांत त्रसजीवांची हिंसा होते हें व्यक्तच आहे.

२ 'अग्निजीविका' ह्मणजे, सहा प्रकारच्या जीविकायांस पीडा करणाऱ्या 'अग्नि पेटविणें' ह्या क्रियेनें जीवन करणें. ह्यास अंगारजीविका असें दुसरें नांव आहे.

३ 'शकटजीविका' ह्मणजे, गाडी रथ इत्यादिकांचीं चाकें वगैरे सामान, आपण स्वतः तयार करून, अथवा दुसऱ्याकडून तयार करवून ते विकून उपजीविका करणें. ह्यापामून अनेक जीवांचा घात होतो, तसेंच



बैल बगैरेंचे बंधनादि व्यापारहि करावे लागत असल्याने त्यांनाहि पीडा होते. हें स्पष्ट आहे.

४ ' स्फोटजीविका ' ह्मणजे, ज्यापासून पृथ्वी-कायिकादि जीवांचा नाश होतो असे किल्ले बांधणें, भिंती बांधणें वगैरे व्यापार करून उपजीविका करणें.

५ ' भाटकजीविका ' ह्मणजे, गाडी वगैरेवरून ओझें वाहून त्याबद्दल भाडें घेऊन जीवन करणें.

६ ' यंत्रपीडन ' ह्मणजे तीळ वगैरे पदार्थ यंत्रांत घालून, त्यांस रगडणें. किंवा दुसऱ्याकडून तसें कराविणें ह्या व्यापारांत तिळादिकांस रगडण्यानें त्यांत असलेल्या त्रसजीवांची हिंसा होते. ह्मणून, हा व्यापार दुष्कर्म आहे.

७ ' निर्लीछान ' शरीराच्या अवयवांचा छेद किंवा भेद करणें. उदाहरण बैलाचें नाक टोंचणें, मुलांचे कान टोंचणें वगैरे.

८ ' असतीपोष ' ह्मणजे दुसऱ्या प्राण्यास मारणारे असे मांजर, कुत्रे वगैरे प्राणी बाळगणें किंवा जीच्यावर कोणत्याही प्रकारानें भाडें उत्पन्न करितां येईल अशी एखादी दासी बाळगणें.

९ ' सरःशोष ' ह्मणजे धान्य पिकविणें वगैरे कामां-करितां एखाद्या तलाव, विहीर, आड इत्यादि जलाशयांतून, मोरीनें अथवा दुसऱ्या कोणत्याहि उपायानें पाणी काढून घेणें. हा व्यापार केल्यानें जलकायिकजीव व जलांत असलेले त्रसजीव आणि जलाच्या योगानेंच ज्यांचें जीवन होतें असे दुसरे जीव ( मासे वगैरे ) इतक्यांची हिंसा होते. ह्मणून, हा व्यापारही दुष्ट आहे.

१० ' दवप्रदा ' ह्यणजे, रानांतील गवत वगैरे जळून जावें ह्यणून, वणवा पेटविणें. हें दोन प्रकारांनीं संभवतें. एक व्यसनानें ( संवयीमुळें ) उदाहरण आपला कोणत्याही प्रकारचा फायदा नसतां रानांतील लोकांकडून रान पेटविणें. आणि दुसरें पुण्यबुद्धीनें. उदाहरण; कांहीं मादक-द्रव्य सेवन केल्यानें मृत्यु प्राप्त झाला असतां त्यावेळीं एखादा मनुष्य अविचारानें असें ह्यणतो कीं माझ्या पारलौकिककल्याणाकरितां इतके दीपोत्सव करावेत. तसेंच एखाद्यानें हें तृण जाळून टाकिलें असतां पुनः नवीन अंकुर फुटून त्यांत पशू चरतील अशा समजुतीनें रान पेटविणें. किंवा धान्य यावें ह्यणून जमीन जाळणें इत्यादि. ह्यांत जीवनाश स्पष्टच आहे.

११ ' विषवाणिज्य ' ह्यणजे, जीवघातास साधनी-भूत असलेल्या विषादि वस्तूंचा विक्रय.

१२ ' लाक्षावाणिज्य ' ह्यणजे, लाख वगैरे वस्तूंचा विक्रय. ह्यांत लाख ही तिचें उत्पत्तिस्थान जें झाड त्यापासून काढावी लागते. आणि ती काढण्याच्या वेळीं अनेक त्रसजीवांचा घात होतो. तसेंच अनंतकायिक जीवस्वरूप असलेल्या पानांचाहि नाश होतो. ' लाक्षा-वाणिज्य ' ह्या शब्दांतील ' लाक्षा ' शब्दानें केवल लाख ह्याच अर्थार्थें ग्रहण करावयाचें नसून लाक्षेप्रमाणेंच ज्यापासून जीवाहिंसा होणें शक्य आहे अशा दुसऱ्याही कित्येक वस्तूंचें ग्रहण करावयाचें आहे. ह्यणजे लाक्षा शब्दाचा अर्थ लाक्षा व लाक्षेप्रमाणेंच असलेल्या दुसऱ्या कित्येक वस्तू असा करावयाचा आहे. तशा प्रकारच्या

दुसऱ्या वस्तू ह्मणजे ढिंक, टाकणखार, मनशीळ वगैरे पदार्थ काढावयाच्या वेळीं देखील ह्या पदार्थास चिकटून असलेल्या त्रसजीवांचा वध होतो. तसेंच गुग्गुळ हा जीवहिंसेवांचून होतच नाही, असा आहे. व धायटीचीं फुलें हीं मद्य करण्यास उपयोगीं पडतात. मिळून हे सर्व पदार्थ हिंसेला साधनीभूत आहेत, ह्मणून ह्यांच्या विक्रयानें पापास्रव होतो.

१३ ' दंतवाणिज्य ' हस्तिदंत, वाघनखें वगैरे पदार्थ ज्या ठिकाणीं हस्तींचीं अरण्यें असतील व वाघाचीं जंगलें असतील त्या ठिकाणीं, दुसऱ्यास विकण्याकरितां त्या त्या जनावरांची शिकार करणाऱ्या लोकांकडून विकत घेणें. असें केलें असतां ते शिकार करणारे भिल्ल कोळी वगैरे लोक, ह्या पदार्थांच्या विक्रीकरितां त्या त्या पशूंचा वध करितात. व तें कृत्य त्यांजकडून आपण करविल्यासारखें होतें. ज्या ठिकाणीं ह्या जनावरांचीं अरण्यें नसतील अशा ठिकाणीं वरील पदार्थ विकत घेऊन दुसऱ्यास विकले असतां दोष नाही. कारण ज्या ठिकाणीं तशीं अरण्यें नसतील त्या ठिकाणीं हे पदार्थ मिळावयाचे ह्मणजे ते पशू—आपोआप मेल्यावांचून मिळावयाचे नाहीत. ह्मणून, त्यापासून हिंसेला मदत केल्यासारखें होत नाही.

१४ ' केशवाणिज्य ' ह्मणजे, मनुष्य, पशू वगैरे प्राणी विकणें. ह्यांत त्या जीवांस परतंत्र रहावें लागतें, व त्यांचा वध किंवा बंधन हींहि होतात, आणि त्यांना क्षुधा, तृषा वगैरेंची पीडा होते.

१५ 'रसवाणिज्य' ह्मणजे, लोणी वगैरे पदार्थ विक्रम. लोण्यांत अनंत त्रसजीवांची व्याप्ती असते, हें प्रसिद्ध आहे. मध, मेंदू व चरबी हे पदार्थ प्राणिवध केल्यावांचून मिळत नाहीत. आणि मद्य हें भ्रांति उत्पन्न करणारें आहे. ह्मणून हे पदार्थ विक्रम नयेत.

अथ शिक्षाव्रतविधानार्थमाह--

आतां; शिक्षाव्रतांच्या कर्तव्याविषयीं सांगतात.

शिक्षाव्रतानि देशाव- ।

काशिकादीनि संश्रयेत् ॥

श्रुतचक्षुस्तानि शिक्षा- ।

प्रधानानि व्रतानि हि ॥ २४ ॥

टीका—संश्रयेत् प्रतिपद्येत श्रावकः । कानि शिक्षाव्रतानि शिक्षा विद्योपादानं, शिक्षाप्रधानानि व्रतानि शिक्षाव्रतानि । किंविशिष्टानि देशावकाशिकादीनि देशावकाशिकं, सामयिकं, प्रोषधोपवासं, अतिथिसंविभागं च । कथम्भूतो भूत्वा श्रुतचक्षुः श्रुतज्ञानलोचनः । कुत इत्याह— हि यस्मात् । भवन्ति । कानि तानि व्रतानि । किंविशिष्टानि शिक्षाप्रधानानि ॥

अर्थः—शास्त्रज्ञानरूपी नेत्र ज्याला प्राप्त झाले आहेत ( ज्याला शास्त्रज्ञान आहे ) अशा श्रावकानें, देशावकाशिक वगैरे शिक्षाव्रतें अवश्य स्वीकारावीत. तीं व्रतें ज्यांत विद्यासंपादन करणें हें कृत्य मुख्य आहे अशीं आहेत.

देशावकाशिकं निरुक्त्या लक्षयति—

आतां; देशावकाशिक शब्दाचा अर्थ दाखवून, त्याचें स्वरूप दाखवितात.

दिग्रतपरिमितदेशवि- ।

भागेऽवस्थानमस्ति मितसमयम् ॥

यत्र निराहुर्देशा- ।

वकाशिकं तद्व्रतं तज्ज्ञाः ॥ २५ ॥

टीका—निराहुः प्रकृतिप्रत्ययादिविभागेन निश्चितं भ्रुवन्ति । के तज्ज्ञाः तद्व्रतनिर्वचनविदः । किं तद्व्रतं । किमारूयं देशावकाशिकं देशे दिग्रतगृहीतपरिमाणस्य क्षेत्रस्य विभागे अवकाशोऽवस्थानं देशावकाशः, सोऽस्मिन्नस्तीति । यत्र यस्मिन् व्रते । अस्ति विद्यते । किं तदवस्थानमवस्थितिः श्रावकस्य । क दिगित्यादि-दिग्रते परिमितः प्रतिपन्नपरिमाणो देशः क्षेत्रं दिग्रतपरिमितदेशस्तस्य विभागस्तत्काले स्वावस्थानविषयकृतोऽशस्तस्मिन् । किंविशिष्टमवस्थानं मितसमयं परिमितकालं ॥

अर्थः—ज्या व्रतांत दिग्रतामुळें संकुचित केलेल्या प्रदेशांतील एका विभागांतच कांहीं परिमित कालपर्यंत राहावयाचें असतें, त्या व्रतास,—त्या व्रताचें स्वरूप ज्यांना माहीत आहे अशा प्रकारचे लोक, 'देशावकाशिकव्रत' असें म्हणतात.

तद्व्रतयुक्तं लक्षयति—

आतां ; देशावकाशिकव्रती कोणास म्हणावें तें सांगतात.

स्थास्यामीदमिदं याव- ।

दियत्कालमिहास्पदे ॥

इति सङ्कल्प्य सन्तुष्ट- ।

स्तिष्ठन्देशावकाशिकी ॥ २६ ॥

टीका—भवति । कोऽसौ श्रावकः । किंविशिष्टो देशवकाशिकी । किं कुर्वन् तिष्ठन् लक्षणहेत्वोः क्रियाया इति शतृच् । कालपरिच्छित्या नियतदेशे सन्तुष्टतयाऽवस्थानेन देशवकाशिकव्रतित्वपरिमाणस्य लक्ष्यमाणत्वात् । किं कृत्वा सङ्कल्प्य मनसा सम्प्रधार्य । कथं इति । किमिति स्थास्यामि स्थितिं करिष्याम्यहं । क इहास्मिन्नास्पदे स्थाने । कथं इदमिदं यावत् गृहागिरिग्रामादिमवधिं कृत्वा । कियत्कालं इयत्कालं घटिकादिप्रहरदिनादिमात्रं । किंविशिष्टः सन् सन्तुष्टः सीमभ्यो बहिर्निगृहीततृष्णः सन् । दिग्भ्रतवदस्यापि नियमितदेशाद्बहिर्लोभनिग्रहेण हिंसादीनां च सर्वशो निवर्तनेनात्र फलवत्त्वात् अमुत्राज्ञैश्वर्यसम्पादकत्वाच्च सुतरां करणीयत्वं । शिक्षाव्रतत्वं चास्य शिक्षाप्रधानत्वात्परिमितकालभावित्वाच्चोच्यते । न खल्वेतदिग्भ्रतवद्यावज्जीविकमपीष्यते ॥ यत्तु तत्त्वार्थादौ गुणव्रतत्वमस्य श्रूयते तदिग्भ्रतसंक्षेपलक्षणत्वमात्रस्यैव विवक्षितत्वाल्लक्ष्यते । दिग्भ्रतसंक्षेपकरणं चात्रागुणव्रतादिसंक्षेपकारणस्याप्युपलक्षणं द्रष्टव्यं । एषामपि संक्षेपस्यावश्यकर्तव्यत्वात्प्रतिव्रतं च संक्षेपकरणस्य । भिन्नव्रतत्वे गुणाः स्युर्द्वादशेति संख्याविरोधः स्यात् ॥

अर्थः— ‘अमुक मर्यादेच्या आंतील ह्या स्थानावर, मी इतका कालपर्यंत राहीन ’ असा मनाचा निश्चय करून जो श्रावक संतुष्ट ( मर्यादेच्या बाहेर जाण्याविषयीं इच्छा न करणारा ) असा रहातो, तो श्रावक, देशवकाशिकव्रत करणारा होय.

तद्व्रतातिचारत्यागार्थमाह—

आतां; ह्या व्रताच्या अतीचारांचा त्याग करण्याकरितां सांगतात.

पुद्गलक्षेपणं शङ्क- ।

श्रावणं स्वाङ्गदर्शनम् ॥

प्रैषं सीमबहिर्देशे ।

ततश्चानयनं त्यजेत् ॥ २७ ॥

टीका—त्यजेत् तद्व्रतनैर्मल्यार्था । किं पुद्गलक्षेपणादिपञ्चकं । तत्र पुद्गलक्षेपणं परिगृहीतदेशाद्वहिः स्वयमगमनात्कार्यार्थितया व्यापारकारकाणां चोदनाय लोष्टादिप्रेरणं ॥ १ ॥ शङ्कश्रावणं शङ्कस्याभ्युत्काशिकादेः श्रावणमाव्हानीयानां श्रोत्रेऽनुपातनं । शङ्कानुपातनं नामातिचारमित्यर्थः ॥ २ ॥ स्वाङ्गदर्शनं शङ्कोच्चारणं विना आव्हानीयानां दृष्टौ स्वरूपस्यानुपातनं रूपानुपाताख्यमतिचारं । एतत् त्रयं मायावितयाऽतिचारत्वं याति ॥ ३ ॥ प्रैषं मर्यादीकृतदेशे स्थित्वा ततो बहिःप्रेष्यं प्रत्येवं कुर्विति व्यापारणं । देशावकाशिकव्रतं हि मा भूद्गमनागमनादिव्यापारजनितः प्राण्युपमर्द इत्यभिप्रायेण गृह्यते । स तु स्वयंकृतोऽन्येन कारित इति न कश्चित्फलविशेषः । प्रत्युत स्वयं गमने ईर्यापथविशुद्धेर्गुणः । परस्य पुनरनिपुणत्वादीर्यासमित्यभावे दोष इति प्रेष्यप्रयोगं नाम चतुर्थमतिचारं त्यजेदिति सर्वत्र योज्यम् ॥ ४ ॥ ततश्चानयनं सीमबहिर्देशादिष्टवस्तुनः प्रेष्येण विवक्षितक्षेत्रे प्रापणं । चशङ्केन सीमबहिर्देशे स्थितं प्रेष्यं प्रति इदं कुर्वित्याज्ञापनं वा । एतौ चाव्युत्पन्नबुद्धितया सहसाकारादिना वाऽतिचारौ स्तः । सर्वत्र च—सापेक्षस्य व्रते हि स्यादतिचारोऽशमञ्जनम्— इत्युपजीवम् ॥

अर्थः—देशावकाशिकव्रत करणाच्या श्रावकानें पुद्गलक्षेपण वगैरे पांच क्रियांचा त्याग करावा. ( कारण त्या क्रिया केल्याने व्रताचा अतीचार होतो. ) त्या पांच क्रिया येणेप्रमाणें.

१ ' पुद्गलक्षेपण ' ह्मणजे, नियमित प्रदेशाच्या बाहेर असलेल्या लोकांस कांहीं काम करावयास लावण्याच्या हेतूने त्यांना सुचविण्याकरितां, आपण बसलेल्या जाग्यावरून ढेंकूळ, दगड वगैरे फेंकणें.

२ ' शब्दश्रावण ' ह्मणजे, आपल्या मर्यादेच्या बाहेर असलेल्या लोकांस आपल्याकडे बोलावण्याच्या हेतूने त्यांना ऐकूं जाईल अशा रीतीने चिटकी, टाळी वगैरे वाजविणें. ह्यालाच शब्दानुपातन नांवाचा अतीचार असेंही ह्मणतात.

३ ' स्वांगदर्शन ' ह्मणजे, आपण बोलावितों असें समजविण्याकरितां, शब्दोच्चार न होऊं देतां, ज्यास बोलवावयाचें असेल त्यास आपलें शरीर अथवा शरीराचा अवयव दाखविणें ( आपण त्याच्या दृष्टी पडणें ) ह्यास रूपानुपातनातीचार असेंही ह्मणतात. हे तीनहि व्यापार ते करणाऱ्याच्या मनांत जर कांहीं कपट असेल तरच अतीचार समजावेत; आणि जर कांहीं कपट नसेल-तर ( ते व्यापार सहज घडले असतील तर ) अतीचार होत नाहीत. हा ह्यांत विशेष आहे.

४ ' प्रेष ' ह्मणजे, आपण पूर्वी मर्यादित केलेल्या प्रदेशांत राहून, सीमेच्या बाहेरील प्रदेशांत असलेलें आपलें काम करण्याविषयीं ' हें काम कर ' अशी सेवकास आज्ञा करणें. वस्तुतः पाहिलें असतां, व्रत हें येणें जाणें ह्या व्यापारांनीं हिंसा होऊं नये अशा अभिप्रायानें स्वीकारलेलें असतें. ती हिंसा आपण करण्यांत आणि दुसऱ्याकडून करविण्यांत दोष अधिक आहे. कारण



व्रती श्रावकानें मर्यादातिक्रम केला असतां ईर्यापथशुद्धि केली असल्यानें दोष कमी संभवतो. आणि दुसऱ्या-कडून करविण्यांत ईर्यासमिति नसल्यानें दोष अधिक होतो. ह्यालाच 'प्रेष्यप्रयोग' असेंहि ह्मणतात. ५ 'आनयनं' ह्मणजे आपल्यास इष्ट असलेली कोणतीहि वस्तू, सीमेच्या बाहेर असल्यास दुसऱ्याकडून आपल्या सीमेंत आणणें किंवा 'सीमेच्या बाहेरील वस्तू आंत आण' असें सेवकांस सांगणें. चवथा व पांचवा हे दोन अतीचार, धर्माचें ज्ञान चांगलें नसल्यामुळें, किंवा अविचारामुळें होतात. वरील पांचहि क्रिया व्रतसापेक्षश्रावका-कडून जर घडल्या असतील तरच त्या अतिचारस्वरूप होतात, आणि जर व्रतापेक्षा नसेल तर व्रतभंग होतो.

अप्ररूपितस्वरूपस्यानुष्ठानं न स्यादिति सामायिकस्वरूपं प्ररूपयति—

आतां; ज्याचें स्वरूप समजलें नाहीं तें कृत्य होणें शक्य नाहीं, ह्मणून, प्रथम सामायिकाचें स्वरूप दाखवितात.

एकान्ते केशबन्धादि- ।

मोक्षं यावन्मुनेरिव ॥

स्वं ध्यातुः सर्वहिंसादि- ।

त्यागः सामायिकव्रतम् ॥ २८ ॥

टीका—भवति । किं तत् सामायिकव्रतं समस्य रागद्वेषविमुक्तस्य सतः अयो ज्ञानार्दानां लाभः प्रशमसुखरूपः स सामायः, समाय एव सामायः सामायः प्रयोजनमस्येति वा सामायिकं

रागद्वेषहेतुषु मध्यस्थतेत्यर्थः । अथवा समय आप्तसेवोपदेशस्तत्र नियुक्तं कर्म सामायिकं व्यवहारेण जिनस्नपनार्चास्तुतिजपाः । निश्चयेन च स्वात्मध्यानमेव सामायिकं । सामायिकमेव व्रतं सामायिकव्रतं । किं सर्वहिंसात्यागः सर्वत्र सर्वेषां च हिंसादीनां प्रमत्तयोगभाविनां प्राणव्यपरोपणादिपञ्चपापानां त्यागः परिहारः । सर्वत्रेति व्याख्यानाद्देशावकाशिकादस्य भेदः सूच्यते । कस्य शिक्षाव्रतिनः । किंविशिष्टस्य ध्यातुः साधुत्वेन ताच्छील्येन वा ध्यायतः । कं स्वमात्मानं अन्तर्मुहूर्तमात्रं धर्म्यध्याननिष्ठस्येत्यर्थः । कस्येव मुनेरिव सर्वारम्भपरिग्रहाग्रहरहितत्वाद्यतिना तुल्यस्य । क एकान्ते विविक्तस्थाने । कियत्कालं केशबन्धादिमोक्षं यावत् केशबन्ध आदिर्येषां मुष्टिबन्धवस्त्रग्रन्थ्यादीनां गृहीतनियमकाला- बच्छेदहेतूनां ते केशबन्धादयः तेषां मोक्षो मोचनं तमवधीकृत्य स्थितस्येत्यर्थः । सामायिकं हि चिकीर्षुर्यावदयं केशबन्धो बस्त्र- ग्रन्थ्यादिर्वा मया न मोच्यते तावत्साम्यान्न प्रचलिष्यामीति प्रतिज्ञां करोति ॥ [ साधुत्वेनेत्यत्र साकल्येनेति पाठभेदः ]

अर्थः—एकांतस्थलीं केशांस गांठ बांधल्यापासून ती सोडीपर्यंत एखाद्या मुनीप्रमाणें आत्मचिंतन करणाऱ्या श्रावकाचा जो सर्वत्र हिंसेचा त्याग होतो, त्यास 'सामायिकव्रत' किंवा सामायिक असें म्हणतात.

हाचें स्पष्टीकरण—सामायिक शब्दाचा मुख्य अर्थ—आंतीपासून उत्पन्न होणारें सुख देणारी अशी “प्रिय व अप्रिय ह्या दोहों प्रकारच्या वस्तूंविषयीं” समता ठेवणें, असा होतो. व सामायिकशब्दाचा आप्तोपदेशांत सांगितलेलें कर्म (श्रीजिनाचें स्तवन, अर्चन, जप वगैरे) अथवा आत्मध्यानरूप कर्म असा अर्थ होतो.

आतां वरील श्लोकांत जो सामायिक शब्द आहे तो आह्मी स्पष्टीकरणांत दाखविलेल्या अर्थी नसून ' सर्वत्र हिंसेचा त्याग करणे, ह्या अर्थी आहे. तेव्हां अर्थात् ही गोष्ट सिद्ध आहे कीं ; हा जो श्लोकांत सामायिक शब्दाचा प्रयोग आहे, तो मुख्यार्थी नसून पारिभाषिकार्थी आहे. ह्मणून श्लोकार्थांत जो सामायिक शब्दाचा अर्थ दाखविला आहे तो पारिभाषिक अर्थ आहे असें समजावें. ह्या हिंसात्यागाचा काल श्लोकांत ' केशबन्धादिमोक्षं यावत् ( केशांस गांठ बांधणें किंवा वस्त्रास गांठ बांधणें अथवा मुष्टिबंध करणें वगैरे केल्यापासून तें सोडीपर्यंत )' असा सांगितला आहे. त्याचें तात्पर्य असें आहे कीं—सामायिक करण्यास तयार झालेल्या श्रावकानें आरंभी ' ही केशांची गांठ अथवा वस्त्राची गांठ मी स्वतः सोडीपर्यंत समता ठेवीन ' अशी प्रतिज्ञा करावी लागते.

ह्या प्रतिज्ञेनें असें होतें कीं— जितका कालपर्यंत आपली तशी समता रहात आहे, तितका कालपर्यंतच सामायिक-व्रत करितां येतें. आणि समतेत चंचलपणा येण्याबरोबर व्रताचा विसर्ग करितां येतो. तसेंच जर समता पुष्कळ वेळ ह्मणजे तास, दोन तास, प्रहर, दिवस वगैरे कितीही कालपर्यंत— राहिल , तर, गांठ सोडणें आपल्या आधीन असल्यामुळें पाहिजे तितका काल वाढवितां येतो.

सामायिकभावनासमयं नियमयन्नाह—

आतां; सामायिकाच्या अभ्यासाचा नियमित काल सांगतात.

परं तदेव मुक्त्यङ्ग- ।

मिति नित्यमतन्द्रितः ॥

नक्तं दिनान्तेऽवश्यं त- ।

द्भावयेच्छक्तितोऽन्यदा ॥ २९ ॥

टीका—भावयेदभ्यस्येन्मुमुक्षुः । किं तत्सामायिकव्रतं । क  
नक्तंदिनान्ते नक्तं च दिनं च नक्तंदिने तयोरन्ते निशावसाने  
दिवसावसाने चेत्यर्थः । कथमवश्यं नियमेन । अथवा नास्ति  
वश्यं व्याध्यादिपारतन्त्र्यं यत्र भावनकर्मणि तदवश्यं यथा भवति ।  
किंविशिष्टः सन् अतन्द्रितः अनलसः । कथं नित्यं सर्वकालं ।  
कुतो हेतोः इति यतो भवति । किं तत् तदेव सामायिकमेव । किंवि-  
शिष्टं मुक्त्यङ्गं मोक्षसाधनं । किंविशिष्टं परमुत्कृष्टं । परमप्रक-  
र्षप्राप्तचारित्रस्यैव साक्षान्मोक्षहेतुत्वसिद्धेः ॥ एवं तर्हि मध्याह्नादौ  
तत्र भावयितव्यमिति शङ्कायामिदमाह— शक्तितोऽन्यदेति । भाव-  
येन्मुमुक्षुस्तत् । कदाऽन्यदाऽन्यस्मिन्मध्याह्नादौ काले । कथं  
शक्तितः स्वशक्तिमपेक्ष्य । नियमकालादन्यदाऽपि तद्भावेन दोषा-  
भावादुणसद्भावाच्च ॥

अर्थः—तें सामायिकव्रतच मुक्तीचें मुख्य साधन आहे;  
ह्याकरितां, श्रावकानें आळस न करतां, दररोज रात्रीच्या  
समाप्तीच्या वेळीं ( पहाटेस ) व दिवसाच्या समाप्तीच्या  
वेळीं ( सायंकाळीं ) त्याचा अभ्यास अवश्य करावा!  
आणि बाकीच्या वेळीं आपल्या शक्तीप्रमाणें ( अंतःकर-  
णाचा ) उत्साह जितका असेल त्याप्रमाणें त्याचा  
अभ्यास करावा.

सामायिकस्थेन परीषहोपसर्गोपनिपाते सति तयोर्जयार्थं किं  
ध्यातव्यमित्याह—

आतां; सामायिकव्रत करणाच्या श्रावकानें, परीषहांची  
पीडा उत्पन्न झाली असतां तिचा नाश करण्यास  
कशाचें चिंतन करावें, तें सांगतात.

मोक्ष आत्मा सुखं नित्यः ।

शुभः शरणमन्यथा ॥

भवोऽस्मिन्वसतो मेऽन्य- ।

त्किं स्यादित्यापदि स्मरेत् ॥ ३० ॥

टीका—स्मरेत् ध्यायेत् । कोऽसौ प्रतिपन्नसामायिकः । किं  
तत् इति एतत् । कस्यां सत्यां आपदि विनिपाते परीषहोपसर्ग-  
संसर्गे इत्यर्थः । एतेन प्रतिपन्नसामायिकेन परीषहोपसर्गाः सोढव्या  
इत्याक्षिप्यते । किमेतदित्याह— भवति । कोऽसौ मोक्षः । किं  
आत्मा अनन्तज्ञानादिरूपत्वात् । तथा सुखं अनाकुलचिद्रूपत्वात् ।  
तथा नित्यः अनन्तकालभाविप्रध्वंसाभावरूपत्वात् । तथा शुभः  
शुभकारणप्रभवत्वाच्छुभकार्यत्वाच्च । तथा शरणं समस्तविपदगम्य-  
तया अपायपरिरक्षणोपायत्वात् । संसारः किंरूप इत्याह— अस्ति ।  
कोऽसौ भवः स्वोपात्तकर्मोदयवशाच्चतुर्गतिविवर्तपरिवर्तनं । कथम-  
न्यथा मोक्षविपरीतलक्षणः अनात्मा दुःखमनित्योऽशरणमित्यर्थः ।  
अस्मिँश्च भवे । वसतोऽवतिष्ठमानस्य मम किमन्यत्सुखदुःखादि  
स्यादभूदस्ति भाविष्यति च किन्त्वापात एव पुनःपुनर्भवेदित्यर्थः ॥

अर्थः— मोक्ष हा अनंतज्ञानादिरूप असल्याने आत्मस्वरूप  
आहे, तसेंच तो निरुपाधिचित्स्वरूप असल्याने सुखस्वरूप

आहे, नित्य आहे, शुभकर्मापासून प्राप्त होणारा असल्याने शुभ आहे, तो सर्वप्रकारच्या विपत्तींना अगम्य असल्याने शरण ह्मणजे सर्वविपत्तीपासून रक्षण करणारा आहे. आणि संसार हा त्याच्या अगदीं विरुद्ध ह्मणजे अनात्मा, दुःखरूप, अनित्य, अशुभ व अशरण असा आहे. अशा ह्या संसारांत राहणाऱ्या मला दुसरे काय प्राप्त व्हावयाचें आहे! तर वारंवार दुःखच प्राप्त व्हावयाचें आहे!! असें, विपत्तींत श्रावकानें चिंतन करावें.

सामायिकसिद्ध्यर्थमन्यत्र श्रावकेण किं कर्तव्यमित्यत्राह—

आतां; सामायिकाचे सिद्धीकरितां दुसऱ्या वेळीं श्रावकानें काय करावें ह्याविषयीं सांगतात—

स्नपनार्चास्तुतिजपान् ।

साम्यार्थं प्रतिमार्पिते ॥

युञ्ज्याद्यथात्मनायमाद्या- ।

दृते सङ्कल्पितेऽर्हति ॥ ३१ ॥

टीका—युञ्ज्यात्प्रयोजयेत् मुमुक्षुः । कान् स्नपनार्चास्तुतिजपान् स्नपनमाश्रुत्येद्यादौ व्याख्यास्यते, अर्चादयो ज्ञानदीपिकायामत्र च प्राग्यथास्थानं व्याख्याताः । क स्नपनादीन् युञ्ज्यात् अर्हति भगवदर्हद्देवे । किंविशिष्टे प्रतिमार्पिते साकारस्थापनामवतारिते । कथं यथाम्नायं उपासकाध्ययनाद्यागमानतिक्रमेण । किमर्थं साम्यार्थं परमार्थसामायिकसिद्ध्यर्थं अन्यत्र किं प्रयोक्तव्यमित्याह— आद्यादित्यादि— युञ्ज्यात्साम्यार्थं । किं तत् आद्यात्स्नपनात् । ऋते विना अन्यदर्चादित्रयं । क अर्हति । किंविशिष्टे

सङ्कल्पिते निराकारस्थापनार्पिते । एतेन कृतप्रतिमापरिग्रहाः  
सङ्कल्पितास्तपूजाग्रहाश्चेति द्वये देवसेवाधिऽकृता इति सूच्यते ॥

अर्थ—मुक्त होण्याची इच्छा करणाऱ्या श्रावकानें,  
प्रतिमेवर आवाहन केलेल्या अर्हत् देवाचे ठिकाणीं स्नान  
घालणें, पूजा करणें, स्तुति करणें व जप करणें ह्यांचा  
उपयोग, यथाशास्त्र करावा. आणि मनानें कल्पिलेल्या  
( निराकार अशा ) अर्हदेवाचे ठिकाणीं पहिल्या क्रियेवां-  
चून ( स्नान घालणें ह्या क्रियेवांचून ) बाकीच्यांचा-  
क्षणजे पूजा ( मानसपूजा ) स्तुति, जप ह्यांचा यथा-  
शास्त्र उपयोग करावा. ( ह्या क्रिया निराकारास उद्देशून  
कराव्या. )

सामायिकस्य सुदुष्करत्वशङ्कामपाकरोति—

आतां; ' सामायिक हें दुष्कर आहे ' अशा शंकेचें  
निवारण करतात.

सामायिकं सुदुःसाध- ।

मप्यभ्यासेन साध्यते ॥

निम्नीकरोति वार्षिन्दुः ।

किं नाश्मानं मुहुः पतन् ॥ ३२ ॥

टीका—साध्यते निष्पाद्यते । किं तत् सामायिकं । केन  
अभ्यासेन असकृत्प्रवृत्त्या । किंविशिष्टमपि दुःसाधमपि अतिशयेन  
निष्पादयितुमशक्यमपि । अत्र दृष्टान्तमाह— किं न निम्नीकरोति  
अनिम्नं निम्नं करोति । कोऽसौ वार्षिन्दुः । जलबिन्दुः । कम-  
श्मानं शिलां । किं कुर्वन् पतन् । कथं मुहुर्वारंवारं । अत्र बाह्या

अप्याहुः— अभ्यासो हि कर्मणां कौशलमावहति । न हि सकृन्नि-  
पातमात्रेणोदबिन्दुरपि प्राणि निम्नतामादधातीति ॥

अर्थः— सामायिकव्रत करण्यास जरी कठीण आहे  
तथापि अभ्यासाने साधिता येते. वारंवार पढणारा  
पाण्याचा थेंब दगडास देखील खळगा पाडीत नाही काय ?

तदतिचारपरिहारार्थमाह—

आतां; त्याच्या अतीचारांचा त्याग करण्याविषयी  
सांगतात.

पञ्चात्रापि मलानुज्झे- ।

दनुपस्थापनं स्मृतेः ॥

कायवाङ्मनसां दुष्ट- ।

प्रणिधानान्यनादरम् ॥ ३३ ॥

टीका— उज्झेत् त्यजेत् । फलार्थी । कान् पञ्च मलान् । क  
अत्रापि व्रतान्तरवत्सामायिकेऽपि । किं किं स्मृत्यनुपस्थापनं  
कायवाङ्मनसां दुष्टप्रणिधानानि त्रीणि, अनादरं च, तत्र स्मृतेरनुप-  
स्थापनं सामायिके अनैकाग्र्यमित्यर्थः । अथवा सामायिकं मया कर्तव्यं  
न कर्तव्यमिति वा सामायिकं मया कृतं न कृतमिति वेति प्रबलप्रमा-  
दादस्सरणमतीचारः । स्मृतिमूलत्वान्मोक्षमार्गानुष्ठानस्य । कायेत्यादि  
दुष्टप्रणिधानं सावधे प्रवर्तनं तत्र हस्तपादादीनामनिश्चलभृतत्वाव-  
स्थापनं कायदुष्प्रणिधानं । वर्णसंस्काराद्भावोऽर्थानवगमश्चापलं च  
वाग्दुष्प्रणिधानं । क्रोधलोभद्रोहाभिमानेर्ष्यादयः कार्यव्यासङ्गसम्भ्र-  
मश्च मनोदुष्प्रणिधानं । एते त्रयोऽतीचाराः । मनोदुष्प्रणिधानस्य  
स्मृत्यनुपस्थापनस्य चायं भेदः क्रोधाद्यावेशात्सामायिके मनसश्चिर-



मनवस्थापनं प्रथमं । चिन्तायाः परिस्पन्दनादैकाग्र्येणानवस्थापन-  
मन्यत् । अनादरोऽनुत्साहः प्रतिनियतवेलायां सामायिकस्याकरणं  
यथाकथञ्चिद्वा करणं । करणानन्तरमेव भोजनादिव्यासञ्जनं च ।  
न चात्राविधिकृताद्वरमकृतमित्यसूयावचनं प्रमाणीकृत्य भङ्गसम्भाव-  
नया सामायिकस्याप्रतिपत्तिः कर्तव्या । यतीनामप्यारम्भे भावित-  
पूर्वत्वादेकदेशविराधनस्य सम्भवात् । न चैतावता तस्य भङ्गोऽपि  
मनसा सावधं न करोमीत्यादिप्रत्याख्यानेष्वेकतरभङ्गेऽपि शेषसद्भा-  
वान्न सामायिकस्यात्यन्ताभाव इत्यमीषामतिचारतैव । सुभावित-  
सामायिकस्तु यदा श्रावको भविष्यति तदा तृतीयपदमेवाभ्युपग-  
मिष्यतीति युक्तो व्रतिकस्यातिचारपरिहाराय यत्नः ॥

अर्थः—ह्या सामायिकव्रतांत देखील पांच प्रकारच्या  
अतीचारांचा श्रावकानें त्याग करावा. त्या अतीचारांस  
१ स्मृत्यनुपस्थापन, २ कायदुष्प्रणिधान, ३ वाग्दुष्प्रणि-  
धान, ४ मनोदुष्प्रणिधान आणि ५ अनादर अशा  
संज्ञा आहेत.

ह्याचा अर्थ—‘स्मृत्यनुपस्थापन, ह्यणजे सामायिका-  
विषयीं एकाग्रता नसणें. किंवा मीं सामायिकव्रत करावें  
किंवा न करावें अशी मनाची द्विधाप्रवृत्ती, अथवा मीं  
सामायिक केलें किं नाहीं असा संशय, अशा प्रकारची  
तीव्र प्रमादामुळें सामायिकाविषयीं विस्मृति होणें; हा  
सामायिकव्रताचा अतीचार आहे. कारण मोक्षप्राप्तीच्या  
अनुष्ठानांत स्मृति ही अवश्य असलीच पाहिजे. जर  
स्मृति नसेल तर केलें काय, व करावयाचें काय, ह्याचें  
अनुसंधान मुळींच रहावयाचें नाहीं.

२ ' कायदुष्प्रणिधान ' ह्यणजे, हात पाय वगैरे अव-  
यव निश्चल व झांकलेले नसणें. ३ वाग्दुष्प्रणिधान, बोबडे  
शब्द उच्चारणें, अथवा अस्पष्ट शब्द उच्चारणें किंवा त्वरेनें  
शब्दोच्चार करणें.

३. वाग्दुष्प्रणिधान, बोबडे शब्द उच्चारणें, अथवा  
अस्पष्ट शब्द उच्चारणें किंवा त्वरेनें शब्दोच्चार करणें.

४ ' मनोदुष्प्रणिधान '— ह्यणजे, क्रोध, लोभ, द्रोह,  
अभिमान ईर्ष्या वगैरे उत्पन्न होणें. अथवा, एखाद्या  
कामांत गढून असणें, किंवा अंतःकरणाची व्यग्रता असणें.  
हे तीन्ही प्रकारचे दुष्प्रणिधान अतीचार होत. आतां येथें  
असाही एक संशय येतो कीं— मनोदुष्प्रणिधान आणि  
स्मृत्यनुपस्थापन ह्यांत मुळींच भेद दिसत नाही. परंतु,  
तसें नाही, त्या दोहोंत भेद आहे. तो असा कीं, क्रोधा-  
दिकांच्या वेगामुळे सामायिकांत मनाचें चांचल्य असणें  
हें मनोदुष्प्रणिधान, आणि वारंवार एकाप्रकारच्या विचा-  
राच्या ऊर्मी उठत असल्यामुळे जी व्यग्रता असते, तें  
स्मृत्यनुपस्थापन होय.

५ ' अनादर ' ह्यणजे, सामायिकाविषयीं उत्साह  
नसणें, व ह्या मुळेंच नियमित वेळीं सामायिक न होणें,  
किंवा तें हयगयीनें कसेतरी करणें, अथवा केल्याबरोबर  
भोजनादिकांची आसक्ती बाळगणें. येथें एक शंका येते,  
ती अशी कीं—वर जे सामायिक व्रताचे अतीचार सांगितले,  
त्यापैकीं एखादातरी अतीचार व्रती श्रावकाकडून होणें  
अगदीं संभवनीय आहे. मग अशा प्रकारें अविधि व्रत  
केल्यापेक्षां न केलेले बरें. हें ह्यणणें अगदीं बरोबर

नाहीं. कारण, सामायिकव्रत करण्यास प्रारंभ केल्याबरोबर व्रती मनुष्य यती जरी असला तथापि पूर्वी सामायिकव्रत कधीं केलेलें नसल्याने त्याच्याकडून देखील वरील अतिचारांपैकीं एखादा अतीचार होऊन, व्रताच्या एकदेशाचा भंग होणें शक्य आहे. मग इतर श्रावकांच्या हातून तसें झालें तर आश्चर्य काय? बरें असें झालें ह्मणून सामायिकव्रताचा सर्वथा भंग होतो असें ह्मणणें बरोबर नाहीं. कारण, व्रती श्रावकानें 'मी मनानें निंद्य कर्म करणार नाहीं' असा पूर्वी संकल्प केला असल्यानें, मानसिक सर्व निंद्यकर्मांचा त्याग केला असें होत असल्यामुळे, जरी एकदेशाचा भंग झाला, तथापि, सर्व व्रताचा भंग होणें शक्य नाहीं. ह्मणूनच वरील व्यापार हे अतिचार आहेत. त्यांच्या योगानें व्रताचा नाश मुळींच होत नाहीं.

ह्यावरून अतिचारांवांचून सामायिक होणें शक्यच जर नाहीं तर त्यांच्या त्यागाकरितां उपदेश करणें व्यर्थ आहे असेंही समजूं नये. कारण, जर श्रावकास निरतिचार सामायिकव्रत साध्य होईल तर तो श्रावक, सामायिक ह्या तिसऱ्या पदवीस प्राप्त होतो. नाहींपेक्षां तो तिसऱ्या पदवीस प्राप्त होतो. नाहींपेक्षां तो तिसऱ्या पदवीस प्राप्त न होतां केवल व्रती मात्र होतो. ह्मणून अतिचारांचा त्याग करणें अगदीं अवश्य आहे.

अथ प्रोषधोपवासव्रतं लक्षयति—

आतां; प्रोषधोपवासव्रताचें लक्षण सांगतात.

स प्रोषधोपवासो य- ।

चतुष्पर्व्यां यथागमम् ॥

साम्यसंस्कारदाढ्याय ।

चतुर्भुक्त्युज्जनं सदा ॥ ३४ ॥

टीका—भवति । कोऽसौ सः प्रोषधोपवासः प्रोषधे पर्वण्युप-  
वासः उपवसनं । यत्किं यच्छ्रावकेण क्रियते । किं तत् चतु-  
र्भुक्त्युज्जनं चतसृणां भुक्तीनां भोज्यानामशनस्वाद्यखाद्यपेयद्रव्याणां  
भुक्तिक्रियाणां च त्यागः । एका हि भुक्तिक्रिया धारणकदिने द्वे  
उपवासदिने चतुर्थी च पारणकदिने प्रत्याख्यायते । कस्यां चतु-  
ष्पर्व्यां चतुर्णां पर्वणां समाहारश्चतुष्पर्वी तस्यां । मासे मासे  
द्वयोरष्टम्योश्चतुर्दशोरित्यर्थः । कथं यथागमं आगमानतिक्रमेण ।  
किमर्थं साम्यसंस्कारदाढ्याय साम्यस्य सामायिकस्य संस्कार  
उत्कर्षस्तस्य दाढ्यं स्थिरीकरणं परीषहाद्यापातेऽपि अविचलनं तस्मै ।  
कदा सदा सर्वस्मिन् काले यावज्जीवमित्यर्थः ॥

अर्थ— सामायिकाचा संस्कार दृढ व्हावा ह्मणजे—  
परीषह प्राप्त झाला असतांही मनाच्या साम्यावस्थेत बिघड  
येऊं नये ह्याकरितां चारी पर्वांच्या दिवशीं जो चार  
भोजनांचा यावज्जीव यथाशास्त्र त्याग करावयाचा, त्यास  
प्रोषधोपवास असें ह्मणतात. पूर्वे शुक्लपक्षांतील अष्टमी  
व चतुर्दशी हीं दोन, व कृष्णपक्षांतील अष्टमी व चतुर्दशी  
हीं दोन, मिळून चार आहेत. त्यांतील प्रत्येक पर्वासंबंधानें  
चार भोजनांचा त्याग करावयाचा, ह्मणजे, अष्टमी ह्या  
पर्वासंबंधानें अष्टमीच्या पूर्वदिवशीं ( सप्तमी दिवशीं )  
संध्याकाळचे भोजन, अष्टमी दिवशीचीं दोन भोजनें व

पारणेच्या दिवशीचें ( नवमीच्या दिवशीचें ) एक सायं-  
काळचें भोजन, अशा चार भोजनांचा त्याग करावा  
लागतो. याप्रमाणेंच प्रत्येक पर्वासंबंधानें समजावें.

एवमुत्तमं प्रोषधविधानमुक्त्वा मध्यमं जघन्यं च तदुपदेष्टुमाह—

ह्याप्रमाणें उत्तमप्रोषधोपवासाचा विधि सांगून, आतां  
मध्यम व कनिष्ठ प्रकारच्या प्रोषधोपवासांविषयीं उपदेश  
करितात.

उपवासाक्षमैः कार्यो ।

ऽनुपवासस्तदक्षमैः ॥

आचाम्लनिर्विकृत्यादि ।

शक्त्या हि श्रेयसे तपः ॥ ३५ ॥

टीका—कार्यः कर्तव्यः । कोऽसावनुपवासः जलवर्जनचतुर्विधा-  
हारत्यागः । ईषदुपवासोऽनुपवास इति व्युत्पत्तेः । कैः उपवा-  
साक्षमैः प्रागुक्तलक्षणमुपवासं कर्तुमसमर्थैः । तथा कार्यं किं तत्  
आचाम्लनिर्विकृत्यादि । कैः तदक्षमैः अनुपवासमपि कर्तुमसमर्थैः ।  
तत्राचाम्लमसंस्कृतसौवीरमिश्रौदनभोजनं । निर्विकृतिः विक्रियेते  
जिह्वामनसी येनेति विकृतिर्गोरसेक्षुरसफलरसधान्यरसभेदाच्चतुर्धा ।  
तत्र गोरसः क्षीरघृतादिः, इक्षुरसः खण्डगुडादिः, फलरसो द्राक्षा-  
आदिनिष्यन्दो, धान्यरसस्तैलमण्डादिः । अथवा यद्येन सह  
भुज्यमानं खदते तत्तत्र विकृतिरित्युच्यते । विकृतेर्निष्क्रान्तं  
भोजनं निर्विकृतिः । आदिशब्देनैकस्थानैकभक्तरसत्यागादि । हि  
यस्मात् । भवति । किं तत्तपः । कस्मै श्रेयसे पुण्याय वा । कया  
चरितं शक्त्या बलेन वीर्येण च ॥

अर्थः—वरील श्लोकांत सांगितल्याप्रमाणें उपवास करण्यास असमर्थ असलेल्या श्रावकांनीं अनुपवास ( पाण्यावांचून बाकीच्या सर्व भोज्य पदार्थांचा त्याग ) करावा. अनुपवासासही असमर्थ असलेल्यांनीं, नुसत्या पेजेबरोबर भात खावा किंवा निर्विकृतिभोजन करावें. कारण आपल्या शक्तीप्रमाणें केलेलें तप, पुण्य अथवा मोक्ष देणारें होतें. ( निर्विकृति भोजन ह्मणजे ज्यांत विकृति नाहीं असें अन्न. ह्यांतील विकृति शब्दाचा अर्थ रुचि उत्पन्न करणारे पदार्थ असा आहे. हे पदार्थ गोरस, इक्षुरस, फलरस व धान्यरस असे चार प्रकारचे आहेत. ( गोरस ह्मणजे दूध, दही, तूप वगैरे पदार्थ, इक्षुरस ह्मणजे खडीसाखर, गूळ वगैरे पदार्थ. फलरस ह्मणजे द्राक्ष, आंबे वगैरे पदार्थांचा रस. आणि धान्यरस ह्मणजे पेज किंवा तेल वगैरे. )

यथागममित्यस्यार्थं चतुःश्लोक्या व्याचष्टे—

आतां पूर्वीच्या श्लोकांत यथाशास्त्र असें झटलें आहे, तें शास्त्र पुढील चार श्लोकांत सांगतात—

पर्वपूर्वदिनस्यार्धे ।

भुक्त्वाऽतिथ्यशितोत्तरम् ॥

लात्वोपवासं यतिव- ।

द्विविक्तवसतिं श्रितः ॥ ३६ ॥

धर्मध्यानपरो नीत्वा ।

दिनं कृत्वाऽऽपराह्निकम् ॥

## नयेन्नियामां स्वाध्याय- ।

रतः प्रासुकसंस्तरे ॥ ३७ ॥

टीका—नयेद्भ्रमयेत् प्रोषधोपवासी । कां त्रियामां रात्रिं । क प्रासुकसंस्तरे निर्जन्तुकायां भूमौ निर्जन्तुकैश्च तृणदर्भादिभिः कृते शयने । किंविशिष्टः सन् स्वाध्यायरतः । एतेन निद्रालस्येत्यजेदिति लक्षयति । किं कृत्वा विधाय । किं तत् आपराहिकं अपराह्णे भवं कर्म सांध्यं क्रियाकल्पमित्यर्थः । किं कृत्वा नीत्वा अतिक्रम्य । किं तत् दिनं । किंविशिष्टः सन् धर्मध्यानपर आज्ञापायविपाकलोकसंस्थानविचयैकाग्रचिन्तानिरोधलक्षणधर्मध्यान-परः । ध्यानोपरमे स्वाध्यायानुपेक्षाचिन्तनादिकमपि कार्यमिति पर-शब्देन प्रधानार्थेन सूच्यते । किंविशिष्टो भूत्वा श्रितः अधिष्ठितः ! कां विविक्तवसतिं विविक्तां प्रासुकां अयोग्यजनरहितां निर्जनां वा वसतिं स्थानं । किं कृत्वा लात्वा स्वीकृत्य । कं उपवासं । किंवत् यतिवत् यतिना तुल्यं यथा यतिर्भोजनानन्तरमेवोपवासं गृह्णाति निधिवत्सूरेश्च समीपं गत्वा पुनरुच्चारयति । सावद्यव्यापारं शरीरसंस्कारमब्रह्म च सदा त्यजति एवं प्रोषधे श्रावकोऽपि प्रवर्ततामित्यर्थः ॥ किं कृत्वा भुक्त्या यथाविधि भोजनं कृत्वा । कथं अतिथ्यशितोत्तरं अतिथेरशिताद्भोजनविधापनादनन्तरमतिथिं भोजयित्वेत्यर्थः । क अर्धे । कस्य पर्वपूर्वदिनस्य सप्तम्यास्त्रयोदश्याश्च अर्धे प्रहरद्वये वा किञ्चिन्न्यूनेऽधिकेऽपि वा । समेऽप्यसमेऽपि वाऽशेऽर्धशब्दस्य रूढत्वात् ॥

अर्थ—श्रावकाने, पर्वाच्या ( अष्टमी व चतुर्दशी ह्या दोन दिवसांच्या ) पूर्वदिवशीं, मध्यान्हकालीं अतिथीच्या भोजनानंतर भोजन करून यतीप्रमाणे ( भोजनोत्तर उप-

बासाचा संकल्प करितात. व तो आपण केलेला संकल्प पंडिताजवळ सांगतात. आणि निघ व्यापार, शरीरसंस्कार ह्य० अंग चोळणें किंवा रगडणें, अब्रह्मचर्य इत्यादिकांचा त्याग करितात. त्याप्रमाणें ) उपवास ग्रहण करावें. मग एकांतस्थळीं बसून धर्मध्यानांत आसक्त राहून दिवस घालवावा. मग सायंकालिक विधि करून निर्जेतुक प्रदेशांत घातलेल्या निर्जेतुक अशा तृणासन अथवा दर्भासन ह्यावर, स्वाध्याय करण्यांत आसक्त राहून, ती रात्र घालवावी.

ततः प्राभातिकं कुर्या- ।

तद्वद्यामान् दशोत्तरान् ॥

नीत्वाऽतिथिं भोजयित्वा ।

भुञ्जीतालौल्यतः सकृत् ॥ ३८ ॥

टीका—कुर्याद्विदध्यात् प्रोषधोपवासी । किं तत्प्राभातिकं प्रभाते भवं कर्मावश्यकदिकं । कस्मात् ततः यथोक्तविधिना प्रहरषट्कनयनादनन्तरं । ततश्च भुञ्जीत भोजनं कुर्यात् असौ । कस्मादलौल्यतः भोजने आसक्तिमकृत्वेत्यर्थः । कथं सकृदेकवारं पारणकदिनेऽप्येकभुक्तं कुर्यादित्यर्थः । किं कृत्वा भोजयित्वा भोजनं कारयित्वा । कं अतिथिं । किं कृत्वा नीत्वा लङ्घयित्वा । कान् यामान् प्रहरान् । कति दश । किंविशिष्टानुत्तरान् । अष्टावुपवासगोचराहोरात्रस्य द्वौ चोत्तरादिनस्य । किंवत् तद्वत् पूर्वोक्तषट्प्रहरवत् ॥

अर्थ—मग दुसऱ्या दिवशीं (अष्टमी किंवा चतुर्दशी ह्या दिवशीं) सकाळीं करावयाचें सर्व कर्म करून, पूर्वी-



प्रमाणेच ( धर्मध्यान करून व स्वाध्याय करून ) पुढले दहा प्रहर ( त्या दिवशींचे आठ प्रहर व पारण्याच्या दिवशींचे मध्यान्हापर्यंत दोन प्रहर मिळून दहा प्रहर ) घालवून, मग अतिथीस भोजन करवून, आपण फार आसक्ति न करितां, एकवार भोजन करावें.

पूजयोपवसन् पूज्यान् ।

भावमय्यैव पूजयेत् ॥

प्रासुकद्रव्यमय्या वा ।

रागाङ्गं दूरमुत्सृजेत् ॥ ३९ ॥

टीका—पूजयेदर्चयेत् असौ । उपवसन्नुपवासतपश्चरन् । कान् पूज्यान् परमेष्ठिश्रुतगुरून् । कया पूजया आराधनया । किंविशिष्टया भावमय्या सानुरागतद्रुणानुस्मरणलक्षणया भावपूजार्थत्वात् द्रव्यपूजायाः । भावपूजा च सामायिकप्रसक्तत्वेनोपवसतः सिद्धेव । तदशक्तौ वा पूज्यान् पूजया पूजयेत् । किंविशिष्टया प्रासुकद्रव्यमय्या अक्षतमौक्तिकमालादिप्रकृतया । तथा दूरमत्यन्तं । उत्सृजेत् त्यजेदसौ । किं तत् रागाङ्गं इन्द्रियमनःप्रीतिसाधनं गीतनृत्यादिकं ॥

अर्थ—उपवास करणाऱ्या श्रावकानें, पूजा करण्यास योग्य अशा पंचपरमेष्ठी, श्रुत गुरु इत्यादिकांस भावमय पूजेनें ( मानस पूजेनें अथवा प्रेमपूर्वक त्यांच्या गुणांचें स्मरण करणें ह्या पूजेनें ) पूजावें. अथवा निर्जेतुकद्रव्यांनीं ( गंध अक्षता मौक्तिकमाला वगैरेच्या योगानें ) पूजावें. आणि मनाला व इतर इंद्रियांना संतोष देणाऱ्या गीतनृत्यादि व्यापारांचा त्याग करावा.

एतद्व्रतातिचारपरिहारार्थमाह—

आतां; ह्या व्रताच्या अतीचारांचा त्याग करण्या-  
करितां सांगतात.

ग्रहणास्तरणोत्सर्गी- ।

ननवेक्षाप्रमार्जनान् ॥

अनादरमनैकाग्र्य- ।

मपि जह्यादिह व्रते ॥ ४० ॥

टीका—जह्यात् त्यजेत् श्रावकः । कान् ग्रहणास्तरणोत्सर्गान्  
त्रीन् । किंविशिष्टान् अनवेक्षाप्रमार्जनान् । तथा अनादरं चतुर्थं ।  
अनैकाग्र्यं च पञ्चमं । क इहास्मिन् प्रोषधोपवासाख्ये व्रते । अत्र  
ग्रहणं अर्हदादिपूजोपकरणपुस्तकादेरात्मपरिधानाद्यर्थस्य वाऽऽदानं ।  
उपलक्षणात्तन्निक्षेपोऽपि आस्तरणं संस्तरोपक्रमणं । उत्सर्गो विष्मू-  
त्रादीनां त्यागः । अवेक्षा जन्तवः सन्ति न सन्तीति वा चक्षुषा  
अवलोकनं । प्रमार्जनं मृदुनोपकरणेन प्रतिलेखनं । अवेक्षा च  
प्रमार्जनं च अवेक्षाप्रमार्जने ते न विद्येते येषु तान् । इह चानवे-  
क्षया दूरावेक्षणमप्रमार्जनेन च दुष्प्रमार्जनं संगृह्यते नञः कुत्सार्थ-  
स्यापि दर्शनात् । यथा कुत्सितो ब्राह्मणोऽब्राह्मणः । अनादरः  
क्षुत्पीडितत्वादावश्यकेष्वनुत्साहः प्रोषधव्रत एव वा । तद्वदनैका-  
ग्र्यमपि अन्यमनस्कत्वम् ॥

अर्थ—ज्यांत अवेक्षा (जंतू आहेत किंवा नाहीत हे  
डोळ्यांनी पहाणे) व प्रमार्जन (जंतू असतील अशा बुद्धीने  
ते जाण्याकरितां हळूच झाडणे) हे दोनही व्यापार नाहीत  
असें ग्रहण, (अर्हत्पूजेकरितां पुस्तक वगैरे घेणे किंवा  
आपल्यास परिधान करण्याकरितां वस्त्र घेणे) २ आस्तरण

(शय्या अंधरणें), ३ उत्सर्ग (मलमूत्रांचा त्याग करणें) ह्या तीन्ही क्रिया (ग्रहण, आस्तरण, उत्सर्ग.) व्रती श्रावकानें ह्या प्रोषधोपवासव्रतांत करूं नयेत. तसेंच ४ अनादराचा (व्रत करण्याविषयीं उत्साह नसणें ह्याचा) ही त्याग करावा. आणि ५ अनैकाग्न्याचा (चित्ताची एकाग्रता नसणें) त्याग करावा.

अथातिथिसंविभागव्रतं लक्षयति—

आतां ; अतिथिसंविभागव्रताचें स्वरूप दाखवितात.

व्रतमतिथिसंविभागः ।

पात्रविशेषाय विधिविशेषेण ॥

द्रव्यविशेषवितरणं ।

दातृविशेषस्य फलविशेषाय ॥ ४१ ॥

टीका—भवति । किं तद्व्रतं नियमेन सेव्यतया प्रतिपन्नत्वात् तथा च सति अतिध्यलाभेऽपि तद्दानफलभावत्वोपपत्तेः । किं नाम अतिथिसंविभागः अतिथेः सम्यक् निर्दोषो विभागः स्वार्थकृतभक्ताद्यंशदानरूपः । एतदेव व्यक्तीकर्तुमाह— द्रव्यविशेषवितरणं वक्ष्यमाणलक्षणविशिष्टद्रव्यदानं । कस्मै पात्रविशेषाय । कस्य कर्तुः दातृविशेषस्य । केन विधिविशेषेण । कस्मै फलविशेषाय ॥

अर्थ—विवक्षितफल मिळण्याकरितां, शास्त्रांत वर्णन केलेल्या विधीनें सत्पात्रीं निर्दोषपदार्थांचें—निर्दोषदात्यानें केलेलें जें दान त्यास अतिथिसंविभागव्रत असें म्हणतात.

अतिथिशब्दव्युत्पादनमुखेनातिथिलक्षणमाह—

आतां ; अतिथि शब्दाचा अर्थ दाखवून त्या अर्थावरून अतिथीचें लक्षण सांगतात.

ज्ञानादिसिद्ध्यर्थतनु- ।

स्थित्यर्थान्नाय यः स्वयम् ॥

यत्नेनातति गेहं वा ।

न तिथिर्यस्य सोऽतिथिः ॥ ४२ ॥

टीका—भवति । कोऽसावतिथिः । यः किं योऽतति सर्वदा गच्छति । किं तत् गेहं दातृगृहं । केन यत्नेन संयमाविराधनेन । कथं स्वयं आह्वानादिना विना । किमर्थं ज्ञानादीत्यादि— ज्ञानादीनां सिद्धिः साधनं सम्पूर्णिकरणं ज्ञानादिसिद्धिरर्थः प्रयोजनं यस्याः सा ज्ञानादिसिद्ध्यर्था सा चासौ तनुश्च शरीरं ज्ञानादिसिद्ध्यर्थतनुः तस्याः स्थितिर्यावदायुरवस्थानं सैवार्थः प्रयोजनं यस्य तत्तदर्थं तच्च तदन्नं च भोजनं तस्मै वा । अथवा सोऽतिथिर्भण्यते । उपलक्षणात्पूर्वोत्सवौ च । नास्ति तिथिर्यस्येत्यतिथिरिति व्युत्पत्तेः । उक्तं च—तिथिपूर्वोत्सवाः सर्वे त्यक्ता येन महात्मना ॥ अतिथिं तं विजानीयाच्छेषमभ्यागतं विदुः ॥ १ ॥

अर्थ—ज्ञानादिकांच्या प्राप्तीस साधन असलेल्या देहाच्या संरक्षणास उपयोगी असलेल्या अन्नाकरितां जो स्वतः प्रत्येक घरीं श्रमानें हिंडतो त्यास अतिथि असें ह्मणतात. किंवा ज्याला तिथि नाही—ह्मणजे पर्व अथवा उपवासदिवस हे ज्याला भिक्षा मागण्यास प्रतिबंधक नाहीत—त्यास अतिथि असें ह्मणतात.

पात्रस्वरूपसंख्यानिर्णयार्थमाह—

आतां; पात्रार्चें (दान घेणारार्चें) स्वरूप व त्याचे प्रकार, हे समजण्याकरितां सांगतात.

यत्तारयति जन्माब्धेः ।

स्वाश्रितान्यानपात्रवत् ॥

मुक्त्यर्थगुणसंयोग- ।

भेदात्पात्रं त्रिधा मतम् ॥ ४३ ॥

टीका—अस्ति भवति । किं तत्पात्रं । कतिधा त्रिधा त्रिभेदं कस्मात् मुक्तेरर्थो निमित्तं कारणं, मुक्तिर्वार्थः प्रयोजनं येषां ते मुक्त्यर्थास्ते च ते गुणाश्च सम्यग्दर्शनादयो मुक्त्यर्थगुणास्तेषां संयोगः संयुज्यमानत्वं तेन भेदो विशेषस्तस्मात् । यत्किं यत्तारयति पारं प्रापयति । कान् स्वाश्रितान् दानस्य कर्तृहेतुकर्त्रनुमन्तृन् । कस्मात् जन्माब्धेः संसारादर्णवादिव । किंवत् यानपात्रवत् यानपात्रमम्भोधिस्थं यथा स्वाश्रितान् साँयात्रिकादीन् समुद्रात्तारयति तथा संसारादाश्रितान् यत्तारयति तत्पात्रमित्यर्थः ॥

अर्थ—आपला आश्रय करून राहिलेल्या ( दात्यास ) जें आपल्यामध्ये असलेल्या— मुक्तिप्राप्तीस उपयोगी अशा विशेषगुणामुळे, नौकेप्रमाणें संसारसमुद्रापासून तारितें; तें पात्र होय. तें पात्र ( दान घेणारा ) तीन प्रकारचें आहे.

एतदेव विशेषयन्नाह—

ते तीन प्रकारच विशेषेंकरून सांगतात.

यतिः स्यादुत्तमं पात्रं ।

मध्यमं श्रावकोऽधमम् ॥

सुदृष्टिस्तादृशिष्टत्वं ।

विशिष्टगुणयोगतः ॥ ४४ ॥

टीका—स्यात् । किं तत् पात्रं । किंविशिष्टं उत्तममुत्कृष्टं । किं तत् यतिः संयुज्यमानरत्नत्रयः । तथा मध्यमं पात्रं स्यात् । किं तत् श्रावकः संयुज्यमानसम्यग्दर्शनज्ञानविकलसंयमः । तथा अधमं पात्रं स्यात् । किं तत् सुदृष्टिरसंयतसम्यग्दृष्टिः । स्याच्च । किं तत् तद्विशिष्टत्वं तेषामुत्तममध्यमाधमपात्राणां विशेषः परस्परतः परेभ्यश्च भेदः । कस्मात् विशिष्टगुणयोगतः गुणविशेषसम्बन्धात् ॥

अर्थ— यती ( रत्नत्रयानें युक्त असल्लेला ) हैं उत्तम पात्र होय, श्रावक हैं मध्यम पात्र होय, आणि सुदृष्टि हा मध्यम पात्र होय. ह्यांत हा जो भेद आहे, तो, त्यांच्या त्यांच्या विशेषगुणामुळे आहे.

दानविधेः प्रकारान् वैशिष्ट्यं चाह—

आतां; दानविधीचे प्रकार सांगतात.

प्रतिग्रहोच्चस्थानांघ्रि- ।

क्षालनार्चनतीर्त्विदुः ॥

योगान्नशुधीश्च विधीन् ।

नवादरविशेषितान् ॥ ४५ ॥

टीका—विदुः जानन्ति पूर्वाचार्याः । कान् विधीन् दानप्रयोगोपायान् । कति नव । किमाख्यान् प्रतिग्रहादीन् । किंविशिष्टान् आदरविशेषितान् आदरेण यथायोग्यभक्त्युपचारेण वैशिष्ट्यं नीतान् ॥ तत्र प्रतिग्रहः स्वगृहद्वारे यतिं दृष्ट्वा प्रसादं कुरुतेत्यभ्यर्थ्य नमोऽस्तु तिष्ठतेति त्रिर्भणित्वा स्वीकरणं ॥ उच्चस्थानं स्वगृहान्तः स्वीकृतयतिं नीत्वा निरवद्यानुपहतस्थाने उच्चासने

निवेशनं ॥ अंग्रिक्षालनं तथास्वीकृतनिवेशितसंयतस्य प्रासुकोदकेन पादधावनं तत्रादोदकवन्दनं च ॥ अर्चा तथाक्षालिताग्नेः संयतस्य गन्धाक्षतादिभिः पादपूजनं ॥ आनतिः तथापूजितसंयतस्य पञ्चाङ्गप्रणामकरणं । एते पञ्च ॥ तथा योगशुद्धयो मनोवाक्कायप्रस-  
त्तयस्तिस्रः ॥ एका चान्नशुद्धिः । तत्र मनःशुद्धिरार्तरौद्रवर्जनं ॥ वाक्शुद्धिः परुषकर्कशादिवचोवर्जनं ॥ कायशुद्धिः सर्वत्र संवृता-  
चारतया प्रवर्तनं ॥ अन्नशुद्धिः चतुर्दशमलगहितस्याहारस्य यत-  
नया शोधितस्य हस्तपुटेऽर्पणम् ॥

अर्थ— १ प्रतिग्रह, २ उच्चस्थान, ३ अंग्रिक्षालन, ४ अर्चा, ५ आनति, ६ तीन प्रकारच्या योगशुद्धि ( काययोगशुद्धि, वाक्योगशुद्धि, मनोयोगशुद्धि ) ७ अन्नशुद्धि असे नऊ प्रकारचे विधि ( दानाचे साधक व्यापार ) आहेत, व ह्यांतील प्रत्येक व्यापार भक्तियुक्त असावा असे पूर्वाचार्य मानितात [ ह्यांचे स्पष्टीकरण. १ 'प्रतिग्रह, ह्यणजे आपल्या घराच्या दारांत प्राप्त झालेल्या यतीस पाहून त्याच्याजवळ जाऊन ' महाराज आह्यांवर कृपा करा ' अशी प्रार्थना करून, नमोऽस्तु तिष्ठत' ( आपल्यास नमस्कार असो, उभे रहा ) असे तीन वेळ ह्यणून, आपण भक्तिपूर्वक त्या यतीचा स्वीकार करणें. २ 'उच्चस्थान, ह्यणजे, त्या यतीस घरांत नेऊन, निर्जेतुक अशा प्रदेशांत उच्चासनावर बसविणें. ३ 'अंग्रिक्षालन, ह्यणजे निर्जेतुक अशा उदकानें त्याचे पाय धुणें, व तें उदक वंदन करणें. ४ 'अर्चा ह्यणजे गंध, अक्षता इत्यादि-द्रव्यांनी त्या पायांची पूजा करणें. ५ 'आनति' ह्यणजे पूजित अशा यतीस पंचांगनमस्कार करणें. ६ 'काय-

योगशुद्धि ' सर्वत्र आपलें शरीर झांकून संकोचानें चालणें.  
७ 'वाग्योगशुद्धि' मर्मभेदक व कठोर भाषण न बोलणें.  
८ 'मनोयोगशुद्धि' ह्मणजे, आर्त, रौद्र ध्यान वर्ज करणें  
९ 'अन्नशुद्धि, ह्मणजे चतुर्दश प्रकारच्या मलांनीं रहित  
असें अन्न यतीच्या हातावर देणें.

देयद्रव्यविशेषनिर्णयार्थमाह --

आतां; निर्दोष द्रव्याचें ज्ञान होण्याकरितां सांगतात.

पिण्डशुद्ध्युक्तमन्नादि- ।

द्रव्यं वैशिष्ट्यमस्य तु ॥

रागाद्यकारकत्वेन ।

रत्नत्रयचयाङ्गता ॥ ४६ ॥

टीका— भवति । किं तत् द्रव्यमर्थाद्देयं । किंविशिष्टमन्नादि  
आहारौषधावासपुस्तकपिच्छिकादि । किंविशिष्टं तत् पिण्डशुद्ध्युक्तं  
पिण्डशुद्धौ पिण्डशुद्धिप्ररूपणार्थं पूर्वमनगारधर्मस्कन्धे पञ्चमा-  
ध्याये प्रतिपादितं । अस्य तु यथोक्तदेयद्रव्यस्य पुनर्भवति । किं  
तत् वैशिष्ट्यं विशेषः किं तत् रत्नत्रयचयाङ्गता सम्यग्दर्शनादि-  
वृद्धिकारणत्वं । केन रागाद्यकारकत्वेन रागद्वेषासंयममददुःखचया-  
द्यजनकत्वेन ॥

अर्थ— पिण्डशुद्धिप्रकरणांत [ पूर्वीं अनगारधर्मस्कंधांत  
पंचमाध्यायांत ] सांगितलेल्या अन्न वगैरे [ अन्न, औषध,  
वस्त्र, पुस्तक, पिच्छिका वगैरे ] द्रव्य, हें निर्दोषद्रव्य असें  
समजावें. अशा प्रकारच्या द्रव्यांत विशेष असा आहे  
कीं, हें अन्नादिद्रव्य रागद्वेषादिकांस उत्पन्न करणारें  
नसून, रत्नत्रयांस साधक आहे.



दातृलक्षणं तद्वैशिष्ट्यं चाह—

आतां; दान करणान्याचें (दात्याचें) लक्षण व त्याचेच विशेषगुण सांगतात.

नवकोटीविशुद्धस्य ।

दाता दानस्य यः पतिः ॥

भक्तिश्रद्धासत्त्वतुष्टि- ।

ज्ञानालौल्यक्षमागुणः ॥ ४७ ॥

टीका — स दाता भण्यते पूर्वाचार्यैः । यः किं यो भवति । किंविशिष्टः पतिः स्वामी प्रयोक्ता । कस्य दानस्य देयस्य दत्ति-  
क्रियायाः वा । किंविशिष्टस्य नवकोटीविशुद्धस्य नवकोट्यः  
मनोवाक्यायैः प्रत्येकं कृतकारितानुनतानि । अथवा देयशुद्धि-  
स्तत्कृते च दातृपात्रशुद्धी, दातृशुद्धिस्तत्कृते च देयपात्रशुद्धी,  
पात्रशुद्धिस्तत्कृते च देयदानशुद्धी चेत्यार्षोक्ताः । नवकोटीभि-  
र्विशुद्धमकृतापिण्डशुद्ध्युक्तदोषसम्पर्कः । आर्षोक्तं तत्पक्षे तु नवकोट्या  
विशुद्धाः सुप्रसिद्धा यत्रेति विग्रहः । किंविशिष्टः सन् भक्ती-  
त्यादि भक्त्यादयः सप्तगुणाः विशेषणानि परासाधारणानि यस्य  
स तथोक्तः । तत्र भक्तिः पात्रगुणानुरागः । श्रद्धा पात्रदण्डफले  
प्रतीतिः । सत्त्वं सत्त्वारूढो मनोगुणः स्वल्पवित्तस्यापि स्वाध्याश्चर्य-  
कारिदानप्रवृत्त्यङ्गः । तुष्टिः दत्ते दीयमाने च प्रहर्षः । ज्ञानं  
द्रव्यादिवेदित्वं । अलौल्य सांसारिकफलानपेक्षा । क्षमा दुर्निवार-  
कालुष्यकारणोत्पत्तावपि कोपाभावः ॥ तदुक्तं— भाक्तिकं तौष्टिकं  
श्राद्धं सविज्ञानमलोलुपम् ॥ सात्त्विक क्षमकं सन्तो दातारं सप्तधा  
विदुः ॥ १ ॥ किं च सत्त्वादिगुणदातृकं दानमपि सात्त्विकादि-  
भेदान्निविधमिष्यते । तदुक्तं—आतिथेयं हितं यत्र यत्र पात्रपरीक्षणम् ॥

गुणाः श्रद्धादयो यत्र तद्दानं सात्त्विकं विदुः ॥ १ ॥ यदात्मवर्णन-  
प्रायं क्षणिकाहार्यविभ्रमम् ॥ परप्रत्ययसम्भूतं दानं तद्राजसं  
मतम् ॥ २ ॥ पात्रःपात्रसमावेक्षमसत्कारमसंस्तुतम् ॥ दासभृ-  
त्यकृतोद्योगं दानं तामसमूचिरे ॥ ३ ॥ उत्तमं सात्त्विकं दानं  
मध्यमं राजसं भवेत् ॥ दानानामेव सर्वेषां जघन्यं तामसं पुनः ४

अर्थ— नवकोटींनीं शुद्ध ( ह्यणजे जीत नऊ प्रकारच्या  
कोटी नाहीत ) अशा दानक्रियेचा जो कर्ता, त्यास दाता  
असे ह्यणतात. ( नऊ कोटी ह्यणजे— मन, वाणी,  
शरीर ह्यांतील प्रत्येकानें दोष करणें, करविणें व अनुमती  
देणें— ह्या नऊ कोटी हातात. ) आणि १ भक्ती ( ज्यांस  
दान करावयाचें त्यांच्या ठिकाणीं असलेल्या सद्गुणाविषयीं  
प्रीति ) २ श्रद्धा ( योग्य ठिकाणीं दान केलें असतां  
त्यापासून उत्पन्न होणाऱ्या फलाविषयीं विश्वास ) ३ सत्व  
( ज्याचें द्रव्य थोडें आहे अशा मनुष्यानें आपल्यापेक्षां  
समर्थासहि आश्चर्य वाटेल असें दान करण्यास उपयोगीं  
पडणारें मनाचें धैर्य ) ४ तुष्टि ( दान करण्यासंबंधी संतोष )  
५ ज्ञान ( द्रव्य कसें असावें, पात्र कसें असावें ह्या-  
विषयीं माहिती. ) ६ अलौल्य ( सांसारिक फलाची इच्छा  
नसणें ) ७ क्षमा ( अंतःकरण बिघडण्याचें जबर कारण  
उपस्थित झालें असतां देखील कोप न येणें ) हे सात  
त्याचे ( दात्याचे ) विशेषगुण आहेत. हें दान सात्त्विक,  
राजस आणि तामस असें तीन प्रकारचें आहे. ज्यांत  
अतिथीची सेवा स्वतः केलेली असते, व ज्यांत पात्राची  
योग्य परीक्षा झालेली असते, आणि ज्यांत भक्ति श्रद्धा  
वगैरे दातृगुण आहेत, असें जें दान, तें सात्त्विकदान

होय. ज्यांत दाता आपलें वर्णन करीत असतो व ज्यांत श्रद्धा भक्ति इत्यादि गुणांचा खोटाच डौल असतो व जें दुसऱ्याच्या सांगण्यावरून ( आपल्यास माहित नसतांही ) करतात तें राजसदान होय. आणि, ज्यांत पात्रापात्राचा विचार नाही, अतिथीचा सत्कार नाही, व जें निंद्य आहे, आणि ज्यासंबंधी सर्व उद्योग सेवकांनीं केलेले आहेत, असें जें दान, तें तामसदान होय. ह्यांत सात्त्विकदान हें उत्तम; राजस मध्यम व तामस अधम समजावें.

दानफलं तद्विशेषं च व्याचष्टे—

आतां दानाचें फल व त्याचा विशेष सांगतात—

रत्नत्रयोच्छ्रयो भोक्तु- ।

दातुः पुण्योच्चयः फलम् ॥

मुक्त्यन्तचित्राभ्युदय- ।

प्रदत्वं तद्विशिष्टता ॥ ४८ ॥

टीका—भवति । किं तत् फलं दानस्य साध्यं । कस्य भोक्तु-  
राहाराद्युपयोक्तुः । किं तत् रत्नत्रयोच्छ्रयः सम्यग्दर्शनादीनामुद्गतिः  
तथा तत्फलं भवति । कस्य दातुर्दायकस्य किं तत्पुण्योच्चयः  
सुकृतराशिः । भवति । काऽसौ तद्विशिष्टता तस्य दानस्य फलस्य  
वैशिष्ट्यं । किं तत् मुक्त्यन्तेत्यादि चित्रा नानाप्रकारा इन्द्रचक्रि-  
बलदेवतीर्थकरादिपदलक्षणाः विश्वविस्मयकराश्च अभ्युदयाश्चित्रा-  
भ्युदयाः , मुक्तिरनन्तज्ञानादिचतुष्टयप्राप्तिलक्षणं निःश्रेयसं अन्ते  
अवसाने फलोपभोगच्छेदे येषां ते मुक्त्यन्तास्ते च ते चित्राभ्युदयाश्च  
मुक्त्यन्तचित्राभ्युदयास्तान् प्रकर्षणाप्रतिबन्धलक्षणेन ददाति सम्पा-

दयतीति तत्प्रदं, तस्य भावस्तत्त्वम् ॥ उक्तं च—पात्रदाने फलं मुख्यं मोक्षः सस्यं कृषेरिव ॥ पलालमिव भोगास्तु फलं स्यादानुषङ्गिकम् ॥ १ ॥

अर्थ—दान केलेल्या पदार्थाचा उपभोग करणाऱ्यास रत्नत्रयाची प्राप्ती होते. व देणाऱ्यास पुण्यसमुदाय प्राप्त होतो. मुक्ति हा ज्यांचा शेवट आहे असे अनेक प्रकारचे अभ्युदय ( इंद्रपद, चक्रिपद, बलदेवपद तीर्थकरपद इत्यादि अनेक पदे ) देणें हा त्या दानाचा विशेषधर्म होय. ह्याबद्दल शास्त्रकारांनीं असे सांगितलें आहे कीं—  
' पात्रदाने फलं मुख्यं मोक्षः सस्यं कृषेरिव । पलालमिव भोगास्तु फलं स्यादानुषङ्गिकम् ॥ १ ॥ ज्याप्रमाणें भूमी नांगरण्याचें मुख्यफल धान्य आहे, त्याप्रमाणें सत्पात्रीं दान केल्याचें मुख्यफल मोक्ष हें आहे. आणि बाकीचे इंद्रपदादि भोग हे धान्यावरील कोंड्याप्रमाणें अप्रधान फल आहे.

गृहव्यापारप्रभवपातकापनोदनसामर्थ्यं मुनिदानस्य दर्शयति—

आतां ; मुनीला केलेल्या दानास गृहव्यापारापासून होणारें पातक घालविण्याचें सामर्थ्य आहे, असे सांगतात.

पञ्चसूनापरः पापं ।

गृहस्थः सञ्चिनोति यत् ॥

तदपि क्षालयत्येव ।

मुनिदानविधानतः ॥ ४९ ॥

टीका— यत्पापं सञ्चिनोति सम्बध्नाति गृहस्थः । किंविशिष्टः

सन् पञ्चसूनापरः पेषणी कुट्टनी चुल्ली उदकुम्भी प्रमार्जनी चेति पञ्च क्रियाः सूना इति प्रसिद्धाः । सूना इव सूनाः प्राणिघातस्थान-साधर्म्यात् । पञ्च सूनाः पराः प्रधानानि यस्य सः पञ्चसूनापरः । आसामवश्यम्भावित्वाद्वृहस्थस्य प्राधान्येनोपादानं । तेन ततो अन्यान्यपि पापकर्माणि गुणभावेन गृहिणः संगृह्यन्ते । क्षालयत्येव अवश्यं स्फोटयति । गृहस्थः । किं तत् तदपि पञ्चावश्यकार्य-व्यापारहेतुकं पापं । अपिर्विस्मये समुच्चये वा । न केवलं तदेव पापं क्षालयति व्यापारान्तरप्रभवमपीत्यर्थः । कस्मात् मुनिदान-विधानतः मुनये उत्तमपात्राय दानं स्वपरोपकाराय स्वद्रव्यातिसर्जनं मुनिदानं तस्य विधानं विधिवत्प्रयोगः तस्मात्तेन वा ॥

अर्थ—पंचसूना ( दलणें, कांडणें, चूल पेटविणें, पाणी भरणें व लोटणें ह्यांपासून होणाऱ्या हिंसेस 'पंचसूना' असें नांव आहे ) करण्यांत आसक्त असलेला गृहस्थ श्रावक, जें पातक सांठवितो ; तें पातक देखील तो मुनिदानविधीनें निःसंशय घालवितो.

दानस्य कर्त्रादीनां फलानि दृष्टान्तमुखेन स्पष्टयति—

आतां; मुनीस दान केलें असतां कोणतें फल प्राप्त होतें, तें उदाहरण देऊन स्पष्टपणें दाखवितात.

यत्कर्ता किल वज्रजङ्घनृपतिर्यत्कारयित्री सती ।

श्रीमत्यप्यनुमोदका मतिवरव्याघ्रादयो यत्फलम् ॥

आसेदुर्मुनिदानतस्तदधुनाऽप्याप्तोपदेशाब्दक- ।

व्यक्तं कस्य करोति चेतसि चमत्कारं न भव्यात्मनः

टीका— किल एवं ह्याषें श्रूयते । यदासेदुः प्राप्ताः । के ते मुनि-

दानस्य कर्त्रादिभावमापन्ना वज्रजङ्घमहाराजप्रभृतयः । किं तत्फलं ।  
 कस्मात् मुनिदानतः । तत्कस्य चेतसि चमत्कारं न करोतीति समु-  
 दायेनार्थकथनं । इयं तु प्रत्येकवाक्यपरिसमाप्तिरिदानीं प्रदर्श्यते ।  
 यत्किल वज्रजङ्घनृपतिरुत्पलखेटनगराधिपतिर्वज्रजङ्घो नाम नृपति-  
 राससाद प्राप्तः । किं तत्फलं । कस्मान्मुनिदानतः । किंविशिष्टः सन्  
 कर्ता दानस्य स्वातंत्र्येण विधाता । यच्च आससाद । काऽसौ सती  
 पतिव्रता । किं नाम्नी श्रीमती पुण्डरीकिणीनाथस्य वज्रदन्तचक्रिणः  
 पुत्री वज्रजङ्घनृपतेः पत्नी । किं तत् फलं । कस्मात् मुनिदानतः ।  
 किंविशिष्टा सती कारयित्री स्वभर्तुर्दानं कुर्वतः प्रयोजयित्री । अपिः  
 समुच्चये पूर्वोक्तोत्तरत्र च चशब्दार्थे योज्यः । यच्च आसेदुः प्राप्ताः के  
 ते मतिवरव्याघ्रादयो मुनिदानतः फलं । मतिवरो वज्रजङ्घनृपजतेर्मन्त्री  
 आदिशब्दादानन्दो नाम तस्यैव पुरोहितोऽकम्पनाभिधानः सेनापति-  
 र्धनमित्रनामा च श्रेष्ठी । पुनरादिशब्दात्सूकरो वानरो नकुलश्च गृह्यते ।  
 मतिवरश्च व्याघ्रश्च मतिवरव्याघ्रौ तावादी येषामानन्दाख्यपुरोहिता-  
 दीनां तद्वनवासिसूकरादीनां च ते मतिवरव्याघ्रादय इति विग्रहः ।  
 किंविशिष्टाः सन्तोऽनुमोदका एष साधु करोतीति तद्दानस्यानुमन्तारः  
 तत्कर्तृत्वकारयितृत्वानुमोदकत्वपरिणामद्वारायातसुकृतसंघातहतुके मु-  
 निदानफलं कर्तृकस्य भव्यात्मनः चेतसि चमत्कारं न करोति ?  
 सर्वस्यापि करोतीत्यर्थः । कदा अधुनाऽपि । किं पुनस्तकाले । किं-  
 विशिष्टं सत् आसोपदेशाद्भव्यक्तं आप्तानां परापरगुरूणामुपदेशो  
 रहस्यवाक्यमासोपदेशः स एवाद्भुत आदर्शः स्वविषयार्थस्पष्टप्रतीति-  
 निमित्तत्वादासोपदेशाद्भुतस्तत्र तेन वा व्यक्तं प्रतीतियोग्यतां नीतम् ॥

अर्थ—मुनिदानापासून ते करणारा वज्रजंघराजा जें  
 फल प्राप्त होता झाला, आणि ते करविणारी त्याची  
 महापतिव्रता श्रीमती नांवाची पत्नी जें फल प्राप्त होती

झाली तसेंच त्याला अनुमोदन देणारे मतिवर, व्याघ्र इत्यादि प्रधान वगैरे जीव जे फल प्राप्त होते झाले ते फल आतां सुद्धां आप्तांच्या (यथार्थ भाषण करणाऱ्यांच्या) सांगण्यावरून स्पष्ट समजलें असतां ; कोणत्या भव्यजीवाच्या मनास आनंद उत्पन्न करणार नाही ! सर्वांना संतोष करील.

अधुना अतिथ्यन्वेषणविधिं श्लोकद्वयेनाह—

आतां ; अतिथीस हुडकण्याचा विधि दोन श्लोकांनीं सांगतात.

कृत्वा माध्याह्निकं भोक्तु- ।

मुद्युक्तोऽतिथये ददे ॥

स्वार्थं कृतं भक्तमिति ।

ध्यायन्नतिथिमीक्षताम् ॥ ५१ ॥

टीका—ईक्षतामतिथिसंविभागव्रती श्रावकः अन्वेषयतु । कं अतिथिं । किं कुर्वन् ध्यायन् एकाग्रतया चिन्तयन् । किमिति एतत् । किमेदमित्याह—ददे प्रयच्छाम्यहं । किं तत् भक्तमाहारं कस्मै अतिथये प्रागुक्तलक्षणाय । किंविशिष्टं कृतं साधितं । किमर्थं स्वार्थं आत्मार्थं आत्मनो निमन्त्रणादौ सत्यात्मीयार्थमपि । स्वस्मै इदं स्वार्थमित्यस्य कृता पदेन विग्रहः । कीदृशो भूत्वा एतद्ध्यायन्न-तिथिमीक्षतामित्यत्राह—उद्युक्तः उद्यतः । किं कर्तुं भोक्तुं भोजनं करिष्याम्यहमित्यध्यवसानाभिमुखः । किं कृत्वा कृत्वा विधाय । किं तत् माध्याह्निकं मध्याह्ने भवं कर्म स्नानदेवार्चनादिकं ॥

अर्थ—मध्याह्नीं करावयाची क्रिया संपवून भोजनास तयार असलेल्या श्रावकानें 'हैं आपल्याकरितां व आपल्या

संबंधी लोकांकरितां केलेलें अन्न, अतिथीस देतों' असें चिंतन करीत अतिथीस हुडकावें.

द्वीपेष्वर्धतृतीयेषु ।

पात्रेभ्यो वितरन्ति ये ॥

ते धन्या इति च ध्याये- ।

दतिथ्यन्वेषणोद्यतः ॥ ५२ ॥

टीका—ध्यायेच्च चिन्तयेत् । कोऽसौ अतिथ्यन्वेषणोद्यतः श्रावकः । किं इति एतत् । वर्तन्ते के ते गृहस्थाः किंविशिष्टाः धन्याः पुण्यवन्तः । ये किं ये वितरन्ति यथाविधि प्रयच्छन्ति । केभ्यः । पात्रेभ्यः केषु द्वीपेषु किंविशिष्टेषु अर्धतृतीयेषु जम्बूद्वीपे धातकीखण्डे पुष्करवरद्वीपस्य चार्धे अर्धतृतीयो येषां ते अर्धतृतीया इति विग्रहः ॥

अर्थ—तसेंच अतिथीस हुडकूं लागलेल्या श्रावकानें 'ह्या अडीच द्वीपांत ( १ जंबूद्वीप, १ धातकीखंड आणि पुष्करवरद्वीप अर्धे, मिळून अडीच द्वीपांत ) योग्य पात्रास जे दान करितात, ते धन्य आहेत' असेंही चिंतन करावें.

भूम्यादीनां देयत्वं ग्रहणादौ च दानं नैष्ठिकस्य हिंसासम्यक्त्वोपघातहेतुत्वप्रकाशनेन निषेधुमाह—

आतां; भूमी वगैरे दिलें असतां हिंसा होते, व ग्रहणादिक जे मिथ्यादृष्टींनीं पर्वकाल मानिले आहेत, त्यावेळीं दान केलें असतां नैष्ठिकश्रावकाच्या सम्यक्त्वाचा नाश होतो, असें दाखवून त्याचा निषेध करितात.

हिंसार्थत्त्वान्न भूगेह- ।



लोहगोश्वादि नैष्ठिकः ॥

दद्यान्न ग्रहसङ्क्रान्ति- ।

श्राध्दादौ च सुदृग्द्रुहि ॥ ५३ ॥

टीका—न दद्यान्न प्रयच्छेत् । कोऽसौ नैष्ठिको दर्शनिकादि-  
गृही । किं तत् भूगोलोहगोश्वादि भूश्च भूमिर्गेहं च गृहं लोहं च  
शस्त्रोपादानं गौश्चानङ्वाही अश्वश्च घोटको भूगोलोहगोश्वास्ते  
आदयो यस्य कन्याहेमतिलदध्यन्नादेर्बाह्वैः पुण्यार्थतया देयत्वेन  
समर्थितस्य द्रव्यस्य तत् भूगोहादिद्रव्यं नैष्ठिको न दद्यात् ।  
कस्मात् हिंसार्थत्वात् प्राणिवधनिमित्तत्वात् । एतस्योत्तरस्य च  
समर्थनं ज्ञानदीपिकायां विस्तरतोऽभिहितं प्रतिपत्तव्यं । न च  
दद्यान्नैष्ठिकः स्वद्रव्यं । कस्मिन् ग्रहसंक्रान्तिश्राध्दादौ ग्रहः सूर्या-  
चन्द्रमसोरुपरागः, संक्रान्तिः सूर्यस्य राश्यन्तरसंक्रमणं श्राध्दं  
मृतापित्राद्युद्देशेन दानं, ग्रहश्च संक्रान्तिश्च श्राध्दं च ग्रहसंक्रान्ति-  
श्राद्धानि तान्यादयो यस्य वारव्यतिपादादैर्बाह्वैः पुण्यार्थत्वेन  
समर्थितस्य पर्वणस्तद्ग्रहादि पर्व तस्मिन् । तस्य पुण्यार्थदानवि-  
षयत्वकल्पनायां दोषसमर्थनार्थमाह—किंविशिष्टे तत्र सुदृग्द्रुहि  
सम्यक्त्वघातके । यद्यपि च नैष्ठिक इति वचनात्पाक्षिकस्यानुत्पन्न-  
सम्यक्त्वावस्थतया भूम्यादिदानं न प्रतिषिध्यते तथापि ग्रहणादौ  
तस्यापि दानमविधेयमेव सम्यक्त्वोपघातस्य तेनाप्यवश्यपरिहार्य-  
त्वात् ॥

अर्थ—नैष्ठिक श्रावकाने भूमि, घर, लोह, गाय, घोडा  
वगैरे पदार्थ, 'ते दान केले असतां हिंसा होते सणून'  
झांचे दान करूं नये. तसेंच आपल्या समक्त्वाचा नाश  
करणाऱ्या ग्रहण, संक्रांति, श्राद्ध वगैरे सा दिवशीं दान

करूं नये. [ श्लोकांत 'नैष्ठिक' असा शब्द असल्याने पाक्षिक श्रावकानें भूमि, घर वगैरे पदार्थ दान केले असतां चालेल असें जरी सिद्ध होत आहे, तथापि, त्यानें देखील ग्रहण वगैरे दिवशीं दान करूं नये. कारण, पाक्षिक श्रावकानेंहि सम्यक्त्वाची हानि न होऊं देण्याविषयीं अवश्य जपलें पाहिजे. ]

तद्भ्रतातिचारपरिहारार्थमाह—

आतां; ह्या व्रताच्या अतिचारांचा त्याग करण्याकरितां सांगतात.

त्याज्याः सचित्तनिक्षेपोऽ

तिथिदाने तदावृतिः ॥

सकालातिक्रमपर- ।

व्यपदेशश्च मत्सरः ॥ ५४ ॥

टीका—त्याच्याः तद्भ्रतिना वर्जनीयाः । के ते सचित्तनिक्षेपस्तदावृतिः कालातिक्रमपरव्यपदेशाभ्यां सह मत्सरश्चेत्यमी पञ्चातिचाराः । क अतिथिदाने अतिथिसंविभागव्रते । तत्र सचित्तनिक्षेपः—सचित्ते सजीवे पृथिवीजलकुम्भोप(चुल्लि)भुवलिधान्यादौ निक्षेपो देयस्य वस्तुनः स्थापनं । तच्चादानबुद्ध्या तत्र निक्षेप्यमाणमतिचारः । तुच्छबुद्धिः खलु सचित्तनिक्षिप्तं किल संयता न गृह्णन्तीत्यभिप्रायेण देयं सचित्ते निक्षिपतीति तच्च । संयतेष्वगृह्णत्सु लाभोऽयं ममेति च मन्यते इति प्रथमः ॥ १ ॥ तदावृतिः तेन सचित्तेन पत्रपुष्पादिना तथाविधयैव बुद्ध्या आवृत्तिराच्छादनं द्वितीयः ॥ २ ॥ अथवा सचित्तनिक्षिप्तं तत्पिहितं च संयतस्याजानतः प्रयुज्यमानमतीचारः ॥ २ ॥ कालातिक्रमः साधूनामुचितस्य भिक्षासमयस्य

लङ्घनं । स च यतीनयोग्ये काले भोजयतोऽनगारवेलाया वा प्रागेव पश्चाद्वा भुञ्जानस्य च तृतीयः स्यात् ॥ ३ ॥ परव्यपदेशः परस्यान्यस्य सम्बन्धीदं गुडखण्डादीति विशेषेणापदेशो व्याजाद्यदि वाऽयमत्र दाता दीयमानोऽप्ययमस्येति समर्पणं चतुर्थः ॥ ४ ॥ मत्सरः क्रोधः । यथा मार्गितः सन् कुप्यति, सदपि वा मार्गितं न ददाति प्रयच्छतोऽप्यादराभावो वा, अन्यदातृगुणासहिष्णुत्वं वा मत्सरः । यथाऽनेन तावच्छ्रावकेण मार्गितेन दत्तं किमहमस्मादपि हीनः इति परोन्नतिवैमनस्याद्ददाति । एतच्च मत्सरशब्दस्यानेकार्थत्वात्सङ्गच्छते ॥ तदुक्तं— मत्सरः परसम्पत्त्यक्षमायां तद्वति क्रुषि ॥ एते पूर्वे चाज्ञानप्रमादानामतिचाराः । अन्यथा तु भङ्गा एवेति विभावनीयम् ॥

अर्थ—अतिथिसंविभागव्रत करणाच्या श्रावकानें ह्या व्रतांत १ सचित्त निक्षेप करूं नये. ह्मणजे भूमि, हिरवें पान, पाण्याची घागर ह्यांवर दान करण्याची वस्तू ठेवूं नये. कारण त्या सजीव पदार्थातील सूक्ष्मजंतू दान करण्याच्या पदार्थात शिरतात, व त्या योगानें हिंसा होते. तसेंच २ तदावृत्ति करूं नये. ह्मणजे सजीवपदार्थानें ( हिरव्या पानानें ) द्यावयाची वस्तू झांकूं नये. तसें केलें असतां पूर्वीप्रमाणेंच हिंसा होत असल्यामुळें संयतयति तो पदार्थ स्वीकारीत नाही. यतीनें न स्वीकारिला तर तो पदार्थ आपल्या उपयोगी पडेल, असें ह्मणणें ही तुच्छ बुद्धी होय ! ही बुद्धी असणें निंद्य आहे. ३ कालातिक्रम करूं नये. ह्मणजे यतीच्या भोजनास योग्य असलेली वेळ दवडूं नये. योग्य समय जाऊं दिला असतां अयोग्य समयीं यतीकडून भोजन

करविल्यानें अतिथिसंविभागव्रताचा अतीचार होतो. ४ परव्यपदेश करूं नये. ह्यणजे दान करण्यास योग्य असलेला कोणताही आपला पदार्थ कपटानें दुसऱ्याचा आहे असें सांगूं नये. तसें सांगण्यानेंही अतीचार होतो. ५ मत्सर करूं नये. ह्यणजे एखादा अतिथि आपल्या घरीं शोध काढीत आला असतां त्यावर कोप करूं नये. त्याला पाहिजे असलेले पदार्थ नाहींत असें ह्यणूं नये. व दान करीत असतां अतिथीचा अनादर करूं नये. आणि दान करणाऱ्या कोणत्याही मनुष्याचा द्वेष करूं नये.

प्रकृतार्थोपसंहारपुरस्सरमुक्तशेषं निर्दिशन् श्रावकस्य महाश्रावकत्वमाह—

आतां; आरंभ केलेल्या प्रतिपादनाची समाप्ती करून व त्यांत सांगावयाचें राहिलेलें थोडक्यांत सांगून, त्याप्रमाणें वागणाऱ्या श्रावकास महाश्रावकत्व प्राप्त होतें असें सांगतात.

एवं पालयितुं व्रतानि विदधच्छीलानि सप्तमला-

न्यागूर्णः समितिष्वनारतमनोदीप्राप्तवाग्दीपकः ॥

वैयावृत्यपरायणो गुणवतां दीनानतीवोद्धरं-

श्रय्यां दैवसिकीमिमां चरति यः स स्यान्महाश्रावकः ॥

टीका—स्यात् भवेत् । कोऽसौ स गृही । किंविशिष्टो महाश्रावकः महानिन्द्रादीनां पूज्यः । श्रुणोति तत्त्वं गुरुभ्य इति श्रावकः महाश्वासौ श्रावकश्च महाश्रावकः । यः किं यश्चरति अनुतिष्ठति । कां चर्या आचारं । किंविशिष्टां दैवसिकीं दिवसे

अहोरात्रे भवा दैवसिकी तां । पुनः किंविशिष्टां इमां अनन्तरा-  
 ध्याये वक्ष्यमाणां । किं कुर्वन् विदधत् आचरन् । कानि शीलानि  
 व्रतपरिरक्षणानि । कति सप्त गुणव्रतत्रयशिक्षाव्रतचतुष्टयलक्षणानि ।  
 किंविशिष्टानि विदधत् अमलानि निरतिचाराणि । कथमेवमुक्त-  
 प्रकारेण । किं कर्तुं पालयितुं पालयिष्याम्यहमित्यभिप्रायेण ।  
 कानि व्रतानि सम्यग्दर्शनपूर्वाणि निरतिचारपञ्चाणुव्रतानि । किंवि-  
 शिष्टः सन् आगूर्णः उद्यतः । कासु समितिषु श्रुतनिरूपितक्रमे-  
 णेर्याभाषेष्णादाननिक्षेपोत्सर्गप्रभृतिषु संयमरूपाणुव्रतनिष्ठ इत्यर्थः ।  
 अणुव्रतमहाव्रतानि हि समितिसहितानि संयमस्तद्रहितानि विर-  
 तिरिति सिद्धान्तः । तदुक्तं— अणुव्ययमहव्ययाहं समिदीसाहि-  
 दार्यं संजमो समिदिहिं विणा विरदि इति ॥ पुनः किंविशिष्टः  
 अनारतमनोदीप्राप्तवाग्दीपकः आप्तानां परापरगुरूणां वाग्वचनमाप्त-  
 वाक् तज्जन्यश्रुतज्ञानमिह गृह्यते । कारणे कार्योपचारात् । आप्त-  
 वागेव दीपकः प्रदीपः स्वपरप्रकाशकत्वादाप्तवाग्दीपकः परमागम-  
 प्रदीपकः, अनारतं सततं मनसि चित्ते दीपो दीपनशीलोऽनार-  
 तमनोदीपस्तथाविध आप्तवाग्दीपको यस्य स तथोक्तः । पुनः  
 किंविशिष्टो वैयावृत्त्यपरायणो वैयावृत्त्यं निरवद्यवृत्त्या आपत्प्रती-  
 कारः तत्र परायणस्तत्परः । केषां गुणवतां गुणभाजां संयमविक-  
 र्पातिशयभाजां रत्नत्रयाराधकानां वा । पुनः किं कुर्वन् उद्धरन्  
 दुःखाद्विमोचयन् । कान् दीनान् अवृत्तिव्याधिशोकार्तान् ।  
 कथमतीव पाक्षिकाद्यपेक्षयाऽतिशयेन । एतेन सम्यग्दर्शनशुद्धत्वं  
 व्रतभूषणभूषितत्वं निर्मलशीलनिधित्वं संयमनिष्ठत्वं जिनागमज्ञत्वं  
 गुरुशुश्रूषकत्वं दयादिसदाचारपरत्वं चेति सप्तगुणयोगान्महा-  
 श्रावकत्वं कस्याचित्सुकृतिनः कालादिलब्धिविशेषवशाद्भवतीति  
 तात्पर्यार्थोऽत्र प्रतिपत्तव्य इति भद्रम् ॥

अर्थ—शाप्रमाणें वर सांगितलेली सात प्रकारचीं शीलव्रतें, अतीचार न होऊं देतां यथाविधि पाळण्याकरितां शास्त्रांत सांगितलेल्या क्रमानें संयम करण्याविषयीं उद्युक्त असलेला व ज्याच्या मनांत आप्तोपदेशरूपी दीप निरंतर प्रज्वलित आहे असा व रत्नत्रयाचें आराधन करणाऱ्यांस प्राप्त झालेलीं संकटें घालविण्यास तत्पर असलेला व दीन झालेल्यास दुःखापासून सोडविणारा जो श्रावक, प्रतिदिनीं करण्याविषयीं सांगितलेली ही क्रिया आचरण करितो, तो महाश्रावक (इंद्रादिकांनाहि पूज्य असा) होतो.

इत्याशाधरविरचितायां स्वोपज्ञधर्मांमृतसागारधर्मदीपिकायां  
भव्यकुमुदचन्द्रिकासञ्ज्ञायामादितश्चतुर्दशः प्रक्रमश्च  
पञ्चमोऽध्यायः समाप्तः ॥

अध्याय पांचवा समाप्त.

## ॥ अथ षष्ठोऽध्यायः ॥

इदानीमाहोरात्रिकमाचारं श्रावकस्योपदेष्टुकामः पूर्वं पौराहिनी-  
मितिकर्तव्यतां चतुर्दशभिः श्लोकैर्व्याकरोति ॥

आतां; अहोरात्र करावयाच्या क्रियांचा श्रावकास  
उपदेश करण्याकरितां प्रथम मध्यान्हापर्यंत करावयाचीं  
कर्म चवदा श्लोकांनीं विवरण करून सांगतात.

ब्राह्मे मुहूर्त उत्थाय ।

वृत्तपञ्चनमस्कृतिः ॥

कोऽहं को मम धर्मः किं ।

व्रतं चेति परामृशेत् ॥ १ ॥

टीका—परामृशेत् चिन्तयेत् श्रावकः । किं इति एतत् तद्यथा  
कोऽहं क्षत्रियो ब्राह्मणादिर्वा इक्ष्वाकुवंशोद्भवोऽन्यवंशोद्भवो वाऽह-  
मित्यादि चिन्तयेत् । तथा को मम धर्मो जैनोऽन्यो वा श्रावकीयो  
यत्यादिसंबंधी वा मे देवादिसाक्षिकं प्रतिपन्नो वृष इति चिन्त-  
येत् । तथा किं व्रतं मूलगुणरूपमणुव्रतादिरूपं वा मम । चशब्दात्  
के गुरवो ममेति । कुत्र ग्रामे नगरादौ वा वसामीति । कोऽयं कालः  
प्रभातादिरिति चेत्यादि समुच्चीयते । स्ववर्णादिस्मृतौ हि तद्विरु-  
द्धपरिहारं सुखेन करोति । कथम्भूतो भूत्वा वृत्तपञ्चनमस्कृतिः  
अन्तर्जरूपेण बहिर्जरूपेणापि वा वृत्ता पठिता पञ्चनमस्कृतिः णमो  
अरहंताणमित्यादिगाथारूपः पञ्चनमस्कारो येन स तथोक्तः । किं  
कृत्वा तेनेत्याह उत्थाय विनिद्रीभूय । क मुहूर्ते नाडीद्वये ।  
किंविशिष्टे ब्राह्मे ब्राह्मी सरस्वती देवता अस्येति ब्राह्मस्तस्मिन्नि-

श्रावसानघटिकाद्वय इत्यर्थः । तदुक्तं— ब्राह्मे मुहूर्त उत्थाय सर्व-  
कार्याणि चिन्तयेत् । यतः करोति सान्निध्यं तस्मिन् हृदि सर-  
स्वती ॥ ततः—

अर्थ—श्रावकाने पहांटेच्या दोन घटका रात्री उठून,  
पंचनमस्कारांचे पठण करून, मी कोण? माझा धर्म  
कोणता? माझे व्रत कोणते? याचा विचार करावा.

अनादौ बम्भ्रमन् घोरे ।

संसारे धर्ममार्हतम् ॥

श्रावकीयमिमं कृच्छ्रात् ।

किलापं तदिहोत्सहे ॥ २ ॥

टीका—किल एवं ह्यागमे श्रूयते आपं प्राप्तोऽहं । कं धर्मं । किंवि-  
शिष्टं आर्हतं अर्हता वीतरागसर्वज्ञेन प्रोक्तं । किंप्रयोक्तृकं श्राव-  
कीयं श्रावकाणामयं श्रावकीयस्तमुपासकोपासनीयमित्यर्थः । कीदृ-  
शमिमं इदानीमप्यंतःस्फुरंतं । कस्मादापं कृच्छ्रात् जगत्यनन्तै-  
केत्यादिना प्रागुक्तात् । किं कुर्वन् बम्भ्रमन् कुटिलं पर्यटन् ।  
क संसारे द्रव्यक्षेत्रकालभवभावपरिवर्तनरूपे आजीवज्जीवीभावे ।  
किंविशिष्टे घोरे भयङ्करे । पुनः किंविशिष्टे अनादौ नास्ति पूर्वो  
यस्यासावनादिः तस्मिन् बीजाङ्कुरन्यायेन सन्तत्या वर्तमान  
इत्यर्थः । तत्तस्मात् उत्सहे प्रमादपरिहारेण वर्तेऽहं । क इहास्मिन्  
अत्यन्तदुर्लभे धर्मे ॥

अर्थ—अनादि अशा ह्या भयंकर संसारांत वरचेवर  
फिरणारा असा मी; मोठ्या कष्टाने, श्रावकाने आचरण  
करण्यास योग्य व सर्वज्ञ श्रीजिनेंद्राने प्रतिपादित अशा



ह्या जिनधर्माप्रत प्राप्त झालों आहे. ह्मणून, ह्या धर्मात,  
प्रमाद न होऊं देतां वागेन !

इत्यास्थायोत्थितस्तल्पा- ।

च्छुचिरेकायनोऽर्हतः ॥

निर्मायाष्टतयीमिष्टि ।

कृतिकर्म समाचरेत् ॥ ३ ॥

टीका—समाचरेत् सम्यगनुतिष्ठेत् व्रतिकः । किं तत् कृतिकर्म  
योग्यकालासनेत्यादिना प्राक्प्रबन्धेन सूचितप्रायं वन्दनाविधानं ।  
किं कृत्वा निर्माय कृत्वा कां इष्टिं पूजां किंविशिष्टामष्टतयीं अष्टौ  
जलगन्धाक्षतादयोऽवयवा यस्याः सा अष्टतयी तामष्टविधामित्यर्थः ।  
कस्य अर्हतः भगवतोऽर्हदेवस्य । उपलक्षणात् श्रुतस्य गुरुचरणानां  
च । किंविशिष्टः सन् एकायनः एकाग्रमनाः । कथम्भूतो भूत्वा  
शुचिः शरीरचिन्तां कृत्वा विधिवद्विहितशौचस्नानदन्तधावनादि-  
क्रियः । एतच्चानुवादपरं लोकप्रसिद्धत्वान्मलोत्सर्गाद्यर्थस्य नोपदेशः ।  
परमप्राप्ते शास्त्रस्यार्थवत्त्वादेवमुत्तरत्राप्यप्राप्त आमुष्मिकादिविषये  
उपदेशः फलवानिति चिन्त्यं । किंविशिष्टः सन् उत्थितः उत्थीभूतः  
कस्मात् तल्पात् त्यक्तशयनीय इत्यर्थः । किं कृत्वा आस्थाय प्रति-  
ज्ञाय । कथमित्येवमनादावित्यादिना पूर्वोक्तप्रकारेण । ततश्च—

अर्थ—ह्याप्रमाणें प्रतिज्ञा करून शयनावरून उठार्वें,  
आणि मुखमार्जन स्नान वगैरेंनीं शुद्ध होऊन एकाग्र-  
मनानें जल गंध अक्षता वगैरे आठ द्रव्यांच्या योगानें  
श्रीजिनेंद्राची पूजा करून, वंदनाविधि करावा.

समाध्युपरमे शान्ति- ।

मनुध्याय यथाबलम् ॥

प्रत्याख्यानं गृहीत्वेष्टं ।

प्रार्थ्य गन्तुं नमेत् प्रभुम् ॥ ४ ॥

टीका—नमेत् पञ्चाङ्गप्रणामेन नमस्येत् कृतक्रियः श्रावकः ।  
कं प्रभुं अर्हद्देवं । किं कर्तुं गन्तुं इष्टदेशान्तरं विहर्तुं । किं कृत्वा  
प्रार्थ्य याचित्वा । किं तत् इष्टं वाञ्छितं पुनर्दर्शनसमाधिमरणादिकं ।  
किं कृत्वा गृहीत्वा प्रतिपद्य । किं तत् प्रत्याख्यानं भोगोपभो-  
गादिनियमविशेषं । कथं यथाबलं शक्त्यनतिक्रमेण । किं कृत्वा  
अनुध्याय अनुचिन्त्य । कां शान्तिं । येऽभ्यर्चिता मकुटकुण्डलहा-  
ररत्नैरित्यादिप्रबंधेन श्रूयमाणां । क सति समाध्युपरमे समाधेर-  
वश्यकरीयस्य धर्म्यध्यानस्य निवृत्तौ । ततश्च—

अर्थ—मग धर्म्यध्यान समाप्त झाल्यावर शांतिभक्तीचा  
पाठ करून आपल्या शक्तीप्रमाणें भोगोपभोगपरिमाणा-  
दिब्रताचा स्वीकार करून व इष्ट असलेल्या समाधिमरणा-  
दिकांविषयीं प्रार्थना करून, इच्छितस्थलीं जाण्याकरितां  
प्रभूस नमस्कार करावा.

साम्यामृतसुधौतान्त- ।

रात्मराजजिनाकृतिः ॥

दैवादैश्वर्यदौर्गत्ये ।

ध्यायन् गच्छेज्जिनालयम् ॥ ५ ॥

टीका—गच्छेत् व्रजेत् तथानुष्ठितावश्यकः श्रावकः । कं  
जिनालयं अर्हच्चैत्यगृहं । किंविशिष्टः सन् साम्येत्यादि साम्यं  
जीवितमरणादौ समतापरिणामस्तदेवामृतं प्रसक्तिप्रकर्षहेतुत्वात्तेन

सुष्ठु संस्कारदार्ढ्यलक्षणप्रकर्षापादनेन अतिशयेन घौतः क्षालितो  
विशुद्धिमापादितः अन्तरात्मा स्वपरभेदज्ञानोन्मुखमन्तःकरणं तत्र  
राजन्ती दीप्यमाना जिनाकृतिः परमात्ममूर्तिर्यस्य स तथोक्तः ।  
किं कुर्वन् गच्छेत् ध्यायन् चिन्तयन् । के ऐश्वर्यदौर्गत्ये ऐश्वर्य-  
मर्थाद्याधिपत्यं दौर्गत्यं दारिद्र्यं ऐश्वर्यं च दौर्गत्यं च ऐश्वर्यदौर्गत्ये  
सम्भवन्तीति ध्यायन् । कस्मात् दैवात् पुराकृतशुभाशुभकर्मविपाकात् ।  
इदमत्रैदम्पर्यं यदीश्वरो महर्द्धिको राजा सामन्तादिर्वा भवति तदा  
पुण्यविपाकप्रभवा सम्पदियं न पौरुषेयी तदस्यां कथमात्मज्ञो  
मदमुपेयादिति भावयन् गच्छेत् । अथ दरिद्रस्तदा पापविपाक-  
जनितमिदं दारिद्र्यदुःखं न केनापि च्छेत्तुं शक्यं तदत्र को बुद्धि-  
मान् विषादमासीदतीति भावयन् गच्छेदिति ॥

अर्थ—मग, जगणें व मरणें ह्या दोहोंविषयीं समबुद्धि-  
रूपी अमृतानें शुद्ध झालेल्या ज्याच्या अंतःकरणांत  
श्रीजिनेंद्राची मूर्ति विराजित झाली आहे ( शुद्धांतःकरणांत  
जिनमूर्तीचें ध्यान करणाऱ्या ) अशा श्रावकानें, “ संपत्ति  
व विपत्ति ह्या दैवाधीन आहेत ” असा विचार करून,  
जिनमंदिरास गमन करावें.

अनुवादमुखेन चैत्यालयव्रजनविधिमाह—

आतां; चैत्यालयांत जाण्याचा प्रकार सांगतात.

यथाविभवमादाय ।

जिनाद्यर्चनसाधनम् ॥

व्रजन्कौत्कुटिको देश- ।

संयतः संयतायते ॥ ६ ॥

टीका—संयतायते संयतं यतिमिवात्मानमाचरति । कोऽसौ देशसंयतः श्रावकः । किं कुर्वन् व्रजन्गच्छन् । किंविशिष्टः सन् कौत्कुटिकः पुरो युगमात्रप्रेक्षीत्यर्थः । किं कृत्वा आदाय गृहीत्वा । किं तत् जिनादीनामर्हच्छ्रुताचार्याणामर्चनसाधनं पूजाङ्गं जलगन्धाक्षतादिकं । कथं यथाविभवं स्वसम्पदनुसारेण ॥

अर्थ—आपल्यास द्रव्याची अनुकूलता जशी असेल त्या मानाने श्रीजिनेंद्रादिकांच्या पूजेचे साहित्य घेऊन जो देशसंयत श्रावक चार हात लांबीपेक्षा अधिक लांब प्रदेशांकडे न बघणारा असा होत्साता— जिनालयांत गमन करतो, तो श्रावक यतीप्रमाणे वागत आहे, असे समजावे. ( अशा श्रावकास यतीप्रमाणे मानावे. )

दृष्ट्वा जगद्बोधकरं ।

भास्करं ज्योतिरार्हतम् ॥

स्मरतस्तद्बृहशिरो- ।

ध्वजालोकोत्सवोऽघट्टत् ॥ ७ ॥

टीका—भवति । कोऽसौ तद्बृहशिरोध्वजालोकोत्सवः जिनचैत्यालयशिखरकेतनदर्शनानंदः । किंविशिष्टोऽघट्टत् पापहरः । कस्य तथागच्छतः श्रावकस्य । किं कुर्वतः स्मरतः स्मृतिविषयीकुर्वतः । किं तत् ज्योतिः ज्ञानमयं वाच्यं वा तेजः । किंविशिष्टमार्हतं जैनं । किं कृत्वा दृष्ट्वा आलोक्य कं भास्करमादित्यं । किंविशिष्टं जगद्बोधकरं जगतां दिवाचरप्राणिनां बोधं निद्रापनोदं करोतीत्येवंशीलं उद्यन्तमित्यर्थः । पक्षे बहिरात्मप्राणिनां मोहनिद्राप्रहरणशीलम् ॥

अर्थ—जगास जागृत करणाऱ्या ( उदय पावत असलेल्या ) सूर्यास पाहून, तेजोमय अशा अर्हत्परमेश्वराचे स्मरण करणाऱ्या श्रावकास - जिनमंदिराच्या शिखरावर असलेल्या ध्वजांच्या अवलोकनाने—होणारा आनंद, त्याचे सर्व पाप घालविणारा होतो.

वाद्यादिशब्दमाल्यादि- ।

गन्धद्वारादिरूपकैः ॥

चित्रैरारोहदुत्साह- ।

स्तं विशेषेनिसहीगिरा ॥ ८ ॥

टीका—विशेत् प्रविशेदसौ कं तं जिनालयं । कया निसहीगिरा निसहीति शब्दमुच्चारयन्नित्यर्थः । किंविशिष्टः सन् आरोहदुत्साहः प्रवर्द्धमानधर्माचरणोद्योगः । कैः वाद्यादीत्यादि वाद्यानां प्राभातिकतूर्याणामादिशब्देन स्वाध्यायस्तुतिमङ्गलगीतादीनां च शब्दैर्निनादैः । तथा माल्यादीनां चम्पकपुष्पादिमालानां आदिशब्देन धूपचूर्णादीनां च गंधैरामोदैस्तथा द्वारस्य प्रवेशमुखस्य आदिशब्देन तोरणस्तम्भशिखरादीनां च रूपकैश्चेतनाचेतनप्रतिच्छन्दैः । किंविशिष्टैश्चित्रैर्नानाप्रकारैर्विस्मयकरैश्च ॥

अर्थ—आल्हाद देणारे असे वाद्यादिकांचे शब्द, पुष्पादिकांचा सुगंध व द्वारादिकांचे आकार ह्यांच्या योगाने ज्याचा आनंद वाढत आहे अशा श्रावकाने ' निसही ' असा शब्द उच्चारित त्या जिनमंदिरांत प्रवेश करावा.

क्षालितांग्रिस्तथैवान्तः ।

प्रविश्यानन्दनिर्भरः ॥

त्रिः प्रदक्षिणयेन्नत्वा ।

जिनं पुण्याः स्तुतीः पठन् ॥ ९ ॥

टीका—प्रदक्षिणयेत् प्रदक्षिणीकुर्यादसौ । कं जिनं स्थापनार्हन्तं । कथं त्रिस्त्रीन् वारान् । किं कुर्वन् पठन् निगदन् । काः स्तुतीः स्तवनवाक्यानि । किंविशिष्टाः पुण्याः ज्ञानसंवेगादिगुणप्रव्यक्तीकरणेन अशुभकर्मनिर्जरणीः पुण्यास्तवणीश्च । किं कृत्वा नत्वा त्रिः प्रणम्य जिनं । किंविशिष्टः सन् आनन्दनिर्भरः प्रमोदपूरित-सर्वांगः । किं कृत्वा प्रविश्य आक्रम्य । किं तत् अन्तः चैत्याल्यमध्यदेशं । कथं तथैव निसहीगिरैव । कथम्भूतो मूत्वा क्षालिताद्दग्धिः धौतपादः ॥

अर्थ—मग पादप्रक्षालन करून, पूर्वीप्रमाणेंच 'निसही' ह्या शब्दाचा उच्चार करीत आंत प्रवेश करून, आनंदित झालेल्या श्रावकानें, श्रीजिनेंद्रास नमस्कार करून, पुण्यकारक अशा जिनस्तोत्राचा पाठ करीत तीन प्रदक्षिणा कराव्या.

सेयमास्थायिका सोऽयं ।

जिनस्तेऽमी सभासदः ।

चिन्तयन्निति तत्रोच्चैः ।

रनुमोदेत धार्मिकान् ॥ १० ॥

टीका—अनुमोदेत साधु इमे अनुतिष्ठन्तीति मनसाऽभिनन्देदसौ । कान् धार्मिकान् धर्मं चरतोऽनगारसागारभव्यजनान् । कथमुच्चैरतिशयेन मुहुर्मुहुरित्यर्थः । क तत्र चैत्यालये । प्रदक्षिणी-

करणे वा । किं कुर्वन् चिन्तयन् परामृशन् । कथमिति किमिति  
इयं चैत्यालयभूमिः । सा आगमप्रसिद्धा । आस्थायिका सम-  
वसरणभूमिः । तथा अयं प्रतिमार्पितो जिनः स आगमप्रसिद्धोऽष्ट-  
महाप्रातिहार्यादिविभूतिभूषितोऽर्हन् । अमी आराधकमव्यास्ते  
आगमप्रसिद्धाः सभासदः सभ्या यत्यादयो द्वादश साक्षादर्हदेव-  
सेवावहिताः ॥

अर्थ—मग त्याने; मंदिरांतील भूमि हीच शास्त्रांत  
वर्णन केलेली समवसरणमभा, शास्त्रांत वर्णिलेला तोच  
हा जिन व ह्या ठिकाणीं असलेले भव्यजन हेच शास्त्रांत  
सांगितलेले समवसरणसभेतील सभासद आहेत, ह्याप्रमाणें  
चितन करीत त्या वस्तूंचें व धार्मिक भव्यजनांचें मनानेंच  
स्तवन करावें.

अथेय्यापथसंशुद्धि ।

कृत्वाऽभ्यर्च्य जिनेश्वरम् ॥

श्रुतं सूरिं च तस्याग्रे ।

प्रत्याख्यानं प्रकाशयेत् ॥ ११ ॥

टीका—प्रकाशयेत् प्रतिपादयेदेष महाश्रावकः । किं तत्  
प्रत्याख्यानं प्राग्गृहे गृहीतं । क अग्रे । कस्य तस्य सूरिः । किं  
कृत्वा अभ्यर्च्य अभिमुखं पूजयित्वा । कं जिनेश्वरं श्रुतं सूरिं च ।  
किं कृत्वा कृत्वा विधाय । कां ईर्यापथसंशुद्धि । कथं अथ  
प्रणामपूर्वकपुण्यस्तुतिपाठविशेषप्रदक्षिणीकरणानंतरमिति समन्वयः ।  
अयमत्र विशेषः ईर्या ईरणं गमनं पन्था मार्गो यस्य तदीर्यापथं  
संयमविराघनं तस्य संशुद्धिः सम्यक् शोधनं प्रतिक्रमण-  
मित्यर्थः । अभ्यर्च्य जावरहंताणं भयवंताणं णमोकारं करोमीति

वचनात् । प्रतिक्रमणानन्तरं नमोर्हऽञ्च इत्यनेन “ जयन्ति निर्जिताशेषसर्वथैकान्तनीतयः । सत्यवाक्याधिपाः शश्वद्विद्यानन्दा जिनेश्वराः ” इत्यादिना वाचनिकनमस्कारेण जलादिपूजाष्टकेन वा अभिमुखं पूजयित्वा । एष क्रमः श्रुतसूर्योरपि यथास्वं कल्प्यः । स एष जघन्येन वन्दनाविधिः प्रकर्षवृत्त्याऽस्य प्रथममेव गृहेऽनुष्ठानोपदेशात् ॥

अर्थ—ज्ञापमाणें प्रदक्षिणा झाल्यावर ईर्यापथसंशुद्धि करून, मग श्रीजिनेश्वराची पूजा करावी. नंतर शास्त्र व साधु ह्यांची पूजा करून त्या साधूंच्या अग्रभागीं आपण घरीं घेतलेलें व्रत सांगावें.

ततश्चावर्जयेत्सर्वा- ।

न्यथार्हं जिनभाक्तिकान् ॥

व्याख्यातः पठतश्चार्ह- ।

द्वचः प्रोत्साहयेन्मुहुः ॥ १२ ॥

टीका—ततश्च प्रत्याख्यानप्रकाशनावसानक्रियाकल्पनिवर्तनानन्तरं आवर्जयेदनुरञ्जयेदसौ । कान् जिनभाक्तिकान् अर्हद्देवाराधकान् । किंविशिष्टान् सर्वान् उत्तमादिभेदभिन्नान् । कथं यथार्हं यथायोग्यप्रतिपत्त्या । तत्र मुनीन्नमोऽस्त्विति । आर्यिका वंदे इति । श्रावकानिच्छामीत्यादिप्रसिद्धविनयकर्मणोपचरोदित्यर्थः ॥ उक्तं च—अर्हद्रूपे नमोऽस्तु स्याद्विरतौ विनयक्रिया । अन्योन्यं क्षुल्लके चार्हमिच्छाकारवचः सदा ॥ तथा प्रोत्साहयेत् प्रकर्षेण उद्योगवतः कुर्यादसौ । कान् पुरुषान् । किं कुर्वतो व्याख्यातः पदपदार्थादिसमर्थनलक्षणेन विशेषेण आशिष्यबोधोत्पत्तेर्वर्णयत उपाध्यायादीनित्यर्थः । किं तद्व्याख्यातोऽईद्वचः परमागमयु-



क्त्यागमशब्दागमादिभेदं जिनप्रवचनं । न केवलं व्याख्यातः  
पठतश्च अधीयानान् शिष्यादीनित्यर्थः । कथं मुहुः पुनः पुनः ॥

अर्थ—नंतर, श्रीजिनाची आराधना करणाऱ्या उपासकांचा त्यांच्या त्यांच्या योग्यतेप्रमाणे विनय दाखवून, संतोष करावा. [ त्याचा प्रकार असा—, जे दिगंबरमुनि असतील त्यांस ' नमोऽस्तु ' ( आपल्यास नमस्कार असो ) असें ह्मणावे. आर्यिकास ' वन्दे ' ( मी नमस्कार करतो ) आणि श्रावकांस ' इच्छामि ' ( तुम्ही सुखी असावे असें मी इच्छितो ) असें ह्मणावे. ] आणि, अर्हद्देवाच्या वचनांचे युक्तिप्रयुक्तीने व्याख्यान करणारे किंवा त्या वचनांचा मुखपाठ करणारे अशा उपाध्याय वगैरे लोकांस ' तुम्ही चांगले करता ' असें बोलून प्रोत्साहन द्यावे.

अन्यच्च किं कुर्यादित्याह—

आणखी काय करावे ? ते सांगतात.

स्वाध्यायं विधिवत्कुर्या- ।

दुद्धरेच्च विपद्गतान् ॥

पक्वज्ञानदयस्यैव ।

गुणाः सर्वेऽपि सिद्धिदाः ॥ १३ ॥

टीका—कुर्यादसौ कं स्वाध्यायं श्रुताध्ययनं यथोचितं वाचनादिरूपं वा किंवत् विधिवत् शास्त्रोक्तविधानेन व्यञ्जनशुध्यादिलक्षणाष्टविधवचनेन । तथा उद्धरेत् विपदो विमोचयेदसौ । कान् विपद्गतान् शारीरमानसासातशतितशक्तीन् दीनानित्यर्थः । यतो भवन्ति । के ते गुणाः काठिण्यत्यागशौर्यसौन्दर्यादयः । किं

विशिष्टाः सिद्धिदाः वाञ्छितार्थसम्पादका मुक्तिप्रदा वा । किं केचिन्नेत्याह सर्वेऽपि निःशेषाः । कस्य पक्कज्ञानदयस्यैव पुंसः ज्ञानं तत्त्वावबोधः दया सर्वप्राणिषु करुणा दुःखोच्छित्त्यभिलाषलक्षणा, ज्ञानं च दया च ज्ञानदये, पक्के परिणते सात्मीभूते ज्ञानदये यस्य स पक्कज्ञानदयस्तस्यैव । न तु बहिर्द्योतिज्ञानस्य कादाचित्कानुकंपस्य चैवेत्येवशब्दार्थः ॥

अर्थ—यथाविधि स्वाध्याय करावा ! विपत्तीनें पीडित झालेल्यांस त्यापासून मुक्त करावे !! कारण, ज्या पुरुषाचें ज्ञान व दया हे दोनी गुण पक्कदशेस प्राप्त झाले असतील त्याचे बाकी सर्व गुण सिद्धि देणारे (मुक्ति देणारे) होतात !!!

एवं विधेयमाचरणमुपदिश्य निषिद्धं तदुपदेष्टुमाह—

ह्याप्रमाणे कर्तव्याविषयीं उपदेश करून आतां निषिद्धा-विषयीं सांगतात.

मध्येजिनगृहं हासं ।

विलासं दुःकथां कलिम् ॥

निद्रां निष्ठ्यूतमाहारं ।

चतुर्विधमपि त्यजेत् ॥ १४ ॥

टीका—त्यजेदसौ हास्यादीन् सप्त । क मध्येजिनगृहं जिनगृह-मत्र महाश्रावकापेक्षया सकलश्चैत्यालयः इतरापेक्षया तदेकदेशो गन्धकुटिमात्रं । जिनगृहस्य मध्ये मध्येजिनगृहं । पारे मध्ये तथा वेत्यनेनाव्ययीभावः । हासो हास्यं । विलासः शृंगारचेष्टा-विशेषः । दुःकथा दुष्टा चित्तकालुष्यकारिणी कथा कामक्रोधा-

दिकथा राजादिकथा वा । कलिः कलहः । निद्रा स्वापः ।  
निष्ठ्यूतं मुखश्लेष्मादिनिरसनं ॥

अर्थ—जिनमंदिरांत— हंसणें, स्त्रियांबरोबर शृंगारचेष्टा  
करणें, मनाला बिघडविणाऱ्या गोष्टी, कलह, निद्रा, थुंकणें  
वगैरे आणि चारही प्रकारच्या पदार्थांचें भक्षण, हीं करूं  
नयेत. [ भक्ष्यपदार्थ—नुसतेच गिळण्याचे, चावण्याचे,  
पिण्याचे व चोखण्याचे असे चार प्रकारचे आहेत. ]

एवं प्राभातिकं धर्मकर्मापदिश्यानन्तरविधेयमर्थार्जनादिविधि-  
माभिधत्ते—

ह्याप्रमाणें, सकाळच्या प्रहरीं करणेचा सर्व विधि सांगून  
आतां त्यानंतर करणेचा द्रव्यार्जनाचा विधि सांगतात.

ततो यथोचितस्थानं ।

गत्वाऽर्थेऽधिकृतान् सुधीः ॥

अधितिष्ठेद्यवस्येद्वा ।

स्वयं धर्माविरोधतः ॥ १५ ॥

टीका--ततः प्राभातिकधर्मानुष्ठाननिष्ठापनानन्तरं । अधितिष्ठेत्  
सनाथीकुर्यात् । कोऽसौ सुधीः लोकद्वयहिताहितविचारचतुरः श्राव-  
कः । कान् अर्थेऽधिकृतान् अर्थस्यार्जने रक्षणे वर्द्धने च नियुक्तान् ।  
किं कृत्वा गत्वा प्राप्य । किं तत् स्थानं प्रदेशं । किंविशिष्टं  
यथोचितं यद्यद्यस्यार्थार्जनादियोग्यं तत्तत्तेन गम्यमित्यर्थः । वा  
पक्षांतरे । तादृक्सामग्र्यभावे । पुनः सुधीः स्वयमात्मना अर्थे  
व्यवस्येत् तदर्जनादौ न्याप्रीयेत । कस्मात् धर्माविरोधतः प्रति-  
पन्नजिनधर्मानुपघातेन । स च राज्ञां दरिद्रेश्वरयोर्मान्यामान्ययो-  
रुत्तमनीचयोश्च माध्यस्थेन न्यायदर्शनात् नियोगिनां च राजार्थ-

प्रजार्थसाधनेन, वणिजां च कूटतुलामानादिपरिहारेण, वनजीविका-  
दिपरिहारेण च बोध्दव्यः ॥

अर्थ—मग, द्रव्य संपादनास योग्य असलेल्या स्थलीं  
( दुकानांत अथवा बाजारांत ) जाऊन, द्रव्यसंपादनाकरितां  
व संपादित द्रव्याच्या वृद्धीकरितां नेमलेल्या लोकांवर  
सुबुद्धि अशा श्रावकानें देखरेख करावी. अथवा, धर्माचा  
भंग न होऊं देतां स्वतः देखील द्रव्यसंपादनाचा उद्योग  
करावा. [ तो उद्योग राजानें स्वतः करावयाचा असल्यास  
दरिद्री व श्रीमान्, प्रतिष्ठित व अप्रतिष्ठित, उत्तम व नीच  
अशा लोकांत अगदीं तिऱ्हाईतपणानें असून करावा.  
तसेंच त्याकरितां नेमलेल्या मनुष्यानें करणें झाल्यास,  
राजा व प्रजा ह्या दोघांचेही नुकसान न होईल अशा  
रीतीनें करावा. आणि वैश्यानें करावयाचा असल्यास  
खोटें माप न करतां करावा. ]

पौरुषस्य वैफल्यसाफल्यदौ विषादहर्षपरिहारार्थमाह—

आतां; उद्योग निष्फल झाला असतां व सफल झाला  
असतां, त्यासंबंधानें; खेद व आनंद मानूं नयेत, अशा-  
बद्दल सांगतात.

निष्फलेऽल्पफलेऽनर्थ- ।

फले जातेऽपि पौरुषे ॥

न विषीदेन्नान्यथा वा ।

हृषेच्छीला हि सा विधेः ॥ १६ ॥

टीका—न विषीदेत् न विषादं गच्छेदसावर्थानुबंधपरः । क

सति पौरुषे पुरुषकारे । किंविशिष्टे जाते निष्पन्ने । कीदृशे निष्फले  
चिकीर्षितप्रयोजनबन्धे । तथा अल्पफले सम्भावितार्थलाभाद्यूनार्थ-  
लाभे । तथाऽनर्थफले अनर्थोऽर्थनाशादिलक्षणपुरुषार्थभ्रंशः फलं  
साध्यं यस्य सोऽनर्थफलस्तस्मिन् । अपिः समुच्चये । न वा हृष्येत्  
हर्षगच्छेदसौ । क सति पौरुषे जाते सति । कथमन्यथा सफले  
बहुफलेऽर्थानुबन्धफलेऽपीत्यर्थः । कुत इत्याह—हि यस्मात् वर्तते ।  
काऽसौ सा पौरुषस्य नैष्फल्यसाफल्यदिजननलक्षणा लीला  
निरंकुशप्रवृत्तिः । कस्य विधेः पुरार्जितपापपुण्यकर्मणः ॥

अर्थ—उद्योग निष्फल झाला असतां, किंवा त्यापासून  
फल स्वल्प झालें असतां, अथवा मुळींच फल झालें नसतां  
खेद करूं नये ! तसेंच उद्योगापासून उत्कृष्ट फल मिळालें  
असतां आनंदही मानूं नये !! कारण, उद्योगाचें फल येणें  
अथवा न येणें ही पूर्वजन्मीं केलेल्या कर्माची लीला आहे !!  
अर्थात् फल येणें अथवा न येणें हें आपल्या आधीन नाही.

अथ प्राणयात्राविध्यर्थं नवश्लोकीमाह—

आतां; पुढल्या नऊ श्लोकांनीं उपजीविकेसंबंधानें  
सांगतात.

कदा माधुकरी वृत्तिः ।

सा मे स्यादिति भावयन् ॥

यथालाभेन सन्तुष्ट ।

उत्तिष्ठेत तनुस्थितौ ॥ १७ ॥

टीका—ततश्च उत्तिष्ठेत अर्थचिन्तातो विरम्योद्यमं कुर्यादसौ ।  
क तनुस्थितौ शरीरस्वास्थ्यानुवृत्तिनिमित्तप्रवृत्तौ । किंविशिष्टः सन्

सन्तुष्टः धृतिं गतः । केन यथालाभेन यो यो लाभो मूलधनाद-  
धिकं धनं तेन । किं कुर्वन् भावयन् चित्ते धारयन् । किं इति एतत्  
किमेतदित्याह कदा कस्मिन्काले । स्याद्भविष्यति । काऽसौ सा  
सूत्रोक्ता वृत्तिः अर्थात् भिक्षा । कस्य मे मम किंविशिष्टा माधुकरी  
मधुकराणां भ्रमरादीनामियं माधुकरी तत्संबन्धिनीव पुष्पाणामिव  
दातृणामनुपपीडनेनात्मप्रीणनहेतुत्वात् ॥

अर्थ—मग, जेवढा लाभ झाला असेल तेवढ्यानेच  
संतोष पावलेल्या श्रावकानें—ती माधुकरी वृत्ति ( भिक्षावृत्ति )  
मला केव्हां प्राप्त होईल ! असें चिंतन करीत; शरीराच्या  
स्वस्थतेकरितां ( भोजनाकरितां ) उद्योग करावा. [ ह्या  
माधुकरी वृत्तीचा अभिलाष करण्याचें प्रयोजन असें आहे  
कीं ; तीपासून दान करणाऱ्यावर भार न होतां, आपलें  
कार्य होतें. ह्या माधुकरीवृत्ति शब्दाचा अर्थ—भ्रमरा-  
सारखा व्यापार, ( ज्याप्रमाणें भ्रमर अनेक पुष्पांवर हिंडून  
त्यांना पीडा न करितां आपलें पोषण करतो; त्याप्र-  
माणें दान करणाऱ्यास त्रास न होऊं देतां. आपलें  
पोषण करणें, असा आहे....अर्थात् दिगंबरपणा. ]

नीरगोरसधान्यैधः- ।

शाकपुष्पाम्बरादिभिः ॥

क्रीतैः शुध्याविरोधेन ।

वृत्तिः कल्प्याऽघलाघवात् ॥ १८ ॥

टीका—कल्प्या सम्पाद्या । श्रावकेण । काऽसौ वृत्तिः स्वा-  
स्थ्यानुवृत्तिकरी प्रवृत्तिः । कस्मात् अघलाघवात् पापाल्पत्वात् ।  
तदाश्रित्येत्यर्थः । कैः कल्प्या नीरादिभिः । किंविशिष्टैः क्रीतैः

मूल्यदानेन गृहीतैः । केन विशुध्याविरोधेन स्वप्रतिपन्नसम्यक्त्वव्रतानुपघातेन । तत्र नीरं जलं गोरसः क्षीरादिः धान्यं तण्डुलादिः एषांसि इन्धनानि शाकं पत्रादिहरितकं पुष्पाम्बरादि कुसुमवस्त्र-सद्वापट्टकतृणादि ॥

अर्थ—पाणी, दूध दही वगैरे गोरस, धान्य, इन्धन, पालाभाजी व फलभाजी, फुलें, वस्त्र वगैरे विकत घेतलेल्या पदार्थांच्या योगानें; आपल्या सम्यक्त्वाची हानि न होऊं देतां; कोणत्या पदार्थांच्या सेवनांत न्यून पातक आहे हें मनांत आणून श्रावकानें शरीरनिर्वाहाचा व्यापार करावा.

सधर्मिणोऽपि दाक्षिण्या- ।

द्विवाहादौ गृहेऽप्यदन् ॥

निशि सिद्धं त्यजेद्दीनै- ।

व्यवहारं च नावहेत् ॥ १९ ॥

टीका—त्यजेदसौ । किं तत् सिद्धं निष्पन्नमन्नं । क निशि रात्रौ । तदा ह्यन्नपाके त्रसघातपातौ परिहर्तुमशक्यौ । किं कुर्वन् अदन् भुञ्जानः । क गृहे । कस्य सधर्मिणोऽपि न परं पुत्रादेः । किं तदासीनसाधर्मिकस्यापि । कस्मात् दाक्षिण्यात् उपरोधवशात् । क विवाहादावपि न परमिष्टभोज्यादौ । तथा नावहेत् न कुर्यात् । कं व्यवहारं दानप्रतिग्रहादिलक्षणं कर्म । कैः सह हीनैः सर्वधर्म-धनादिना रहितैरल्पैर्वा गृहिभिः सह ॥

अर्थ—आग्रहामुळे, विवाहादि समारंभांत एखाद्या सधर्मीयाच्या घरीं दखील भोजन करीत असतां रात्रीं

शिजविलेले अन्न खाऊं नये. व जातीने हीन अस-  
लेल्या मनुष्यांशी कोणत्याही प्रकारचा व्यवहार करूं नये.

उद्यानभोजनं जन्तु- ।

योधनं कुसुमोच्चयम् ॥

जलक्रीडान्दोलनादि ।

त्यजेदन्यच्च तादृशम् ॥ २० ॥

टीका—त्यजेदसौ । किं तत् उद्यानभोजनं उद्यानिकायां  
जेमनं । तथा जन्तुयोधनं पदातिकुक्कुटमेषादीनां परस्परसम्प्रहारं ।  
तथा कुसुमोच्चयं पुष्पावचयं । तथा जलक्रीडां शृङ्गारादिभिः सहर्ष-  
स्पर्धं जलव्यात्युक्षीं तथा आन्दोलनं दोलाखेलनकर्म । आदि-  
शब्देन चैत्रासितप्रतिपदादिषु भस्मव्यतिकारि परिहासादि । किं  
बहुना अन्यच्च परमपि तादृशं द्रव्यभावहिंसाबहुलं । कौमुदीमहो-  
त्सवकुहननाटकावलोकनसंग्रामदर्शनरासक्रीडादिकम् ॥

अर्थ— उद्यानभोजन ( बागेंत भोजन ), जंतुयोधन  
( कोंबड्यांची अथवा बकऱ्यांची झूज लावणें ), कुसुमो-  
च्चय ( फुलें तोडणें ), जलक्रीडा ( पाण्यांत विहार करणें )  
आणि आंदोलन ( झोंपाळ्यावर बसून झोंके घेणें ) हे  
व्यापार करूं नयेत. कारण ह्यापासून फार हिंसा होते.  
तसेंच ह्याप्रमाणेंच ज्यांत द्रव्यहिंसा व भावहिंसा होणें  
शक्य आहे असे दुसरेहि व्यापार [ चांदण्यांत खेळणें,  
उड्या मारणें, नाटक पहाणें, पुष्कळ स्त्रिया जमवून  
त्यांच्या बरोबर खेळणें, चैत्रकृष्णप्रतिपदेस ( फाल्गुन-  
कृष्णप्रतिपदेस ) धुळवड खेळणें व अश्लील शब्द उच्चारणें,  
बगैरे ] करूं नयेत.



यथादोषं कृतस्नानो ।

मध्याह्ने धौतवस्त्रयुक् ॥

देवाधिदेवं सेवेत ।

निर्द्वन्द्वः कल्मषच्छिदे ॥ २१ ॥

टीका—सेवेत आराधयेदसौ स्नपनादिभिः । कं देवाधिदेवं देवैरिन्द्रादिभिरधिकमाचार्यादिभ्योऽतिरिक्तं दीव्यते स्तूयते आराध्यत इति देवाधिदेवो भगवानर्हन् । किंविशिष्टः सन् निर्द्वन्द्वः समस्तव्याक्षेपमुक्तः । किमर्थं कल्मषच्छिदे प्राचीनतात्कालीन-पापच्छेदार्थं । कथम्भूतो भूत्वा यथादोषं दोषानुसारेण मध्याह्ने वनगारभ्रामरीवेलाप्रत्यासन्नसमये कृतस्नानः कृतं विहितं स्नानं यथोचितमङ्गप्रक्षालनादिकं येन स तथोक्तः । तथा धौतवस्त्रयुक् धौते क्षालिते जलादिना निर्मलीकृते वस्त्रे परिधानोत्तरीये युनक्ति स्वांगे सम्बध्नातीति धौतवस्त्रयुक् ॥

अर्थ—मध्यान्हकालीं आपल्याकडून झालेल्या दोषास अनुसरून ज्याने त्या दोषाच्या नाशाकरितां स्नान केलें आहे व धुतलेलीं दोन ( नेसावयाचें व पांघरावयाचें ) वस्त्रें ज्याने धारण केलीं आहेत व ज्याने आपलें अंतःकरण स्थिर ठेविलें आहे अशा श्रावकानें पातकाच्या नाशाकरितां श्रीजिनेन्द्राची अराधना करावी.

जिनस्नपनाद्यपास्तिविधिमाह—

आतां; स्नानादि उपासनेचा विधि सांगतात.

आश्रुत्य स्नपनं विशोध्य तदिलां पीठ्यां  
चतुष्कुम्भयुक्- । कोणायां सकुशश्रियां जिन-

पतिं न्यस्यान्तमाप्येष्टदिक् ॥ नीराज्याम्बुरसा-  
ज्यदुग्धदधिभिः सिक्त्वा कृतोद्वर्तनं । सिक्तं  
कुम्भजलैश्च गन्धसलिलैः सम्पूज्य नुत्वा  
स्मरेत् ॥ २२२ ॥

टीका—स्मरेत् यथाशक्ति जपेत् ध्यायेत् । कोऽसौ माध्या-  
ह्निकक्रियाकल्पोद्यतः श्रावकः । कं जिनपतिं जिनेन्द्रं । किं कृत्वा  
नुत्वा नित्यवन्दनादिविधिना वन्दित्वा । किं कृत्वा सम्पूज्य  
जलादिभिरष्टाभिः सम्यगर्चयित्वा किंविशिष्टं सन्तं सिक्तमभिषिक्तं ।  
कैः कुम्भजलैः पूर्वस्थापितकलशाम्भोभिः । तथा गन्धसलिलैः सुर-  
भिद्रव्यमिश्रोदकैः । कथं कृत्वा कृतोद्वर्तनं एलादिचूर्णकल्ककषायै-  
रुद्वर्त्य कृतनन्द्यावर्ताद्यवतारणं । किं कृत्वा सिक्त्वा अभिषिच्य ।  
कैः अम्बुरसाज्यदुग्धदधिभिः अम्बूनि तीर्थोदकानि, रसा इक्षुद्रा-  
क्षाम्रादिनिर्यासाः, आज्यानि हैयङ्गवीनादिघृतानि, दुग्धानि गव्या-  
दिक्षीराणि, दधीनि माहिषादीनि, अम्बूनि च रसाश्च आज्यानि  
च दुग्धानि च दधीनि चाम्बुरसादीनि पञ्च स्नानीयद्रवद्रव्याणि  
तैः क्रमेण जिनपतिमभिषिच्येति संबंधः । किं कृत्वा नीराज्य  
पूजापुरःसरं मृत्सागोमयभूतिपिण्डदूर्वादूर्भपुष्पाक्षतसचन्दनोदकैर्नी-  
राजनं प्रापय्य । कथं यथा भवति इष्टदिक् इष्टा यज्ञांशं प्रापिता  
जिनयज्ञमभिवर्द्धयन्तो वाऽनुमोदिता दिशस्तत्स्था दिक्पाला  
दशेन्द्रादयो यत्र नीराजनकर्मणि तदिष्टदिक् । अथवा इष्टा  
दिशो येन सोऽयमिष्टदिग्यष्टा । किं कृत्वा आप्य प्रापय्य । कं  
जिनपतिं । कमाप्य अन्तमात्मसन्निधिं । किं कृत्वा न्यस्य स्थाप-  
यित्वा । कस्यां पीठ्यां स्नपनपीठस्योपरि । किंविशिष्टायां चतुष्-भ-  
युकोणायां चत्वारः कुम्भयुजः पूर्णकलशोपेताः कोणा यस्याः सा

चतुष्कुंभयुक्कोणा तस्यां । पुनः किंविशिष्टायां सकुशश्रियां  
 दर्भैश्चन्दननिर्मितश्रीकाराक्षरेण च सहितायां । श्रियामित्युपलक्षणं  
 तेन ऋकारोऽपि लेख्यः । अन्ये तु अक्षतनिर्मितं श्रीकारमेवाहुः  
 तदुक्तं निस्तुषनिर्व्रणनिर्मलजलाद्रिशालीयतण्डुलालिखिते । श्रीकामः  
 श्रीनाथं श्रीवर्णे स्यापयाम्युच्चैः ॥ किं कृत्वा विशोध्य रत्नाम्बुकुशा-  
 मिना सन्तर्पणविधिभिः शोधयित्वा । कां तदिलां स्नपनमूर्तिम् ।  
 किं कृत्वा आश्रुत्य कर्तव्यतया प्रतिज्ञाय । किं तत् स्नपनमभि-  
 षेकं । अत्र आश्रुत्य स्नपनमिति प्रस्तावना, विशोध्येत्यादि  
 पुराकर्म, न्यस्येति स्थापना, अन्तमाप्येति सन्निधापनं, इष्टदि-  
 गित्यादि पूजेतिप्रातिपत्तव्यम् । षड्विधं हि देवसेवनमाहुः । तद्यथा-  
 प्रस्तावना पुराकर्म । स्थापना सन्निधापनम् ॥ पूजा पूजाफलं  
 चेति । षड्विधं देवसेवनम् ॥ १ ॥ एतज्जिनस्नपनादिविधानसूच-  
 नामात्रं विस्तरतस्त्वेतत्पूर्वाचार्यकृतस्नानशास्त्रेष्वस्मत्कृतनित्यमहो-  
 दयाख्यस्नानशास्त्रे च द्रष्टव्यम् ॥

अर्थ— श्रीजिनेन्द्राराधन करण्यास प्रवृत्त झालेल्या  
 श्रावकानें प्रथम स्नपन करण्याविषयीं प्रतिज्ञा करून,  
 मग ती भूमी शुद्ध करून ज्याच्या च्यारी कोपऱ्यांस  
 चार कुंभ ठेविले आहेत व ज्यावर दर्भ पसरले असून  
 चन्दनानें अथवा तांदुळानें श्रींकार व ऋंकार काढले  
 आहेत अशा पीठावर श्रीजिनेशाची स्थापना करावी.  
 नंतर त्या जिनबिंबासमीप जाऊन अष्टदिक्पालांचें पूजन  
 करून मृत्तिका, दूर्वा, पुष्प अक्षता वगैरे पदार्थांनीं प्रभूस  
 नीराजन करावें. ( हे पदार्थ देवावरून ओवाळावे व  
 टाकून द्यावे ) नंतर उदक, उसांचा रस अथवा आंब्याचा  
 रस, किंवा द्राक्षांचा रस, तूप, दूध, दही ह्या पदार्थांनीं

स्नान घालून, मग सुगंधि पदार्थांची उटणी लाऊन, पूर्वी स्थापन केलेल्या कलशांतील जलाने स्नान घालावे. नंतर गंध, जल, अक्षता वगैरे पदार्थांनी पूजा करून व नित्यवंदनाविधीने नमस्कार करून, प्रभूचे ध्यान करावे.

यज्ञान्तरोपदेशार्थमाह—

अन्यदेवतांच्या पूजनाविषयी सांगतात.

सम्यग्गुरूपदेशेन ।

सिद्धचक्रादि चार्चयेत् ॥

श्रुतं च गुरुपादाँश्च ।

को हि श्रेयसि तृप्यति ॥ २३ ॥

टीका—अर्चयेच्चासौ । किं तत् सिद्धचक्रादि सिद्धचक्रं लघु बृहद्वा आदिशब्देन पार्श्वनाथयन्त्रं गणधरवल्लयं सारस्वतयन्त्र-मन्यद्वा सम्यक्त्वसंयमाविरोधेन दृष्टादृष्टफलप्रसादकत्वेन जिनशा-सने प्रसिद्धं । एतच्च रहस्यभावात्पदस्थध्यानप्ररूपणावसरे प्रपंच-यिष्यते । केन तत्पूजयेत् सम्यग्गुरूपदेशेन अन्यथा नैष्फल्यप्र-त्यवायबाहुल्यसम्भवात् । तथा श्रुतमर्चयेत् । गुरोश्च दीक्षकाचा-र्यस्य पादान् तृतीयोऽपि चशब्दस्त्रयाणामपि पूज्यानां तुल्यकक्षता-सूचनार्थं । कुत एतद्यज्ञान्तरप्रदर्शनं ? जिनयज्ञेनैव सर्वमनोरथप-रिपूर्तिसंसिद्धेरिति शङ्कायामिदमाह— को हीत्यादि । हि यस्मात् कस्तृप्यति तृप्तमात्मानं मन्यते । कस्मिन् श्रेयसि अम्युदयनिः-श्रेयससाधनार्थे कर्मणि ॥

अर्थ— गुरूने केलेल्या सम्यग्गुपदेशाप्रमाणे सिद्धचक्र वगैरे ( सिद्धचक्र, पार्श्वनाथयंत्र, गणधरवल्लय, सार-स्वतयंत्र व जिनशास्त्रांत सांगितलेल्या दुसऱ्या ऐहिक

व पारलौकिक फल देणाऱ्या देवता) ह्यांचें पूजन करावें. तसेंच शास्त्र व गुरुचरण ह्यांचेंही पूजन करावें. येथें—श्रीजिनपूजनानेंच मनोरथसिद्धि होत असतां इतर देवतांच्या पूजनाचा विधि करण्याचें प्रयोजन काय? अशी—शंका येते. परंतु, ती बरोबर नाही. कारण, ज्यापासून ऐहिक व पारलौकिक दोन्ही प्रकारचें कल्याण व्हावयाचें अशा व्यापारांविषयीं शहाणा पुरुष 'पुरें', अशी बुद्धी धारण करील काय?

ततः पात्राणि सन्तर्प्य ।

शक्तिभक्त्यनुसारतः ॥

सर्वाश्चाप्याश्रितान् काले ।

सात्म्यं भुञ्जीत मात्रया ॥ २४ ॥

टीका—ततो जिनयज्ञादिनिर्वर्तनानन्तरं पात्रसन्तर्पणादि कृत्वा भुञ्जीत अश्रीयादसौ । किं तत् सात्म्यं वस्तु । सात्म्यलक्षणं यथा “पानाहारादयो यस्य विरुद्धाः प्रकृतेरपि । सुखित्वायावकल्पन्ते तत्सात्म्यमिति कथ्यते ” कया भुञ्जीत मात्रया सुखजरणलक्षणया यदाह—सायं प्रातर्वा वह्निमनवसादयन् भुञ्जीतेति । अपि च गुरूणामर्धसौहित्यं लघूनां नातितृप्तता । मात्राप्रमाणं निर्दिष्टं सुखं तावद्विजीर्यति ॥ क मात्रया सात्म्यं भुञ्जीत? काले बुभुक्षा-काले । भोजनकालः तद्विस्तरशास्त्रं त्विदं—प्रसृष्टे विष्मूत्रे हृदि सुविमले दोषे स्वपथगे । विशुद्धे चोद्वारे क्षुदुपगमने वातेऽनुसरति ॥ तथाऽम्बाबुदक्ते विशदकरणे देहे च सुलघौ, प्रयुञ्जीताहारं विधिनियमितं कालः स हि मतः ॥ १ ॥ किं कृत्वा सन्तर्प्य सम्यक् प्रीणयित्वा । कानि पात्राणि प्रागुक्तलक्षणानि । कथं

ततस्तदनन्तरं । कस्मात् शक्तिभक्त्यनुसारतः शक्तिभक्त्योरनतिक्रमेण । न केवलं पात्राणि सन्तर्प्य सर्वानप्याश्रिताँश्च तिरश्चोऽपि स्वयं परिगृहीतान् सन्तर्प्य सन्तोष्येत्यर्थः । कालविशेषोपदेशेन च माध्याह्निकदेवपूजाभोजनयोर्नास्ति काल नियम इति बोधयति । तीव्रबुभुक्षा हि मध्याह्नादवर्गागपि गृहीतप्रत्याख्यानं तिरयित्वा देवपूजादिपूर्वकं भोजनं कुर्वन् न दुष्यति ॥

अर्थ—मग आपली शक्ति व भक्ति ह्यांस अनुसरून, 'मागे सांगितलेल्या गुणांनी युक्त असलेल्या, अतिथींना अन्नदानाने तृप्त करून व आपल्या आश्रयास असलेल्या मनुष्य, पशु, पक्षी इत्यादिकांसही तृप्त करून, तीव्र क्षुधा लागल्या वेळी, जे पदार्थ आपल्यास सोसत असतील ते पदार्थ, पीडा न होईल अशा प्रमाणाने भक्षण करावेत. ( ह्या श्लोकांत भोजनाचा काल, 'तीव्रक्षुधा लागेल तो ' असा सांगितला आहे. त्यावरून तीव्रक्षुधा उत्पन्न झाली असतां मध्यान्हकालाची वाट पहात राहिले पाहिजे, असें होत नाही. कारण मध्यान्हाच्या पूर्वी देखील तीव्रक्षुधा उत्पन्न होण्याचा संभव आहे. या करितांच 'तीव्रक्षुधा लागल्या वेळी' भोजन करण्यास सांगितलें आहे. वरील श्लोकावरून जिनपूजनाच्या पूर्वी भोजन करूं नये एवढें मात्र सिद्ध होतें. ह्यावरून, तीव्रक्षुधा उत्पन्न झाली असतां, जिनपूजन करून व अतिथीस अन्नदान करून, केव्हांही भोजन करणेस दोष नाही, असें सिद्ध होतें. )

लोकद्वयाविरोधीनि ।

द्रव्यादीनि सदा भजेत् ॥

यतेत व्याध्यनुत्पत्ति- ।

च्छेदयोः स हि वृत्तहा ॥ २५ ॥

टीका—भजेत् सेवेतायं । कानि द्रव्यादीनि द्रव्यक्षेत्रकालभाव-  
कर्मसहायादीनि । किंविशिष्टानि लोकद्वयाविरोधीनि इहलोके पर-  
लोके च पुरुषार्थानुपघातकानि । क सदा सर्वदा तथा यतेत तात्पर्यं  
कुर्यात् । कयोर्व्याध्यनुत्पत्तिच्छेदयोः व्याधेः ज्वरादिरोगस्यानुत्प-  
त्तावप्रादुर्भावे छेदे च निवर्तने । कुत इत्याह— हि यस्मात् ।  
भवति । कोऽसौ स व्याधिः । कथम्भूतो वृत्तहा संयमस्य हन्ता ॥

अर्थ—ह्या लोकीं व परलोकीं पुरुषार्थाचा नाश न  
करणारे असेच द्रव्य, काल, क्षेत्र, भाव, कर्म व सहाय  
इत्यादि पदार्थ सर्वदा उपयोगांत आणावेत. आणि  
व्याधी उत्पन्न न होऊं देणें व उत्पन्न झालेला व्याधि  
दूर करणें ह्याविषयीं सर्वदा प्रयत्न करावा. कारण  
कोणताही व्याधि संयमाचा नाश करतो.

तदुत्तरकरणीयनिर्णयार्थमाह—

त्यानंतर काय करावें हें समजण्याकरितां सांगतात.

विश्रम्य गुरुसब्रह्म- ।

चारिश्रेयोऽर्थिभिः सह ॥

जिनागमरहस्यानि ।

विनयेन विचारयेत् ॥ २६ ॥

टीका—ततश्च विचारयेत् इदमित्थं भवति न वेति सम्प्रधा-  
रयेदसौ । गुरुमुखात् श्रुतान्यपि शास्त्ररहस्यानि परिशीलनाविक-  
लानि न चेतसि मुहढप्रतिष्ठानि भवन्तीति मनसि कृत्वा । कानि

जिनागमरहस्यानि अर्हत्सिद्धान्तस्यैदम्पर्याणि । केन विनयेन प्रश्रयेण । कथं सह कैः गुर्वादिभिः । किं कृत्वा विश्रम्य भोजन-श्रममपनीय । गुरवोऽत्र शास्त्रोपदेष्टारः । सन्नस्यचरिणः । सहाध्यायिनः श्रेयोऽर्थिन आत्महितकामाः ॥

अर्थ—नंतर थोडी विश्रांति घेऊन शास्त्रोपदेश करणारा गुरु, आपला सहाध्यायी व आत्म्यास मुक्ति प्राप्त व्हावी असें इच्छिणारे लोक ह्यांच्याशीं सह जिन शास्त्रांतील सिद्धांताचा नम्रपणाने विचार करावा.

ततश्च—

सायमावश्यकं कृत्वा ।

कृतदेवगुरुस्मृतिः ॥

न्याय्ये कालेऽल्पशः स्वप्या-

च्छक्त्या चाब्रह्म वर्जयेत् ॥ २७ ॥

टीका—स्वप्यात् शयीतासौ । कियत् अल्पशः अल्पं । क काले । किंविशिष्टे न्याय्ये न्यायादनपेते । न्यायश्च कालो रात्रेः प्रथमयामोऽर्द्धरात्रं वा शरीरसात्म्येन अल्पश इति च विशेषणमिति विधिः । सविशेषणे हि विधिनिषेधौ विशेषणमुपसंक्रामत इतिन्यायात् । स्वप्यादिति च विशेष्यं । न च तत्र विधिदर्शनावरणीयकर्मोदयेन स्वापस्य स्वतःसिद्धत्वात् । अल्पमपि च प्रशस्तं यथा भवति तथा स्वप्यादिति शसा द्योत्यते । तेन रोगमार्गश्रमादौ बहुपि स्वप्यादिति विधिः । किंविशिष्टः सन् कृतदेवगुरुस्मृतिः कृता देवस्यार्हतो गुरुणां च तदुपदेष्टृणां च स्मृतिर्मनस्यारोपणं येन स तथोक्तः । किं कृत्वा कृत्वा किं तत् आवश्यकं देवार्चनं भूमिकौचित्येन च सामयिकादिषट्कं ।



कदा सायं संध्यासमये । तथा वर्जयेदसौ । किं तत् अब्रह्म मैथुनं ।  
कया शक्त्या आत्मनः संयमसामर्थ्येन । उपलक्षणं चैतत् तेन  
यावन्न सेव्या विषयास्तावत्ताना प्रवृत्तितो व्रतयेदिति वचनाद्भो-  
गादिनियमं विना क्षणमपि स्थातुं न युक्तमिति स्मारयति ॥

अर्थ—सायंकालीं अवश्य करणेचें सामायिक वर्गैरे  
करून गुरु आणि देव ह्यांचें स्मरण करून, योग्य वेळीं  
थोडीशी निद्रा करावी. तसेंच अंतःकरणाच्या निय-  
मनाच्या शक्तीस अनुसरून मैथुन वर्ज करावें.

अथ परिणतायां रात्रौ निद्राच्छेदे सति निर्वेदादिभावनां  
कुर्यादित्युपदेशार्थं सप्तदश श्लोकानाह—

आतां; उत्तररात्रीं निद्रा पूर्ण होऊन जागृत झाल्यावर  
वैराग्याचा अभ्यास करावा असा उपदेश करण्याकरितां  
पुढील श्लोक सांगतात.

निद्राच्छेदे पुनश्चित्तं ।

निर्वेदेनैव भावयेत् ॥

सम्यग्भावितनिर्वेदः ।

सद्यो निर्वाति चेतनः ॥ २८ ॥

टीका—भावयेत् संस्क्रुयादसौ । किं तत् चित्तं मनः ।  
केन निर्वेदेन संसारशरीरविषयवैराग्येण । न पुनरर्थादिचिन्तयेत्येव-  
शब्दार्थः । क सति निद्राच्छेदे स्वापनिवृत्तौ । पुनःशब्दो विशे-  
षार्थः । यतो निर्वाति प्रशमसुखमनुभवति । कोऽसौ चेतन आत्मा ।  
कथं सद्यस्तत्क्षण एव । किंविशिष्टः सन् सम्यग्भावितनिर्वेदः यथा-  
बद्धम्यस्तवैराग्यः ॥

अर्थ—निद्रा समाप्त झाली असतां, विशेषतः अंतःकरण वैराग्यानंच संस्कृत करावें. ह्मणजे मनाला वैराग्यचिंतनाची संवय लावावी. कारण, वैराग्याचा ज्याने चांगला अभ्यास केला आहे असा आत्मा, त्याच वेळीं शांतिसुखाचा अनुभव करतो.

संसारनिर्वेदार्थमाह—

आतां; संसाराच्या विरक्तीबद्दल सांगतात.

दुःखावर्ते भवाम्भोधा- ।

वात्मबुध्याऽध्यवस्यता ॥

मोहादेहं हहाऽऽत्माऽयं ।

बुद्धोऽनादि मुहुर्मया ॥ २९ ॥

टीका—हहा कष्टं । बद्धो ज्ञानावरणादिकर्मपरतंत्रीकृतः । कोऽसावयं स्वसंदेनवेद्य आत्मा जीवः । केन मया आत्मना । कथं मुहुर्वारिवारं । कथमनादि आदिरहितं । किं कुर्वता अध्यवस्यता निश्चिन्वता । कं देहं । कया आत्मबुद्ध्या देह एवाहमिति संकल्पेन । कस्मात् मोहात् अविद्यासंस्कारात् । क भवाम्भोधौ संसारसागरे । किंविशिष्टे दुःखावर्ते दुःखानि नारकादिभववेदना आवर्ता जलभ्रमणानीव अनियतोत्थायत्वादुर्निवारत्वाच्च यत्र स दुःखावर्तस्तस्मिन् ॥

अर्थ —अनेक प्रकारचीं दुःखे हीं ज्यांत भोंवण्याप्रमाणें आहेत अशा ह्या संसाररूपी समुद्रांत अज्ञानामुळे देहास आत्मा असें मानणारा ( देह हाच आत्मा असें समजणारा ) अशा माझ्या कडून; हा आत्मा अनादि-

कालापासून वारंवार ज्ञानावरणादि कर्मांनी बद्ध केला गेला ! हे फार वाईट झाले !!!

तदिदानीं किं करोमीत्याह—

तदेनं मोहमेवाह- ।

मुच्छेत्तुं नित्यमुत्सहे ॥

मुच्येतैतत्क्षये क्षीण- ।

रागद्वेषः स्वयं हि ना ॥ ३० ॥

टीका—तत्तस्मादुत्सहे प्रयते अहं । किं कर्तुमुच्छेत्तुं क्षपयितुं कमेनं प्रतीयमानं । मोहमज्ञानं । न देहादिकमित्येवशब्दार्थः । कथं नित्यं सन्ततं । हि यस्मात् मुच्येत मुक्तो भवेत् । कोऽसौ ना पुरुषो न प्रधानादिकं । किंविशिष्टः सन् क्षीणरागद्वेषः । कथं स्वयमात्मना प्रयत्नमन्तरेणैव । क सति एतत्क्षये मोहापगमे सति मोहमूलत्वाद्रागद्वेषयोः ॥

अर्थ— ह्मणून, मी ह्या अज्ञानाचा नाश करण्याकरितांच नेहमीं उद्योग करतो ! कारण त्या अज्ञानाचा नाश झाला असतां, ज्याचे रागद्वेषादि कषाय क्षीण झाले आहेत असा हा आत्मा, आपोआपच मुक्त होईल.

इदानीं बन्धमूलामनर्थपरम्परां परामृशन् पुनर्वन्धानुबन्धिनं विषयसेवाभिनिवेशं संहर्तुं प्रतिज्ञां करोति—

आतां; बंधापासून होणाऱ्या अनर्थांचा विचार वरील-प्रमाणें होऊं लागला, ह्मणजे मग त्या बंधास कारण असलेल्या विषयसेवनाचा त्याग करण्याची प्रतिज्ञा जीव करितो, असें सांगतात.

बन्धाद्देहोऽत्र करणा- ।

न्येतैश्च विषयग्रहः ॥

बन्धश्च पुनरेवात- ।

स्तदेनं संहराम्यहम् ॥ ३१ ॥

टीका— भवति कोऽसौ देहः शरीरं कस्मात् बन्धात् पुण्यपा-  
पात्मककर्मविपाकात् । अत्र च देहे भवन्ति । कानि करणानि  
स्पर्शनादीन्द्रियाणि । भवति च कोऽसौ विषयग्रहः स्पर्शाद्यर्थपरि-  
च्छेदग्रहः । कैः एतैः करणैः । तथा भवति कोऽसौ बन्धः शुभा-  
शुभकर्मपुद्गलादानं । कस्मात् अतः विषयग्रहात् कथं पुनरेव  
भूयोऽपि । यत एवं तत्तस्मात् संहरामि निर्मूलयाम्यहं । कं एनं  
बन्धमूलं विषयग्रहम् ॥

अर्थ— पापपुण्यात्मककर्मापासून देह प्राप्त होतो, ह्या  
देहांत इंद्रिये असतात, त्यांच्या योगाने विषयग्रहण होतें,  
आणि त्या विषयग्रहणामुळे पुनः आत्म्यास पापपुण्यात्म-  
ककर्माचा बंध होतो. ह्मणून मी त्या विषयवासनेचाच  
निर्मूल नाश करतो.

विषयेष्वपि योषिदभिलाषस्यान्त्यन्तं दुर्निवारत्वात् तन्निग्रहोपाय-  
मनुचिन्तयन्नाह—

त्या विषयवासनेच्या त्यागाचा उपाय मनांत कल्पून  
(जीव) ह्मणतो.

ज्ञानिसङ्गतपोध्यानै- ।

रप्यसाध्यो रिपुः स्मरः ॥

## देहात्मभेदज्ञानोत्थ-

वैराग्येणैव साध्यते ॥ ३२ ॥

टीका—साध्यते निगृह्यते । कोऽसौ स्मरः मैथुनसंज्ञासंस्कारोद्बोधः । किंशिविष्टो रिपुः ऐहिकामुत्रिकपुरुषार्थभ्रंशहेतुतयाऽपकर्ता केन कर्ता करणेन वा देहेत्यादि देहश्चौदारिकादिशरीरत्रयं । आत्मा जीवानंदमयः पुमान् देहश्च आत्मा च देहात्मानौ तयोर्भेदेन पृथक्त्वेन भेदस्य वा ज्ञानं प्रतिपात्तिस्तस्मादुत्था उत्थानमुद्भवो यस्य तद्देहात्मभेदज्ञानोत्थं तच्च तद्वैराग्यं च भवाङ्गभोगनिर्वेदः उपेक्षा वा तेनैवापदीष्यादिसमुत्थेन वैराग्येणात्मावमाननलक्षणेन । किंविशिष्टोऽसौ असाध्यः साधयितुमशक्यो व्यभिचारदर्शनात् । कैः ज्ञानिसंगतपोध्यानैः ज्ञानिनामात्मदर्शिनां संगः संसर्गो ज्ञानिसंगः, तपः कायक्लेशादिलक्षणमाचरणं, ध्यानं पदपदार्थादिचिन्तनं, ज्ञानिसङ्गश्च तपश्च ध्यानं च ज्ञानिसङ्गतपोध्यानानि तैर्व्यस्तैः समस्तैर्वा बाह्यलोकानां कन्दर्पशत्रुनिग्रहकत्वेन प्रसिद्धैः । अपि-विस्मये ।

अर्थ— ज्ञानी जीवांचा समागम, तप, ध्यान ह्यांच्या योगानेही ताब्यांत ठेवण्यास अशक्य असा कामरूपी शत्रु “देह व आत्मा हे दोनी भिन्न आहेत” अशा प्रकारच्या ज्ञानापासून उत्पन्न झालेल्या वैराग्यानेच ताब्यांत ठेविता येतो.

आत्मदेहान्तरज्ञानार्थितया सन्यस्तसमस्तसङ्गानां प्राचां श्लाघापूर्वकमात्मानं कलत्रमात्रत्यागेऽप्यसमर्थं गर्हमाणः प्राह—

आतां; तो जीव, आत्मा व देह ह्यांतील भेद समजावा अशी इच्छा असल्यामुळे ज्यांनीं सर्वसंगपरित्याग केला

आहे, अशा प्राचीन लोकांची स्तुति करून, केवळ स्त्रीचाही त्याग करण्यास असमर्थ असलेल्या आपली निंदा करणारा होत्साता क्षणतो.

धन्यास्ते येऽत्यजन् राज्यं ।

भेदज्ञानाय तादृशम् ॥

धिञ्छादृशकलत्रेच्छा- ।

तन्त्रगार्हस्थ्यदुस्थिःतान् ॥ ३३ ॥

टीका—ते भरतसगरादयो भवन्ति । किंविशिष्टाः धन्याः तपःश्रुताभ्यासात्मसात्कृत-सुकृतविशेषफलोपभोगान्ते, सुदुस्त्यज-साम्राज्यलक्ष्मीपरित्यागितया महतामपि श्लाघ्याः । ये किं ये अत्यजन् जरत्तृणमिव त्यक्तवन्तः । किं तत् राज्यं किंविशिष्टं तादृशं पूजार्थाज्ञैश्वर्यवीर्यपरिजनकामभोगादिभिर्भुवनत्रयातिशायि । कस्मै भेदज्ञानाय देहात्मव्यतिरेकबोधार्थं । इदानीमात्मदृष्टान्तेन विषयाभिलाषपरतन्त्रतया दोषभूयिष्ठं गार्हस्थ्यं जानतोऽपि त्यक्तुम-शक्तास्तिरस्कुर्वन्नाह— धिगित्यादि । धिक् निन्दामीत्यर्थः । कान् मादृशः अहमिव दृश्यन्ते विषयाशावशवर्तितयोपलभ्यन्त इति मादृशः । मया सदृशानाविर्भूततत्त्वज्ञानत्वेऽपि विषयोपभोगपरित्यागासमर्थान् । किंविशिष्टान् यतः कलत्रेच्छेत्यादि । कलत्रस्य भार्याया इच्छा मनोरथः छन्द इति यावत् कलत्रेच्छा सैव तन्त्रं प्रधानं यत्र तत्कलत्रेच्छातन्त्रं अथवा कलत्रे इच्छा अभिलाषः कलत्रेच्छा तस्यां तन्त्रमायत्तं कलत्रेच्छातन्त्रं तदधीनवृत्ति गृहस्थस्य नित्यनैमित्तिकानुष्ठानस्थस्य द्वितीयाश्रमिणो भावः कर्म वा गार्हस्थ्यं । कलत्रेच्छातन्त्रं च तद्गार्हस्थ्यं च कलत्रेच्छातन्त्रगार्हस्थ्यं तेन दुःस्थिता दुरवस्था विविधदुराधिबाधाकुलितास्तान् । हेतुपरत्वे-नायं निर्देशः ॥

अर्थ— देह व आत्मा ह्यांमधील भेदज्ञान होण्याक-  
रितां सर्वसुखांस अनुकूल असलेलें राज्य देखील सोडिते  
झाले; ते भरत सगर वगैरे राजे फार धन्य होत! आणि  
माझ्याप्रमाणें स्त्रीविषयक इच्छेच्या स्वाधीन असलेल्या  
( स्त्रीवांचून ज्याचें आचरण होत नाहीं अशा ) गृहस्था-  
श्रमांत दुःख भोगणाऱ्यास धिक्कार असो !!

स्वयममिलाप्यमाणाया उपशमश्रियः स्त्रियाश्चात्माकर्षण-  
विषये बलाबलं चिन्तयति—

आपण स्वतः इच्छिलेली शांति व स्त्री ह्या दोहोंपैकीं  
आपल्यास वश करण्यासंबंधानें कोणतीचें बल चालेल व  
कोणतीचें चालणार नाहीं, ह्याविषयीं विचार सांगतात.

इतः शमश्रीः स्त्री चेतः ।

कर्षतो मां जयेन्नु का ॥

आ ज्ञातमुत्तरैवात्र ।

जेत्री या मोहराट्चमूः ॥ ३४ ॥

टीका—कर्षतः स्वस्याभिमुखं नयतो द्वे । कं मां अती-  
न्द्रियैन्द्रियकसुखविशेषज्ञं । तत्र तावत् कर्षति । काऽसौ शमश्रीः  
प्रशमसुखसम्पत् । कं मां । क इतः अस्मिन्नेकास्मिन्पक्षे । तथा  
कर्षति । स्त्री मां । क इतोऽन्यस्मिन्पक्षे । नुर्वितर्के । अनयोः  
का कतरा जयेत् मदाकर्षणे बलवती भवेत् । संशयोऽत्र मे ।  
अथवा आः स्मृतमाप्तोपदेशबलादनुभूतमेतयोर्बलाबलम् । सम्प्र-  
त्यपि ज्ञातं निश्चितं । यदि वा आः संतापप्रकोपयोर्व्यास्येयः ।  
आद्यपक्षे भविष्यति । काऽसौ अत्र एतयोर्मध्ये । उत्तरैव स्त्री

न शमश्रीः । किंविशिष्टा जेत्री मदाकर्षणे शमश्रियोऽभिभवित्री  
न स्त्रियाः शमश्रीः । या किं या निश्चिता मया । किंविशिष्टा  
मोहरादृचमूः मोहोऽत्र चारित्रावरणोदयः स एव राद् राजा अभृ-  
प्यभावत्वात् मोहराजश्चमूः सेना । यथा राजा प्रतापित्वेन प्रति-  
पक्षं सेनया जयति तथा मोहस्त्रियेति भावः ॥

अर्थ— मला एकीकडे शांति ओढत आहे व एकीकडे  
स्त्री ओढत आहे, तेव्हां ह्या दोहोंत कोण बरें जय पावेल?  
हं ! आप्तांच्या उपदेशानें मला असें आठवतें कीं— ह्या  
दोहोंतील दुसरी ( स्त्री ) हीच जिंकणारी आहे. कारण,  
ती मोहरूपी राजाच्या सैन्यापैकी आहे.

कलत्रदुस्त्यजत्वं भावयति—

स्त्रीचा त्याग करणें फार कठीण आहे असें सांगतात.

चित्रं पाणिगृहीतीयं ।

कथं मां विष्वगाविशत् ॥

यत्पृथग्भावितात्माऽपि ।

समवैम्यनया पुनः ॥ ३५ ॥

टीका—चित्रं यस्याः खलु पाणिगृह्यते सा । कथं सर्वात्मना  
ग्राहकात्मानं प्रविशतीति विस्मयो मे । कथं केन प्रकारेण ।  
आविशत् प्रविष्टा । काऽसौ इयं दृश्यमाना पाणिगृहीती परि-  
णीतस्त्री । कं मां परिणेतारं । कथं विष्वक् समन्तात् मामात्म-  
मयं कृतवतीत्यर्थः । अत्रोपपत्तिमाह—यद्यस्मात् । समवैमि तादात्म्यं  
प्रतिपद्ये अहं । कथं सह । कया अनया अहमेवेयमियमेवाहमित्यभे-  
दाध्यवसायपरिणतो भवामीत्यर्थः । कथं पुनमयः । किंविशिष्टोऽपि



सन् पृथग्भावितात्माऽपि पृथगेतस्या भेदेन इयमन्या अहमन्य इति कोऽनया सह ममाभेदप्रत्यय इति तत्त्वज्ञानेन भावितो मुहुर्मुहुश्चिन्तित आत्मा अहंकारास्पदमन्तस्तत्त्वं येन स तथोक्तः । किं पुनर्मोहवशादभेदभावनापरिणत इत्यपिशब्दार्थः ॥

अर्थ— हे मोठे आश्चर्य आहे की; जिचे मी पाणिग्रहण केले आहे अशी ही माझी स्त्री माझ्या आत्म्यांत सर्वत्र कशी बरे प्रवेश करती झाली? कारण, हिच्यापासून मी निराळा आहे असा विचार ज्याला आहे असा देखील मी, पुनः हिच्याशी तादात्म्य पावत आहे !!

स्त्रीनिवृत्तिमात्मनो निरूप्य वित्तमुपपत्त्या प्रतिक्षिपन्नाह—

ह्याप्रमाणे विचार करून स्त्रीपासून अंतःकरण निवृत्त झाल्यावर मग द्रव्याची इच्छा होणे योग्य नाही, असे युक्तीने सांगतात.

स्त्रीतश्चित्त निवृत्तं चे- ।

ननु वित्तं किमीहसे ॥

मृतमण्डनकल्पोऽहि ।

स्त्रीनिरीहे धनग्रहः ॥ ३६ ॥

टीका—चेदिति पराभिप्रायद्योतने । हे चित्त अंतःकरण । यदि निवृत्तं विवेकबलाद्व्यावृत्तं । किं तत् कर्तृ त्वं । कस्मात् स्त्रीतः स्त्रियाः सकाशात् । स्त्रियं नेच्छामीत्यभिप्राये यदि त्वमित्यर्थः । ननुरमर्षे न मृष्याम्यहमिमं त्वदभिप्रायमित्यर्थः । तदा किमिति प्रश्नाक्षेपे तदा किमीहसे किं वाञ्छासि त्वं हे चित्त । किं तद्वित्तं धनं । स्त्रीनिवृत्तस्य धनमिच्छतः किमनुपपन्नमित्यत्राह— हि यस्मात्

भवति । कोऽसौ धनग्रहः द्रविणार्जनरक्षणवर्जनाभिनिवेशो धनस्वी-  
कारो वा । किंविशिष्टो मृतमण्डनकल्पः मृतस्य मण्डनमिव । क  
स्त्रीनिरीहे स्त्रियां निःस्पृहे । यथा मृतकशरीरे क्रियमाणं मण्डनं  
तद्भोक्तुरभावान्निष्फलं तथा स्त्रियादिविषयविमुखस्य परिगृह्यमाणं  
धनमिति भावः । धनस्य हि विषयसुखसाधनं फलत्वेन प्रसिद्धं ।  
तत्र च कामिन्यालम्बनविभावत्वेन मुख्या सौधोद्यानादयश्चोद्दी-  
पनविभावत्वेन गौणाः यस्य च नास्ति स्त्रियामभिलाषस्तस्य  
किमितरविषयैरिति ॥

अर्थ— हे मना ! तूं जर स्त्रीपासून परतलेलें आहेस;  
तर मग, द्रव्याची इच्छा कां करित आहेस ! कारण,  
स्त्रीविषयीं निरिच्छ झाल्यावर द्रव्याची इच्छा करणें हें  
प्रेतावर अलंकार घातल्याप्रमाणें व्यर्थ आहे. तात्पर्य,  
ज्याचा स्त्रीविषयीं अभिलाष नाही, त्याला बाकीचे सर्व  
विषय व्यर्थ आहेत.

एवं निर्वेदं भावयतः परमसामायिकभावनार्थं सप्तश्लोकीमाह—

ह्याप्रमाणें वैराग्यभावना करणाऱ्यानें उत्तमप्रकारें साम-  
यिकक्रिया करावी, ह्याविषयीं सात श्लोकांनीं सांगतात.

इति च प्रतिसन्दध्या- ।

दुद्योगं मुक्तिवर्त्मनि ॥

मनोरथा अपि श्रेयो- ।

रथाः श्रेयोऽनुबन्धिनः ॥ ३७ ॥

टीका—प्रतिसन्दध्यात् पुनः संयोजयेदसौ । कमुद्योगमुत्साहं ।  
क मुक्तिवर्त्मनि मोक्षमार्गे । कथं इति वक्ष्यमाणेन प्राणकायब-  
लास्थिरत्वाद्यनुचिन्तनलक्षणेन प्रकारेण । चः समुच्चये । न

केवलं संसारादिनिर्वेदं तथा भावयेदित्थं मोक्षमार्गेऽभियोगं च  
प्रतिसन्दध्यादित्यर्थः । अनाचरणतो मनोरथाः स्वप्नराज्यसमाः  
इति विप्रतिपन्नं बोधयितुमिदमाह— यतो भवन्ति के मनोरथाः  
अशक्यप्राप्त्यर्थेविषयाभिलाषाः । किं पुनस्तदर्थानुष्ठानप्रवृत्तय इत्य-  
पिशङ्गार्थः । कीदृशा भवन्ति श्रेयोऽनुबन्धिनो भवे भवे अभ्यु-  
दयसम्पादिनः प्रभूतपुण्यबन्धनिबन्धनत्वात् । क्रिमाश्रितास्ते तथा  
भवन्तीत्याह— श्रेयोरथाः श्रेयो निःश्रेयसं रथः स्यन्दनो येषां ते  
श्रेयोरथाः मोक्षरूढा इत्यर्थः तदुक्तं— यत्र भावः शिवं धत्ते द्यौः  
क्रियत्तदूरवर्तिनाति ॥

अर्थ— आणि मोक्षमार्गाविषयीं पुढे सांगितल्याप्रमाणें  
उद्योगाची वारंवार भावना करावी. येथें— जर मनांत  
आल्याप्रमाणें आचरण होत नाही, तर उगीच भावना  
( मनोरथ ) करून काय उपयोग आहे— अशी शंका येते.  
तिच्या निरासाकरितां सांगतात— ज्यांपासून मोक्षप्राप्ति  
होणार आहे अशा कर्माविषयींचे मनोरथ देखील प्रत्येक  
जन्मांत कल्याण करणारेच असतात.

तत्रायुःकायमयत्वाज्जीवितस्य तदपायानुध्यानमुखेन जीवितव्यो-  
च्छेदं भावयन्प्रौढयोक्त्या स्वार्थसिद्धिभ्रंशं भावयति—

आतां जीवित ह्य० ‘ आयुःकर्म व शरीर ह्या दोहोंचा  
संबंध ’ असें असल्याने त्या दोहोंस अपाय झाल्याने  
जीविताचा नाश होतो हें दाखवून त्यामुळे आपल्या  
इष्टसिद्धीचाही नाश होतो असें दाखवितात.

क्षणे क्षणे गलत्यायुः ।

कायो हसति सौष्टवात् ॥

ईहे जरां नु मृत्युं नु ।

सध्रीचीं स्वार्थसिद्धये ॥ ३८ ॥

टीका—गलति क्षीयते एकदेशेनापगच्छति । किं तत् आयुः  
भवधारणकारणं कर्म । क क्षणे क्षणे प्रतिक्षणं । तथा न्हसति  
देशतश्चवति । कोऽसौ कायः शरीरं । कस्मात् सौष्टवात् स्वार्थक्रिया-  
करणसामर्थ्यात् । क्षणे क्षणे इत्यत्रापि योज्यं । नुर्वितर्के ।  
किमर्थं । तत्किमीहे वाञ्छाम्यहं । कां जरां सर्वांगशक्तिक्षपण-  
लक्षणां विस्रसां । किं वा मृत्युं निःशेषायुःक्षयलक्षणं मरणं ।  
किंविशिष्टां सध्रीचीं आत्मनः सहायभूतां । कस्यै स्वार्थ-  
सिद्धये स्वाभिप्रेतार्थनिष्पत्त्यर्थं । पुरुषार्थसाधके ह्यायुः कायश्च  
प्रधानं कारणं । तच्च प्रतिक्षणं विशरारुतया निश्चितं चेत्स-  
र्वथा पुरुषार्थभ्रंशहेतुतया प्रसिद्धाभ्यां जरामृत्युभ्यां तत्संभाव्येतेति  
वक्रमणित्या चोदयति ॥

अर्थ— प्रत्येक क्षणीं आयुष्य नाश पावत आहे आणि  
शरीर हे सामर्थ्याने कमी होत आहे ह्मणून मी इष्टाच्या  
प्राप्तीस सहाय करणाऱ्या वृद्धपणाची इच्छा करावी !  
किंवा मृत्यूची इच्छा करावी !! ह्यांतील तात्पर्य असे—  
आयुष्य व शरीर हीं दोन कोणत्याही पुरुषार्थाचीं मुख्य  
साधने आहेत, आणि तीं तर स्वतःच विनाशिस्वभावाचीं  
आहेत, ही गोष्ट जर सिद्ध आहे, तर, पुरुषार्थाची प्राप्ति  
कशी होणार ? केव्हांही होणार नाही. ह्मणून वृद्धपणा  
व मृत्यू ह्या दोहोंचीही इच्छा करणे योग्य नाही.

जिनधर्मसेवासहचारिणीरापदोऽभिनन्द्य तद्विरहभाविनीः सम्प-  
दोऽपि प्रतिक्षिपन्संगत्यागे दार्ढ्यं भावयति—

आतां जिनधर्माचरणांत प्राप्त होणाऱ्या विपत्तीची स्तुति करून, व जिनधर्मत्यागानें प्राप्त होणाऱ्या संपत्तीचाही तिरस्कार करून परधर्मत्यागाविषयीं दृढ भावना दाखवितात.

क्रियासमभिहारोऽपि ।

जिनधर्मजुषो वरम् ॥

विपदां सम्पदां नासौ ।

जिनधर्ममुचस्तु मे ॥ ३९ ॥

टीका—वरं भवतु सोऽपि श्लाघ्य इत्यर्थः । कोऽसौ क्रियासमभिहारः पौनःपुन्यं भृशत्वं वा । वरं सकृद्भवन्नं मंदत्वं चेत्यपिशब्दार्थः । कासां विपदां शारीरमानसदुःखानां परिषद्दोषसर्गाणां वा । कस्य मे मम । किंविशिष्टस्य सतो जिनधर्मजुषः जिनोक्तं जिनानुष्ठितं वा धर्मं शुद्धचिदानन्दरूपात्मपरिणतिलक्षणं प्रीत्या सेवमानस्य । न तु न पुनर्वरं कोऽसौ असौ क्रियासमभिहारः । कासां सम्पदां सर्वेन्द्रियार्थसुखसाधनानां विभूतीनां । कस्य मे । किंविशिष्टस्य सतो जिनधर्ममुचो यथोक्तजिनधर्मरहितस्य ॥

अर्थ—जिनधर्माचें आचरण करणाऱ्या अशा मला वारंवार जरी विपत्ति प्राप्त झाल्या, तरी बरें ! परंतु जिनधर्माचा त्याग करणाऱ्या मला वारंवार संपत्ति प्राप्त झाली तरी बरी नव्हे !!

श्रमणकर्माभ्यासेन अन्यगम्यं सर्वत्र साम्यं कामयते—

यतिधर्माच्या अभ्यासानें सर्वत्र समबुद्धि प्राप्त करून घेण्याची इच्छा दाखवितात.

लब्धं यदिह लब्धव्यं ।

तच्छ्रामण्यमहोदाधिम् ॥

मथित्वा साम्यपीयूषं ।

पिबेयं परदुर्लभम् ॥ ४० ॥

टीका—लब्धं प्राप्तं तन्मया कलत्रसम्पदादिकं । यत् किं यल्लब्धव्यं प्राप्तव्यं मया धन्यैर्वा । क इह नृजन्मनि गृहाश्रमे वा । यत् एवं कृतार्थोऽस्मि तत्तस्मात्पिबेयं अध्यात्ममनुभवेयं अहं । किं तत् साम्यपीयूषं सर्वत्र समत्वममृतमिव । किं कृत्वा मथित्वा अभ्यस्य । विलोड्य च । कं श्रामण्यमहोदाधिं श्रमणानां यतीनां कर्म मूलोत्तरगुणाचरणलक्षणं श्रामण्यं महोदाधिरिव अनर्घ्यरत्नोत्पत्तिनिमित्तत्वात् दुरवगाहत्वात् दुर्गमपारत्वाच्च । इयमत्र भावना यथा किल सुरासुरैः क्षीरोदाधिं विलोड्य तत् उद्धृतममृतं पीतमिति श्रूयते तथा श्रामण्यं भावयित्वा उपेक्षालक्षणं चारित्र्यमहमात्मनि परिणमयितुमर्हामि । कीदृशं द्वयमपि परदुर्लभं परैर्जिनमार्गानभिज्ञैः सुरासुरवर्गैश्च लोकैर्लब्धुमशक्यं जिनसमयाभिज्ञैरपि वा । परमत्यर्थं दुर्लभं कतिपयैरेव तैरपि प्राप्यमित्यर्थः ॥

अर्थ—ह्या गृहस्थाश्रमांत जें मिळवावयाचें तें मीं मिळविलें आहे. ह्मणून आतां मूलोत्तरगुणाचरणरूपी यतिधर्मसमुद्राचें मंथन करून दुसऱ्यास प्राप्त होण्यास अशक्य असें समबुद्धिरूपी अमृत प्राशन करीन.

तदेव भूयो भावयति—

ही वरील भावना दृढ होण्याकरितां पुनः तीच दाखवितात.

पुरेऽरण्ये मणौ रेणौ ।

मित्रे शत्रौ सुखेऽसुखे ॥

जीविते मरणे मोक्षे ।

भवे स्यां समधीः कदा ॥ ४१ ॥

टीका—कदा कस्मिन्काले । स्यां भवेयं । भवितुमर्हाम्यहं भविष्यामीति वा । किंविशिष्टः समधीः तुल्यमनाः । क क पुरे प्रीतिकारणे चातुर्वर्ण्यसमृद्ध्यधिष्ठाननगरे । तथा तद्विपरीते अरण्ये अटव्यां । एतयोर्द्वयोरपि रागद्वेषनिबन्धनयोरुपेक्षापरिणतः कदा भविष्यामीत्यर्थः । एवमुत्तरत्रापि योज्यं । तथा मणौ वज्रादिरत्ने । रेणौ रजसि । तथा मित्रे सुहृदि । शत्रौ चापकर्तरि । तथा सुखे आल्हादनाकारे । असुखे च दुःखे देहमनस्तापरूपे । तथा जीविते पुरुषार्थसिद्धिहेतावायुषि । मरणे च तद्विपरीते । तथा मोक्षे अनन्तसुखस्वरूपे । भवे च तद्विपरीते । अयमत्र विशेषः—पुरारण्यादिषु तुल्यमतित्वमन्यस्यापि भवेत् । असौ तु परमवैराग्योपगतो मोक्षभवयोरपि निर्विशेषमतित्वमर्थयते । मोक्षे भवे च सर्वत्र निस्पृहो मुनिसत्तम इति श्रुतेः ॥

अर्थ—नगर व अरण्य, रत्न व ढेंकूल, मित्र व शत्रु, सुख आणि दुख, जगणें व मरणें तसेंच मोक्ष आणि संसार ह्यांविषयीं सारखीच ज्याची बुद्धि आहे असा मी केव्हां होईन !

यतिधर्मचर्याकाष्ठाधिरोहणमाशंसति—

यतिधर्माचरणाच्या परमावधीस चढण्याची इच्छा दाखवितात.

मोक्षोन्मुखक्रियाकाण्ड- ।

विस्मापितबहिर्जनः ॥

कदा लप्स्ये समरस- ।

स्वादिनां पंक्तिमात्मदृक् ॥ ४२ ॥

टीका—कदा कस्मिन्काले । लप्स्ये प्राप्स्याम्यहं । कां पंक्ति लक्षणया सजातीयत्वं । केषां समरसस्वादिनां समरसं ध्यातृध्ये-यध्यानानामेकीभावे सत्यानन्दं स्वादयन्त्यभीक्ष्णं भूयोभूयोऽनुभवन्तीति समरसस्वादिनो घटमानयोगा निष्पन्नयोगा वा मुमुक्षवः समरसस्वादिनस्तेषां । किंविशिष्टः सन् आत्मदृक् आत्मदर्शी भवन् । कथम्भूतो भूत्वा मोक्षोन्मुखेत्यादि— मोक्षे अनन्तज्ञानादि-चतुष्टयाविर्भावस्वभावे निःश्रेयसि उन्मुखाः अभिमुखाः उद्यतास्तेषां क्रियाकाण्डगुरुकुलोपासनक्लेशतापनादियोगकायक्लेशादि तेन विस्मापितोऽनन्यसम्भाव्यतया विस्मयं नीतो बहिर्जनो बहिरात्मलोको येन स तथोक्तः ।

अर्थ—मोक्षाच्या प्राप्तीकरितां आचरिलेल्या अनेक सत्कर्मांच्या योगानें ज्यानें बहिरात्मलोकांस आश्चर्यचकित केलें आहे असा व ज्याला आत्म्याचा साक्षात्कार झाला आहे असा मी समबुद्धीपासून उत्पन्न होणाऱ्या आनंदाचा अनुभव घेणाऱ्या मुनींच्या सजातीयत्वास केव्हां बरें प्राप्त होईन ! ह्मणजे मुनीसारखा केव्हां होईन !!

योगपरमकाष्ठामभिकांक्षति—

योगाच्या पराकाष्ठेची इच्छा दाखवितात.

शून्यध्यानैकतानस्य ।



स्थाणुबुध्याऽनडुन्मृगैः ॥

उद्धृष्यमाणस्य कदा ।

यास्यन्ति दिवसा मम ॥ ४३ ॥

टीका—कदा कस्मिन् योगाभ्याससमये । यास्यन्ति गमि-  
ष्यन्ति । के दिवसाः अहोरात्राः । कस्य मम तत्त्वज्ञानवै-  
राग्यसम्पन्नस्य । किंविशिष्टस्य सतः शून्यध्यानैकतानस्य निर्विक-  
ल्पसमाधिपरिणतस्य पुनः किं क्रियमाणस्य उद्धृष्यमाणस्य स्कन्ध-  
श्रृङ्गकण्डूयनगोचरीक्रियमाणस्य कैरनडुन्मृगैः अनड्वाहः उत्कृ-  
ष्टपशवः मृगा अरण्यचारिणो हरिणाः अनड्वाहश्च मृगाश्च अनडु-  
न्मृगास्तैः । कया स्थाणुबुध्या स्थाणुः सीमाद्यर्थ ऊर्ध्वस्थितका-  
ष्ठविशेषः स्थाणुरिति च द्विः कल्पना स्थाणुबुद्धिस्तया । यदा  
हि पुराद्बहिरहं कायोत्सर्गेण स्थास्यामि तदा स्वैरचारिणो वृषभा-  
दयः स्कन्धादिकण्डूत्याकुलितास्तत्कण्डयनाय मां स्थाणुरयमिति  
मन्यमानाः स्कन्धादिभिरुद्धृष्यन्ति । एवमरण्ये हरिणादयोऽपि ।  
अहं पुनः पुरारण्ययोर्मुक्ताग्रहत्वेन तिष्ठन् शुद्धचिदानन्दमयं  
स्वात्मानमेवाधिवत्स्यामीति मनोरथोऽस्य महात्मनो लक्ष्यत इति ॥

अर्थ—निर्विकल्पसमार्थीत गहून गेलेला व त्यामुळे हे  
शुष्क काष्ठ आहे अशा बुद्धीने अरण्यांतील बैल हरिण वगैरे  
पशु ज्याच्या अंगास आपले अंग घांशीत आहेत अशा  
माझे दिवस केव्हां बरे जातील !

महानिशायां पुराद्बहिः प्रोषधोपवासव्रतान् कायोत्सर्गस्थिता-  
नुपसर्गजयेन योगादचलितान्प्राच्यश्रावकान् प्रशंसयति—

काळोख्याच्या रात्रीं देखील अरण्यांत राहून प्रोषधो-  
पवासव्रत करून जे कायोत्सर्गाने राहिले आहेत, व सर्व

प्रकारच्या उपसर्गास ज्यांनीं जिकिलें व जे योगसमाधी-  
पामून केव्हांही प्रचलित होत नाहींत अशा प्राचीन श्राव-  
कांची स्तुति करितात.

धन्यास्ते जिनदत्ताद्या ।

गृहिणोऽपि न येऽचलन् ॥

तत्तादृगुपसर्गोप- ।

निपाते जिनधर्मतः ॥ ४४ ॥

टीका—वर्तन्ते । के ते प्रसिद्धाः । जिनदत्ताद्याः जिनदत्तो  
नाम श्रेष्ठी आद्यः प्रथमो येषां वारिषेणकुमारादीनां ते जिनदत्ताद्याः  
प्रोषधोपवासव्रतिनः । किंविशिष्टा धन्या सुकृतिनः तेभ्योऽहं  
स्पृहयामीत्यर्थः । ये किं ये नाचलन् न चलिताः । कस्मात्  
जिनधर्मतः जिनोक्ताजिनसेविताद्वा सामायिकात् किंविशिष्टाः  
सन्तो गृहिणो द्वितीयाश्रमिणः । किंपुनरुत्तराश्रमिण इत्यपिश-  
द्दार्थः । क सति तादित्यादि ते श्रुतप्रसिद्धास्तादृशोऽनन्यसदृशा  
उपसर्गाः शस्त्रप्रहारादयस्तेषां उपनिपाते समीपे निपतनं नियत-  
मवश्यम्भावि पतनं तत्तादृगुपसर्गोपनिपातस्तस्मिन् ॥

अर्थ—ते जिनदत्त वगैरे श्रावक मोठे धन्य होत ! जे  
सागार असून देखील, प्रसिद्ध असलेले भयंकर उपसर्ग  
प्राप्त झाले असतांही जिनधर्मापामून भ्रष्ट झाले नाहींत !!

व्रतिकप्रतिमामुपसंहरस्तदनुष्ठायिनः फलविशेषमाह—

आतां ; व्रतिक प्रतिमेची समाप्ति करून तीं व्रतें करण्यानें  
कोणतें फल प्राप्त होतें तें सांगतात.

इत्याहोरात्रिकाचार- ।

चारिणि व्रतधारीणि ॥  
स्वर्गश्रीः क्षिपते मोक्ष-

श्रीर्षयेव वरस्रजम् ॥ ४५ ॥

टीका—क्षिपते मुंचति । काऽसौ स्वर्गश्रीः यथास्वं सौधर्मा-  
दिकल्पलक्ष्मीः । कां वरस्रजं वरोऽभिमतः पतिर्वरणं वा तत्स्वी-  
करणं वरार्था सक् माला वरसक् तां वरमालामित्यर्थः । क व्रतधा-  
रिणि व्रतानि प्रागुक्तानि धारयत्यात्मानि निरतिचारतया स्थिरीक-  
रोत्यभीक्षणमिति व्रतधारी व्रतिकप्रतिमारूढः श्रावकस्तस्मिन् । किं-  
विशिष्टे इत्येवमुक्तप्रकारेण । आहोरात्रिकमहोरात्रभवमाचारं ब्राह्म-  
मुहूर्तोत्थानादिकं चरत्यनुतिष्ठतीत्येवंशीलस्तच्चारी तस्मिन् । अत्रोत्प्रे-  
क्षामाह मोक्षश्रीर्षयेवेति । मोक्षश्रियामीर्ष्याऽक्षान्तिर्मोक्षश्रीर्ष्या तथा ।  
इयमत्र भावना— यथा काचिन्महाकुलीनकन्या पित्रादिभिरनुज्ञाता  
अभीष्टपताविमं नान्या स्वीकुर्यादिति बुध्या वरमालां क्षिपति तथा  
तत्तादृग्ब्रह्माश्रावके मोक्षश्रीर्षया स्वर्गश्रीरिति भद्रम् ॥

अर्थ—ह्याप्रमाणे अहोरात्र सांगितलेलीं कर्मे करणारा  
जो व्रतिक श्रावक त्याच्या कंठांत स्वर्गलक्ष्मी ही मोक्ष-  
लक्ष्मीच्या ईर्ष्येनेच कीं काय “ ह्यणजे मोक्षलक्ष्मी ह्या श्राव-  
कास प्रथम वरील ते बरे नव्हे; अशा समजुतीनेच कीं  
काय ! ” उत्कृष्ट माला घालिते. तात्पर्य ; वर दाखविलेलीं  
कर्मे करणाऱ्या श्रावकांस मोक्षप्राप्तीच्या आधीं स्वर्गही  
सहज प्राप्त होतो.

इत्याशाधराविरचितायां स्वोपज्ञधर्मामृतसागारधर्मदीपिकायां

भव्यकुमुदचन्द्रिकासन्हायामादितः पञ्चदशः

प्रक्रमाच्च षष्ठोऽध्यायः समाप्तः

अध्याय सहावा समाप्त.

## ॥ अथ सप्तमोऽध्यायः ॥



अथ सामायिकादिप्रतिमानवकस्वरूपप्ररूपणार्थमुपक्रमते । तत्र यद्व्रतिकप्रतिमायां सामायिकं शीलतया निर्दिष्टं तदेवेह व्रतत्वेन प्रतिपद्यमानं प्रतिमारूपतां यातीति प्ररूपयन्नाह—

आतां सामायिकादि नऊ प्रतिमांचें स्वरूप सांगण्यास आरंभ करतात. त्यांत ज्या व्रतांत सामायिक हें शील ह्मणून ( ह्मणजे अमुख्य ह्मणून ) सांगितलें आहे, तेंच सामायिक व्रतरूपानें ग्रहण करणें ह्यास सामायिकप्रतिमा असें ह्मणतात. हा विषय पुढील श्लोकांत सांगतात.

सुदृङ्मूलोत्तरगुण- ।

ग्रामाभ्यासविशुद्धीः ॥

भजँस्त्रिसन्ध्यं कृच्छ्रेऽपि ।

साम्यं सामायिकी भवेत् ॥ १ ॥

टीका—भवेत् भवितुमर्हति । कोऽसौ व्रतिकः । कीदृशः सामायिकी सामायिकप्रतिमावान् । किं कुर्वन् भजन् सेवमानः किं तत्साम्यं मोहक्षोभविहीनमात्मपरिणामं । कथं त्रिसन्ध्यं सन्ध्यात्रये । क सति कृच्छ्रेऽपि परीषहोपसर्गसन्निपातेऽपि । कथम्भूतो भूत्वा सुदृगित्यादि— दृक्सम्यक्त्वं मूलोत्तरगुणग्रामः प्रागुक्तलक्षणः दृक् मूलोत्तरगुणग्रामश्च दृङ्मूलोत्तरगुणग्रामौ प्रशस्तौ निरतिचारौ दृङ्मूलोत्तरगुणग्रामौ सुदृङ्मूलोत्तरगुणग्रामौ । तयोरभ्यासोऽसकृत्प्रवृत्तिः तेन विशुद्धा प्रतिबन्धकापायात् प्रकृतसंयमानुष्ठानसाधनसामर्थ्यं प्राप्ता धीर्ज्ञानं यस्य स तथोक्तः ॥

अर्थ—जो व्रतिक श्रावक सम्यक्त्वी असून, मूल-गुण व उत्तर गुण यांच्या अभ्यासाने ज्याची बुद्धि संयमानुष्ठानाला समर्थ झाली आहे असा होत्साता, प्रातःकाल मध्यान्हकाल व सायंकाल ह्या तिन्हीं कालीं परीषद् व उपसर्ग हे प्राप्त झाले असतांही त्यांस न जुमानतां समबुद्धी ठेवतो, तो श्रावक सामायिक प्रतिमावान् असा होतो.

व्यवहारसामायिकविध्युपदेशपुरःसरं निश्चयसामयिकं विधेयत-योपदिशति—

ह्याप्रमाणें व्यवहारसामायिक विधीचा उपदेश करून; निश्चयसामायिक करण्याविषयीं स्तुतिपूर्वक उपदेश करतात.

कृत्वा यथोक्तं कृतिकर्म सन्ध्या- ।

त्रयेऽपि यावन्नियमं समाधेः ॥

यो वज्रपातेऽपि न जात्वपैति ।

सामायिकी कस्य स न प्रशस्यः ॥ २ ॥

टीका—स सामायिकी कस्य सामायिकार्थिनः शक्रादेर्वा न प्रशस्यः सर्वस्यापि श्लाघ्य इत्यर्थः । यः किं यो नापैति न प्रच्यवते । कस्मात्समाधेः रत्नत्रयैकाग्रलक्षणाद्योगात् । कदा जातु कदाचिदपि । क सति वज्रपातेऽपि वज्रेऽपि पतति सति । किं पुनरन्यत्रोपसर्गकारणे । कियत्कालमित्याह—यावन्नियमं प्रतिज्ञा-वधि । एतन्निश्चयसामायिकं । किं कृत्वा अनुष्ठाय । किं तत् कृतिकर्म किंविशिष्टं यथोक्तं आवश्यकाध्याये योग्यकालेत्यादि-प्रबन्धेन व्याख्यातं वन्दनाकर्म । क सन्ध्यात्रयेऽपि तिसृष्वपि

सन्ध्यासु शक्त्याऽन्यदाऽपि । साम्यभावनानुज्ञानार्थं वा अपिशङ्कः ।  
एतद्व्यवहारसामायिकम् ॥

अर्थ—जो सामायिकव्रत करणारा श्रावक पूर्वी सांगितल्याप्रमाणें वंदना कर्म करून, तिन्ही कार्त्तीही जितका कालपर्यंत नियम केला असेल, तितका कालपर्यंत वज्रपाताचा प्रसंग आला असतां सुद्धां केव्हांही समाधीपासून भ्रष्ट होत नाहीं, तो श्रावक कोणीं स्तुति करण्यास योग्य नाहीं बरें? अर्थात् सर्वास स्तुत्य आहे.

निश्चयसामायिकशिखराधिरूढाय श्लाघते—

आतां; निश्चय सामायिकाच्या पराकाष्ठेस पोचलेल्या श्रावकाची स्तुति करतात.

आरोपितः सामयिक- ।

व्रतप्रासादमूर्धनि ॥

कलशस्तेन येनैषा ।

भूरारोहि महात्मना ॥ ३ ॥

टीका—आरोपितः स्थापितः । कोऽसौ कलशः । केन तेन ।  
क सामायिकेत्यादि— समयः केशबन्धादिनियमितः कालस्तत्रभवं  
सामायिकं साम्यभावनं तदेव व्रतं सामायिकव्रतं तदेव प्रासादो  
देवगृहं दुरासदत्वात् दुरारोहत्वादिष्टसिद्धिनिबन्धनत्वाच्च तस्य मूर्धनि  
शिखराग्रे । येन किं कृतं येन महात्मना गणधरचक्रधरेन्द्रादीनां  
स्पृहणीयेन । आरोहि आरूढा । काऽसौ एषा भूर्यवहारसामायिक-  
पूर्वा निश्चयसामायिकप्रतिमा ॥

अर्थ—ज्या महात्म्यानें हें निश्चयसामायिकव्रत प्राप्त

करून घेतलें, त्यानें सामायिकव्रतरूपी प्रासादाच्या शिखरावर कळस ठेविला असें ह्मणण्यास हरकत नाही.

अथ चतुःश्लोक्या प्रोषधोपवासस्थानं व्याचष्टे—

आतां; कशा प्रकारचा श्रावक प्रोषधोपवास करणारा होतो, हें सांगतात.

स प्रोषधोपवासी स्या- ।

द्यः सिद्धः प्रतिमात्रये ॥

साम्यान्न च्यवते याव- ।

त्प्रोषधानशनव्रतम् ॥ ४ ॥

टीका—स्याद्भवेत् । कोऽसौ स श्रावकः । किंविशिष्टः प्रोषधोपवासी प्रोषधोपवासप्रतिमावान् । यः किं यो न च्यवते न भ्रश्यति । कस्मात्साम्यात् भावसामायिकात् । प्रोषधोपवासशीले तु तदुपरमे नामादिसामायिकपञ्चकस्याप्यनुचरणात् । कियत्कालं यावत्प्रोषधानशनव्रतं प्रोषधोपवासप्रतिज्ञाविषयीकृतान् षोडश यामान् । किंविशिष्टः सन् सिद्धः निष्पन्नः प्रतीतो वा । क प्रतिमात्रये दर्शनव्रतसामायिकप्रतिमासु ॥

अर्थ—जो प्रतिमात्रयांत (दर्शन व्रत व सामायिक ह्यांत सिद्धि पावला असेल व जोपर्यंत प्रोषधोपवासव्रत केलें असेल तोपर्यंत ( सोळा प्रहर पर्यंत ) जो साम्यावस्थेपासून भ्रष्ट होत नाही तो श्रावक प्रोषधोपवासी होतो.

प्रोषधोपवासिनो निष्ठाकाष्ठां निर्दिशति—

आतां; प्रोषधोपवास करणाऱ्या श्रावकाच्या महत्वाची मर्यादा सांगतात.

क्ताहाराङ्गसंस्कार- ।

व्यापारः प्रोषधं श्रितः ॥

चेलोपसृष्टमुनिव- ।

ज्ञाति नेदीयसामपि ॥ ५ ॥

टीका—भाति प्रतिभासते । कोऽसौ प्रोषधं श्रितः प्रोषधोप-  
वासनिष्ठः । किंवत् चेलोपसृष्टमुनिवत् उपसर्गवशाद्वस्त्रेण वेष्टितो  
निर्ग्रन्थो यथा ब्रह्मचर्यधारणशरीरादिममत्ववर्जनयोगात् । केषां  
नेदीयसां पार्श्ववर्तिलोकानां बान्धवादीनां वा । विशेषतोऽन्येषा-  
मित्यपिशङ्कार्थो विस्मये वा अपिशङ्कः । किंविशिष्टः सन् त्यक्ते-  
त्यादि— आहारोऽश्नादिश्चतुर्विधः अङ्गसंस्कारः स्नानोद्धर्तनवर्णक-  
विलेपनपुष्पगन्धविशिष्टवस्त्राभरणादिव्यापारः साहचर्यात्सावधारम्भः  
आहारश्चाङ्गसंस्कारश्च व्यापारश्चाहाराङ्गसंस्कारव्यापारास्त्यक्ताः  
सर्वात्मना प्रत्याख्यातास्ते त्रयो येन । एतेन आहारादित्रयवर्जना-  
द्ब्रह्मचर्यधारणाच्च चतुर्विधं प्रोषधव्रतमुक्तम् ॥

अर्थ— ज्याने भोजन व अंगसंस्कार करणें— ह्य०  
स्नान करणें, उटणी लावणें, गंध लावणें, माला धारण  
करणें— वगैरे व्यापार सोडिले आहेत असा प्रोषधोपवास  
करणारा श्रावक, सर्वदा समीप असणाऱ्या लोकांस देखील,  
मशकादिकांचा त्रास न व्हावा ह्मणून वस्त्र परिधान कर-  
णाऱ्या निर्ग्रन्थमुनीप्रमाणें वाटतो.

सामायिकप्रोषधोपवासयोः प्रतिमाभावे युक्तिमाह—

प्रोषधोपवासास व्रत कां ह्यणावें? याबद्दल युक्ति  
सांगतात.



यत्प्राक्सामायिकं शीलं ।

तद्व्रतं प्रतिमावतः ॥

यथा तथा प्रोषधोप- ।

वासोऽपीत्यत्र युक्तिवाक् ॥ ६ ॥

टीका—अस्ति । काऽसौ युक्तिवाक् समाधानवचनं । क  
अत्र सामायिकप्रोषधोपवासयोः प्रतिमाभावविप्रतिपत्तौ । कथं  
इति । किमिति भवति कोऽसौ प्राक्शीलतया अभ्यस्तः प्रोषधो-  
पवासोऽपि । किं व्रतं । कस्य प्रतिमावतः चतुर्थसंयमविशेषपद-  
मनुतिष्ठतः श्रावकस्य । कथं तथा । यथा किं यथा भवति । किं  
तत् सामायिकं किं भवति व्रतं । सस्यवद्रक्षणीयत्वात् । कस्य  
प्रतिमावतः तृतीयसंयमविशेषपदमनुतिष्ठतः श्रावकस्य । यत् किं  
यत्सामायिकं । भवति । किं शीलं सस्यस्य वृत्तिरिव मुख्यतया  
रक्षणीयस्य व्रतस्य रक्षणकारणत्वात् । क प्राक् व्रतप्रतिमानुष्ठान-  
समये ॥

अर्थ—पूर्वीं ह्यणजे व्रतप्रतिमानुष्ठानाच्या वेळीं जें  
सामायिक शील ह्यणजे मुख्य व्रताचें रक्षक होतें, तें  
सामायिक जसें चतुर्थसंयमस्थानांत असलेल्या श्रावकास  
व्रत होत असतें, त्याप्रमाणेंच तृतीयसंयमस्थानांत अस-  
लेल्या श्रावकास प्रोषधोपवासही व्रतस्वरूप होतो. हें प्रोष-  
धोपवासास व्रत ह्यणण्यासंबंधाचें बीज ( समाधान ) आहे.

परमकाष्ठाप्रतिपन्नान् प्रोषधोपवासिनः प्रशंसति—

आतां पराकाष्ठेस पावलेल्या प्रोषधोपवास करणाऱ्याची  
स्तुति करितात.

निशां नयन्तः प्रतिमा- ।

योगेन दुरितच्छिदे ॥

ये क्षोभ्यन्ते न केनापि ।

तान्नुमस्तुर्यभूमिगान् ॥ ७ ॥

टीका—नुमः स्तुमो वयं । कान् तान् तुर्यभूमिगान् चतुर्थी संयमविशेषपदवीमारूढान् । ये किं ये न क्षोभ्यन्ते सामाधेर्न प्रच्या-  
व्यन्ते । केन केनापि परिषहेणोपसर्गेण वा । किं कुर्वन्तः नयन्तो  
लङ्घयन्तः । कां निशां पर्वरात्रिं । केन प्रतिमायोगेन संयतवत्  
कायोत्सर्गावस्थानेन । कस्यै दुरितच्छिदे अशुभकर्मनिर्जरणार्थं ॥

अर्थ—अशुभकर्माच्या नाशाकरितां कायोत्सर्ग करून  
रात्र घालविणारे जे श्रावक कोणत्याही उपसर्गानें किंवा  
परीषहानें समाधीपासून चलत नाहीत, त्या चवथ्या संय-  
मस्थानीं असलेल्या श्रावकांची आत्मी स्तुति करतो.

अथ सचित्तविरतस्थानं चतुःश्लोक्या व्याचष्टे—

आतां ; सचित्तविरत कोणास ह्यणावें तें सांगतात.

हरीताङ्कुरबीजाम्बु- ।

लवणाद्यप्रासुकं त्यजन् ॥

जाग्रत्कृपश्चतुर्निष्ठः ।

सचित्तविरतः स्मृतः ॥ ८ ॥

टीका—स्मृतः । सूत्रज्ञैराम्नातः । कोऽसौ सचित्तविरतश्रावकः ।  
किं कुर्वन् त्यजन् वर्जयन् अभक्षयन्नित्यर्थः । किं तत् हरी-  
ताङ्कुरबीजाम्बुलवणादि अङ्कुरः प्ररोहः बीजं प्ररोहणद्रव्यं अम्बु  
जलं लवणं सैन्धवादि आदिशब्देन कन्दमूलफलपत्रकरीरादि,

अंकुरश्च बीजं च अंकुरबीजमुपलक्षणात् त्वक्पत्रादि, हरीतमम्लाना-  
नाद्रावस्थं । हरीतं च तदंकुरबीजं च हरीतांकुरबीजं तच्चाम्बुलवणा-  
दि च हरीतांकुरबीजाम्बुलवणादि । किंविशिष्टमप्रासुकमनग्नि-  
पकमित्यर्थः । अत्र च द्वितीयपादे नवाक्षरत्वं न दोषाय अनुष्टुभि-  
नवाक्षरस्यापि पादस्य शिष्टप्रयोगे कापि कापि दृश्यमानत्वात् ।  
यथा— ऋषभाद्या वर्द्धमानान्ता जिनेन्द्रा दश पञ्च वेत्यादिषु ।  
अथवा हरीताङ्कुरबीजाब्जवणाद्यप्रासुकं त्यजन्निति पाठः । अत्र  
आपो जलं । किंविशिष्टोऽसौ जाग्रत्कृपो यतः जाग्रती नित्यं हृदि  
स्फुरन्ती कृपा अनुकम्पा यस्य स जाग्रत्कृपो दयामूर्तिरित्यर्थः ।  
कथम्भूतो भूत्वा हरीताङ्कुरादिकमभक्षयन्सचित्तविरतः स्मृतः  
चतुर्निष्ठः चतसृषु पूर्वोक्तप्रतिमासु निष्ठा निर्वाहो यस्य स  
चतुर्निष्ठः ॥

अर्थ— हिरवे मोड व बीं, पाणी, मीठ वगैरे ( गड्डा  
मुळें, फळें, साली ) ह्या जीवयुक्त पदार्थांचा त्याग कर-  
णारा व ज्याच्या अंतःकरणांत दया निरंतर वास करीत  
आहे असा व पूर्वी सांगितलेल्या चार प्रकारच्या व्रतांचें  
आचरण करणारा जो श्रावक, तो ' सचित्तविरत ' ( सजीव पदार्थांचा त्याग करणारा ) असा समजावा.  
[ ह्या श्लोकांतील दुसऱ्या चरणांत नऊ अक्षरें आहेत हा  
जरी छंदःशास्त्राप्रमाणें दोष आहे; तथापि कित्येक ठिकाणीं  
( ऋषभाद्या वर्द्धमानान्ता जिनेन्द्रा दश पञ्च च ) विद्वानांचे  
तसे प्रयोग दृष्टीस पडतात. ह्मणून, त्या दोषाची  
उपेक्षा करावी. ]

जाग्रत्कृप इति समर्थयते—

वरील श्लोकांत ' ज्याच्या अंतःकरणांत दया निरंतर

वास करीत आहे तो श्रावक सचित्तविरत असा समजावा ' असें सांगितलें आहे. त्यांत, दया असल्यानें सचित्त-  
विरति कशी होते? ह्याची उपपत्ति सांगतात.

पादेनापि स्पृशन्नर्थ- ।

वशाद्योऽतिऋतीयते ॥

हरितान्याश्रितानन्त- ।

निगोतानि स भोक्ष्यते ॥ ९ ॥

टीका—भोक्ष्यते काका न भक्षयिष्यतीत्यर्थः । कोऽसौ स पञ्चमसंयमस्थानसाधनोद्यतः श्रावकः । कानि हरितानि हरिता-  
वस्थवनस्पतीन् । किंविशिष्टानि आश्रितानन्तानिगोतानि आश्रितानि  
संसक्तानि अनन्तानि निगोतानि निगोताख्याः साधारणशरीरवनस्पति-  
कायिका येषु तानि । उक्तं चार्षे ब्राह्मणसृष्टिप्रस्तावे— सन्त्येवा-  
नन्तशो जीवा हरितेष्वन्कुरादिषु । निगोता इति सार्वज्ञं देवा-  
स्माभिः श्रुतं वचः ॥ १ ॥ यः किं यो अतिऋतीयते पाक्षिकाद्य-  
पेक्षया अतिशयेन घृणां करोति । किं कुर्वन् स्पृशन् परामृशन् ।  
कानि तथाभूतहरितानि । केन पादेन चरणेन किं पुनर्हस्तादि-  
नेत्यपिशब्दार्थः । कस्मात् अर्थवशात् प्रयोजनानुरोधात् । किं  
पुनः प्रयोजनाभावात् । प्रयोजनं विना स्थावरविराधनादपि  
निवृत्तिप्रतिज्ञानात् ॥

अर्थ—जो श्रावक, कांहीं कारणामुळे एखाद्या पदा-  
र्थास पायांनें स्पर्श करीत असतांहि दयेनें अत्यंत कळ-  
वळतो; तो श्रावक, ज्यांवर अनंत जीव रहात आहेत  
असे कोंवळे मोड, बीं वगैरे पदार्थ भक्षण करील काय?  
केव्हांही करणार नाही!

सचित्तविरतेभ्यः श्लाघते—

सचित्तविरतांची स्तुति करतात.

अहो जिनोक्तिनिर्णीति- ।

रहो अक्षजितिः सताम् ॥

नालक्ष्यजन्त्वपि हरित् ।

प्सान्त्येतेऽसुक्षयेऽपि यत् ॥ १० ॥

टीका—अहो आश्चर्य वर्तते । काऽसौ जिनोक्तिनिर्णीतिः जिनागमनिश्चयः । केषां सतां प्रकरणात् सचित्तविरतिप्रयतानां । तथा अहो आश्चर्य वर्तते ! काऽसौ ? अक्षजितिः इन्द्रियजयः केषां सताम् । अत्रोपपत्तिमाह— यद्यस्मात् । न प्सान्ति न भक्षयन्ति । के एते सन्तः । किं तत् हरित् हरितं । किंविशिष्टमपि अलक्ष्यजन्त्वपि अलक्ष्याः अस्मदाद्यपेक्षया केवलागमगम्यत्वात् प्रत्यक्षाद्यसंवेद्याः जन्तवः प्राणिनो यस्मिन् तदलक्ष्यजन्तु हरितं वस्तु । किं पुनर्दृश्यानुमेयप्राणिकमित्यपिशब्दार्थः । क सति असुक्षयेऽपि असूनां प्राणानां क्षयः प्रलयः असुक्ष्यस्तस्मिन्नपि प्राणेषु नश्यत्स्वपि । किं पुनः प्रकारान्तरेण जीविते सम्भवतीत्यपिशब्दार्थः । अत्रालक्ष्यजन्त्वपीत्यनेन जिनागम-प्रामाण्यविश्वासोऽसुक्षयेऽपीत्यनेन च जितेन्द्रियत्वं समर्थ्यते ॥

अर्थ—सज्जनांचा श्रीजिनोक्तीविषयीं विश्वास व इंद्रियनिग्रह हे दोन्ही मोठे आश्चर्यकारक आहेत ! कारण, जिनोक्तीवर विश्वास ठेवणारे व इंद्रियनियमन करणारे सत्पुरुष, ज्यांतील जंतू दिसत सुद्धा नाहीत असे कोंवळे पदार्थ, प्राण जाण्याच्या प्रसंगीही भक्षण करीत नाहीत !!

साम्प्रतं भोगोपभोगपरिमाणशीलातिचारत्वेनोक्तं सचित्तभोजन-  
मिह त्यज्यमानं प्रतिमाभावं यातीत्युपदिशति—

आतां ; मार्गे भोगोपभोगपरिमाणव्रताचा अतिचार  
ह्मणून सांगितलेलें सचित्तभोजन ( जीवयुक्त पदार्थांचें  
भक्षण ) ह्या प्रसंगीं सोडिलें असतां तें व्रतत्वास प्राप्त होतें  
असें सांगतात.

सचित्तभोजनं यत्प्रा- ।

ञ्जलत्वेन जिहासितम् ॥

व्रतयत्यङ्गिपञ्चत्व- ।

चकितस्तच्च पञ्चमः ॥ ११ ॥

टीका—व्रतयति व्रतत्वेन प्रत्याख्याति । कोऽसौ पञ्चमः  
सचित्तविरत्युद्यतः । किं तत् तच्च तदपि । किंविशिष्टो यतः  
अङ्गिपञ्चत्वचकितः अङ्गिनां भक्ष्यमाणसचित्तद्रव्याश्रितजीवानां  
पञ्चत्वं मरणं अङ्गिपञ्चत्वं तस्माच्चकितो भीतो यतः । यत्किं  
यज्जिहासितं त्यक्तुमिष्टं शीलोपदेशस्याभ्यासदशाविषयत्वात् किं  
तत् सचित्तभोजनं जीवाश्रितद्रव्यवल्भनं । केन व्रतिकेन । केन  
कृत्वा मलत्वेन भोगोपभोगपरिमाणाख्यशीलातिचारत्वेन । क प्राक्  
शीलोपदेशसमये । स्वामी पुनर्भोगोपभोगपरिमाणशीलातिचारा-  
नन्यथा पठित्वा पञ्चमप्रतिमामेवमध्यगीष्ट— मूलफलशाकशाखा-  
करीरकन्दप्रसूनबीजानि । नामानि योऽति सोऽयं सचित्तविरतो  
दयामूर्तिः ॥

अर्थ—हा सचित्तविरति नांवाच्या पांचव्या प्रतिमेंत  
असलेला श्रावक, जें सजीवपदार्थांचें भक्षण, भोगोपभोग-  
परिमाणव्रताचा अतीचार ह्मणून टाकित्ता झाला होता ;

तेंच सजीवपदार्थांचें भक्षण, त्या सजीवपदार्थांत असलेल्या अनेक जीवांची हिंसा होईल ह्या भीतीनें सोडून देतो. तात्पर्य— सचित्तविरतिरूपी पांचव्या पदावर आरूढ झालेल्या श्रावकाचें अंतःकरण फार दयाळू असल्यानें तो सजीवपदार्थाच्या भक्षणाच्या त्यागाचें व्रत करितो.

अथ रात्रिभक्तव्रतं चतुःश्लोक्या व्याकरिष्यन् आदौ तल्लक्षणमाह—

आतां ; पुढील चार श्लोकांनीं रात्रिभक्तव्रताचें स्पष्टीकरण करण्याकरितां प्रथम त्याचें लक्षण सांगतात.

स्त्रीवैराग्यनिमित्तैक- ।

चित्तः प्राग्वृत्तनिष्ठितः ॥

यस्त्रिधाऽहि भजेन्न स्त्रीं ।

रात्रिभक्तव्रतस्तु सः ॥ १२ ॥

टीका— स तु श्रावको भवति । किंविशिष्टः रात्रिभक्तव्रतः । यः किं यो न भजेत् न सेवेत् । कां स्त्रीं निःशेषामपि योषां । क्व अहि दिने । कथं त्रिधा मनोवाकायकृतकारितानुमतैः । किंविशिष्टः सन् स्त्रीत्यादि— स्त्रीवैराग्यनिमित्तानि कामदोषाः स्त्रीदोषाः स्त्रीसङ्गदोषा अशौचमार्यसङ्गतिश्चेति पञ्च तेष्वेकचित्तो यः स तथोक्तः तदेकाग्रमना इत्यर्थः । कथम्भूतो भूत्वा प्राग्वृत्तनिष्ठितः पूर्वोक्तप्रतिमापञ्चकाचारनिरूढः ॥

अर्थ— स्त्रियांविषयीं वैराग्य उत्पन्न होण्यास जीं पांच ( इच्छेंतील दोष, स्त्रियांमध्ये असलेले दोष, स्त्रीसमागमांत असलेले दोष, अशुद्धपणा आणि सज्जनांची संगति )

साधनें आहेत त्यांत ज्याचें मन गढून गेलें आहे असा व पूर्वीच्या पांचही प्रतिमांस योग्य असा आचार ठेवणारा असा जो श्रावक; मन, वाणी व शरीर ह्या तीर्हींच्या योगानें दिवसा कोणत्याही स्त्रीचा उपभोग करीत नसेल; तो श्रावक रात्रिभुक्तव्रत ( रात्री-भोजन न करणें हें व्रत ) करीत आहे असें समजावें.

षष्ठप्रतिमानिष्ठानभिष्टौति—

सहाव्या प्रतिमेत असलेल्या श्रावकाची स्तुति करितात.

अहो चित्रं धृतिमतां ।

सङ्कल्पच्छेदकौशलम् ॥

यन्नामापि मुदे साऽपि ।

दृष्टा येन तृणायते ॥ १३ ॥

टीका—अहो चित्रमाश्चर्यं वर्तते । किं तत् संकल्पच्छेदकौशलं मनोव्यापारनिरोधसामर्थ्यं । केषां धृतिमतां संतोषभावनायुक्तानां पुंसां । येन किं येन संकल्पच्छेदकौशलेन । तृणायते तृणवत्प्रतिभाति अभोग्यतयाऽऽत्मानं तेषां दर्शयतीत्यर्थः । काऽसौ साऽपि कान्ता । किंविशिष्टा सती दृष्टा चक्षुर्गोचरीकृता । तथा आवृत्या सा कान्ता दृष्टाऽपि किं पुनः श्रुता संकल्पिता चेत्यपिशब्दार्थः । गृहस्थस्य हि स्वदारान्प्रति प्रेम दृग्व्यापारश्च दुःखं प्रतिपेदे । सा का यन्नामापि यस्याः सञ्ज्ञाऽपि श्रुता भवति । कस्यै मुदे प्रीतये । किं पुनर्दर्शनादिकमित्यपिशब्दार्थः ॥

अर्थ—धैर्यशाली पुरुषांचें आपल्या अंतःकरणांत उत्पन्न होणाऱ्या कामविकारास दाबून ठेवण्याचें सामर्थ्य



फारच चमत्कारिक असतें ! कारण, जिचें नांव ऐकिलें तरी देखील आनंद होतो अशा स्त्रीस, प्रत्यक्ष पाहिली असतांमुद्धां, त्या पुरुषांना ज्या सामर्थ्यामुळेच ती अगदीं तृणतुच्छ होते.

एतस्य रात्र्यादावपि मैथुनविनिवृत्तिमुपपादयन्नाह—

अशा विरक्तपुरुषांचें रात्रीदेखील स्त्रीसमागमाविषयी औत्सुक्य नसतें असें युक्तीनें दाखवितात.

रात्रावपि ऋतावेव ।

सन्तानार्थमृतावपि ॥

भजन्ति वशिनः कान्तां ।

न तु पर्वदिनादिषु ॥ १४ ॥

टीका—भजन्ति सेवन्ते के वशिनो जितेन्द्रियाः । कां कान्तां प्रियां । क ऋतावेव पुष्पदर्शनोत्तरभाविचतुर्थदिवसस्नानानन्तरमेव नान्यदा । क रात्रावपि निश्यपि । तथा ऋतावपि सन्तानार्थमेव ते भजन्ति तां न विषयसुखार्थं । एवशब्दोऽत्र सन्दशकन्यायेन उभयत्र योज्यः । न तु न पुनः कथमपि वशिनस्त्रियं भजन्ति । केषु पर्वदिनादिषु पर्वदिनानि धर्मकर्मानुष्ठानदिनान्यष्टम्यादीनि आदिशब्देन अमावास्याग्रहणादीनि गृह्यन्ते ॥

अर्थ—जे इंद्रियनिग्रह करणारे पुरुष असतात, ते, स्त्री ऋतुमती होऊन चवथ्या दिवशीं तिनें स्नान केल्यावर रात्रीं तिचा उपभोग करितात; तो उपभोग तरी केवळ संततीकरितांच करितात; तिच्यावर अनुरक्त होऊन करीत नाहीत. आणि तो देखील पर्वाच्या दिवशीं करीत नाहीत.

अधुना चारित्रसारादिशास्त्रमतेन रात्रिभक्तव्रतं निरुक्त्या लक्षयन् रत्नकरण्डकादिप्रसिद्धं तदर्थं कथयति—

आतां चारित्रसारादि ग्रंथांत सांगितल्याप्रमाणें रात्रि-  
भुक्तव्रताचें लक्षण सांगून रत्नकरंढकांत सांगितल्याप्रमाणें  
त्याचा अर्थ दाखवितात.

रात्रिभक्तव्रतो रात्रौ ।

स्त्रीसेवावर्तनादिह ॥

निरुच्यतेऽन्यत्र रात्रौ ।

चतुराहारवर्जनात् ॥ १५ ॥

टीका—निरुच्यते व्युत्पाद्यते । कोऽसौ रात्रिभक्तव्रतः समा-  
सशब्दः । क इह अस्मिन् चारित्रसारादिशास्त्रानुसारिणि ग्रन्थे ।  
कस्मात् रात्रौ निशि स्त्रीसेवाया वर्तनात् रात्रौ भक्तं स्त्रीभजनं  
व्रतयति रात्रिभक्तव्रत इति तच्छब्दस्य व्युत्पादनात् । अन्यत्र पुना  
रत्नकरंढकादिशास्त्रे रात्रिभक्तव्रतशब्दो निरुच्यते । कस्मात् रात्रौ  
चतुराहारवर्जनात् रात्रौ भक्तं चतुर्विधमप्याहारं व्रतयति प्रत्या-  
ख्यातीति रात्रिभक्तव्रत इति तच्छब्दव्युत्पादनात् । यदाह स्वामी—  
अन्नं पानं स्वाद्यं लेह्यं नाश्नाति यो विभावयाम् । स च रात्रिभक्त-  
विरतः सत्त्वेष्वनुकम्पमानमनाः ॥

अर्थ—चारित्रसारादि ग्रंथांत “आह्मी रात्रीच्या वेळींच  
स्त्रीसंभोग करूं, दिवसास करणार नाहीं ” असें व्रत घेणें  
ह्यास रात्रिभक्तव्रत असें मानिलें आहे. आणि दुसऱ्या  
क्षणजे रत्नकरंढकांत “ रात्रीं चारी प्रकारच्या आहाराचा  
( अन्न ह्म० नुसते गिळण्याचे पदार्थ, पान ह्म० पिण्याचे  
पदार्थ, स्वाद्य ह्म० चावावयाचे पदार्थ आणि लेह्य ह्म०

चाटावयाचे पदार्थ, असा चार प्रकारचा आहार आहे.) त्याग करणे ” असा अर्थ केला आहे.

अथ ब्रह्मचर्यस्थानं व्याचष्टे—

आतां; ब्रह्मचर्य नांवाच्या सप्तमप्रतिमेचें व्याख्यान करितात.

तत्तादृक्संयमाभ्यास- ।

वशीकृतमनाः स्त्रिधा ॥

यो जात्वशेषा नो योषा ।

भजति ब्रह्मचार्यसौ ॥ १६ ॥

टीका— भवति कोऽसावसौ श्रावकः । किंविशिष्टो ब्रह्मचारी ब्रह्मणि चारित्रे आत्मनि ज्ञाने चरति प्रवर्तत इत्येवंव्रतः । यः किं यो नो भजति न सेवते । काः योषाः स्त्रीः । किंविशिष्टाः अशेषाः मानवीर्देवीस्तिरश्चीस्तत्प्रतिकृतीश्च । कदा जातु कदाचिद्दिवा रात्रौ च कथं त्रिधा त्रिविधेन कथम्भूतो भूत्वा तदित्यादि— स प्राक् प्रतिमा-षट्कनिर्दिष्टः तादृक् क्रमोपचितः संयमः प्राणीन्द्रियपरिहाररूपाप-त्हतसंयमैकदेशस्तस्याभ्यासो भावना तेन वशीकृतं स्वाधीनतां नीतं मनश्चित्तं येन स तथोक्तः ॥

अर्थ—मार्गील श्लोकांत दाखविलेल्या सहा प्रतिमांतील क्रमानें केलेल्या इंद्रियनिग्रहाच्या अभ्यासानें ज्यानें आपलें अंतःकरण ताब्यांत ठेविलें आहे असा जो श्रावक, कोण-त्याही स्त्रीचा ( मनुष्यस्त्रीचा, देवस्त्रीचा अथवा पशुपक्ष्यां-तील स्त्रियांचा ) मनानें बाणीनें अथवा शरीरानें केव्हांही ( रात्री किंवा दिवसां ) उपभोग करीत नाही, तो श्रावक ब्रह्मचारी समजावा.

ब्रह्मचारिणं श्लाघते—

आतां ; ब्रह्मचारी श्रावकाची स्तुति करतात.

अनन्तशक्तिरात्मेति ।

श्रुतिर्वस्त्वेव न स्तुतिः ॥

यत्स्वद्रव्ययुगात्मैव ।

जगज्जैत्रं जयेत्स्मरम् ॥ १७ ॥

टीका—भवति । काऽसौ श्रुतिराप्तोपदेशः । कथं इति एवं-स्वरूपा । भवति । कोऽसावात्मा पुरुषः । किंविशिष्टोऽनन्तशक्तिः अनन्ता निःसीमाः शक्तयो अर्थक्रियाकारिसामर्थ्यानि यस्य सः अनन्तशक्तिः । इति श्रुतिः । किं भवति वस्त्वेव वस्तुविषयैव । न भवति । सा, सा किं स्तुतिः । गुणाल्पत्वे सति तद्बहुत्वकथनं कुत इत्याह—यद्यस्मात् जयेत् प्रतिबधीयात् । कोऽसावात्मैव । किंविशिष्टः स्वद्रव्ययुक् परद्रव्यव्यावर्तनेन आत्मद्रव्यं समादधानः । कं स्मरं कन्दर्पं । किंविशिष्टं जगज्जैत्रं जगतां परद्रव्यप्रवृत्तिमतां प्राणिनां जैत्रमभिभावुकं ॥

अर्थ—आत्मा हा ज्याचें सामर्थ्य फार विलक्षण आहे असा आहे, त्याप्रमाणें प्राचीन पंडितांनीं केलेला उपदेश, आत्म्याचें खरें स्वरूप दाखविणारा आहे; स्तुति ( अल्प-गुणाचें महत्त्व दाखविणें ) नव्हे. कारण; आत्मा, जर आपल्याहून भिन्न अशा द्रव्यानें युक्त न होतां—ह्मणजे आत्म्याहून भिन्न द्रव्य असा जो देह त्याचे ठिकाणीं मीपणा न मानितां—स्वद्रव्यानें युक्त ह्मणजे स्वस्वरूपांत गढलेला असा असला, तर तो सर्वजगास जिंकणाऱ्या

मदनासही जिकतो. तात्पर्य— ‘ब्रह्मचारी’ शब्दाचा “सम्यक्कारित्र पाळणारा, आत्मनिष्ठ आणि ज्ञानसम्पादन करणारा” असा अर्थ आहे. ह्मणून ब्रह्मचारी श्रावकाचा आत्मा हा आत्मनिष्ठ ह्मणजे स्वस्वरूपांत गढलेला असा असल्याने तो मदनाचा पराभव करण्यास समर्थ असतो. कारण आत्मनिष्ठ अशा आत्म्याची देहाविषयी अहंभावना (मीपणा) नसल्याने, तो आपल्याहून भिन्न द्रव्य ह्मणजे देहरूपी द्रव्य त्याने युक्त नसल्यामुळे, देहाविषयी अहंभावना असल्याने उत्पन्न होणारी विषयभोगाची इच्छा त्याच्या ठिकाणी उत्पन्न होत नाही. ह्मणून ब्रह्मचारी श्रावकाचा आत्मा स्वस्वरूपी गढलेला असल्यामुळे तो खरोखरच अनंतशक्ति आहे.

मन्दमत्यनुजिघृक्षया ब्रह्मचर्यमाहात्म्यमाह—

आतां मंदबुद्धि मनुष्यास चांगले समजावे अशाविषयीच्या कळवळ्याने ब्रह्मचर्याचे माहात्म्य सांगतात.

विद्या मन्त्राश्च सिद्ध्यन्ति ।

किङ्करन्त्यमरा अपि ॥

क्रूराः शाम्यन्ति नाम्नाऽपि ।

निर्मलब्रह्मचारिणाम् ॥ १८ ॥

टीका—सिद्ध्यन्ति वरप्रदा भवन्ति । काः विद्याः साधित-सिद्धाः । मन्त्राश्च पठितसिद्धाः । तथा किङ्करन्ति किङ्करा इव आचरन्ति । के अमराः देवाः । किं पुनर्मानवास्तिर्यञ्चो वेत्यपिशब्दार्थः । तथा शाम्यन्ति उपसर्गकरणान्निवर्तन्ते । के क्रूराः ब्रह्मराक्षसादयः । केन नाम्ना सञ्ज्ञोच्चारणमात्रेण । किं पुनः

सन्निधानेनेत्यपिशिद्दार्थः । केषां निर्मलब्रह्मचारिणां निरतिचारब्रह्म-  
चर्यभाजाम् ॥

अर्थ—ज्यांनीं निर्दोषब्रह्मचर्य पाळलें असेल, त्यांच्या  
सर्वविद्या व त्यांनीं पठन केलेले सर्वमंत्र हे त्यास योग्य  
फल देतात, देवदेखील त्यांचे सेवक होतात; आणि  
त्यांच्या नुसत्या नांवानें देखील कूरजीव (भूतपिशाच  
ब्रह्मराक्षस वगैरे) शांत होतात.

प्रसङ्गवशाद्ब्रह्मचर्याश्रमं किञ्चिद्व्याचष्टे —

सहज प्रसंगामुल्ले ब्रह्मचर्याश्रमाची थोडी माहिती  
सांगतात.

प्रथमाश्रमिणः प्रोक्ता ।

ये पञ्चोपनयादयः ॥

तेऽधीत्य शास्त्रं स्वीकुर्यु- ।

दरानन्यत्र नैष्ठिकात् ॥ १९ ॥

टीका—ये प्रोक्ताः परमागमे प्रतिपादिताः । के प्रथमाश्रमिणः  
मौञ्जीबन्धनपूर्वब्रतानुष्ठायिनः । कति पञ्च । के ते उपनयादयः  
उपनय आदिर्येषामवलम्बादीनां ते तत्र उपनयब्रह्मचारिणो गणधर-  
सूत्रधारिणः समभ्यस्तागमा गृहिधर्मानुष्ठायिनो भवन्ति । अवलम्ब-  
ब्रह्मचारिणः क्षुल्लकरूपेणागममभ्यस्य परिगृहीतगृहावासा भवन्ति ।  
अदीक्षाब्रह्मचारिणो वेषमन्तरेणाभ्यस्तागमा गृहधर्मनिरता भवन्ति ।  
गूढब्रह्मचारिणः कुमारश्रमणाः सन्तः स्वीकृतागमाभ्यासा बन्धुभि-  
र्दुःसहपरिषहैरात्मना नृपतिभिर्वा निरस्तपरमेश्वररूपा गृहवासरता  
भवन्ति । नैष्ठिकब्रह्मचारिणः समधिगतशिखालक्षितशिरोलिङ्गा

गणधरसूत्रोपलक्षितवक्षोलिङ्गाः शुक्लरक्तवसनकौपीनकटीलिङ्गाः तथा भिक्षावृत्तयो देवार्चनपरा भवन्ति । ते किं कुर्येरित्याह— परि-  
गृहीयुः । के ते । कान् दारान् पत्नीः । किं कृत्वा अधीत्य पठित्वा ।  
किं तत् शास्त्रमुपासकाध्ययनादि श्रुतं । कथमन्यत्र । कस्मात्  
नैष्ठिकात् नैष्ठिकं वर्जयित्वेत्यर्थः ॥

अर्थ— उपनयब्रह्मचारी, अवलंबब्रह्मचारी, अदीक्षा-  
ब्रह्मचारी, गृहब्रह्मचारी व नैष्ठिकब्रह्मचारी असे जे  
पांचप्रकारचे ब्रह्मचारी सांगितले आहेत ते शास्त्राचे  
अध्ययन करून, नंतर स्त्रीचा स्वीकार करितात....म्हणजे  
गृहस्थाश्रम स्वीकारितात. परंतु त्यांत जे नैष्ठिकब्रह्मचारी  
असतात, त्यांचाचून बाकीचे चार प्रकारचे ब्रह्मचारी  
मात्र गृहस्थाश्रम स्वीकारितात. नैष्ठिकब्रह्मचारी त्याचा  
स्वीकार करीत नाहीत.

त्यांत जे गणधरसूत्राचें व जैनागमाचें अध्ययन करून  
गृहस्थधर्माचा स्वीकार करणारे असतात, ते ‘उपनयनब्र-  
ह्मचारी’ होत. जे क्षुल्लकस्वरूपानें फक्त आगमाचें  
अध्ययन करून गृहस्थ होणारे असतात, ते ‘अवलंब  
ब्रह्मचारी’ असतात. जे ब्रह्मचर्यास योग्य अशा प्रकारचा  
वेष न धारण करिता शास्त्राभ्यास करून गृहस्थ होणारे  
असतात ते ‘अदीक्षाब्रह्मचारी’ समजावेत. जे बाल-  
पर्णीच मुनि होऊन शास्त्राभ्यास करून पुढें आपल्या आप्त  
इष्टांच्या आग्रहामुळें, किंवा थंडी वारा सोसत नसल्यामुळें  
अथवा आपणालाच बरें न वाटल्यामुळें, किंवा राजाच्या  
भीतीमुळें, दिगंबरपणा सोडून गृहस्थाश्रम स्वीकारणारे  
असतात, ते ‘गृहब्रह्मचारी’ समजावेत. आणि जे

मस्तकावर शिखारूपी चिन्ह धारण करणारे व उरावर गणधरसूत्र ( यज्ञोपवीत ) धारण करणारे आणि पांढरें किंवा तांबडें कौपीन ( लंगोटी ) कंबरेला धारण करणारे व भिक्षा मागून निर्वाह करणारे व सर्वदा जिनपूजेंत आसक्त असे असतात ते ' नैष्ठिकब्रह्मचारी ' समजावेत.

जिनदर्शने वर्णाश्रमव्यवस्था कुत्रास्तीति पृच्छन्तं प्रत्याह—

आतां; जिनशास्त्रांत वर्णाश्रमांची व्यवस्था असल्याचें सांगतात.

ब्रह्मचारी गृही वान- ।

प्रस्थो भिक्षुश्च सप्तमे ॥

चत्वारोऽङ्गे क्रियाभेदा- ।

दुक्ता वर्णवदाश्रमाः ॥ २० ॥

टीका—उक्ताः प्रणीताः । के आश्रमाः आ शास्त्रोक्तकालात् श्राम्यन्ति यथास्वं तपस्यन्तीत्याश्रमाः । किंवा वर्णवत् ब्राह्मणादयो वर्णा यथा । कस्मात् क्रियाभेदात् धर्मकर्मविकल्पात् । कति चत्वारः । क अङ्गे । किंविशिष्टे सप्तमे उपासकाध्ययनाख्ये । तानेवोपदेष्टुमाह— ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो भिक्षुश्चेति । उक्तं च ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थश्च भिक्षुकः । इत्याश्रमास्तु जैनानां सप्तमाङ्गाद्विनिःसृताः ॥ १ ॥ तत्क्रियाभेदस्तु किञ्चिदयं दर्श्यते— ब्रह्मचारिणस्तावदिमाः क्रियाः । द्विजसूनोर्गर्भाष्टमे वर्षे जिनालये कृतार्हत्पूजनस्य कृतमौण्ड्यस्य त्रिगुणमौखीबन्धसप्तगुणग्रन्थित-यज्ञोपवीतादि लिङ्गं विशुद्धं स्थूलहिंसाविरत्यादिव्रतं ब्रह्मचर्योपबृंहितं गुरुसाक्षिकं धारणीयं । तत्क्रियाप्रपञ्चः पुनरार्षे— शिखी सितांशुकः सान्तर्वासा निर्वेषविक्रयः । व्रतचिन्हं दधत्सूत्रं तदोक्तो ब्रह्म-



चार्यसौ ॥ चरणोचितमन्यच्च नामधेयं तदाऽस्य वै । वृत्तिश्च  
 भिक्षयाऽन्यत्र राजन्यादुद्धवैभवात् ॥ इत्यादिग्रन्थेनोक्तः प्रति-  
 पत्तव्यः । पूर्वोक्तनित्यनैमित्तिकानुष्ठानस्थो गृहस्थः । स द्वेधा  
 जातितीर्थक्षत्रियभेदात् । तत्र जातिक्षत्रियाः क्षत्रियब्राह्मणवैश्यशूद्र-  
 भेदाच्चतुर्विधाः । तीर्थक्षत्रियाः स्वजीवितविकल्पादनेकभेदा भिद्यन्ते ।  
 वानप्रस्था अपरिगृहीतजिनरूपा वस्त्रखण्डधारिणो निरतिशयतपः  
 स्युद्यता भवन्ति । भिक्षवो जिनरूपधारिणो बहुधा भवन्ति । तद्यथा  
 देशप्रत्यक्षवित्केवलभृदिह मुनिः स्यादृषिः प्राप्तऋद्धिरारूढश्रेणियुग्मो  
 जिनयतिरनगारोऽपरः साधुवर्गः ॥ राजा ब्रह्मा च देवः परम इति  
 ऋषिर्वैक्रियाऽक्षीणशक्तिप्राप्तो बुद्ध्यौषधीशो विविधनयपटुर्विश्व-  
 वेदी क्रमेण ॥ १ ॥ तत्क्रियाश्च प्राक्प्रबन्धेनोक्तास्तद्वद्वर्णक्रियाश्च  
 व्याख्याताः ॥

अर्थ— त्याच्या त्याच्या कर्मभेदानें जसे चार वर्ण  
 ( क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य आणि शूद्र ) सांगितले,  
 त्याप्रमाणेंच कर्मभेदामुळें ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ  
 आणि भिक्षु असे चार आश्रम, उपासकाध्ययन नांवाच्या  
 सातव्या अंगांत सांगितले आहेत. त्या आश्रमांचीं कर्मे  
 निरनिराळीं आहेत, तीं पुढीलप्रमाणें — त्यांत ब्रह्मचा-  
 र्याचें कर्म असें आहे कीं, क्षत्रिय, ब्राह्मण आणि  
 वैश्य ह्या तीन वर्णांतील लोकांस द्विज असें ह्मणतात.  
 ह्या द्विजांपैकीं कोणत्याही वर्णाच्या मुलास, त्याच्या  
 आईच्या उदरांत त्याचा गर्भ राहिल्यापासून आठवे वर्षीं  
 जिनमंदिरांत नेऊन, त्याजकडून श्रीजिनाची पूजा करवून  
 त्याचें मुंडन करावें. नंतर त्या मुलानें तिहेरी केलेली  
 मुंज आपल्या कंबरेस बांधून सात पदरांनीं युक्त असें

यज्ञोपवीत धारण करावें. आणि स्थूलहिंसात्यागाचें व्रत आपल्या गुरुसमक्ष घ्यावें. ह्याचा विस्तार महापुराणांत सांगितला आहे. तो असा-- मस्तकावर शिखा धारण करणारा, पांढरें कौपीन नेसणारा, एक वस्त्र अंगावर घेणारा, आपल्या वेषांत बदल न करणारा आणि ब्रह्मचर्यव्रताचें चिन्ह जें यज्ञोपवीत तें धारण करणारा तो ब्रह्मचारी समजावा. तसेंच ह्याप्रमाणें जो ब्रह्मचारी असेल त्याचें त्याच्या आचरणाला योग्य असें दुसरें 'जिनदास, ज्ञानप्रकाश' वगैरे नांव ठेवावें. तो ब्रह्मचारी जर राजपुत्र नसेल तर त्यानें भिक्षा मागून आपलें जीवन करावें. राजपुत्रानें भिक्षा मागूं नये वगैरे. २ पूर्वी सांगितलेल्या नित्य व नैमित्तिकक्रिया करणारा जो श्रावक तो गृहस्थ असें समजावें. ह्या गृहस्थांत दोन भेद आहेत. पहिला जातिक्षत्रिय आणि दुसरा तीर्थक्षत्रिय. त्यांत क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य आणि शूद्र हे जातिक्षत्रिय होत. आणि तीर्थक्षत्रियाचे पुष्कळ भेद आहेत. ३ जे दिगंबर झालेले नाहीत व लहानसें वस्त्र धारण करितात आणि उग्रतपश्चर्या करितात ते वानप्रस्थ. आणि ४ दिगंबर झालेले जे ते भिक्षु समजावे. ह्या भिक्षूंमध्ये वरेच भेद आहेत. ज्याला अवधि, मनःपर्यय किंवा केवलज्ञान आहे असा जो मुनि, तो ऋषि समजावा. ज्याला ऋद्धि प्राप्त झाली आहे व जो दोनी श्रेणीवर ( उपशमश्रेणी आणि क्षपकश्रेणी ह्यांवर ) चढलेला आहे, तो जिन-यति; आणि बाकी राहिलेले सर्व साधु हे अनगार होत असें समजावें. त्यांत ऋषि चार प्रकारचे आहेत.

जो विक्रिया ऋद्धीनें युक्त असून विलक्षणशक्तिमान् असेल तो राजर्षि, बुद्धिऋद्धि आणि औषधऋद्धि ज्यास प्राप्त झाल्या असतील तो ब्रह्मर्षि, स्याद्वादांत जो निष्णात असेल तो देवर्षि; आणि जो सर्वज्ञ असेल तो परमर्षि असें समजावें.

अथारम्भविरतं द्वाभ्यामाह—

आतां पुढील दोन श्लोकांनीं आरंभविरताविषयीं सांगतात.

निरूढसप्तनिष्ठोऽङ्गि- ।

घाताङ्गत्वात्करोति न ॥

न कारयति कृष्यादी- ।

नारम्भविरतस्त्रिधा ॥ २१ ॥

टीका—न करोति न कारयति च । कोऽसावारम्भविरतः श्रावकः कान् कृष्यादीन् कृषिसेवावाणिज्यादिव्यापारान् । न पुनः स्नपनदानपूजाभिधानाद्यारम्भान् । तेषामङ्गिघाताङ्गत्वाभावात् । प्राणिपीडापरिहारेणैव तत्सम्भवात् । वाणिज्याद्यारम्भादपि तथा सम्भवस्तर्हि विनिवृत्तिर्न स्यादिति चेदेवमेतत् । कथं त्रिधा कस्मात् अङ्गिघाताङ्गत्वात् प्राणिवधनिबन्धनत्वात् । कथम्भूतो भूत्वा निरूढसप्तनिष्ठः निष्ठितप्राक्सप्तप्रतिमासंयमः । पुत्रादीन् प्रत्यनुमतेः कदाचिन्निवारयितुमशक्यत्वान्मनोवाक्कायैः कृतकारिताभ्यामेव साव-  
द्यारम्भान्निवर्तते इत्यत्र तात्पर्यार्थः ॥

अर्थ— मागील सातही प्रतिमा ज्यास सिद्ध झाल्या आहेत असा जो श्रावक प्राणिहिंसेला कारणीभूत

असल्यानें, मनानें, वाणीनें व शरीरानें; कृष्यादि उद्योग दुसऱ्याकडून करवीत नाहीं व आपण करीत नाहीं, तो आरंभविरत समजावा. [ वरील श्लोकांत 'कृष्यादि ह्य० नांगरणे वगैरे' असा शब्द आहे, ह्यांतील वगैरे ह्या शब्दानें स्नान, दान, पूजा वगैरे क्रियांचें ग्रहण होत असल्यानें त्या क्रिया न करणें हें देखील आरंभविरताचें लक्षण होईल. परंतु, तसें समजूं नये. कारण, त्या स्नानादि क्रिया जरी 'वगैरे' ह्या शब्दानें गृहीत होतात, तथापि त्या हिंसेला कारणीभूत नसल्यानें, त्यांचा त्याग करण्याचें कारण नाहीं. आतां वाणिज्य (व्यापार) ही क्रिया देखील वरील वगैरे ह्या शब्दानें ग्रहण करण्यासारखी आहे. परंतु आरंभविरतिप्रतिमैत तिचा त्याग करावा, किंवा न करावा असा संशय येतो. ह्याचें उत्तर असें आहे कीं, वाणिज्यदेखील जर हिंसेला कारणीभूत असेल, तर त्याचा अवश्य त्याग केलाच पाहिजे. आणि तें जर हिंसासाधन नसेल तर करण्यास हरकत नाहीं. आतां आरंभविरताच्या लक्षणांत 'कृष्यादि उद्योग दुसऱ्याकडून करवीत नाहीं' असें सांगितलें आहे, त्यांत अनुमति देण्यासंबंधानें कांहींच उल्लेख नाही, ह्यांत बीज काय असावें? अशीही एक शंका ह्या ठिकाणी उत्पन्न होते. ती शंका कांहीं अशी योग्य आहे. कारण, आरंभविरत श्रावक हा जरी कृष्यादि उद्योग आपण करीत नाहीं व दुसऱ्यास करावयासही लावीत नाहीं; तथापि, पुत्रादिक आपण होऊनच करूं लागले असतां त्यांचें निवारण करीत नसल्यानें गर्भित अनुमति आहे असें

अनुमान करण्यास सवढ आहे. ह्मणून वरील श्लोकां-  
तील लक्षणांत करणें व करविणें ह्या दोहोंचाच संग्रह  
केला आहे. अनुमतीचा केला नाही. ]

एतदेव समर्थयते —

हा अष्टमप्रतिमेंत असलेला श्रावक कृष्यादिकर्मांच  
त्याग कां करितो ह्याचें कारण सांगतात.

यो मुमुक्षुरघाद्विभ्य- ।

त्यक्तुं भक्तमपीच्छति ॥

प्रवर्तयेत्कथमसौ ।

प्राणिसंहरणीः क्रियाः ॥ २२ ॥

टीका — कथं प्रवर्तयेत् कुर्यात् कारयेच्च । कोऽसावसावष्टम-  
श्रावकः । काः क्रियाः । किंविशिष्टाः प्राणिसंहरणीः जीवघातिकाः ।  
यः किं य इच्छति वाञ्छति । किं कर्तुं त्यक्तुं प्रत्याख्यातुं ।  
किं तत् भक्तमपि प्राणिसंहरणकारणं भोजनमपि । किं कुर्वन्  
विभ्यत् । कस्मादघात्पापात् । किंविशिष्टः सन् मुमुक्षुः कृत्स्नकर्म-  
विप्रमोक्षमिच्छुः ॥

अर्थ—जो मुक्त होण्याची इच्छा करणारा श्रावक, प्राणि-  
संहाराचें पातक आपल्यास लागूं नये, ह्मणून भिणारा असा  
होत्साता; अन्न देखील सोडण्याविषयीं इच्छीत असतो;  
तो अष्टम प्रतिमेंतील श्रावक, ज्यापासून प्राणिहिंसा होणें  
अगदीं अनिवार्य आहे, अशा क्रिया कशा बरें करील ?

अथ परिग्रहविरतं सप्तश्लोक्या व्याचष्टे—

आतां; पुढील सात श्लोकांनीं परिग्रहविरताबद्दल  
सांगतात.

स ग्रन्थविरतो यः प्रा- ।

ग्रतव्रातस्फुरद्भृतिः ॥

नैते मे नाहमेतेषा- ।

मित्युज्झति परिग्रहान् ॥ २३ ॥

टीका—स भवति । किमाख्यो ग्रन्थविरतः । यः किं य उज्झति त्यजति । कान् परिग्रहान् वास्तुक्षेत्रादीन् दश । कथं इति एवं संकल्प्य । न भवन्ति । के एते वास्तुक्षेत्रादयोऽर्थाः । कस्य मे मम स्वत्वभोग्यत्वादिना सम्बद्धाः । तथा न भवाम्यहं । केषामेतेषां स्वामित्वभोक्तृत्वादीनां सम्बन्धी । किंविशिष्टः सन् प्रागित्यादि— प्राचां दर्शनिकादिप्रतिमाविषयाणां व्रतानां संयमविशेषाणां व्रातः सङ्घातः प्राग्रतव्रातः तेन स्फुरन्ती जाग्रती धृतिः सन्तोषो यस्य स तथोक्तः । किं च स्वाचाराप्रातिलोम्येन लोकाचारं प्रमाणयेदिति वचनात्सर्वत्र स्वस्वस्थानाविरोधेनैव पूर्वस्थानानुष्ठानमनुष्ठेयम् ॥

अर्थ— पूर्वी आचरण केलेल्या अनेक व्रतांच्या योगाने ज्याचा संतोष सर्वदां स्फुरण पावत आहे असा जो श्रावक, “ पुत्रदारादिक हे माझे कोणी नव्हेत, व मी ह्यांचा कोणी नव्हे ” असें समजून त्यांचा त्याग करितो; तो ग्रंथविरत किंवा परिग्रहविरत समजावा.

एतस्य सकलदत्तिमुत्तरप्रबन्धेन व्याचष्टे—

आतां ; पुढील श्लोकांत; ह्या परिग्रहविरताच्या सर्वस्व-  
दानाविषयीं ( सकलदत्तीविषयीं ) सांगतात.

अथाह्वय सुतं योग्यं ।

गोत्रजं वा तथाविधम् ॥

ब्रूयादिदं प्रशान् साक्षा- ।

जातिज्येष्ठसधर्मणाम् ॥ २४ ॥

टीका—अथाधिकारे इतः सकलदत्तिरधिक्रियत इत्यर्थः । ब्रूयात् व्याहरेत् । कोऽसौ प्रशान् प्रशमपरो नवमः श्रावकः । कं सुतं पुत्रं । किंविशिष्टं योग्यं स्वभारक्षमं । किं कृत्वा आहूय आकार्यं । वा अथवा योग्यपुत्राभावे । गोत्रजं आतृतत्पुत्रादिकं । किंविशिष्टं तथाविधं योग्यपुत्रतुल्यं । किं ब्रूयादिदं वक्ष्यमाणं । कथं साक्षात् समक्षं । केषां जातिज्येष्ठसधर्मणां जातौ ब्राह्मणत्वादौ ज्येष्ठा मुख्या जातिज्येष्ठास्ते च ते सधर्माणश्च साधर्मिकास्तेषाम् ॥

अर्थ—त्या शांतांतःकरण अशा परिग्रहविरतानें आपल्या गुणवान् अशा पुत्रास अथवा योग्य पुत्र नसल्यास तशा प्रकारच्या (योग्य पुत्राप्रमाणें मानलेल्या) आपल्या गोत्रजास बोलावून आणून, त्याला आपल्या धर्मीतील वरिष्ठ जातीच्या मंडळीसमक्ष पुढीलप्रमाणें सांगावें.

ताताद्ययावदस्माभिः ।

पालितोऽयं गृहाश्रमः ॥

विरज्यैनं जिहासूनां ।

त्वमद्यार्हसि नः पदम् ॥ २५ ॥

टीका—हे तात स्वस्य पोष्यत्वसूचनगर्भं पुत्रादेः प्रियत्वा-मंत्रणमिदं । पालितो यथाविधि निर्वाहितः । कोऽसावयं प्रस्तुतो गृहस्थाश्रमो गृहस्थाचारः । कैरस्माभिः नवमप्रतिमानुष्ठाननिष्ठाभ्यु-द्यतैः । कथमद्ययावत् इदंदिनावधि । अद्य सम्प्रति । अर्हसि स्वीकर्तुमुचितोऽसि । कोऽसौ त्वं । किं तत् पदं त्रिवर्गसारगृहाचारा-नुवर्तनलक्षणं । केषां नः अस्माकं । किं चिकीर्षूणां जिहासूनां

त्यक्तुमिच्छूनां । कमेनं गृहाश्रमं । किं कृत्वा विरज्य भवाङ्गभोगेषु  
वैराग्यं गत्वा ॥

अर्थः—बाबारे ! आजपर्यंत आर्ह्मी हा गृहस्थाश्रम यथा-  
विधि चालविला. आतां विरक्त होऊन ह्याला सोडून  
जाण्याची इच्छा करणाऱ्या आमच्या स्थानावर आज तूं  
योग्य आहेस.

पुत्रः पुपूषोः स्वात्मानं ।

सुविधेरिव केशवः ॥

य उपस्कुरुते वप्तु- ।

रन्यः शत्रुः सुतच्छलात् ॥ २६ ॥

टीका—य उत्पन्नः पुनीते वंशं स पुत्र इति वचानात् स पुत्रो  
भण्यते । यः किं य उपस्कुरुते गृहादिममत्वच्छेदेनातिशयमादत्ते ।  
कस्य वप्तुः पितुः । किं चिकीर्षोः पुपूषोः शोधयितुमिच्छोः । कं  
स्वात्मानं स्वचिद्रूपं । क इव कस्येत्याह— सुविधेरित्यादि । यथा  
उपश्वक्रे । कोऽसौ केशवः केशवो नाम श्रीमतीचरस्तत्पुत्रः ।  
कस्य सुविधेः वृषभनाथस्य पूर्वभवे सुविधिनाम्नो राज्ञः । उक्तं  
चार्षे— नृपस्तु सुविधिः पुत्रस्नेहाद्गार्हस्थ्यमत्यजन् । उत्कृष्टोपासक-  
स्थाने तपस्तेपे सुदुश्चरं ॥ उक्तलक्षणवैपरीत्ये पुत्रस्यापि शत्रुत्वं  
वक्तुमाह— भवति कोऽसौ अन्यः पुत्रः । किंविशिष्टः शत्रुः शत-  
यिता इष्टविधातित्वात् । कस्मात् सुतच्छलात्पुत्रव्याजात् ॥

अर्थः—ज्याप्रमाणें सुविधिराजाचा केशव नांवाचा पुत्र  
होता त्याप्रमाणें जो- आपल्या आत्म्यास शुद्ध करूं  
इच्छिणाऱ्या पित्यास मदत करतो- तोच पुत्र होय ! स्नापेक्षां



दुसऱ्या प्रकारचा ( हे गुण ज्यांत नाहीत असा ) जो पुत्र तो पुत्रमिषानें आपणास शत्रु उत्पन्न झाला आहे असें समजावें. [ सुविधिराजा ह्यणजे जो पुढें दोन जन्म गेल्यावर श्रीवृषभनाथ झाला तो होय. ह्या सुविधिराजाची पूर्वजन्मीं श्रीमती नांवाची पत्नी होती. तीच पुढें सुविधिराजाच्या पुत्रत्वानें जन्मास आली. ही कथा महापुराणांत दहाव्या पर्वांत आहे. ]

उपसंहारमाह—

ह्याप्रमाणें गुणवान् पुत्राची प्रशंसा करून त्यास शेवटीं काय सांगावयाचें तें सांगतात.

तदिदं मे धनं धर्म्यं ।

पोष्यमप्यात्मसात्कुरु ॥

सैषा सकलदत्तिर्हि ।

परं पथ्या शिवार्थिनाम् ॥ २७ ॥

टीका—यत् एवं तत्स्मात् । आत्मसात्कुरु स्वायत्तं विधेहि त्वं । किं तत् इदं वर्तमानं मे मम सम्बन्धि धनं ग्रामसुवर्णादिकं धर्म्यं चैत्यालयपात्रदानादिकं पोष्यं च गृहिणीमातृपित्रादि । कुत एतदित्याह— हि यस्माद्वर्तते । काऽसौ सा सूत्रोक्ता एषा विधीयमाना सकलदत्तिरन्वयदत्त्यपराभिधाना कीदृशी पथ्या पथोऽनपेता रत्नत्रयानुगतेत्यर्थः । केषां शिवार्थिनां मुमुक्षूणां । कथं परं अत्यर्थम् ॥

अर्थः—गुणवान् पुत्राची वरील श्लोकांत सांगितल्याप्रमाणें योग्यता आहे ह्यणून, हें माझे द्रव्य, चैत्यालय वगैरे धार्मिक वस्तु आणि स्त्री, जननी वगैरे पोष्यजन

( ज्यांचें आपण पोषण केलें पाहिजे अशा जनांचा समूह )  
हें सर्व तूं आपल्या ताब्यांत घे ! असें त्यास सांगावें.  
ह्याप्रमाणें केलेलें हें सर्वस्वाचें दान, आपल्या कल्याणाची  
इच्छा करणाऱ्या भव्य श्रावकांस फार सुखकर होतें.  
ह्मणजे रत्नत्रयाची प्राप्ति करून देणारें असें होतें.

विदीर्णमोहशार्दूल- ।

पुनरुत्थानशङ्किनाम् ॥

त्यागक्रमोऽयं गृहिणां ।

शक्त्याऽऽरम्भो हि सिद्धिकृत् ॥ २८ ॥

टीका—वर्तते । कोऽसावयं प्रकृतत्यागक्रमः शनैः शनैर्बहि-  
रन्तःसङ्गवर्जनं । केषां गृहिणाम् । किंविशिष्टानां । विदीर्णे-  
त्यादि— विदीर्णस्तत्तन्निष्ठासौष्टवेन भिन्नः स चासौ मोहशार्दूलश्च  
ममकारव्याघ्रः तस्य पुनरुत्थानं भूयो निहन्तुमभियोगस्तं शङ्कन्ते  
विकल्पयन्त्यभीक्ष्णमिति तच्छंकिनस्तेषां । अर्थसमर्थनार्थमाह— हि  
यस्माद्भवति । कोऽसावारम्भः ऐहिकमामुत्रिकं वा अभिमतार्थं  
साधयितुमुपक्रमः । कया शक्त्या स्वसामर्थ्येन क्रियमाणः ।  
किंविशिष्टो भवति सिद्धिकृत् अभिप्रेतार्थसाधकः ॥

अर्थः—पूर्वीं सांगितलेल्या आठ प्रतिमांरूपी शस्त्रांनीं  
जखमी केलेला ( बलहीन केलेला ) मोहरूपी व्याघ्र पुनः  
जोरानें उठेल कीं काय ! असा संशय बाळगणाऱ्या गृहस्था-  
श्रमी श्रावकाचा हा त्यागक्रम ( मोहोत्पत्तीच्या साधनांचा  
त्याग करण्याचा अनुक्रम ) सांगितला आहे. ह्या क्रमानेंच  
त्यांनीं त्याग करावा. कारण, कोणतेंही कृत्य आपल्या  
शक्तीस अनुसरून केलें असतां तें कार्यसिद्धि करणारें होतें.

एवं व्युत्सृज्य सर्वस्वं ।

मोहाभिभवहानये ॥

किञ्चित्कालं गृहे तिष्ठे- ।

दौदास्यं भावयन्सुधीः ॥ २९ ॥

टीका — तिष्ठेदासीत । कोऽसौ सुधीः तत्त्वज्ञानसम्पन्नः । क गृहे । कं कालं । कियन्तं किञ्चित्स्तोकं । किं कुर्वन् । भावयन्न-  
भ्यस्यन् । किं तदौदास्यमुपेक्षां । कस्मै मोहेत्यादि— मोहेन मम-  
त्वेन अभिभव उपेक्षाशैथिल्यं येन पृष्ठो वा आरम्भादौ पुत्रादे-  
रनुमतिं दास्यते— तस्य हानये निराकरणार्थं । किं कृत्वा व्युत्सृज्य  
विशेषणमिदं विधिपूर्वं वा त्यक्त्वा । किं तत्सर्वस्वं चेतनमचेतनं  
च स्वं वस्तु । कथमेवमित्थं । किञ्चित्कालमित्यनेन सिताम्बरप-  
रिकल्पितं प्रतिमासु कालनियमं निराकरोति । तद्वन्थानुवादस्तु  
ज्ञानदीपिकायां द्रष्टव्यः । गृहे तिष्ठेदित्यनेन स्वांगाच्छादनार्थं  
वस्त्रमात्रधारणममूर्च्छामस्य लक्षयति । तेन विना गृहेऽवस्थाना-  
नुपपत्तेः । तथा ह्यागमः “ मोक्षतूणमत्तमित्तं परिगहं जो विवज्जदे  
सेसं । तं तत्थ विमुच्छण्णं करेदि जाण सो साववो णवमो ॥

अर्थ—मोक्षप्राप्तीविषयीं ज्याची बुद्धि उत्सुक आहे  
अशा श्रावकानें पुत्रादिकांविषयीं आपल्या मनांत असलेल्या  
प्रेमामुल्लें त्यांच्यासंबंधानें आपण केलेल्या उपेक्षेंत जी  
न्यूनता येते, ती न यावी ह्मणून, वर सांगितल्याप्रमाणें  
आपल्या सर्वस्वाचा त्याग करून, कांहीं कालपर्यंत उदा-  
सीनतेचा अभ्यास करीत घरांतच रहावें. [ ह्या श्लोकांत  
' कांहीं कालपर्यंत ' असें असल्यानें श्वेतांबरांनीं प्रतिमां-  
विषयीं ' त्या अमुककालपर्यंतच असाव्यात ' अशी जी

कालाची मर्यादा केली आहे, ती चुकीची आहे हें सिद्ध झालें. तसेंच 'घरांत रहावें' एवढेच सांगितलें असल्यानें गर्भिताभिप्राय असा आहे कीं, फक्त शरीराच्या आच्छादनाकरितां वस्त्रधारण करावें. कारण वस्त्रधारणावांचून घरीं रहाणें योग्य होणार नाहीं. परंतु तेवढ्यावरून परिग्रहाचा स्वीकार करावा असें मात्र कोणी समजू नये.

अथानुमतिविरतं सप्तश्लोक्या व्याचष्टे—

आतां ; पुढील सात श्लोकांनीं अनुमतिविरताविषयीं सांगतात.

नवनिष्ठापरः सोऽनु- ।

मतिव्युपरतः सदा ॥

यो नानुमोदते ग्रन्थ- ।

मारम्भं कर्म चैहिकम् ॥ ३० ॥

टीका—स भवति । किंविशिष्टोऽनुमतिव्युपरतोऽनुमतिविरत इत्यर्थः । यः किं यो नानुमोदते नानुमन्यते । कं ग्रन्थं धनधान्यादिकं । तथा आरम्भं कृष्यादिकं । तथा कर्म व्यापारं । किंविशिष्टमैहिकं विवाहादिकं । कथं त्रिधा मनोवाक्यायैः । किंविशिष्टः सन् नवनिष्ठापरः दर्शनिकादिप्रतिमानवकानुष्ठाननिष्ठः ॥

अर्थ—आतांपर्यंत सांगितलेल्या नऊ प्रतिमांत आसक्त असलेला असा जो श्रावक, परिग्रह, कृष्यादि कर्मे व विवाहादिक ऐहिक कर्मे ह्यांविषयीं मनानें, वाणीनें अथवा शरीरानें केव्हांही अनुमति देत नाहीं तो अनुमतिविरत असा जाणावा.

एतस्य विधिविशेषमाह—

त्या अनुमतिविरताचा विशेष आचार सांगतात.

चैत्यालयस्थः स्वाध्यायं ।

कुर्यान्मध्याह्नवन्दनात् ॥

ऊर्ध्वमामन्त्रितः सोऽद्या-

दृहे स्वस्य परस्य वा ॥ ३१ ॥

टीका—कुर्याद्विदध्यात्कोऽसावसौ अनुमतिविरतः । कं स्वाध्यायमागमाध्ययनं । किंविशिष्टः सन् चैत्यालयस्थः जिनगृह तिष्ठन् । तथा अद्यात् भुञ्जीत सः । कं गृहे । कस्य स्वस्य आत्मीयस्य पुत्रादेः । परस्य वा यस्य कस्य धार्मिकस्य । किंविशिष्टः सन् आमन्त्रित आहूतः । कथमूर्ध्वमुपरिष्ठात् । कस्मान्मध्याह्नवन्दनात् माध्याह्निककृतिकर्मणः पश्चात् ॥

अर्थ—त्याने चैत्यालयांत राहून स्वाध्याय करावा आणि मध्यान्हकालचे सामायिक केल्यानंतर घरच्या अथवा परक्या मनुष्याने बोलाविले असतां आपल्या घरीं अथवा दुसऱ्याच्या घरीं भोजन करावे.

अस्यैवोद्दिष्टत्यागार्थं भावनाविशेषं श्लोकद्वयेनाह—

ह्या अनुमतिविरताने आपल्यास इष्ट असलेल्या पदार्थाचा त्याग करण्याकरितां करावयाची भावना ( चिंतना ) दोन श्लोकांनीं सांगतात.

यथाप्राप्तमदन्देह- ।

सिद्ध्यर्थं खलु भोजनम् ॥

देहश्च धर्मसिद्ध्यर्थं ।

मुमुक्षुभिरपेक्ष्यते ॥ ३२ ॥

सा मे कथं स्यादुद्दिष्टं ।

सावद्याविष्टमश्नतः ॥

कर्हि भैक्षामृतं भोक्ष्ये ।

इति चेच्छेजितेन्द्रियः ॥ ३३ ॥

टीका—युगमम् । इच्छेच्च आकांक्षेदसौ । किं इति एतत् । किं कुर्वन् अदन् भुञ्जानः । किं यथाप्राप्तं यद्यल्लब्धं तत्तत्संयमा-विरोधेनाशन्नित्यर्थः । किंविशिष्टो यतः जितेन्द्रियः जितानि वशी-कृतानीन्द्रियाणि स्पर्शनादीनि येन स जितेन्द्रियः । किमेतदि-च्छेदित्यत्राह—खलु निश्चयेन । अपेक्ष्यते आकांक्ष्यते । किं तत् भोजनं । कैः मुमुक्षुभिः । किमर्थं देहसिद्ध्यर्थं । शरीरवर्तनार्थं । तथा अपेक्ष्यते देहस्तैः । किमर्थं धर्मसिद्ध्यर्थं रत्नत्रयानिष्पत्त्यर्थं । सा च धर्मसिद्धिः । कथं न कथमपि स्यात् । कस्य मे मम । किं कुर्वतोऽश्नतो भुञ्जानस्य । किं तत् उद्दिष्टं स्वोद्देशेन साधित-माहारं । किंविशिष्टं सावद्याविष्टं सावद्येनाधःकर्मणा संसृष्टं । ततः कर्हि कस्मिन्काले । भोक्ष्ये वल्भिष्येऽहं । किं तत् भैक्षामृतं भिक्ष्यन्त इति भिक्षाः याचितप्राप्ताहाराः भिक्षाणां समूहो भैक्षं भैक्षममृतमिवाजशमरत्वहेतुत्वात् ॥

अर्थः—ज्यानें सर्व इंद्रियें जिकिलीं आहेत व जो मिलेल तसलें—संयमाची हानी ज्या योगानें होणार नाही असें—अन्न भक्षण करीत आहे अशा श्रावकानें—“मुक्त होण्याची इच्छा करणाऱ्यांनीं धर्मसिद्धिकारितां देहाची

इच्छा अवश्य केली पाहिजे. आणि त्या देहाच्या निर्वाहा-  
करितां अन्नाचीहि इच्छा केली पाहिजे. परंतु ती धर्मसिद्धि,  
स्वतःस प्रिय व निषिद्ध असें अन्न भक्षण करणाऱ्या मला  
कशी बरें होईल? मी भिक्षेनें मिळविलेलें अमृतासारखें  
गुणकारी अन्न कधीं बरें भक्षण करीन !!” अशी इच्छा  
करावी. ( वरचेवर असें चिंतन करावें ).

अस्यैव गृहत्यागविधिमाह—

आतां ह्यानें गृहत्याग करण्याचा विधि सांगतात.

पञ्चाचारक्रियोद्युक्तो ।

निष्क्रमिष्यन्नसौ गृहात् ॥

आपृच्छेत गुरून् बन्धून् ।

पुत्रादींश्च यथोचितम् ॥ ३४ ॥

टीका—आपृच्छेत संवदेदसौ । कान्पुत्रादीन् कथं यथोचितं  
यथाहं । किं करिष्यन् निष्क्रमिष्यन् निष्क्रमितुमिच्छन् ।  
कस्माद्गृहात् द्रव्यभावगेहात् । किंविशिष्टः सन् पञ्चाचारक्रियो-  
द्युक्तः पञ्चानां ज्ञानाद्याचाराणां करणे तत्परः । अत्रायं विधिः—  
अहो कालविनयोपधानबहुमानानिहवार्थव्यञ्जनतदुभयसम्पन्नत्वल-  
क्षणज्ञानाचार न शुद्धस्यात्मनस्त्वमसीति निश्चयेन जानामि ।  
तथापि त्वां तावदाश्रयामि यावत्त्वत्प्रसादाच्छुद्धमात्मानमुपलभे ।  
अहो निःशंकितत्वनिःकांक्षितत्वनिर्विचिकित्सितत्वनिर्मूढदृष्टित्वोपबृं-  
हणस्थितीकरणवात्सल्यप्रभावनालक्षणदर्शनाचार शेषं पूर्ववत् ॥  
अहो मोक्षमार्गप्रवृत्तिकारणपञ्चमहाव्रतोपेतकायवाङ्मनोगुप्तीर्याभाषैष-  
णादाननिक्षेपणप्रतिष्ठापनसमितिलक्षणचारित्राचार शेषं पूर्ववत् । अहो

अनशनावमोदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशप्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्यायध्यानन्युत्सर्गलक्षणतपआचार शेषं प्राग्वत् ॥ अहो समस्तेतराचारप्रवर्तकस्वशक्त्यनिगूहनलक्षणवीर्याचार शेषं प्राग्वत् । अथ यथोचितमेतदाचक्ष्महे ॥ तथाहि— अहो मदीयशरीरजनकस्यात्मन् अहो मदीयशरीरजनन्यात्मन् नायं मदात्मा युवाभ्यां जनितो भवतीति निश्चयेन युवां जानीतं । तत आपृष्टौ युवामिममात्मानं विमुञ्चत । अयमात्माऽद्योद्भिन्नज्ञानज्योतिरात्मानमेवात्मनोऽनादिजनकमुपसर्पति । तथा अहो मदीयशरीरबन्धुजनवर्त्तिन आत्मानः अयं मदात्मा न किञ्चनापि युष्माकं भवतीति निश्चयेन यूयं जानीथ । तत आपृष्टा यूयं शेषं पूर्ववत् । न वरं जनकमित्यस्य स्थाने बन्धुमिति पठनीयं ॥ अहो मदीयशरीरपुत्रस्यात्मन् मदात्मनो न त्वं जन्यो भवसीति निश्चयेन त्वं जानीहि तत आपृष्टस्त्वमिममात्मानं विमुञ्च । शेषं प्राग्वत् । न वरं बन्धुस्थाने जन्यं पठेत् ॥ अहो मदीयशरीररमण्या आत्मन् मदात्मा न त्वां रमयतीति निश्चयेन त्वं जानीहि तत आपृष्टस्त्वमिममात्मानं विमुञ्च । अयमात्माऽद्योद्भिन्नज्ञानज्योतिः स्वानुभूतिमेवात्मनोऽनादिरमणीमुपसर्पतीत्यादि ॥

अर्थः— पांच प्रकारचे आचार ( ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपआचार आणि वीर्याचार ) पालण्याविषयीं तत्पर असलेल्या व गृहांतून निघून जाणाऱ्या ( गृहत्याग करणाऱ्या ) श्रावकानें, आपले मातापितर, बंधु व पुत्र इत्यादिकांस त्यांच्या त्यांच्या योग्यतेस अनुसरून विचारावें.

विनयादाचारस्य भेदं विस्तरेण प्रागुक्तमिदानीं सुखस्मृत्यर्थे संक्षिप्य पुनराह—

विनय आणि आचार ह्या दोहोंतील भेद पूर्वीं विस्तारानें



सांगितला आहे. तरी त्याची सहज स्मृति व्हावी ह्मणून ह्या ठिकाणी पुनः संक्षेपाने सांगतात.

सदृङ्निवृत्ततपसां ।

मुमुक्षोर्निर्मलीकृतौ ॥

यत्नो विनय आचारो ।

वीर्याच्छुद्धेषु तेषु तु ॥ ३५ ॥

टीका—भण्यते सूरिभिः । कोऽसौ विनयः । किं यत्नः प्रणिधानं । क निर्मलीकृतौ मलापनयने । सदृङ्निवृत्ततपसां सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपसां । कस्य मुमुक्षोः न बुभुक्षोः । आचरस्तु भण्यते । किं यत्नः । केषु तेषु सदृगादिषु चतुर्षु । किंविशिष्टेषु शुद्धेषु निर्मलीकृतेषु । कस्मात् वीर्यात् स्वशक्तिमनिगूह्य । एतेन पञ्चमो वीर्याचारः सूच्यते ॥

अर्थः—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र आणि तप ह्यांमधील दोष घालविण्याकरितां जो मुमुक्षूचा प्रयत्न तो 'विनय' होय. आणि ज्यांतील दोष गेले आहेत अशा त्या चारीविषयीं ( सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र आणि तप ह्यांविषयीं ) जो प्रयत्न— ह्मणजे ह्या चारी गोष्टी आपल्या कृतीत आणू लागणें— तो आचार होय.

सम्प्रत्युपसंहरति—

आतां आरंभ केलेले अनुमतिविरताचें प्रकरण संपवितात.

इति चर्या गृहत्याग- ।

पर्यन्तां नैष्टिकाग्रणीः ॥

निष्ठाप्य साधकत्वाय ।

पौरस्यपदमाश्रयेत् ॥ ३६ ॥

टीका—आश्रयेत् स्वीकुर्यात् । कोऽसौ नैष्ठिकाग्रणीः नैष्ठिकेषु दार्शनिकादिषु नवस्वग्रणीमुख्योऽनुमतिविरतः । किं तत् पदं स्थानं । किंविशिष्टं पौरस्त्यं एकादशमुद्दिष्टविरत्याख्यं । कस्मै साधकत्वाय आत्मशोधनार्थं । किं कृत्वा निष्ठाप्य परिसमाप्य । कां चर्यां संयमाचारं । किंविशिष्टां गृहत्यागपर्यन्तां गृहत्यागः पर्यन्ते अवसाने यस्याः तां । कथमित्येवम् ॥

अर्थः—सर्व प्रकारच्या नैष्ठिकांत मुख्य अशा श्रावकानें वर सांगितल्याप्रमाणें गृहत्याग करावयापर्यंतची क्रिया समाप्त करून आपल्या आत्म्याच्या शुद्धीकरितां पुढील 'उद्दिष्टविरति' नांवाच्या अकराव्या प्रतिमेचा स्वीकार करावा.

अथोद्दिष्टविरतस्थानं त्रयोदशभिः श्लोकैर्व्याचष्टे—

आतां उद्दिष्टविरति नांवाच्या प्रतिमेचें पुढील तेरा श्लोकांनीं व्याख्यान करितात.

तत्तद्भ्रतास्त्रनिर्भिन्न- ।

श्वसन्मोहमहाभटः ॥

उद्दिष्टं पिण्डमप्युज्झे- ।

दुत्कृष्टः श्रावकोऽन्तिमः ॥ ३७ ॥

टीका—उज्झेत् त्यजेत् । कोऽसौ अन्तिमः श्रावकः । किंविशिष्टः उत्कृष्टः अयमित्यंभूतनयादुत्कृष्टोऽनुमतिविरतस्तु नैगमनयादिति ज्ञापनार्थमुभौ भिक्षू तौ प्रकृष्टौ चेति प्रागुक्तमपीदं

विशेषणं पुनरुक्तं । किमुज्ज्ञेत् पिण्डं भक्तं अपिशब्दादुपधिशय-  
नासनादि । किंविशिष्टमुद्दिष्टं आत्मोद्देशेन कल्पितं । नवकोटि-  
विशुद्धं स्वीकुर्यादित्यर्थः । किंविशिष्टः सन् तदित्यादि- तानि  
पूर्वोक्तानि व्रतानि यथास्वं निवृत्तिप्रवृत्तिरूपाण्याचरणानि तत्त-  
द्गतानि तान्येवास्त्राणि प्रहरणानि तैर्भिन्नो नितरां विदारितः स  
चासौ श्वसन् किञ्चिज्जीवन् जिनरूपताप्राप्तिं प्रतिबन्धन् मोह एव  
महाभटो दुर्निवारवीरो यस्य स तथोक्तः ॥

अर्थ— पूर्वी सांगितलेल्या प्रत्येक व्रतरूपी शस्त्राच्या  
प्रहाराने घायाळ झाला असल्यामुळे आतां केवळ श्वासो-  
च्छ्वासमात्र करणारा ( आपले कार्य करण्यास असमर्थ-  
दुर्बल- झालेला ) असा ज्याचा मोहरूपी महायोद्धा झाला  
आहे अशा शेवटच्या पदवीस प्राप्त झालेल्या उत्तम  
श्रावकाने, आपल्या भक्षणाकरितां तयार केलेले अन्न  
देखील त्याग करावे. [ ह्या प्रतिमेचा स्वीकार करणाऱ्यास  
' उद्दिष्टविरत ' असें ह्मणतात. ]

तद्वेदलक्षणार्थमाह—

त्याचे भेद समजण्याकरितां सांगतात.

स द्वेधा प्रथमः श्मश्रु- ।

मूर्धजानपनाययेत् ॥

सितकौपीनसंव्यानः ।

कर्त्तर्या वा क्षुरेण वा ॥ ३८ ॥

टीका—स उत्कृष्टश्रावको द्वेधा द्विविधो भवति । तत्राद्यस्य  
प्रथम इत्यादिना प्रबन्धेन विधिमभिधत्ते- अपनाययेत् च्छेदयेत् ।

कोऽसौ प्रथम आद्य उद्दिष्टविरतः । कान् श्मश्रुमूर्धजान् कूर्चाशिरः-  
केशान् । कया कर्तर्या कर्तरिकया । वा क्षुरेण नापितोपकरणेन  
वा । अत्र कर्तर्याऽपनायनं श्लाघ्यतरं शोभनाकाङ्क्षात् । तथा  
सितकौपीनसंव्यानो भवेत् श्वेतकक्षापटोत्तरीयपटश्चासौ स्यादित्यर्थः ॥

(२) स उत्कृष्ट उद्दिष्टविरतश्रावकः द्वेधा द्विविधो भवतीति  
सम्बन्धः । तत्र तावत् प्रथमः आद्यः किंविशिष्टः? सितकौपीन-  
संव्यानः कौपीनं गुह्यप्रच्छादनवस्त्रं संव्यानं उत्तरीयवस्त्रं कौपीनं च  
संव्यानं च कौपीनसंव्याने सिते वस्त्रे कौपीनसंव्याने यस्य स  
तथोक्तः । किं कुर्यात्? अपनापयेत् अन्येनोत्सारयेत् । कान्  
श्मश्रुमूर्धजान् । श्मश्राणि कूर्चान् केशान् मूर्धजान् शिरःकेशान्  
न तु कक्षादिस्थान् । कया कर्तर्या कर्तरिकया । वा अथवा क्षुरेण  
रोमशस्त्रविशेषेण । अत्र द्वितीयो वाशब्दः समुच्चयेन ज्ञातव्यो यथा-  
सम्भवमिति ॥

अर्थ—त्या उद्दिष्टविरताचे दोन प्रकार आहेत,  
त्यांतील पहिल्या प्रकारच्या श्रावकानें पांढरी लंगोटी  
घालावी, व पांढरें वस्त्र पांघरावें आणि आपल्या मिशा,  
दाढी व डोकीवरील केश हे कातररीने कातरवावेत. अथवा  
वस्तन्याने काढवावेत.

स्थानादिषु प्रतिलिखेत् ।

मृदूपकरणेन सः ॥

कुर्यादेव चतुष्पर्व्या- ।

मुपवासं चतुर्विधम् ॥ ३९ ॥

टीका—प्रतिलिखेत् भूतलादिषु प्रमृज्यात् । कोऽसौ स मथप्र

उत्कृष्टः । केन मृदूपकरणेन मृदुना सुकुमारेण जन्त्वबाधकेनो-  
पकरणेन वस्त्रादिना । केषु कर्तव्येषु स्थानादिषु ऊर्ध्वभावापवेश-  
नसंवेशनादिषु । तथा कुर्यादेव अवश्यं विदध्यादसौ । कमुपवास-  
मनश्चनं । किंविशिष्टं चतुर्विधं चतस्रो विधा आहारास्त्याज्या  
यस्मिन्नसौ चतुर्विधस्तं । चतुष्पर्व्या मासि मासि द्वयोरष्टम्योर्द्व-  
योश्चतुर्वश्योः ॥

अर्थ— त्यागें आपल्या निजण्यावसण्याच्या ठिकाणचे  
लोटणें वगैरे व्यापार फार मृदु पदार्थानें ह्मणजे वस्त्र  
वगैरेनें करावेत. कारण, ह्यांत हिंसा होण्याचा अधिक  
संभव असतो. तसेंच चारी पर्वांच्या दिवशीं ( प्रत्येक  
महिण्यांतील शुक्लाष्टमी, कृष्णाष्टमी, शुक्लचतुर्दशी आणि  
कृष्णचतुर्दशी ह्या दिवशीं ) भक्ष्य, पेय वगैरे चारी  
प्रकारच्या आहाराचा त्याग करावा.

स्वयं समुपविष्टोऽद्या- ।

त्पाणिपात्रेऽथ भाजने ॥

स श्रावकगृहं गत्वा ।

पात्रपाणिस्तदङ्गणे ॥ ४० ॥

स्थित्वा भिक्षां धर्मलाभं ।

भणित्वा प्रार्थयेत वा ॥

मौनेन दर्शयित्वाऽङ्गं ।

लाभालाभे समोऽचिरात् ॥ ४१ ॥

निर्गत्याऽन्यद्गृहं गच्छे- ।

भिक्षोद्युक्तस्तु केनचित् ॥  
 भोजनायार्थितोऽद्यात्त- ।  
 भुक्त्वा यद्भिक्षितं मनाक् ॥ ४२ ॥  
 प्रार्थयेतान्यथा भिक्षां ।  
 यावत्स्वोदरपूरणीम् ॥  
 लभेत प्राप्नु यत्राम्भ- ।  
 स्तत्र संशोध्य तां चरेत् ॥ ४३ ॥

टीका—स प्रथमोत्कृष्टोऽद्यात् भुञ्जीत । केन स्वयमात्मना ।  
 किंविशिष्टः सन् समुपविष्टः निश्चलनिविष्टः । क पाणिपात्रे हस्तपुटे ।  
 अथवा भाजने स्थाल्यादौ । इतः श्रावकेत्यादिना भिक्षणविधि-  
 माह— प्रार्थयेत् भिक्षेत । कोऽसौ सः । कां भिक्षां । किं कृत्वा  
 भणित्वा । कं धर्मलाभं धर्मलाभशब्दमुच्चार्येत्यर्थः । किं कृत्वा  
 स्थित्वा उद्यो भूत्वा । क तदङ्गणे श्रावकगृहाग्रभागे । किंविशिष्टः  
 सन् पात्रपाणिः भिक्षापात्रहस्तः । किं कृत्वा गत्वा प्राप्य । किं तत्  
 श्रावकगृहं । वा अथवा । स प्रार्थयेत् भिक्षां । केन मौनेन । किं  
 कृत्वा दर्शयित्वा दातृदृष्टिगोचरं कृत्वा । किं तत् अङ्गं स्वशरीरं ।  
 ततश्च गच्छेत् व्रजेत् । किं तत् गृहं । किंविशिष्टं अन्यत्  
 अयाचितभिक्षं । किं कृत्वा निर्गत्य याचितभिक्षागृहान्निष्क्रम्य ।  
 कथं अचिरात् शीघ्रं । किंविशिष्टः समः रागद्वेषरहितः । क  
 लाभालाभे भिक्षायाः प्राप्तावप्राप्तौ च । भिक्षोद्युक्तस्तु भिक्षां याच-  
 मानः । पुनः केनचिच्छ्रावकेण । भोजनाय भोजनं कर्तुमार्थितः  
 उपरुद्धः सन् । अद्यात् तद्गृहे भुञ्जीत । किं कृत्वा भुक्त्वा जेमित्वा ।  
 किं तत्तदन्नं । यत्किं यद्भिक्षितं गृहान्तरेषु याचितं । कियत् मनाक्

स्तोकं । बहौ भिक्षिते सति नान्यस्यान्नं भुञ्जीतेति भावः । अन्यथा परोपरोधाभावे । प्रार्थयेत् याचेत् सः । कां भिक्षां । कथं यावन्मर्यादीकृत्य । कां स्वोदरपूरणीं भिक्षां स्वस्यैवोदरं यावत्था पूर्यते तावतीमेव प्रार्थयेत् अन्यथा असंयमप्रसङ्गः । अथवा यावत् स्वोदरपूरणी भिक्षा भवति तावदेव प्रार्थयेतेति वाक्यभेदेन सम्बन्धः । ततश्च चरेत् गोवद्भुञ्जीतेति भावः । कां तां भिक्षां । किं कृत्वा संशोध्य सम्यक्शोधयित्वा । क तत्र श्रावकगृहे । यत्र किं यत्र लभेत् प्राप्नुयात्सः । किं तदम्भः पानीयं । किंविशिष्टं प्रासु प्रासुकं निर्जीविम् ॥

अर्थ— उद्दिष्टविरतश्रावकाने हात हेंच पात्र कल्पून अथवा निराळ्या पात्रांत अन्न घेवून निश्चल बसून भोजन करावे. तसेंच त्याने हातांत पात्र घेऊन भिक्षेकरितां श्रावकांच्या घरांत जाऊन त्याच्या अंगणांत उभे रहावे ; व “धर्मलाभ” असा शब्द उच्चारून भिक्षा मागावी. किंवा प्राप्ति व अप्राप्ति ह्या संबंधांने बुद्धि सारखी ठेऊन, कांहीं न बोलतां, आपण भिक्षेकरितां आलों आहोंत येवढे घरांतील मनुष्यांना समजण्याकरितां आपलें शरीर त्यांच्या दृष्टीस पाडावे. आणि लगेच त्या घरांतून निघून दुसऱ्या घरीं जावे. ह्याप्रमाणें भिक्षा मागत असतां जर कोणीं श्रावकानें आपल्या घरीं भोजन करण्याविषयीं प्रार्थना केली, तर, आपण भिक्षा मागून जें थोडेंसें अन्न मिळविलें असेल तें अन्न प्रथम भक्षण करावे. जर कोणीं भोजनास बोळाविलें नाहीं तर आपलें पोट भरेल इतकें अन्न भिक्षेनें मिळवावे. आणि ज्या ठिकाणीं निर्जेतुक असें पाणी मिळेल त्या ठिकाणीं तें भिक्षान्न शुद्ध करून खावे.

आकांक्षन्संयमं भिक्षा- ।

पात्रप्रक्षालनादिषु ॥

स्वयं यतेत चादर्पः ।

परथाऽसंयमो महान् ॥ ४४ ॥

टीका—स चादर्पो विद्यातिशयाद्यनाहितमदः सन् । स्वयं यतेतात्मना यत्नं कुर्यात् । क भिक्षेत्यादि भिक्षापात्रस्य प्रक्षालनं धावनमादौ येषामासनस्थापनोच्छिष्टत्यजनादीनां तानि भिक्षापात्रप्रक्षालनादीनि कर्माणि तेषु ! किं कुर्वन् आकांक्षन् अभिलषन् । कं संयमं प्राणिरक्षणं । परथा अन्यथा शिष्यादिना तद्विधाने भवत्यसंयमः । कीदृशो महान् भूयान् ॥

अर्थ—जीवहिंसा न व्हावी अशी इच्छा करणाच्या व ज्याला कोणत्याही प्रकारचा गर्व नाही अशा श्रावकाने भिक्षापात्र प्रक्षालन करणे वगैरे कृत्यांत स्वतःच मेहनत घ्यावी. कारण तसे न केलें असतां— ह्यणजे आपण स्वतः काम न करितां दुसऱ्याकडून करविलें असतां— त्यांत जास्त हिंसा होण्याचा संभव असतो.

ततो गत्वा गुरूपान्तं ।

प्रत्याख्यानं चतुर्विधम् ॥

गृह्णीयाद्विधिवत्सर्वं ।

गुरोश्चालोचयेत्पुरः ॥ ४५ ॥

टीका—ततः प्रकृतकर्मकरणानन्तरं । गुरोर्धर्माचार्यस्योपान्तं समीपं । गत्वा । गृह्णीयात्स्वीकुर्यात् सः । किं तत् चतुर्विधं चतुर्विधाहारविषयं । प्रत्याख्यानं नियमं । कथं विधिवत् यथा-



विधि । तथा आलोचयेत् निवेदयेत्सः । किं तत् सर्वं गमनात्प्र-  
भृति स्वचेष्टितं । क पुरोऽग्रे । कस्य गुरोः । चशब्दाद्गोचरीं  
प्रतिक्रमणां कुर्यात् ॥

अर्थः— ह्याप्रमाणे केल्यानंतर त्या श्रावकानें गुरूच्या-  
जवळ जाऊन चारही प्रकारच्या आहाराच्या त्यागाचें व्रत  
यथाविधि स्वीकारावें. आणि आपला प्रत्येक व्यवहार  
त्या गुरूस कळवावा.

ह्याप्रमाणे ३८ व्या श्लोकांत उद्दिष्टविरत श्रावक दोन  
प्रकारचे ह्मणून जे सांगितले त्यांपैकीं अनेकगृहांत भिक्षा  
मागणारा असा जो पहिला उत्कृष्ट श्रावक त्याच्या  
भोजनाचा विधि येथपर्यंत सांगितला.

एवमनेकभिक्षानियमस्य प्रथमोत्कृष्टस्य भोजनविधिमुक्त्वा  
सम्प्रति तस्यैवैकभिक्षानियमस्य तदुपदिशति—

आतां ; त्याचाच एकाच घरांत भिक्षा मागण्याविषयींचा  
नियम सांगतात.

यस्त्वेकभिक्षानियमो ।

गत्वाऽद्यादनुमुन्यसौ ॥

भुक्त्यभावे पुनः कुर्या- ।

दुपवासमवश्यकम् ॥ ४६ ॥

टीका—यस्तु प्रथमोत्कृष्टो भवति । कीदृशः एकस्यामेकगृह-  
संबन्धिन्यां भिक्षायां नियमः प्रतिज्ञा यस्य स एकभिक्षानियमः ।  
असावद्यात् भोजनं कुर्यात् । किं कृत्वा गत्वा दातृगृहं व्रजित्वा ।  
कथमनुमुनि संयतस्य पश्चात् । एतेन प्रथमोत्कृष्टो द्वेधा स्याद-  
नेकभिक्षानियम एकभिक्षानियमश्चेत्युक्तं प्रतिपत्तव्यं । स पुनः

कुर्यात् । कमुपवासं । कथमवश्यं नियमेन । क सति भुक्त्यलाभे सति तथाभोजनस्याप्राप्तौ ॥

अर्थः— ज्याने एकाच घरांत भिक्षा मागण्याविषयी नियम केला असेल त्या श्रावकाने भिक्षेकरितां गृहस्थाच्या घरीं जाऊन त्या ठिकाणीं जर कोणी संयमी मुनि प्राप्त झाला असेल तर त्याच्या भोजनानंतर आपण भोजन करावें. आणि जर भोजनाची प्राप्ति झाली नाही, तर त्या दिवशीं दुसऱ्या घरांत भिक्षा मागावयाची नसल्यानें अवश्य उपवास करावा.

तद्विधिविशेषमाह—

त्याचेंच विशेष कर्म सांगतात.

वसेन्मुनिवने नित्यं ।

शुश्रूषेत गुरूँश्चरेत् ॥

तपो द्विधाऽपि दशधा ।

वैयावृत्यं विशेषतः ॥ ४७ ॥

टीका—स नित्यं सर्वदा । मुनिवने संयताश्रमे । वसेन्निवासं कुर्यात् । तथा शुश्रूषेत पर्युपासीत । कान् गुरून् धर्माचार्यादीन् । तथा चरेदनुतिष्ठेत् । किं तत्तपः । कथम्भूतं, द्विधाऽपि बाह्यमाभ्यन्तरं च । तथा स चरेत् । किं तत् वैयावृत्यं संयमिनामापत्प्रतीकारं । कतिधा दशधा आचार्यादिगोचरत्वेन दशप्रकारं । केन विशेषतोऽतिशयेन अन्तरङ्गतपस्यस्य संगृहीतस्यापि पृथगुपदेश इतरतपस्त इदमतिशयेनासौ श्रावकश्चरेदितिज्ञापनार्थम् ॥

अर्थः— त्यानें सर्वदा संयमी मुनीच्या आश्रमांत रहावें.

गुरुंची सेवा करावी. अंतरंग व बाह्य अशी दोन्ही प्रकारची तपश्चर्या करावी, आणि दुसऱ्याचें दुःख घालविण्याचा यत्न विशेषतः करावा.

अथ द्वितीयमुद्दिष्टविरतं लक्षयति—

आतां ; दुसऱ्या उद्दिष्टविरताचें लक्षण सांगतात.

तद्वद् द्वितीयः किन्त्वार्य- ।

सञ्ज्ञो लुञ्चत्यसौ कचान् ॥

कौपीनमात्रयुग्धत्ते ।

यतिवत्प्रतिलेखनम् ॥ ४८ ॥

टीका—भवति । कोऽसौ द्वितीय उत्कृष्टः । किंवत् तद्वत् प्रथमेन तुल्यक्रियः । किंतु विशेषेण लुञ्चति हस्तेनोत्पाटयत्यसौ । कान् कचान् कूर्चशिरःकेशान् । किं नामा आर्यसञ्ज्ञः आर्य इति सञ्ज्ञा नाम यस्यासौ । तथा धत्ते धारयत्यसौ । किं तत्प्रतिलेखनं पिच्छिकाख्यं संयमोपकरणं । किंवत् यतिवत् संयतेन तुल्यं । किंविशिष्टः सन् कौपीनमात्रयुक् कौपीनमात्रं गुह्यप्रच्छादनचेलखण्डमात्रं युनक्त्यात्मना योजयति नोत्तरीयादिकं यः स तथोक्तः ॥

अर्थः— दुसरा उद्दिष्टविरत हा बहुतेक सर्व क्रिया पहिल्या उद्दिष्टविरताप्रमाणेंच करीत असतो. विशेष एवढाच कीं, त्याला आर्य हें नांव असून तो मस्तकावरील बगैरे केश हातानें उपटून काढतो. आणि देहाच्या आच्छादनाकरितां दुसरें कोणतेंही वस्त्र न घेतां फक्त कौपीन धारण करीत असून यतीप्रमाणें पिच्छिकाही हातांत धारण करीत असतो.

स्वपाणिपात्र एवात्ति ।

संशोधान्येन योजितम् ॥

इच्छाकारं समाचारं ।

मिथः सर्वे तु कुर्वते ॥ ४९ ॥

टीका— तथा अत्ति जेमत्यसावाहारं । किंविशिष्टं योजितं समर्पितं क स्वपाणिपात्र एव निजहस्तपुटे न स्थाल्यादौ । केन अन्येन गृहस्थादिना । किं कृत्वा संशोध्य । एवमसाधारणमाचारमुक्त्वा साधारणं तमाह इच्छेत्यादि— कुर्वते विदधते । के सर्वे एकादशापि श्रावकाः । कं समाचारं । किंविशिष्टमिच्छाकारं इच्छामीत्येवंविधोच्चारणलक्षणं । कथं मिथः परस्परं । तुर्विशेषे ॥

अर्थ— आपला हात हेंच ज्याचें पात्र आहे असा तो श्रावक दुसऱ्याने त्या पात्रांत टाकिलेलें अन्न निरखून पाहून भक्षण करतो. हे वर सांगितलेले एकादश प्रतिमामध्ये असलेले सर्व श्रावक “इच्छामि” (आपण अमुक गोष्ट कराल असें मी इच्छितों) ह्या पदाचा उपयोग करून एकमेकांशीं व्यवहार करितात.

इदानीं दशभिः पद्यैः शेषं संगृह्यताह—

आतां; पुढील दहा श्लोकांनीं राहिलेल्या गोष्टींचा संक्षेपानें गोषवारा सांगतात.

श्रावको वीरचर्याहः- ।

प्रतिमातापनादिषु ॥

स्यान्नाधिकारी सिद्धान्त- ।

रहस्याध्ययनेऽपि च ॥ ५० ॥

टीका—न स्यात्कोऽसौ श्रावकः । किंविशिष्टोऽधिकारी योग्यः ।  
 क वीरेत्यादि—वीरचर्या स्वयं आमर्या भोजनं, अहःप्रतिमा  
 दिनप्रतिमा, आतापनादयस्त्रिकालयोगाः ग्रीष्मे सूर्याभिमुखं  
 गिरिशिखरेऽवस्थानं, वर्षासु वृक्षमूले, शीतकाले रजन्यां चतुष्पथे,  
 इत्येवंलक्षणास्त्रयः कायक्लेशविशेषाः । तथा सिद्धान्तस्य परमाग-  
 मस्य सूत्ररूपस्य रहस्यस्य च प्रायश्चित्तशास्त्रस्याध्ययने पाठे श्रावको  
 नाधिकारी स्यादिति सम्बन्धः ॥

अर्थ—मधुकरी मागून भोजन करणें, दिनप्रतिमा  
 करणें, तापनादि योग ( ग्रीष्मऋतूंत पर्वताच्या शिखरावर  
 उघडें बसून सूर्याचा ताप सहन करणें, वर्षाऋतूंत उघड्या  
 अंगानें झाडाखालीं बसणें व शीतकालांत रात्रीं चव्हाट्यावर  
 उघडे निजणें वगैरे कायक्लेश. ) व जैनसिद्धान्ताच्या रह-  
 स्याचें अध्ययन करणें ह्या विययीं गृहस्थाश्रमी श्रावक  
 हा अधिकारी होत नाहीं.

दानशीलोपवासार्चा- ।

भेदादपि चतुर्विधः ॥

स्वधर्मः श्रावकैः कृत्यो ।

भवोच्छित्त्यै यथायथम् ॥ ५१ ॥

टीका—कृत्योऽनुष्ठेय । कोऽसौ स्वधर्मः आत्मन आचारः ।  
 कैः श्रावकैः देशसंयतैः । किंविशिष्टश्चतुर्विधोऽपि । कस्माद्दान-  
 शीलोपवासार्चाभेदात् दानं च शीलं चोपवासश्चार्चा च जिनादि-  
 पूजा ताभिर्भेदस्तस्मादपिशब्दान्न केवलं दर्शनव्रतादिभेदादेकादश-  
 धेति ग्राह्यं । कथं यथायथं स्वप्रतिमाचरणाविरोधेन । किमर्थं  
 भवोच्छित्त्यै संसारनिरासार्थं ॥

अर्थ— दान करणें, शील पाळणें, उपवास करणें व जिनपूजा करणें ह्याप्रमाणें चार प्रकारचा असलेला स्वधर्म श्रावकांनीं संसाराच्या नाशाकरितां यथायोग्य आचरण करावा.

इत उत्तरं व्रतरक्षायां यत्नविधानार्थं प्रबन्धेनाभिधत्ते—

आतां; पुढें व्रतांच्या रक्षणाकरितां प्रयत्न करण्याबद्दल आग्रहपूर्वक सांगतात.

प्राणान्तेऽपि न भंक्तव्यं ।

गुरुसाक्षि श्रितं व्रतम् ॥

प्राणान्तस्तत्क्षणे दुःखं ।

व्रतभङ्गो भवे भवे ॥ ५२ ॥

टीका—न भंक्तव्यं न खण्डनीयं श्रावकैः । किं तद्व्रतं । किंविशिष्टं श्रितं प्रतिपन्नं । कथं गुरुसाक्षि गुरवोऽत्र परमेष्ठिनो दीक्षागुरवः साधर्मिकमुख्याः स्थानवास्तुदेवताश्च गृह्यन्ते । गुरवः साक्षिणः साक्षाद्गृष्टारो यत्र तद्गुरुसाक्षिकमित्यर्थः । क प्राणान्ते । व्रतभंगाकरणे प्राणनाशे सम्भवत्यपि किं पुनरितरापदि । व्रतभङ्गकरणे दुःखभूयस्त्वं दर्शयति । भवति । कोऽसौ प्राणान्तः । किं दुःखं । क तत्क्षणे तस्मिन्नेव समये नोत्तरत्र । व्रतभंगः पुनर्दुःखं भवति । क भवे भवे जन्मनि जन्मनि । बुद्धिपूर्वकव्रतभंगकरणेन सम्यक्त्वस्यापि विराधनादनन्तसंसारित्वस्यागमे प्रतिपादनात् ॥

अर्थ— आपल्या गुरूच्या समक्ष ग्रहण केलेले व्रत प्राण जाण्याच्या प्रसंगीही सोडूं नये. कारण, प्राण जाण्यापासून त्या वेळेपुरतेंच दुःख होतें; आणि व्रतभंग झाला असतां प्रत्येक जन्मांत दुःख होतें.

शीलवान् महतां मान्यो ।

जगतामेकमण्डनम् ॥

स सिद्धः सर्वशीलेषु ।

यः सन्तोषमधिष्ठितः ॥ ५३ ॥

टीका—भवति । कोऽसौ शीलवान् शुचिचरित्रः श्रावको यतिर्वा । किंविशिष्टो मान्यः सत्कृत्यः । केषां महतामिन्द्रादीनां । पुनः किंविशिष्टो जगतां लोकानामेकमुत्कृष्टं मण्डनमलंकरणं । शीलसिद्ध्युपायमाह— स भवति । किंविशिष्टः सिद्धो निष्पन्नः प्रतीतो वा । केषु सर्वशीलेषु सकलसदाचारेषु । यः किं योऽधिष्ठितोऽध्यासितः । कं सन्तोषं धृतिं विषयवैतृष्यमित्यर्थः ॥

अर्थ—शुद्धाचारसंपन्न असा जो श्रावक असतो तो इंद्रादिदेवांनाही मान्य होतो; व तो सर्व जगाचा उत्कृष्ट अलंकारच होतो आणि जो सर्वदा संतोषानें रहातो त्यानें संपूर्ण सदाचार आपलासा केला असें समजावें.

तत्र न्यञ्चति नो विवेकतपनो नाञ्चत्यविद्यातमी ।

नाप्नोति स्खलितं कृपामृतसरिन्नोदेति दैन्यज्वरः ॥

विस्निह्यन्ति न सम्पदो न दृशमप्यासूत्रयन्त्यापदः ।

सेव्यं साधुमनस्विनां भजति यः सन्तोषमंहोमुषम् ॥

टीका—योंऽहोमुषं पापापहं सन्तोषं भजति सेवते । किंविशिष्टं सेव्यं केषां साधूनां सिद्धिसाधकानां मनस्विनां चाभिमानिनां । तत्र सन्तोषसेवके पुंसि । नो न्यञ्चति नाचैर्न भवति आरूढारूढ एव भवतीत्यर्थः । कोऽसौ विवेकतपनः युक्तायुक्त-

विचारभास्करः । तथा न अंचति न प्रचरति । काऽसावविद्यातमी  
अज्ञानरात्रिः । तथा नाप्नोति न लभते । काऽसौ कृपामृतसरित्  
अनुकम्पापीयूषनदी । किं स्खलितं प्रवृत्तिप्रतिबन्धं । तथा नोदेति  
नोद्भवति । कोऽसौ दैन्यज्वरः दैन्यं विषादो ज्वर इव देहमनस्ता-  
पहेतुत्वात् । तथा न विस्मिन्यन्ति न विरज्यन्ति । काः सम्पदः  
श्रियः । तथा नासूत्रयन्ति नारचयन्ति । का आपदो विपदः ।  
कां दृशमपि किं पुनरालिंगनादिकम् ॥

अर्थ—साधु आणि अभिमानी पुरुष ह्यांनीं सेवन  
केलेल्या व पातकांचा नाश करणाऱ्या सन्तोषाचें जो  
पुरुष सेवन करतो; त्याचे ठिकाणीं सदसद्विचाररूपी  
सूर्य केव्हांही अस्त पावत नाहीं. अज्ञानरूपी रात्र त्या  
ठिकाणीं व्यापीत नाहीं. त्याची कृपारूपी अमृताची नदी  
कोठेही अडथळा पावत नाहीं, ( अशाचे ठिकाणीं दया  
नेहमीं जागरूक असते. ) त्याचे ठिकाणीं खेदरूपी ज्वर  
उत्पन्न होत नाहीं. तसेंच सर्वप्रकारच्या संपत्ति त्या पुरुषा-  
विषयीं विरक्त होत नाहींत आणि विपत्ति ह्या त्या पुरुषा-  
कडे हुंकूनही पहात नाहींत.

स्वाध्यायमुत्तमं कुर्या- ।

दनुप्रेक्षाश्च भावयेत् ॥

यस्तु मन्दायते तत्र ।

स्वकृत्ये स प्रमाद्यति ॥ ५५ ॥

टीका—कुर्याच्छ्रावकः । कं स्वाध्यायं । किंविशिष्टमुत्तमं  
अध्यात्मादिविद्याविषयं प्रकृष्टशक्तिपर्यन्तं च । तथा भावयेत् अभ्य-  
स्येत् । काः अनुप्रेक्षाः अनित्यत्वादिभावना द्वादश । चशब्दा-



दर्शनविशुद्ध्यादिभावनाश्च षोडश । यस्तु यः पुनस्तत्र स्वाध्या-  
यादौ । मन्दायते अलसो भवति । स प्रमाद्यति नावधत्ते नोत्स-  
हत इत्यर्थः । क स्वकृत्ये आत्मकार्ये ॥

अर्थ—कोणत्याही श्रावकानें उत्तम स्वाध्याय करावा  
आणि बारा प्रकारच्या अनुप्रेक्षांची भावना करावी. जो  
श्रावक ह्यांविषयीं आळस करतो तो आपल्या कृत्यांत  
चुकी करतो.

धर्मान्नान्यः सुहृत्पापा-

न्नान्यः शत्रुः शरीरिणाम् ॥

इति नित्यं स्मरन्न स्या-

न्नरः संक्लेशगोचरः ॥ ५६ ॥

टीका—नरः पुमान् । संक्लेशगोचरो रागद्वेषमोहविषयः । न  
स्यात् रागादिभिर्नाभिभूयत इत्यर्थः । किं कुर्वन्नित्येवं । नित्यं  
सन्ततं । स्मरन् ध्यायन् । कथमित्याह—नास्ति । कोऽसौ सुहृत् ।  
किंविशिष्टोऽन्यः । कस्मात् धर्मात् धर्म एवोपकर्तेत्यर्थः । तथा  
पापादन्यो नास्ति शत्रुरधर्म एवापकर्तेत्यर्थः । केषां शरीरिणां  
देहिनां ॥

अर्थ—ह्या जीवांस धर्मावाचून दुसरा मित्र नाही; व  
पापावाचून दुसरा शत्रु नाही. ह्याप्रमाणें निरंतर ध्यान  
करणारा पुरुष रागद्वेषमोहादिकषायाचें स्थान होत नाही.

सल्लेखनां करिष्येऽहं ।

विधिना मारणान्तिकीम् ॥

अवश्यमित्यदः शीलं ।

सन्निदध्यात्सदा तद्वदि ॥ ५७ ॥

टीका—सन्निदध्यात् संयोजयेत् । श्रावकः । किं तत् एत-  
त्सल्लेखनाख्यं शीलं । क तद्वदि चित्ते । कथं सदा पश्चिमसल्लेखनां  
नित्यं भावयेदित्यर्थः । कथमिति किमिति अवश्यं नियमेन ।  
करिष्ये विधास्येऽहं । कां सल्लेखनां बाह्याभ्यन्तरतपोभिः सम्यक्का-  
यकषायकृशीकरणमाचरणं । किंविशिष्टां मारणातिर्की मरणमे-  
वान्तो मरणान्तः तद्भवमरणमित्यर्थः तत्र भवां । केन विधिना  
शास्त्रोक्तविधानेन ॥

अर्थ—मी मरणापर्यंत सल्लेखना यथाविधि अवश्य  
करीन अशाप्रकारचें हें सल्लेखना नांवाचें शील श्रावकानें  
आपल्या अंतःकरणांत सर्वदां चिंतित असावें [ ह्या श्लोकां-  
तील सल्लेखना शब्दाचा “ बाह्य व आभ्यन्तर अशा तपश्च-  
र्येच्यायोगानें देह आणि कषाय यांना कधी कमी करीत  
जाणें ” असा अर्थ समजावा. ]

सहगामीकृतं तेन ।

धर्मसर्वस्वमात्मनः ॥

समाधिमरणं येन ।

भवविध्वंसि साधितम् ॥ ५८ ॥

टीका—तेन पुंसा कृतं । किं तदात्मनः स्वस्य । धर्मसर्वस्वं  
व्यवहारनिश्चयरत्नत्रयं । किंविशिष्टं सहगामि आत्मना सह भवा-  
न्तरगन्तु । येन किं येन साधितं निर्वर्तितं । किं तत्समाधिमरणं  
रत्नत्रयैकाग्रतया प्राणत्यागः । किंविशिष्टं भवविध्वंसि संसारनि-  
र्मूलनशीलं ॥

अर्थ—जन्ममरणरूपी संसाराचा नाश करणारें असें समाधिमरण ज्यानें साधिलें त्या पुरुषानें धर्माचा मुख्यांश जें रत्नत्रय तें जन्मांतरीं आपल्या बरोबर येईल असें केलें.

यत्प्रागुक्तं मुनीन्द्राणां ।

वृत्तं तदपि सेव्यताम् ॥

सम्यङ्गनिरूप्य पदवीं ।

शक्तिं च स्वामुपासकैः ॥ ५९ ॥

टीका—प्राक् चतुर्थाद्यध्यायषट्के । मुनीन्द्राणां महामुनीनां । यद्वृत्तं समितिगुह्याद्याचरणमुक्तं तदपि न केवलं संसेव्यतामनुष्ठीयतां । कैरुपासकैः श्रावकैः । किं कृत्वा सम्यङ्गनिरूप्य अविपरीतं पर्यालोच्य । कां स्वामात्मीयां । पदवीं संयमभूमिकां । शक्तिं च वीर्यं ॥

अर्थ—आपली प्रतिमा कोणती आहे ह्याचा नीट विचार करून व आपली शक्ति किती आहे ह्याचाही नीट विचार करून श्रावकांनीं चवथ्या अध्यायापासून पुढील सहा अध्यायांत जो महामुनीचा आचार सांगितला आहे तोही करावा.

प्रकृतमुपसंहरन्नौत्सर्गिकहिंसादिनिवृत्तिं प्रति देशयति प्रयुक्ते—

आतां; आरंभिलेलें प्रकरण संपवून सर्वसंगपरित्यागामुलें जी हिंसेपासून निवृत्ति व्हावयाची तिजविषयी देशसंयतश्रावकाची प्रवृत्ति करितात.

इत्यापवादिर्कीं चित्रां ।

स्वभ्यस्यन्विरतिं सुधीः ॥

कालादिलब्धौ क्रमतां ।

नवधौत्सर्गिकीं प्रति ॥ ६० ॥

टीका—क्रमतामुत्सहतां । कोऽसौ सुधीः तत्प्रज्ञानसम्पन्नः श्रावकः । कथं प्रति उद्दिश्य । कां विरतिं । किंविशिष्टामौत्सर्गिकीं उत्कृष्टं सर्जनमुत्सर्गः सर्वसंगत्यागः तत्र भवामौत्सर्गिकीं । कतिधा नवधा मनोवाक्यायैः प्रत्येकं कृतकारितानुमतानां त्यागेन नवप्रकारां । कस्यां कालादिलब्धौ कालदेशबलवीर्यसहायसाधनादिसामग्र्यां सत्यां । किं कुर्वन् स्वभ्यस्यन् सम्यग्भावयन् । कां विरतिं हिंसाविनिवृत्तिं । किंविशिष्टामापवादिकीं यतीनामपवाद-हेतुत्वादपवादो ग्रन्थस्तत्र भवां । पुनः किंविशिष्टां चित्रां नाना-प्रकारां । कथमित्येवमुक्तप्रकारेण ॥

अर्थ—ह्याप्रमाणे संग्रंथाच्या उद्देशाने अनेकप्रकारांनी सांगितलेल्या हिंसात्यागाचा चांगला अभ्यास करून बुद्धिमान श्रावकाने योग्य कालाची प्राप्ति झाली असतां सर्वसंग-परित्यागामुळे होणाऱ्या नऊ प्रकारच्या ( हिंसा त्याग नऊ प्रकारांनी संभवतो; मन, वाणी व शरीर ह्यांतील प्रत्येकाने हिंसा न करणे हे तीन प्रकार. ह्या तीन प्रकारांत करणे, करविणे व अनुमति देणे; हे प्रत्येकाचे तीन प्रकार; मिळून एकंदर नऊ प्रकार समजावे. याजबद्दल मागे चौथ्या अध्यायांत विस्तृत विचार केला आहे. ) हिंसात्यागाविषयीं औत्सुक्य धरावे.

साधकत्वं व्याकर्तुं कामस्तत्त्वामिनं निर्दिशति—

आतां ; साधकत्वाचे व्याख्यान करण्याच्या इच्छेनें, त्याला अधिकारी कोण होतो ! हे सांगतात.

इत्येकादशधाऽऽम्नातो ।

नैष्ठिकः श्रावकोऽधुना ॥

सूत्रानुसारतोऽन्त्यस्य ।

साधकत्वं प्रवक्ष्यते ॥ ६१ ॥

टीका—इत्येवं नैष्ठिकश्रावक एकादशधाऽस्माभिराम्नातः पारम्पर्योपदेशेन वर्णितः । अधुना साम्प्रतमित ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यते प्रकर्षेण वर्णयिष्यते अस्माभिः । किं तत्साधकत्वं तृतीयं साधनाख्यं पदं । अन्त्यस्योद्दिष्टविरतस्य श्रावकस्य कस्मात्सूत्रानुसारतः परमागममनुसृत्येति भद्रम् ॥

अर्थ—ह्याप्रमाणे नैष्ठिक श्रावकाचे अकरा प्रकार गुरूपरंपरेने प्राप्त झाल्याप्रमाणे सांगितले. आतां, परमागमसूत्रांस अनुसरून अकराव्या प्रतिमैत असलेल्या श्रावकाच्या साधकत्वाचें उपपादन पुढील अध्यायांत करूं.

इत्याशाधरविरचितायां स्वोपज्ञधर्मामृतसागारधर्मटीकायां

भव्यकुमुदचन्द्रिकासञ्ज्ञायामादितः षोडशः

प्रक्रमाच्च सप्तमोऽध्यायः

अध्याय सातवा समाप्त.

## ॥ अथाष्टमोऽध्यायः ॥

अथ सल्लेखनाविधिमभिधातुकामस्तत्प्रयोक्तारं लक्षयन्नाह—

आतां सल्लेखनेचा प्रकार सांगण्याकरितां ती करण्यास योग्य जो श्रावक त्याचें स्वरूप सांगतात.

देहाहारेहितत्यागात् ।

ध्यानशुध्याऽऽत्मशोधनम् ॥

यो जीवितान्ते सम्प्रीतः ।

साधयत्येष साधकः ॥ १ ॥

टीका— भवत्येष साधकः । यः किं यः साधयति निर्वर्त्तयति । किं तत् आत्मशोधनं आत्मनोऽन्तस्तत्त्वस्य शोधनं शुद्धिं मोहराग-द्वेषापगमं रत्नत्रयपरिणतिमित्यर्थः । क जीवितान्ते प्राणनाशे प्राणेषु नश्यत्स्वित्यर्थः । किंविशिष्टः सन् सम्प्रीतः सर्वाङ्गीण-ध्यानसमुत्थानन्दयुक्तः । कया तत्साधयति? ध्यानशुध्या ध्यान-स्यैकाग्रचिन्ता निरोधस्य शुद्धिरार्तरौद्रपरित्यागेन स्वात्मन्यवस्थानं निर्विकल्पसमाधिरित्यर्थः । कस्मात् देहाहारेहितत्यागात् देहत्यागः शरीरममत्ववर्जनमाहारत्यागश्चतुर्विधाहारप्रत्याख्यानभीहितत्यागो मनोवाक्कायव्यापारव्यावर्तनं देहश्चाहारश्च ईहितं च देहाहारेहितानि तेषां त्यागस्तस्मात् ॥

अर्थ— जो श्रावक, सर्वप्रकारें संतुष्ट असा होत्साता, देहाविषयींचें ममत्व, चार प्रकारचा आहार आणि पूर्वी आपल्यास प्रिय असलेले शारीरिक, मानसिक व वाचिक व्यापार ह्या सर्वांचा त्याग करून प्राण जाण्याचा प्रसंग

जरी आला तथापि आत्म्याची शुद्धीच संपादन करितो ;  
तो साधक जाणावा.

कस्य श्रावकत्वेन कस्य च यतित्वेन मोक्षमार्गप्रवृत्तिः कर्त-  
व्येति पृच्छन्तं प्रत्याह—

आतां; यती होऊन मोक्षमार्गाचें साधन कोणीं करावें,  
व श्रावकस्थितींत राहूनच मोक्षमार्गाचें साधन कोणीं करावे?  
असा प्रश्न करणाऱ्यास उत्तर सांगतात.

सामग्रीविधुरस्यैव ।

श्रावकस्यायमिष्यते ॥

विधिः सत्यां तु सामग्र्यां ।

श्रेयसी जिनरूपता ॥ २ ॥

टीका—इष्यते अभिमन्यते पूर्वाचार्यैः । कोऽसावयवमुक्तो  
वक्ष्यमाणश्च विधिः क्रियाकल्पः । कस्य श्रावकस्य । किंविशि-  
ष्टस्य सामग्रीविधुरस्यैव जिनलिङ्गग्रहणायोग्यत्रिस्थानकदोषादियु-  
क्तस्य नान्यस्य । सामग्र्यां तु सत्यां भवति । काऽसौ जिनरूपता  
जिनलिङ्गग्रहणं । किंविशिष्टा श्रेयसी प्रशस्यतरा ॥

अर्थ— हा पूर्वी सांगितलेला व पुढें सांगावयाचा असा  
सर्व क्रियासमूह, ज्याच्या ठिकाणीं यतित्वाला योग्य  
अशी सामग्री ( निर्दोषता ) नसेल त्या श्रावकाकरितां  
आहे, आणि जर सामग्री असेल तर जिनरूपता (यतित्व)  
हीच कल्याणकारक आहे; असें पूर्वाचार्यांचें मत आहे.

जिनलिङ्गस्वीकारकारणमाह—

जिनाचें चिन्ह स्वीकारण्याचें कारण सांगतात.

किञ्चित्कारणमासाद्य ।

विरक्ताः कामभोगतः ॥

त्यक्त्वा सर्वोपधिं धीराः ।

श्रयन्ति जिनरूपताम् ॥ ३ ॥

टीका—श्रयन्ति स्वीकुर्वन्ति । के ते धीराः श्रावकाः परीष-  
होपसर्गसहने बद्धकक्षा । कां जिनरूपतां । किं कृत्वा त्यक्त्वा  
व्युत्सृज्य । कं सर्वोपधिं बाह्याभ्यन्तरसङ्गं । किंविशिष्टाः सन्तः  
विरक्ताः व्यावृत्तचेतसः । काभ्यां कामभोगतः कामः स्पर्शनरसन-  
विषयानुभवः भोगो घ्राणचक्षुःश्रवणविषयानुभवः कामश्च भोगश्च  
कामभोगौ ताभ्यां । किं कृत्वा आसाद्य प्राप्य । किं कारणं ।  
किंविशिष्टं किञ्चित् तत्त्वज्ञानेष्ववियोगशत्रुपराजयादीनामन्यतमम् ॥

अर्थ—सर्वप्रकारचे उपसर्ग व परीषह सोसण्यास  
तयार असलेले थोर पुरुष, तत्त्वज्ञानाच्या प्राप्तीस प्रति-  
बंध होणें, अगर शत्रूपासून आपला पराजय होणें, अशा  
प्रकारचें कांहीं तरी निमित्त प्राप्त झाल्यानें पंचज्ञानेंद्रियां-  
पासून मिळणाऱ्या सुखाविषयीं विरक्त होऊन सर्व  
प्रकारच्या उपार्धींचा त्याग करून जिनलिंगाचा स्वीकार  
करितात.

जिनरूपतास्वीकारमाहात्म्यमाह—

जिनलिंग स्वीकाराचें माहात्म्य सांगतात.

अनादिमिथ्यादृगपि ।

श्रित्वाऽर्हद्रूपतां पुमान् ॥



साम्यं प्रपन्नः स्वं ध्यायन् ।

मुच्यतेऽन्तर्मुहूर्ततः ॥ ४ ॥

टीका—मुच्यते द्रव्यभावकर्मभिः स्वयमेव विश्लिष्यते । कोऽसौ पुमान् द्रव्यतः पुल्लिङ्ग एव । कस्मात् अन्तर्मुहूर्ततः किञ्चिदूननाडीद्रव्यमात्रात् । किं कुर्वन् ध्यायन् समादधानः । कं स्वमात्मानं । किंविशिष्टः सन् प्रपन्नः प्राप्तः । किं तत् साम्यं माध्यस्थ्यं । किं कृत्वा श्रित्वा । कामर्हद्रूपतां निर्गन्धलिङ्गं । किंविशिष्टोऽपि अनादिमिथ्यादृगपि न केवलं सादिमिथ्यादृष्टि-रविरतसम्यग्दृष्टिः श्रावको वेत्यपिशब्दार्थः । उक्तं च— आराध्य चरणमनुपममनादिमिथ्यादृशोऽपि यत्क्षणतः । दृष्टा विमुक्तिभाज-स्ततोऽपि चारित्रमत्रेष्टम् ॥ १ ॥

अर्थ—पहिल्यापासून मिथ्यादृष्टि असलेला असा देखील जीव निर्ग्रंथचिन्हांचा स्वीकार करून सर्वत्र समबुद्धी पावून आत्मचिंतन करूं लागला असतां अंतर्मुहूर्तकालांत मुक्त होतो.

शरीरस्य स्थायिनः पातने पातोन्मुखस्य च शोचने निषेधमुपपादयति—

आतां ; कांहीं कालपर्यंत टिकणाऱ्या शरीराचा मुद्दाम नाश करणें व कालक्रमानें नाश पावूं लागलेल्या शरीरा-वियर्षी शोक करणें ह्या दोन्हींचाही निषेध करितात.

न धर्मसाधनमिति ।

स्थास्तु नाशयं वपुर्बुधैः ॥

न च केनापि नो रक्ष्य- ।

## मिति शोच्यं विनश्वरम् ॥ ५ ॥

टीका—न नाशयं न विश्लेष्यं । किं तद्वपुः शरीरं । कैर्बुधैः तत्त्वज्ञैः । किंविशिष्टं स्थास्तु साधुत्वेन रत्नत्रयानुष्ठानसाधकत्व-लक्षणेन तिष्ठत् । कथं कृत्वा धर्मसाधनमिति रत्नत्रयासिध्युपायो यतः । न च नापि शोच्यं शोचनीयं वपुर्बुधैः । किंविशिष्टं विनश्वरं विशेषेण नश्यत् तद्भवमरणं प्राप्नुवदित्यर्थः । कथं कृत्वा केनापि नो रक्ष्यमिति योगीन्द्रदेवेन्द्रदानवेन्द्रादिनाऽपि रक्षयितु-मशक्यं यतः । उक्तं च— गहनं न शरीरस्य हि विसर्जनं किं तु गहनमिह वृत्तम् ॥ तन्न स्थास्तु विनाशयं न नश्वरं शोच्य-मिदमाहुः ॥ १ ॥

अर्थ— कांहीं कालपर्यंत टिकाऊ असें हे शरीर धर्माचें मुख्य साधन असल्यानें शहाण्या मनुष्यानें त्याचा नाश करूं नये. तसेंच तें नाशोन्मुख झालें असतां तें कोणाच्यानेंही राखितां यावयाचें नाहीं; ह्मणून; त्याकरितां शोकही करूं नये.

कायस्यानुवर्तनोपचरणपरिहरणयोग्यतोपदेशार्थमाह—

देह हा पोषण, उपचार आणि त्याग ह्या तीन्हींसही योग्य आहे, असें सांगतात.

कायः स्वस्थोऽनुवर्त्यः स्यात् ।

प्रतीकार्यश्च रोगितः ॥

उपकारं विपर्यस्यँ- ।

स्त्याज्यः सद्भिः खलो यथा ॥ ६ ॥

टीका—स्यात् कोऽसौ कायः । किंविशिष्टोऽनुवर्त्यः पथ्या-

एवं संयमविनाशहेतुसन्निधाने कायत्यागं समर्थ्येदानीं कालोप-  
सर्गमरणनिर्णयपूर्वकप्रायोपवेशनेन तत्तन्निष्ठासाफल्यविधापनार्थमाह-

ज्ञापमाणे आपण स्वीकारलेल्या व्रताचा नाश होण्याचा  
प्रसंग आला असतां, देहाचा त्याग करण्याचें उपपादन  
करून, आतां; योग्यकाल किंवा रोगादिकांची पीडा  
प्राप्त होऊन ' मी मरणार ' असा निश्चय झाला असतां  
उपोषणादिकानें त्या त्या व्रताची सफलता होते; असें  
दाखविण्याकरितां सांगतात.

कालेन वोपसर्गेण ।

निश्चित्यायुः क्षयोन्मुखम् ॥

कृत्वा यथाविधि प्रायं ॥

तास्ताः सफलयेत्क्रियाः ॥ ९ ॥

टीका—सफलयेत् फलवतीः कुर्यात् साधुः । काः क्रिया-  
भेदाः । किंविशिष्टाः तास्ताः दर्शनिकादिप्रतिमाविषयाः नित्य-  
नैमित्तिकीश्च । किं कृत्वा यथाविधि विधिना । प्रायं सन्यासयु-  
क्तानशनं कृत्वा । किं कृत्वा निश्चित्य सम्यक् निणर्थि । किं  
तदायुर्जीवितं । किंविशिष्टं क्षयोन्मुखं प्रत्यासन्नविनाशं । केन  
कालेन— स्थितिबन्धच्छेदहेतुना समयेन । वा अथवा उपसर्गेण  
दुर्निवाराषकारिरोगशत्रुप्रहारादिलक्षणेन कृच्छ्रेण सुनिश्चिते मरणे ॥

अर्थ— वृद्धपणामुळे अथवा अनिवार्य अशा रोगामुळे  
आपलें जीवित आतां खचित नष्ट होणार असा निश्चय  
झाला असतां सुज्ञभ्रावकानें यथाविधि उपोषण करून पूर्वी  
आपण स्वीकारलेलीं तीं तीं व्रतें सफल करावींत.

स्वाराधनापरिणत्या कायत्यागे मुक्तिः कस्त्वेत्युपदेशार्थमाह—  
आपण स्वीकारलेल्या व्रतांची संपूर्णता करण्यांत देह-  
त्याग झाला असतां ( मरण आले असतां ) मोक्ष आपल्या  
हातांत आहे असा उपदेश करितात.

देहादिवैकृतैः सम्यङ्- ।

निमित्तैस्तु सुनिश्चिते ॥

मृत्यावाराधनामग्न- ।

मतेर्दूरे न तत्पदम् ॥ १० ॥

टीका—नास्ति । किं तदशरीरताप्राप्तिलक्षणं पदं । क दूरे  
विप्रकर्षे । कतिपयभवलभ्यं निर्वाणमित्यर्थः । कस्य आराधना-  
मग्नमतेः निश्चयाराधनापरिणतमनसः पुंसः । क सति मृत्यौ ।  
किंविशिष्टे सुनिश्चिते । कैः देहादिवैकृतैः शरीरसंशीलादिविकृतिभिः  
स्वस्थानुरारिष्टैरित्यर्थः । न केवलं तैः सम्यङ्निमित्तैश्च समीचीन-  
भाविशुभाशुभज्ञानोपायैश्च कर्णपिशाचिकादिविद्याज्योतिषोपश्रुति-  
शकुनादिभिः ॥

अर्थ— देहांत उत्पन्न होणारे अनेक विकार व दुःशकुन  
झांच्या योगाने आपल्यास आतां खचित मृत्यु प्राप्त होणार  
असा निश्चय झाला असतां, आपण स्वीकारलेल्या संय-  
माची सांगता करण्याकडे ज्याचे अंतःकरण गढून गेले आहे  
अशा श्रावकास मोक्षपद दूर नाही !

उपसर्गमरणोपनिपाते प्रायविधिमाह—

रोगादिकानीं ' अकालीं मरण येईल ' असे वाटले  
असतां भोजनत्याग करण्याविषयी सांगतात.

भृशापवर्तकवशात् ।

कदलीघातवत्सकृत् ॥

विरमत्यायुषि प्राय- ।

मविचारं समाचरेत् ॥ ११ ॥

टीका— समाचरेत्सम्यकुर्यान्मुमुक्षुः । किं प्रायं । किंविशिष्टमविचारं विचरणं नानागमनमर्हादिनानाप्रकारप्रवृत्तिपरिणमनं विचारस्तेन रहितं प्रायं भक्तप्रत्याख्यानं सार्वकालिकसंन्यासं शुद्धस्वात्मध्यानपरत्वमित्यर्थः । क सत्यायुषि भवधारणकारणे कर्मणि । किं कुर्वति सकृदक्रमेण विरमत्यपवर्तमाने नश्यति । कस्मात् भृशापवर्तकवशात् आगाढापमृत्युकारणसामर्थ्यात् । किंवत्कदलीघातवत् छिद्यमानकदलीकाण्डे यथा ॥

अर्थ—आपल्यास अपमृत्यु आणणाच्या रोगादि कारणांच्या सामर्थ्यामुळे आपलें आयुष्य कांपलेल्या केळीच्या झाडाप्रमाणें नाश पावणार असें वाटलें असतां कोणत्याही प्रकारचा विचार न करतां भोजनाचा त्याग करावा. ( उपोषण करूं लागारें. )

स्वपाकच्युत्या स्वयं पातोन्मुखे देहे सल्लेखना विधेयेत्युपदिशति— योग्यकालीं देह मरणोन्मुख झाला असतां सल्लेखना करण्याविषयीं उपदेश करितात.

क्रमेण पक्त्वा फलवत् ।

स्वयमेव पतिष्यति ॥

देहे प्रीत्या महासत्त्वः ।

कुर्यात्सल्लेखनाविधिम् ॥ १२ ॥

टीका— कुर्यात्कोऽसौ । महासत्त्वः अनिवार्यधैर्यवीर्यः ।  
कं सल्लेखनाविधि । कया प्रीत्या प्रमोदेन । क सति देहे ।  
किं करिष्यति पतिष्यति विनाशमेप्यति सति । केन स्वयमेव  
कारणान्तरमन्तरेणैव । किं कृत्वा पक्त्वा परिणम्य पतनयोग्यता-  
मासाद्य । केन क्रमेण कालानुपूर्व्या । किंवत्फलवत् वृक्षफलेन  
तुल्यं । पातोन्मुखकायलिंगं यथा— प्रतिदिवसं विजहद्वलमुज्ज-  
द्भुक्ति त्यजत्प्रतीकारं । वपुरेव नृणां निगदति चरमचरित्रोदयं  
समयम् ॥

अर्थ— देह क्रमाने जीर्ण ( वृद्ध ) होऊन जसे एखादे  
फल पिकून झाडावरून आपोआप पडते, त्याप्रमाणे  
पडणार आहे असे वाटल्यास धैर्यशाली श्रावकाने मोठ्या  
संतोषाने सल्लेखनाविधि करावा.

कायनिर्ममत्वभावनाविधिमाह—

‘ शरीर माझे नव्हे , अशा भावनेचा प्रकार सांगतात.

जन्ममृत्युजरातङ्काः ।

कायस्यैव न जातु मे ॥

न च कोऽपि भवत्येष ।

ममेत्यङ्गेऽस्तु निर्ममः ॥ १३ ॥

टीका— अस्तु समाधिमरणार्थी भवतु । किंविशिष्टो निर्ममो  
ममेदमिति सङ्कल्परहितः । क अङ्गे । कथमित्येवं । भवन्ति  
के जन्ममृत्युजरातङ्काः जन्म च मृत्युश्च जरा च आतङ्कश्च ज्वरा-  
दिव्याधिस्ते रोगपुद्गलविवर्तकत्वात्कायस्यैव पुद्गलस्तूपस्य । न  
जातु कदाचिदपि । मे शुद्धचिद्रूपमात्रस्यात्मनः । न च नापि

भवति । कोऽसावेष कायः । किंविशिष्टः कोऽपि कश्चिदुपकर्ता  
अपकर्ता वा । कस्य मनः शुद्धचिदानन्दमयस्य ॥

अर्थ— उत्पत्ति, मरण, जरा व रोगादिकांची पीडा  
हे सर्व विकार देहास होणारे आहेत; मला होत नाहीत.  
तसेच हा देह माझा कोणी नव्हे; ह्याप्रमाणे श्रावकाने  
देहाविषयी निर्ममत्वभावना करावी.

आहारहापनसमयमाह—

भोजनत्याग करण्याचा काल सांगतात.

पिण्डो जात्याऽपि नाम्नाऽपि ।

समो युक्त्याऽपि योजितः ॥

पिण्डोऽस्ति स्वार्थनाशार्थो ।

यदा तं हापयेत्तदा ॥ १४ ॥

टीका— हापयेत्परिचारकादिभिस्त्याजयेत् समाधिमरणोद्यतः ।  
कं तं पिण्डमाहारं । कदा तदा तस्मिन्काले । यदा किं यदा  
पिण्ड आहारोऽस्ति भवति । किंविशिष्टः स्वार्थनाशार्थः आहारस्य  
हि स्वार्थो बलोपचयौजोलक्षणं देहकार्यं, देहस्य च धर्मसिद्धि-  
लक्षणमात्मकार्यं स्वार्थस्य नाशो विनाशोऽर्थः प्रयोजनं फलं  
यस्य स तथोक्तः । किंविशिष्टः समस्तुल्यः । कया जात्या  
पुद्गलत्वलक्षणया । अपिर्विस्मये आश्चर्यं । यत्सजातीयोऽपि  
स्वार्थं नाशयति । तथा नाम्ना सञ्ज्ञयाऽपि समः आहारदेह-  
योरुभयोरपि पिण्डशब्दाभिधेयत्वात् । जातिनामभ्यां साम्येऽपि  
सति विधिव्यतिक्रमे प्रयुक्तः स्वार्थनाशाय स्यादित्यत्राह— युक्त्या  
शास्त्रोक्तविधिना । योजितोऽपि प्रयुक्तोऽपि । क पिण्डे शरीरे ॥

अर्थ— पिंड ( आहार ) हा जातीने ( पुद्गलसमुदायरूपी जातीने ) व नांवाने ( पिंड ह्या नांवाने ) शरीराशीं सदृश असूनही ( शरीर जसे पुद्गलसमुदायरूप आहे, त्याप्रमाणे अन्न हेही पुद्गलसमुदायरूप आहे, व शरीरास जसे पिंड हे नांव आहे तसे अन्नासही पिंड हे नांव आहे. ह्मणून शरीर व अन्न हीं दोन्ही एकमेकांशीं सदृश आहेत ) त्या पिंडाचा ( आहाराचा ) युक्तीने शरीराचे ठिकाणीं उपयोग केला असतां, ज्यावेळीं त्याच्या शक्तीचा न्हास होऊं लागेल, ( तो आहार शरीरांत शक्ति वाढविण्याचें आपलें काम करण्यास असमर्थ होईल ) त्यावेळीं त्याचा ( आहाराचा ) त्याग करावा.

सल्लेखनाविधिपूर्वकं समाधिमरणोद्योगविधिमाह—

सल्लेखनाविधि करून समाधिमरणाचा उद्योग करण्याविषयीं सांगतात.

उपवासादिभिः कायं ।

कषायं च श्रुतामृतैः ॥

संलिख्य गणमध्ये स्यात् ।

समाधिमरणोद्यमी ॥ १५ ॥

टीका— साधकः समाधिमरणोद्यमी गणमध्ये चतुर्विधसङ्घसमक्षे स्यात् । किं कृत्वा संलिख्य सम्यक्कृशीकृत्य । कं कायं । कैरुपवासादिभिरनशनादिबाह्यतपोविशेषैः । कषायं च क्रोधादिकं संलिख्य । कैः श्रुतामृतैः श्रुतज्ञानसुधाभिः ॥

अर्थ— उपवासादिकांच्या योगाने शरीर व श्रुतज्ञानरूपी



अमृताच्या योगानें कषाय ह्या दोहोंस कृश करून चतुर्विध-  
संघासमक्ष श्रावकानें समाधिमरणाबद्दल उद्योग करावा.

मृत्युकाले धर्मविराधनाराधनयोः फलविशेषमाह—

आतां; मरणकालीं धर्माचा त्याग करणें व धर्माचें आच-  
रण करणें ह्यांतील न्यूनाधिक फल कशांत आहे हें सांगतात.

आराद्धोऽपि चिरं धर्मो ।

विराद्धो मरणे मुधा ॥

सत्वाराद्धस्तत्क्षणेऽहः ।

क्षिपत्यपि चिरार्जितम् ॥ १६ ॥

टीका— भवति । कोऽसौ धर्मः । किंविशिष्टो मुधा निष्फलः ।  
किंविशिष्टः सन् विराद्धः अतिवर्तितः । क मरणे मृत्युसमये ।  
किंविशिष्टोऽपि आराद्धोऽपि आराधितोऽपि । कियच्चिरं दीर्घकालं ।  
स तु धर्मस्तत्क्षणे मरणसमये । आराधितो भावितः । क्षिपति  
निराकरोति । किं तदंहः पापं । किंविशिष्टं चिरार्जितमपि असं-  
ख्यातभवकोट्युपार्जितमपि ॥

अर्थ— पुष्कळ कालपर्यंत आचरण केलेला धर्म जर  
मरणकालीं सोडिला तर तो निष्फल होतो; आणि  
त्यावेळीं जर त्याची उपासना केली तर एका क्षणांत अनेक  
जन्मांत संचित केलेलेंही पातक नाहीसें करितो.

चिरकालभावितश्रामण्यस्यापि विराध्य म्रियमाणस्याकीर्तिदु-  
ष्परिपाकां स्वार्थक्षतिं दर्शयति—

पुष्कळ कालपर्यंत धार्मिकपणानें वागणाऱ्यानें शेवटीं  
धर्माचा त्याग करून मेलें असतां दुष्कीर्तीमुळे त्याचा  
स्वार्थनाश होतो असें सांगतात.

नृपस्येव यतेर्धर्मो ।

चिरमभ्यस्तिनोऽस्त्रवत् ॥

युधीव स्खलितो मृत्यौ ।

स्वार्थभ्रंशोऽयशःकटुः ॥ १७ ॥

टीका—भवति । कोऽसौ स्वार्थभ्रंशः स्वाभिमतार्थनाशः । कस्य यतेः । कस्येव नृपस्येव राज्ञो यथा । किंविशिष्टोऽयशः-कटुः अकीर्तिदुःखदः । किं कुर्वतः स्खलतः प्रमाद्यतः । कस्मिन्धर्मे । क मृत्यौ मरणक्षणे । कस्यामिव युधीव युद्धसमये यथा । किंविशिष्टस्य चिरं दीर्घकालं धर्मे अस्त्रवत् शस्त्रे यथा । अभ्यस्तिनः कृताभ्यासस्य । अभ्यस्तपूर्वमनेनेति विगृह्य श्राद्धं मुक्तं ठोऽनेन वेत्यनेन ह्यप्रत्ययः ॥

अर्थ—ज्याने शस्त्रप्रयोगाचा अभ्यास पुष्कळ दिवसपर्यंत केला आहे अशा राजाच्या शस्त्राप्रमाणे सैन्यमी श्रावकाचा धर्म आहे; तेव्हां ते शस्त्र जसे युद्धांत उपयोग करतांना चुकले असता राजाच्या मरणास कारण होऊन त्याची अकीर्ति करते, त्याप्रमाणे सैन्यानेही धर्मत्याग केला असता त्याचा स्वार्थ नष्ट होऊन अकीर्ति होते.

ननु सुभावितमार्गस्यापि कस्यचित्समाधिमरणं न दृश्यते, कस्यचित्पुनरभावितमार्गस्यापि तदुपलभ्यते, तदनासीयमिति वदन्तं प्रति श्लोकद्वयमाह—

आता; ज्याने स्वधर्म चांगल्या रीतीने पाळला त्याला देखील समाधिमरण आलेले दिसत नाही, व ज्याने धर्माचरण केले नाही त्याला समाधिमरण आलेले दिसते; तेव्हां “ समाधिमरणाला धर्माचरण हे कारण आहे ” असे

क्षणणे व्यर्थ आहे. असे क्षणणान्यास पुढील दोन श्लोकांनी उत्तर सांगतात.

सम्यग्भावितमार्गोऽन्ते ।

स्यादेवाराधको यदि ॥

प्रतिरोधि सुदुर्वारं ।

किञ्चिन्नोदेति दुष्कृतम् ॥ १८ ॥

टीका— स्यादेव अवश्यं भवेत् । कोऽसौ सम्यग्भावितमार्गः सम्यक्सम्पूर्णं चिरं भावितोऽभ्यस्तो मार्गो रत्नत्रयं येन स तथोक्तः । किंविशिष्टः स्यात् अन्ते जन्मप्रान्ते आराधकस्तदा । यदि चेन्नोदेति नोद्भवति । किं तत् दुष्कृतं पुराकृतमशुभं कर्म । किंविशिष्टं प्रतिरोधि समाधिप्रतिसखण्डकं । पुनः किंविशिष्टं सुदुर्वारं यत्नशतेनापि प्रतिषेधदुमशक्यं । पुनरपि किंविशिष्टं किञ्चिदनिर्दिष्टनामकं । उक्तं च— मृतिकाले नरा हन्त सन्तोऽपि चिरभाविताः । पतन्ति दर्शनादिभ्यः प्राक्कृताशुभगौरवात् ॥ यात्वभावितमार्गस्य कस्याप्याराधना मृतौ । आराधना रत्नत्रयैकाग्रता स्यात् । अयमन्धनिधिलाभो भाक्तिकेऽनिर्वचनाराधनपरे न विष्टम्भ्यो नाभिनिवेष्टव्योऽत्र दुराग्रहो न कर्तव्यो जिनवचनं प्रमाणीकृत्य समाधिमरणाय प्रयतितव्यमित्यर्थः । उक्तं च— पूर्वमभावितयोग्यो यद्यप्याराधयन्मृतौ काश्चित् ॥ स्थाणौ निधानलाभो निदर्शनं नैव सर्वत्र ॥

अर्थ—ज्याचे निवारण करतां येत नाही आणि क्षणूनच जें समाधीस प्रतिबंध करीत आहे असे कोणतें एखादें अशुभकर्म जर मरणकाली उत्पन्न झालें नाही, तर,

ज्याने रत्नत्रयाचा चांगला अभ्यास केला आहे असा श्रावक, अंतर्कालीं धर्माची उपासना अवश्य करील.

ननु दूरभव्यस्य व्रतं चरतोऽपि न मुक्तिः स्यात्तदलं तद्वी-  
यस्त्वे व्रतयत्नेनेत्यारेकायां समाधत्ते—

आतां, “ ज्याला मुक्ति प्राप्त होण्याला बराच अवकाश  
लागावयाचा आहे अशा श्रावकानें चांगल्या रीतीनें व्रता-  
चरण करूनही त्याला मुक्ति मिळत नाही झणून मुक्ति  
मिळण्याचा काल जर दूर असेल तर व्रत करण्याचे आयास  
व्यर्थ आहेत, तेव्हां ते करण्याचें मुळींच प्रयोजन नाही ”  
अशी शंका ज्याला येते, त्याचें समाधान करितात.

कार्यो मुक्तो दवीयस्या- ।

मपि यत्नः सदा व्रते ॥

वरं स्वः समयाकारो ।

व्रतान्न नरकेऽव्रतात् ॥ १९ ॥

टीका— कार्यः सदा जिनभाक्तिकैः कर्तव्यः । कोऽसौ  
यत्नस्तात्पर्यं । क व्रते । कस्यां सत्यां मुक्तौ निर्वृत्तौ । किंविशि-  
ष्टायां दवीयस्यां दूरतरायां चिरभाविन्यामपि । किं पुनरितरस्यां ।  
अत्रोपपत्तिमाह— वरं भद्रं भवतु । कोऽसौ स्वः स्वर्गे समयाकारः  
मुक्तेरर्वाकालयापना । कस्मात् व्रतात् व्रतानुष्ठानार्जितपुण्यविपा-  
कात् । न वरं कोऽसौ समयाकारः । क नरके नरकदिदुर्गतौ ।  
कस्मादव्रतात् हिंसाद्याचरणार्जितपापविपाकात् ॥

अर्थ—आपल्यास मोक्ष प्राप्त होण्याचा काल जरी दूर  
असला तथापि व्रताचरणाविषयीं सर्वदा यत्न करावा.

कारण, व्रताचरण करून मोक्षप्राप्तीची वाट पहात स्वर्गांत बसणें बरें ! परंतु व्रत न करून नरकांत रहाणें बरें नव्हें

भक्तप्रत्याख्यानयोग्यतामाह--

आतां भोजनाचा त्याग करण्याची योग्यता श्रावकामध्ये केव्हां प्राप्त होते, तें सांगतात.

धर्माय व्याधिदुर्भिक्ष-

जरादौ निष्प्रतिक्रिये ॥

त्यक्तुं वपुः स्वपाकेन ।

तच्च्युतौ वाऽशनं त्यजेत् ॥ २० ॥

टीका—त्यजेत् प्रत्याख्यायात् श्रावको यमी वा । किं तदशनं भक्तं भक्तप्रत्याख्यानं कुर्यादित्यर्थः । किं कर्तुं त्यक्तुं मोक्तुं । किं तद्वपुः शरीरं । कस्मै धर्माय आत्मना सह धर्मं भवान्तरं नेतुं । क सति व्याधिदुर्भिक्षज्वरोपसर्गादौ धर्मध्वंसहेतावुपस्थिते । किंविशिष्टे निष्प्रतिक्रिये प्रतीकाररहिते । तथा स्वपाकेन स्वयं कालक्रमेण परिणम्यायुःक्षये । तच्च्युतौ तस्य वपुषश्चवने । वा शब्दात्घोरोपसर्गादिना च्याव्यमाने च सत्यशनं त्यजेत् । ऐतन शरीरत्यजनच्यवनच्यावनविषयं त्रिविधं भक्तप्रत्याख्यानं मरणमन्वाख्यातं बोद्धव्यम् ॥

अर्थ— दुर्निवार असा व्याधि उत्पन्न झाला असतां, देशांत दुष्काळ पडला असतां व अतिशय वृद्धपणा आला असतां, त्या प्रसंगीं, किंवा कालक्रमानें आपला देह पडण्याचा प्रसंग प्राप्त झाला असतां, धर्माच्या रक्षणाकरितां भोजन सोडावें.

समाधिमरणार्थं शरीरोपस्कारविधिमाह—

समाधिमरण प्राप्त होण्याकरितां जो शरीरसंस्कार करा-  
वयाचा त्याचा प्रकार सांगतात.

अन्नैः पुष्टो मलैर्दुष्टो ।

देहो नान्ते समाधये ॥

तत्कर्ष्यो विधिना साधोः ।

शोध्यश्चायं तदीप्सया ॥ २१ ॥

टीका—न भवति । कोऽसौ देहः । कस्मै समाधये समा-  
ध्यर्थ । क अन्ते मरणसमये । किंविशिष्टो अन्नैराहारैः पुष्ट  
उपचितो । मलैश्च वातपित्तकफैर्दुष्टोऽधिकृतः । यत एवं तत्त-  
स्मात् । कर्ष्यः कृशीकर्तव्योऽयं देहः । कस्य साधोः सिद्धिसाध-  
केनेत्यर्थः । केन विधिना सल्लेखनाविधानेन । शोध्यश्च योग्यवि-  
रेचनवस्तिकर्मादिना निष्काशितजठरमलः कर्तव्यः । कया  
तदीप्सया समाधिवाञ्छया ॥

अर्थ— अन्नांनीं पुष्ट झालेला व वायु, पित्त आणि  
कफ ह्या त्रिदोषांनीं बिघडलेला असा देह अंतर्कालीं  
समाधीच्या उपयोगी पडत नाही; ह्मणून, सदबुद्धि अशा  
श्रावकानें तो देह सल्लेखनाविधीनें कृश करावा. व समा-  
धिमरण प्राप्त व्हावें ह्या इच्छेनेंच जुलाबाचें औषध घेऊन,  
अगर वस्तिकर्म ( पिचकारी मारणें—इनिमा ) करून  
कोठा स्वच्छ करावा.

कषायकर्शनं विना कायकर्शनस्य नैष्फल्यं समर्थयते ॥

कामादि कषाय कमी केल्यावांचून देह कृश करणें व्यर्थ  
आहे असें उपपादन करितात.

सल्लेखनाऽसंलिखतः ।

कषायान्निष्फला तनोः ॥

कायोऽजडैर्दण्डयितुं ।

कषायानेव दण्ड्यते ॥ २२ ॥

टीका — भवति । काऽसौ सल्लेखना कृशीकरणं । कस्यास्तनोः शरीरस्य । किंविशिष्टा निष्फला । किं कुर्वतः असंलिखतः कृशानकुर्वतः साधोः । कान् कषायान् क्रोधादीन् । यतो दंढ्यते परिकृश्यते । कोऽसौ कायः कैरजडैः बुद्धैः । किं कर्तुं दण्डयितुं निगृहीतुं । कान् कषायानेव न रसरक्तादिधातून् ॥

अर्थ— कामक्रोधादि कषाय कमी न करणाच्या श्राव-  
कानें आपल्या शरीरास कृश करणें अगदी व्यर्थ होय !  
कारण, ज्ञाते लोक कषाय कमी करण्याकरितांच देह  
कृश करतात.

आहारदृष्टमनसां कषायदुर्जयत्वं प्रकाश्य भेदज्ञानबलाज्जेतृणां  
जयवादमाह—

आतां; नेहमीं भोजन करण्यानें ज्यांचीं अंतःकरणे  
अनिवार झालीं आहेत, अशा लोकांस कषाय जिकिता  
यावयाचे नाहीत; असें स्पष्ट दाखवून, आत्मा व शरीर  
झांतील भेद ज्यांना समजला आहे त्यांचा उत्कर्ष  
दाखवितात.

अन्धोमदान्धैः प्रायेण ।

कषायाः सन्ति दुर्जयाः ॥

ये तु स्वाङ्गान्तरज्ञाना- ।

त्तान् जयन्ति जयन्ति ते ॥ २३ ॥

टीका—सन्ति भवन्ति । के कषायाः । किंविशिष्टा दुर्जयाः जेतुमशक्याः । कैरन्धोमदाधैः अन्धस आहारस्य मदः क्षीबता आहारकृतो मनोदर्प इत्यर्थः । अन्धोमदेन अन्धाः स्वपरतत्त्वज्ञान-विकलाः अन्धोमदान्धास्तैः । केन प्रायेण बाहुल्येन । कदाचि-द्वैवदुर्योगात्तैरपि कषाया जीयन्ते इत्येवमर्थमेतत् । ये तु ये पुरुषाः । पुनस्तान् कषायान् जयन्ति । कस्मात्स्वाङ्गान्तरज्ञानात् स्व आत्मा अङ्गं देहः स स्वाङ्गं स्वाङ्गे स्वाङ्गयोरन्तरं भेदः स्वाङ्गान्तरं तस्य ज्ञानमहमन्यो देहोऽन्य इति बोधस्तस्मात् ते पुरुषा जयन्ति सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ते । जगदुपरि स्फुरन्तीत्यर्थः ॥

अर्थ— अन्नाच्या मदानें विचारशून्य झालेल्या लोकांस कषाय हे बहुतकरून दुर्जय असतात; आणि ज्यांनीं आत्मा व देह ह्यांतील भेद समजून कषाय जिंकिलेले असतात, ते लोक फारच उत्कर्षशाली होत.

एवं देहाहारत्यागं विधाप्येदानीमीहितत्यागेन स्वात्मसमाधये क्षपकं प्रेरयन्नाह—

आतां; ह्याप्रमाणें देह आणि आहार ह्यांच्या त्यागाचें विधान करून स्वात्मसमाधीकरितां आपल्याला प्रिय असलेल्या पदार्थांचा त्याग करण्याविषयीं श्रावकांची प्रेरणा करितात.

गहनं न तनोर्हानं ।

पुंसः किन्त्वत्र सँयमः ॥



योगानुवृत्तेर्व्यावर्त्य ।

तदात्माऽऽत्मनि युज्यताम् ॥ २४ ॥

टीका— न भवति । किं तत् हानं त्यजनं । कस्यास्तनोः शरीरस्य । किंविशिष्टं गहनं कष्टं दुष्करमित्यर्थः । कस्य पुंसः पुरुषस्य । काभिश्चित्कीभिरपि प्रियविप्रयोगादौ क्रियमाणस्य शरीरस्यजनस्य दृश्यमानत्वात् । किं तु भवति । कोऽसौ संयमः । किंविशिष्टो गहनः । क अत्र तनुहाने क्रियमाणे । यत एवं तत्तस्माद्युज्यतां समाधीयतां क्षपकेण । कोऽसावात्मा कस्मिन्नात्मनि । किं कृत्वा व्यावर्त्य निवर्त्य । कस्या योगानुवृत्तेः मनोवाक्काय-व्यापारानुगमात् । भावतो निजनिजव्यापारेषु मनोवाक्कायान-प्रवर्त्येत्यर्थः ॥

अर्थ—पुरुषाला शरीराचा त्याग करणे हे मुळींच कठीण नाही; कारण, ' कित्येक स्त्रियादेखील आपल्या प्रियाचा वियोग झाला असतां देहत्याग करणाऱ्या दृष्टी पडतात.' परंतु त्या देहत्यागाचे वेळीं संयम असणे हे फार कठीण आहे. म्हणून, श्रावकानें इंद्रियांच्या व्यापारांस अनुसरणे सोडून देऊन अंतःकरण आत्म्याच्या ठिकाणीं योजावें.

यतिद्वयस्य समाधिमरणफलविशेषमभिधत्ते—

आतां; दोन्ही प्रकारच्या संयमींना समाधिमरणानें एक प्रकारचें विशेष फल मिळतें असें सांगतात.

श्रावकः श्रमणो वाऽन्ते ।

कृत्वा योग्यां स्थिराशयः ॥

शुद्धस्वात्मरतः प्राणान् ।

मुक्त्वा स्यादुदितोदितः ॥ २५ ॥

टीका — श्रावकः श्रमणो वा स्यात् । किंविशिष्टः उदितो-  
दितः विविधाद्युताभ्युदयानुभवपूर्वकनिःश्रेयसभागभवेत् । किं कृत्वा  
मुक्त्वा त्यक्त्वा । कान् प्राणान् कथम्भूतः सन् शुद्धस्वात्म-  
रतः निर्मलनिजचिद्रूपलीनः । कथम्भूतो भूत्वा स्थिराशयः  
निश्चलचित्तः । क अन्ते प्रत्यासन्ने मरणे । किं कृत्वा कृत्वा ।  
कां योग्यां प्रायार्थीत्यादिना प्रबन्धेन वक्ष्यमाणं परिकर्म ॥

अर्थ—ज्याचें अंतःकरण स्थिर आहे असा श्रावक  
असो, अथवा श्रमण असो; त्यानें अंतर्कालीं अंतःकरण  
प्रसन्न ठेऊन शुद्ध आत्मस्वरूपांत गहून प्राणत्याग केल्यानें  
तो मोक्षसुखाचा अनुभव घेणारा होतो.

निर्यापकबलाद्भावितात्मनः समाधिमरणेऽन्तरायाभावं दर्शयति—

आतां; सर्वसंगपरित्यागाच्या सामर्थ्यानें ज्यानें आत्म-  
भावना केली आहे अशा श्रावकास समाधिमरणकालीं  
कोणतेही विघ्न येत नाहीं असें सांगतात.

समाधिसाधनचणे ।

गणेशे च गणे च न ॥

दुर्देवेनापि सुकरः ।

प्रत्यूहो भावितात्मनः ॥ २६ ॥

टीका— न भवति । कोऽसौ प्रत्यूहो विघ्नः । किंविशिष्टः  
सुकरः सुखेन कर्तुं शक्यः । केन दुर्देवेन प्राकृताशुभकर्मणा ।  
किं पुनः प्रतिपक्षादिनेत्यपिशब्दार्थः । कस्य भावितात्मनः  
भावितात्मानं समाधेश्चालयितुं दुर्देवमपि न शक्नोतीत्यर्थः ।  
क सति गणेशे निर्यापकाचार्ये च । गणे च सङ्गे । किंविशिष्टे

समाधिसाधनचणे समाधे रत्नत्रयैकाग्रतायाः साधनं सम्पादनं तेन वित्ते अनेकशः क्षपकाणां समाधिसाधनेन प्रसिद्ध इत्यर्थः ॥

अर्थ—निर्यापकाचार्य ( गणधरमुनि ) व संघमुनि हे चित्ताची एकाग्रता होण्याचें साधन जें रत्नत्रय त्यानें युक्त असे असल्यावर मग कोणत्याही आत्मभावना करणाऱ्याला त्याच्या दुर्दैवानें देखील समाधीपासून चलित करण्यास विघ्नें समर्थ होत नाहींत.

श्लोकद्वयेन समाधिमरणमाहात्म्यं स्तुवन्नाह—

आतां ; पुढील दोन श्लोकांनीं समाधिमरणाच्या माहात्म्याची स्तुति करितात.

प्राग्जन्तुनाऽमुनाऽनन्ताः ।

प्राप्तास्तद्भवमृत्यवः ॥

समाधिपुण्यो न परं ।

परमश्चरमक्षणः ॥ २७ ॥

टीका—प्राप्ताः । के तद्भवमृत्यवः भवान्तरप्राप्तेरनन्तरोप-  
श्लिष्टपूर्वभवविगमनं तद्भवमरणमाख्यायते । कियन्तोऽनन्ताः ।  
केन अमुना संसारिणा । जन्तुना जीवेन । कथं प्राक् इतः पूर्वं ।  
परं केवलं न प्राप्तः । कोऽसौ चरमक्षणः भवपर्यायविगमान्त्यस-  
मयः । किंविशिष्टः समाधिपुण्यः रत्नत्रयैकाग्रतया पवित्रः ।  
संसारकारणकर्मनिर्मूलनसमर्थत्वात्परमः इतरसर्वक्षणेभ्य उत्कृष्टश्च ॥

अर्थ—ह्या मनुष्यप्राण्यानें त्याला समाधिमरण प्राप्त होण्याच्या पूर्वी त्या त्या जन्मांतील अनेक मृत्यु उपभोगि-  
ले ; परंतु रत्नत्रयाच्यायोगानें अंतःकरणास प्राप्त झालेल्या

एकाग्रतेमुल्लेखे पवित्र असा व ज्यापुढें पुनः जन्म व्हावयाचें नाहीं असा शेवटचा क्षण उपभोगिला नाहीं. तात्पर्य, प्राण्याला अनेकवेळां मरण जरी प्राप्त झालें होतें; तथापि त्यानें संसाराला कारणीभूत असणाऱ्या कर्माचा नाश करण्यास समर्थ असें समाधिमरण मिळविलें नाहीं.

परं शंसन्ति माहात्म्यं ।

सर्वज्ञाश्चरमक्षणे ॥

यस्मिन्समाहिता भव्या ।

भञ्जन्ति भवपञ्जरम् ॥ २८ ॥

टीका—परमुत्कृष्टं । माहात्म्यं महिमानं । सर्वज्ञाः शंसन्ति स्तुवन्ति । क चरमक्षणे । यस्मिन् यत्र चरमक्षणे । समाहिताः समाधिं गता भव्याः । भञ्जन्ति विघटयन्ति । किं तत् भवपञ्जरं भवः संसारः पञ्जरमिव शुकादिपक्षिण इव जीवस्य पारतन्त्र्यनिमित्तत्वात् ॥

अर्थ—ज्या शेवटच्या क्षणीं समाधियुक्त असलेले भव्य-जीव हा संसाररूपी पिंजरा मोडून टाकितात, त्या शेवटच्या क्षणाचें माहात्म्य सर्वज्ञमुनि फारच वर्णन करितात.

संन्यासार्थं क्षेत्रविशेषस्वीकारमाह—

संन्यासाकरितां स्थलविशेषाचा स्वीकार करावयास सांगतात.

प्रायार्थी जिनजन्मादि ।

स्थानं परमपावनम् ॥

आश्रयेत्तदलाभे तु ।

योग्यमर्हद्गृहादिकम् ॥ २९ ॥

टीका—आश्रयेदुपसर्पेत । कोऽसौ प्रायार्थी संन्यासानशन-  
कामः । किं तत् जिनजन्मादि स्थानं । किंविशिष्टं परमपावनं  
परं पवित्रीकरणं । तत्र जन्मस्थानं वृषभनाथस्यायोद्धृष्टा । निष्क्र-  
मणस्थानं सिद्धार्थवनं । ज्ञानस्थानं शकटमुखोद्यानं । निर्वाण-  
स्थानं कैलासः । एवमन्येषामपि जन्मादिस्थानानि यथागमम-  
धिगम्यानि । तदलाभे तु तस्याप्राप्तौ । पुनराश्रयेदसौ । किं तत्  
आर्हद्गृहादिकं जिनचैत्यालयसंयताश्रमादिकं । किंविशिष्टं योग्यं  
समाधिसाधनसमर्थम् ॥

अर्थ—संन्यास करून आहारत्याग करण्याची इच्छा  
करणाऱ्या भव्यश्रावकानें श्रीजिनेंद्राचे जन्मादि महोत्सव  
च्या ठिकाणीं झाले आहेत अशा अत्यन्त पवित्रस्थानाचा  
आश्रय करावा. श्राणि तसें स्थान जर न मिळेल तर  
समाधीचें साधन होण्याला योग्य अशा जिनमंदिराचा  
आश्रय करावा.

तीर्थम्प्रति चलितस्यावान्तरमार्गेऽपि मृतस्याराधकत्वं दर्शयति—

आतां ; तीर्थयात्रा करीत असतां मार्गांत एकादा मृत्यु  
पावला असतां तो धर्माची उपासना करणारा होतो,  
असें दाखवितात.

प्रस्थितो यदि तीर्थीय ।

म्रियतेऽवान्तरे तदा ॥

अस्त्येवाराधको यस्मा- ।

द्भावना भवनाशिनी ॥ ३० ॥

टीका—यदि प्रियते समाध्यर्थी । क अवान्तरे स्वस्थानती-  
र्थस्थानयोरन्तराले । उपलक्षणमेतत् । तेन निर्यापकाचार्यमरणम-  
प्याराधकं स्यादेव । किंविशिष्टः सन् पश्चितः गन्तुमारब्धः ।  
कस्मै तीर्थाय जिनजन्मादिस्थानाय निर्यापकाचार्याय वा । तदा  
अस्त्येव अवश्यं भवत्यसौ । किंविशिष्टः आराधकः । यस्मात्का-  
रणाद्भवति । काऽसौ भावना समाधिसाधनप्रणिधानं । किंविशिष्टा  
भवनाशिनी संसारनिरसनी ॥

अर्थ— श्रीजिनाचे जन्मादिमहोत्सव ज्या ठिकाणी झाले  
आहेत अशा पवित्रस्थानीं जावयाकरितां निघालेला भव्य  
श्रावक जर मध्येच मार्गीत मृत्यु पावला, तर तो धर्मोपा-  
सकच होतो. कारण, समाधिसाधनाविषयी एकाग्र  
अंतःकरणानें होणारी जी प्रवृत्ति, तीच संसाराचा  
नाश करिते.

तीर्थे गमिष्यन् क्षमापनं क्षमणं च कुर्यादित्युपदिशति—

तीर्थांला जाणाऱ्यांनीं दुसऱ्यास क्षमा करावी व आप-  
णही दुसऱ्याकडे क्षमा मागावी असें सांगतात.

रागात् द्वेषान्ममत्वाद्वा ।

यो विराद्धो विराधकः ॥

यश्च तं क्षमयेत्तस्मै ।

क्षाम्येच्च त्रिविधेन सः ॥ ३१ ॥

टीका—क्षमयेत् क्षमां कारयेत्सः तीर्थे जिगमिषुः । कं तं ।  
यः किं यो विराद्धो दुःखे स्थापितः । कस्मात् रागात् स्नेहात्  
द्वेषात् क्रोधात् ममत्वात् ममकाराद्वा । यश्च रागादेर्विराधकः

स्वस्य वैमनस्योत्पादकः सम्पन्नस्तस्मै । क्षाम्येच्च क्षमां कुर्यात्सः ।  
केन त्रिविधेन मनोवाक्यायेन ॥

अर्थ— स्नेहामुल्ले, क्रोधामुल्ले अथवा ममत्वामुल्ले ज्यास  
आपण दुःख दिलें असेल त्याजकडे क्षमा मागावी. आणि  
ज्याने आपणास दुःख दिलें असेल त्यासही आपण मनानें,  
वाणीने व शरीरानें क्षमा करावी.

क्षमणकरणाकरणयोः फलमाह—

क्षमा करणे व न करणे ह्यांतील फलभेद सांगतात.

तीर्णो भवार्णवस्तैर्ये ।

क्षाम्यन्ति क्षमयन्ति च ॥

क्षाम्यन्ति न क्षमयतां ।

ये ते दीर्घाजवञ्जवाः ॥ ३२ ॥

टीका—तैः पुम्भिः । तीर्णो लङ्घितः । कोऽसौ भवार्णवः  
संसारान्निः । ये किं ये क्षाम्यन्ति विराधकाय क्षमां कुर्वन्ति ।  
ये च क्षमयन्ति विराद्धं क्षमां कारयन्ति । ये पुनः न क्षाम्यन्ति ।  
केषां क्षमयतां क्षमां कारयतां । ते भवन्ति किंविशिष्टा दीर्घाज-  
वञ्जवाः चिरसंसाराः ॥

अर्थ— जे पुरुष दुसऱ्याच्या अपराधाची क्षमा करितात  
व आपण केलेल्या अपराधाची दुसऱ्याजवळ क्षमा मागतात  
ते ह्या संसारसमुद्रास तरून जातात. आणि जे दुसऱ्याने  
क्षमा मागितली असतां क्षमा करीत नाहीत ; ते चिरकाळ-  
पर्यंत संसारदुःख भोगितात.

क्षपकस्यालोचनाविधिमाह—

आतां; क्षपकाचा आलोचनाविधि ( आपली पातकें कबूल करण्याचा विधि ) सांगतात.

योग्यायां वसतौ काले ।

स्वागः सर्वं स सूरये ॥

निवेद्य शोधितस्तेन ।

निःशल्यो विहरेत्पथि ॥ ३३ ॥

टीका—विहरेत् प्रवर्तेत । कोऽसौ सः क्षपकः । क पथि रत्नत्रये । किंविशिष्टः सन् निःशल्यो मायादिशल्यरहितः । कथम्भूतो भूत्वा शोधितः प्रतिक्रमणेन प्रायश्चित्तादिविधिना निष्कासितदोषः । केन कर्त्रा । किं कृत्वा निवेद्य आलोच्य । किं तत्स्वागः आत्मनो व्रतादावतीचारं । किंविशिष्टं सर्वं । कस्मै सूरये निर्यापकाचार्याय । क वसतौ स्थाने । किंविशिष्टायां योग्यायां आलोचनोचितायां । तथा कालेऽपि योग्ये ॥

अर्थ— योग्य स्थलीं व योग्य समर्थी आपलें सर्व पाप निर्यापकाचार्यास कळवून, त्याजकडून प्रायश्चित्तादिकांनीं पवित्रता संपादन करून त्या क्षपकानें दुष्टहेतु सोडून देऊन रत्नत्रय संपादनाच्या मार्गात यथेच्छ विहार करावा. ( रत्नत्रयाचें मोठ्या काळजीनें संपादन करावें. )

संस्तरारोहणविधिमाह—

त्याच्याच संस्तरारोहाचा ( शय्यारोहणाचा ) विधि सांगतात.

विशुद्धिसुधया सिक्तः ।

स यथोक्तं समाधये ॥



प्रागुदग्वा शिरः कृत्वा ।

स्वस्थः संस्तरमाश्रयेत् ॥ ३४ ॥

टीका— आश्रयेत् आरोहयेत्सः । कं संस्तरं । किंविशिष्टं यथोक्तं येन प्रकारेणागमे कथितं । कस्मै समाधये समाधिनिमित्तं । किंविशिष्टः सन् स्वस्थः निर्व्याक्षेपः । किं कृत्वा कृत्वा । किं तच्छिरः शीर्षं । क प्राक् पूर्वस्यां दिशि । उदग्वा उत्तरस्यां । कथम्भूतो भूत्वा सिक्तो निर्वापितः । कया विशुद्धिसुधया विशुद्धिर्मनःशरीरनैर्मल्यं प्रायश्चित्तविधानं वा सैव सुधा अमृतं तथा ॥

अर्थ— प्रायश्चित्ताने प्राप्त झालेल्या शुद्धिरूपी अमृताने न्हालेल्या अशा त्या क्षपकाने शास्त्रांत सांगितलेल्या विधीप्रमाणे केलेल्या संस्तराचा पूर्वेकडे अथवा उत्तरेकडे मस्तक करून समाधीच्या प्राप्तीकरिता आश्रय करावा.

संस्तरारोहणकाले महाव्रतमर्थयमानस्यार्यस्याचेलक्यलिङ्गविधानार्थमाह—

आतां संस्तरारोहणाच्या वेळीं महाव्रताची इच्छा करणाऱ्यांस अचेलक्यलिङ्ग (नग्नपणा) देण्याविषयी सांगतात.

त्रिस्थानदोषयुक्ताया- ।

प्यापवादिकलिङ्गिने ॥

महाव्रतार्थिने दद्या- ।

छिद्रमौत्सर्गिकं तदा ॥ ३५ ॥

टीका— दद्याद्वितरेत् निर्यापकाचार्यः । किं तल्लिङ्गं अचेलक्यादि चतुर्विधं । किंविशिष्टमौत्सर्गिकं उत्सर्गे सकलपरिग्रहत्यागे भवं नाग्न्यमित्यर्थः । क तदा संस्तरारोहणकाले । कस्मै आपवा-

दिकलिङ्गिने समग्रथालिङ्गाय आर्यायेत्यर्थः । किंविशिष्टाय त्रिस्थान-  
दोषयुक्तायापि त्रिस्थानेषु दोषो वृषणयोः कुरण्डलातिलम्बमानत्वा-  
दिर्मेहने च चर्मरहितत्वातिदीर्घत्वासकृदुत्थानशीलत्वादिस्तेन सहिता-  
यापि । पुनः किंविशिष्टाय महाव्रतार्थिने महाव्रतं याचमानाय ॥

अर्थ— त्या वेळीं ( संस्तरारोहणाच्या प्रसंगी )  
ज्याच्या तिन्ही ठिकाणीं दोष आहेत व जो सग्रंथ श्राव-  
काचेंच चिन्ह धारण करीत आहे असा श्रावक देखील जर  
महाव्रताची इच्छा करणारा असेल तर त्याला निर्यापका-  
चार्याने स्वाभाविकचिन्ह ( उत्पत्तीपासून असलेला नग्न-  
पणारूपी चिन्ह ) द्यावें. [ ह्या श्लोकांत 'ज्याच्या  
तिन्ही ठिकाणीं दोष आहेत अशा श्रावकासही नग्नपणाचें  
चिन्ह द्यावें' असे सांगितलें आहे. अर्थात् ते दोष  
देण्यास प्रतिबंधक असेच असले पाहिजेत. आणि ह्यावरून  
ते दोष गुह्यस्थानासंबंधीच असणें अवश्य आहे इतकें  
वाचकांच्या सहज लक्षांत येणें शक्य आहे; आतां ते  
कोणते एवढाच प्रश्न आहे. ह्याचें निर्वचन टीकाकारांनीं  
केलें आहे, तें असें—दोषांची तीन स्थाने स्मरणजे दोन  
वृषण व एक गुह्य हीं होत. ह्यांतील पहिल्या दोनस्थलीं  
अधिक लंबमानता हा पुरुषास नग्नता स्वीकारण्यास व  
देण्यास प्रतिबंधकदोष आहे. आणि दुसऱ्या स्थानीं  
अग्रभागीं चर्म नसणें, दीर्घता असणें व त्या इंद्रियाचें  
वारंवार स्फुरण होणें हा दोष आहे, आणि तो त्यास  
दिगंबराचें चिन्ह देण्यास प्रतिबंधक आहे; असें समजावें. ]

उत्कृष्टस्यापि श्रावकम्योपचरितायापि महाव्रतायाप्रभुत्वमाह—

आतां उत्तमश्रावकदेखील महाव्रत घेण्यास अधिकारी  
नाहीं असे सांगतात.

कौपीनेऽपि समूर्च्छत्वा- ।

नार्हत्यार्यो महाव्रतम् ॥

अपि भाक्तममूर्च्छत्वात् ।

साटकेऽप्यार्यिकाऽर्हति ॥ ३६ ॥

टीका—नार्हति न गृहीतुमुचितो भवति । कोऽसावार्यः पर-  
मोत्कृष्टश्रावकः । किं तन्महाव्रतं । किंविशिष्टमपि भाक्तमुपचरि-  
तमपि । कुतः समूर्च्छत्वान्ममेदमितिग्रहाविष्टत्वात् । क कौपीने  
गुणप्रच्छादनवस्त्रखण्डमात्रे । अपिर्विस्मये । आर्यिका पुनरर्हति ।  
भाक्तमेव महाव्रतं । कस्मादमूर्च्छत्वात् । क साटकेऽपि । संस्त-  
रारोहणकालादन्यदातनमेतद्विधानं प्रसङ्गादन्वाख्यातम् ॥

अर्थ— उत्कृष्टश्रावकसुद्धां कौपीनाविषयीं “ हें माझे  
आहे ” असा मोह धारण करीत असल्याने, गौणमहाव्रत  
घेण्यासही योग्य होत नाही; आणि आर्यिका ही— तिने  
वस्त्रधारण अवश्य केलेंच पाहिजे असे शास्त्रांत सांगितलें  
असल्यामुळे ती वस्त्राविषयीं मोहयुक्त नसल्याने—गौणमहाव्रत  
घेण्यास योग्य आहे. [ ह्या श्लोकांतील गौणमहाव्रत  
घेण्याविषयीं कोण योग्य नाही व कोण योग्य आहे  
ह्याबद्दल जें सांगितलें आहे, तें संस्तरारोहणकालावांचून  
इतर कालीं समजणेचें आहे. ह्यावरून संस्तरारोहणकालीं  
वर दाखविलेला मोह ( हें कौपीन माझे आहे असा मोह )  
असलेल्या श्रावकासही गौणमहाव्रत घेण्याची योग्यता  
आहे, हें स्पष्ट होतें. ह्यांत ‘ गौणमहाव्रत ’ असा जो

शङ्क आहे त्याचें तात्पर्य असें आहे कीं, संस्तरारोह करण्यास प्रवृत्त झालेला श्रावक अत्यंत क्षीणशक्ति असल्याने त्याच्या हातून कोणतेंच व्रत पूर्णपणें होणें नाहीं; तथापि अशा कठिणप्रसंगीं केवळ भावनेनें देखील व्रताची पूर्ति होत असल्यानें तशा प्रकारच्या व्रतास 'गौणव्रत' समजावें. ]

प्रशस्तमुष्कमेहनस्य सर्वस्य सर्वत्र प्रशस्तमौत्सर्गिकमपवदन्नाह—

आतां दिगंबर दीक्षा घेण्यास प्रतिबंधक असे वर सांगितलेले तीन दोष ज्याचे ठिकाणीं आहेत अशा श्रावकानें, आणि वरील दोषाहून निराळे दोष ज्याचे ठिकाणीं आहेत अशा श्रावकानें सर्वत्र अनिद्य असलेल्या अशाही नग्नपणाचा स्वीकार करूं नये असा निषेध करितात.

ऱ्हीमान्महर्द्धिको यो वा ।

मिथ्यात्वप्रायबान्धवः ॥

सोऽविविक्ते पदे नाग्न्यं ॥

शस्तलिङ्गोऽपि नार्हति ॥ ३७ ॥

टीका—स श्रावको नार्हति । किं तन्नाग्न्यं नमस्त्वं । क पदे स्थाने । किंविशिष्टे अविविक्ते बहुजने । एकान्तस्थाने सोऽप्यर्हतीत्यर्थः । किंविशिष्टोऽपि शस्तलिङ्गोऽपि लिङ्गं पुंस्त्वचिन्हं मुष्कमेहनमित्यर्थः शस्तं प्रशस्तं प्रागुक्तदोषवियुक्तं लिङ्गं यस्य स शस्तलिङ्गः । यः किं यो ऱ्हीमान् । लज्जावान् । महर्द्धिकः श्रीमान् । मिथ्यात्वप्रायबान्धवो वा भवति । मिथ्यात्वं प्रायेण बाहुल्येन येषां ते मिथ्यात्वप्राया बान्धवा ज्ञातव्यो यस्य स तथोक्तः ॥

अर्थ— जो लाजाळू असेल, किंवा जो संपत्तिमान् असेल, अथवा ज्याची आप्त, इष्ट, मित्र वगैरे मंडळी मिथ्यात्वी असतील आणि ज्याच्या जननेंद्रियांत वरील तीन दोष असतील असा श्रावक, जनसमूहानें युक्त अशा प्रदेशांत नग्नपणाचें व्रत घेण्यास योग्य नाहीं. ह्मणजे त्यानें नग्नत्व स्वीकारूं नये.

संस्तरारोहणसमये स्त्रिया लिङ्गविकल्पमतिदिशन्नाह—

संस्तरारोहणकालीं स्त्रियांनीं लिंगधारण करण्याविषयीं सांगतात.

यदौत्सर्गिकमन्यद्वा ।

लिङ्गमुक्तं जिनैः स्त्रियाः ॥

पुंवत्तदिष्यते मृत्यु- ।

काले स्वल्पीकृतोपधेः ॥ ३८ ॥

टीका—यलिङ्गमौत्सर्गिकमन्यद्वा पदादिकं स्त्रिया जिनैरुक्तं तन्मृत्युकाले तस्याः स्वल्पीकृतोपधेः विविक्तवसत्यादिसम्पत्तौ सत्यां वस्त्रमात्रमपि त्यक्तवत्याः श्रुतज्ञैरिष्यते अभिमन्यते । कस्येव पुंवत् । अयमर्थः पुंसो यदौत्सर्गिकलिंगस्य मृत्यावौत्सर्गिकमेव लिंगमिष्यते आपवादिकलिंगस्य चानंतरमेव व्याख्यातप्रकारं, तदा योषितोऽपि ॥

अर्थ— जिनेंद्रांनीं नग्नपणा अथवा दुसरें जें कोणतेंही लिंग पुरुषांनीं धारण करण्याबद्दल सांगितलें असेल, तें लिंग, जिच्या सर्व उपाधि नष्ट झाल्या आहेत अशा स्त्रीनेंही मृत्युसमयीं स्वीकारण्यास हरकत नाहीं; असें शास्त्रज्ञ मुनींसंमत आहे.

मुमुक्षोर्लिङ्गग्रहत्यागेन स्वद्रव्यग्रहपरत्वमुपदिशति—

आतां ; मुक्त होण्याची इच्छा करणाऱ्या श्रावकानें सर्व  
लिङ्गांचा अभिमान सोडून आत्मचिंतन करावें असें  
सांगतात.

देह एव भवो जन्तो- ।

र्यल्लिङ्गं च तदाश्रितम् ॥

जातिवत्तद्ग्रहं तत्र ।

त्यक्त्वा स्वात्मग्रहं विशेत् ॥ ३९ ॥

टीका—यद्यस्माज्जन्तोर्जीवस्य भवः संसारो भवति । कोऽसौ  
देह एव न क्षेत्रादिकं । यच्च लिङ्गं नाग्न्यादिकं भवति । किंवि-  
शिष्टं तदाश्रितं देहसंबन्धि । किंवत् जातिवत् ब्राह्मणत्वादिजाति-  
र्यथा । तत्तस्मात्तत्र लिङ्गे । जाताविव ग्रहमभिनिवेशं त्यक्त्वा  
विशेत् प्रविशेत् क्षपकः । कं स्वात्मग्रहं स्वशुद्धचिद्रूपनिबन्धं ॥

अर्थ—जीवास देह प्राप्त होणें ह्यासच संसार असें  
ह्मणतात; ह्मणून, ब्राह्मणत्व वगैरे जाति जशा देहास  
आश्रय करून असतात त्याप्रमाणें देहाचा आश्रय करून  
असलेलें नग्नत्व वगैरे जें लिङ्ग त्याबद्दलचा आग्रह मृत्युकालीं  
सोडून देऊन त्यानें आत्मचिंतन करण्यांत निमग्न व्हावें.

परद्रव्यग्रहस्य बन्धहेतुत्वात्तत्प्रातिपक्षभावनामुपदिशति—

आत्मद्रव्याहून भिन्न असें जें देहरूपी द्रव्य, त्याचें  
ग्रहण केल्यानें बंध होतो. ह्मणून त्याविरुद्ध भावना कर-  
ण्याविषयीं उपदेश करितात.

परद्रव्यग्रहेणैव ।

यद्वद्धोऽनादिचेतनः ॥

तत्स्वद्रव्यग्रहेणैव ।

मोक्ष्यतेऽतस्तमावहेत् ॥ ४० ॥

टीका—यद्यस्मात् । आत्मा परद्रव्यस्य शरीरादेर्ग्रहेण निर्वन्धेनैवानादिबद्धो ज्ञानावरणादिकर्मपारतन्व्यमापन्नः । तत्तस्मात्स्वद्रव्यग्रहेणैव शुद्धस्वात्माभिनिवेशेनैव । मोक्ष्यते मुक्तो भविष्यति । यत एवं तत एतस्मात्काणात् । तं स्वदेहग्रहमावहेत्कुर्यान्मुमुक्षुः ॥

अर्थ—ज्याकरितां अनादि व ज्ञानरूप असा हा आत्मा आपल्याहून भिन्नद्रव्य जें शरीर त्याच्या ग्रहणामुळेच बद्ध झाला आहे; त्याकरितां तो त्या परद्रव्याचा त्याग करून स्वचिंतन करण्यानेच मुक्त होईल. ह्मणून जीवानें आत्मचिंतन करावें.

शुद्धिविवेकप्राप्तिपूर्वकं समाधिमरणं प्रणौति—

आतां; समाधीनें शुद्धता व विवेक प्राप्त होतात असें दाखवून समाधिमरणार्ची प्रशंसा करितात.

अलब्धपूर्व किं तेन ।

न लब्धं येन जीवितम् ॥

त्यक्तं समाधिना शुद्धि ।

विवेकं चाप्य पञ्चधा ॥ ४१ ॥

टीका—तेन महाभव्येन । किमलब्धपूर्वमनादिकालमप्राप्तं सम्यक्त्वसहचारि महाभ्युदयादिकं न लब्धं? तत्सर्वं प्राप्तमित्यर्थः । येन जीवितं समाधिना रत्नत्रयैकाग्रतया त्यक्तं । किं

कृत्वा पञ्चधा पञ्चप्रकारां शुद्धिं पञ्चप्रकारं च विवेकमाप्य प्राप्य ॥

अर्थ— ज्ञाने समाधीच्या योगाने पांच प्रकारची शुद्धि व पांच प्रकारचा विवेक मिळवून आपल्या जीविताचा त्याग केला, त्याने पूर्वी आपल्यास न मिळालेलं असे काय बरे मिळविले नाही? अर्थात् सर्व मिळविले.

बहिरंगान्तरंगविषयभेदात्पञ्चविधां शुद्धिमाह—

बहिरंग व अंतरंग अशा विषयांच्या भेदामुळे पांच प्रकारची शुद्धि सांगतात.

शय्योपध्यालोचनान्न- ।

वैयावृत्येषु पञ्चधा ॥

शुद्धिः स्यात् दृष्टिधीवृत्त- ।

विनयावश्यकेषु वा ॥ ४२ ॥

टीका—स्यादसौ शुद्धिः । कतिधा पञ्चधा । केषु शय्यादिषु विषयेषु । तत्र शय्या वसतिसंस्तरौ । उपधिः संयमसाधनं । आलोचना गुरवे दोषनिवेदनं । अन्नं चतुर्विधाहाराः । वैयावृत्यं परिचारकैः क्रियमाणं पादमर्दनादिकं । तेषु पञ्चसु शुद्धिः प्राणेन्द्रियसंयमेन प्रवृत्तिरेषा बाह्या । इयं त्वन्तरङ्गा पञ्चधा शुद्धिः स्यात् । याऽसौ दृष्ट्यादिषु पंचसु । दृष्टौ दर्शने धियां ज्ञाने, वृत्ते चारित्र्ये, विनये प्रश्रये, आवश्यके सामयिकादिषु द्वाकाचरणे च निरतिचारतया प्रवृत्तिः ॥

अर्थ— शय्या ( रहाण्याचें स्थान, किंवा संस्तर ) उपधि ( संयमाची साधने ) आलोचना ( गुरुजवळ आपले दोष सांगणे ) अन्न व वैयावृत्य ( सेवकादिकांकडून पाय रगडून



घेणें वगैरे कृत्य ) ह्या प्रत्येकाची जी शुद्धि ती बहिरंग शुद्धि होय; ती शय्या वगैरे विषय पांच असल्यानें पांच प्रकारची समजावी. आणि दर्शनशुद्धि, ज्ञानशुद्धि, चारित्रशुद्धि, विनयशुद्धि आणि अवश्य करणेचीं जीं सामायिकादि कर्में त्यांची शुद्धि, ही अंतरंगशुद्धि होय. तीही ते दर्शनादि विषय पांच असल्यानें पांच प्रकारची समजावी.

शुद्धिवन्मतद्वयेन पञ्चधा विवेकमाह—

पांच प्रकारचा विवेक सांगतात.

विवेकोऽक्षकषायाङ्ग- ।

भक्तोपधिषु पञ्चधा ॥

स्याच्छय्योषधिकायान्न- ।

वैयावृत्यकरेषु वा ॥ ४३ ॥

टीका— विवेकः आत्मनः पृथग्भावः साध्यवसायः पञ्चधा स्यात् । केषु अक्षादिषु विषयेषु । तत्रेन्द्रियेभ्यः कषायेभ्यश्चात्मनः पृथक्चिन्तनं द्विविधो भावविवेकः । द्रव्यविवेकस्तु शरीराहारसंयमोपकरणेभ्यः स्वस्य पृथक्चिन्तनेन त्रिविधः । तमेव मतान्तरेणाह— शय्येत्यादि शय्यादयः प्राग्व्याख्याताः तेभ्यः पृथक्चिन्तनेन कैश्चिद्विवेकः पञ्चधोक्तः ॥

अर्थ— विवेक म्हणजे आत्मा हा इंद्रियें, कषाय, शरीर, अन्न आणि संयमाचीं साधनें ह्यांतील प्रत्येकाहून पृथक् आहे असा निश्चयात्मक विचार होय. किंवा शय्या, संयमाचीं साधनें, शरीर, अन्न आणि वैयावृत्य करणारे ह्यांच्याहून आत्मा निराळा आहे असा विचार होय. ह्या

दोन्ही तन्हेच्या विचारांतील विषय पांच पांच असल्याने तो विचारही पांच प्रकारचा समजावा.

निश्चेलसचेलयोर्महाव्रतभावनाविशेषमाह—

दिगंबर व सवस्त्र अशा दोन प्रकारच्या श्रावकांनी करावयाच्या महाव्रतभावनेंतील फलाचा न्यूनाधिकभाव सांगतात.

निर्यापके समर्प्य स्वं ।

भक्त्यारोप्य महाव्रतम् ॥

निश्चेलो भावयेदन्य- ।

स्त्वनारोपितमेव तत् ॥ ४४ ॥

टीका— भावयेद्भूयो भूयो मनसि प्रणिदध्यात् । कोऽसौ निश्चेलस्त्यक्तसमस्तवस्त्रादिपरिग्रहः । किं तन्महाव्रतं । किं कृत्वा आरोप्य निर्यापकाचार्यवचनेनात्मनि स्थापयित्वा । कया भक्त्या पंचतय्या हिंसादिविरत्या, पंचतय्या समित्या, त्रितय्या च गुप्त्या, व्रतसमितिगुप्तिभिस्त्रयोदशप्रकारं चारित्रमात्मनि व्यवस्थाप्य किं कृत्वा समर्प्य आयत्तं कृत्वा । कं स्वमात्मानं कस्मिन् निर्यापके संसारान्निर्यान्तं क्षपकं प्रयोजयतीति निर्यापकः षट्त्रिंशद्गुणोपेतो धर्माचार्यस्तस्मिन् । कया भक्त्या शुभवृत्त्या । भक्त्येत्यस्य संन्दशकन्यायेनोभयत्र संबंधः । अन्यस्तु सचेलः पुनस्तन्महाव्रतं भावयेत् । किंविशिष्टमनारोपितमेव सप्रन्यस्त्य तदारोपणेऽनधिकारात् ॥

अर्थ— दिगंबरदीक्षा घेतलेल्या श्रावकानें आपण निर्यापकाचार्याच्या आज्ञेत राहून व आपल्या ठिकाणी महाव्रताचा आरोप करून (आपण महाव्रती आहों असें समजून)

भावना करावी. आणि सवस्त्रश्रावकानें महाव्रताचा आरोप न करतांच त्याची भावना करावी. कारण, त्याला आरोपाचा अधिकार नाही.

अतिचारपञ्चकपरिहारेण सल्लेखनाविधिना संस्तरस्थस्य प्रवृत्तिमुपदिशति--

आतां पांच प्रकारचे अतीचार सोडून देऊन सल्लेखनाविधीनें संस्तरारोह केलेल्या श्रावकानें महाव्रतांचें आचरण करावें असें सांगतात.

जीवितमरणाशंसे ।

सुत्तदनुरागं सुखानुबन्धमजन् ॥

स निधानं संस्तरग- ।

श्चरेच्च सल्लेखनाविधिना ॥ ४५ ॥

टीका— न केवलमारोपितमनारोपितं वा महाव्रतं संस्तरगो भावयेच्चरेच्च चेष्टेत । केन सल्लेखनाविधिना जन्ममृत्युजरातङ्का इत्यादिना प्रबन्धेन प्रागुक्तेन । किं कुर्वन् अजन् क्षिपन् निराकुर्वन्नित्यर्थः । के जीवितमरणाशंसे जीविताकांक्षां मरणाकांक्षां च । तथा सुत्तदनुरागं मित्रानुरागं । तथा सुखानुबन्धं । किंविशिष्टं सनिधानं निदानेन सह । पंचमं निदानमप्यजन्नित्यर्थः । इतो विशेषणैषामर्थः प्रकाश्यते । तत्र जीविताशंसा शरीरमिदमवश्यहेयं जलबुद्बुदवदनित्यमित्यादिकमस्मरतोऽस्यावस्थानं कथं स्यादित्यादरः । पूजाविशेषदर्शनात्प्रभूतपरिचारावलोकनात्सर्वलोक-श्लाघाश्रवणाच्चैवं हि मन्यते प्रत्याख्यातचतुर्विधाहारस्यापि मे जीवितमेव श्रेयः । यत एवंविधा मदुद्देशेनेयं विभूतिर्वर्तत इत्याकांक्षेति यावत् । मरणाशंसा रोगोपद्रवाकुलतया प्राप्तजीवनसंक्ले-

शस्य मरणं प्रति चित्तप्रणिधानं । यदा न कश्चित् प्रतिपन्नाशनं  
प्रति सपर्यया अद्रियते, न च कश्चित् श्लाघते, तदा तस्य  
यदि शीघ्रं म्रियेय तदा भद्रकं स्यादित्येवंविविधपरिणामोत्पत्तिर्वा ।  
सुहृदनुरागो बाल्ये सहपांशुकीडनादि व्यसने सहायत्वमुत्सवे  
सम्भ्रम इत्येवमादेश्व मित्रसुकृतस्यानुस्मरणं । बाल्याद्यवस्थासहक्री-  
डितमित्तानुस्मरणं वा । सुखानुबन्ध एवं मया मुक्तमेवं शयितमेवं  
क्रीडितमित्येवमादि प्रीतिविशेषं प्रति स्मृतिसमन्वाहारः । निदा-  
नमस्मात्तपसः सुदुश्चराज्जन्मान्तरे इन्द्रश्चक्रवर्ती धरणेन्द्रो वा  
स्यामहमित्येवमाद्यनागताभ्युदयाकांक्षा ॥

अर्थ— संस्तरारोह केलेल्या श्रावकानें १ जगण्याची  
इच्छा, २ मरणाची इच्छा, ३ मित्रांविषयीं प्रेम, ४ पूर्वी  
उपभोगिलेल्या सुखाचें स्मरण आणि ५ पुढील जन्मीं  
अमुकविषयसुख मिळो अशी इच्छा ह्या पांच अतीचारांचा  
त्याग करून सल्लेखनाविधीनें महाव्रताचें आचरण करावें.

एवं संस्तरारूढस्य क्षपकस्य निर्यापकाचार्य एतत्कृत्वेवं  
कुर्यादित्याह—

ह्याप्रमाणें संस्तरारूढ झालेल्या श्रावकासंबंधानें निर्या-  
पकाचार्यानें बरील क्रिया करून पुढें त्यासंबंधानें काय  
करावयाचें तें सांगतात.

यतीन्नियुज्य तत्कृत्ये ।

यथार्हं गुणवत्तमान् ॥

सूरिस्तं भूरि संस्क्रियात्- ।

सह्यार्याणां महाक्रतुः ॥ ४६ ॥

टीका— संस्क्रयात् रत्नत्रयसंस्कारयुतं कुर्यात् । कोऽसौ सूरिः । कं तं क्षपकं । कथं भूरि बहु । किं कृत्वा नियुज्य अधिकृत्य । कान् यतीन् साधून् । क तत्कृत्ये आराधकस्या-  
मर्शनादिशरीरकार्ये विकथानिवारणे धर्मकथायां भक्तपानतत्त्व-  
शोधनमलोत्सर्जनादौ च । कथं यथार्हं यथायोग्यं । किंविशिष्टान्  
गुणवत्तमान् मोक्षकारणगुणातिशयशालिनः । हि यस्मात् क्षपक-  
समाधिसाधनविधिरार्याणां यतीनां महाक्रतुः परमयज्ञः स्यात् ॥

अर्थ— मोक्षसाधनास योग्य असे अनेक गुण ज्यांच्या  
मध्ये आहेत अशा संयमी श्रावकांस त्यांच्या त्यांच्या  
योग्यतेप्रमाणें, दुष्टकथा न बोलणें, धर्मकथा बोलणे,  
मलोत्सर्गादिक्रिया करणें वगैरे कृत्यांचे ठिकाणीं योजना  
करून त्यांना रत्नत्रयाचा पुष्कळ संस्कार करावा; कारण,  
रत्नत्रयाचा संस्कार हा आर्यांचा मोठा यज्ञ आहे.

क्षपकस्याहारविशेषप्रकाशनात् भोजनासक्तिनिषेधार्थमाह—

आतां क्षपकानें काय भक्षण करावें? तें सांगून, भोज-  
नाविषयींच्या आसक्तीचा निषेध करितात.

योग्यं विचित्रमाहारं ।

प्रकाशयेष्टं तमाशयेत् ॥

तत्रासजन्तमज्ञाना- ।

इज्ञानाख्यानैर्निवर्तयेत् ॥ ४७ ॥

टीका— आशयेद्भोजयेत्सूरिः । कं क्षपकं । कं इष्टं किंचि-  
त्सर्वं वा क्षपकेणाकांक्ष्यमाणमाहारं । किं कृत्वा प्रकाश्य दर्शयित्वा  
कमाहारं । किंविशिष्टं योग्यं कल्प्यं । पुनः किंविशिष्टं विचित्रं

नानाप्रकारं, कश्चिद्धि भोज्यविशेषान् दृष्ट्वा तीरं प्राप्तस्य किं ममेभिरिति प्राप्तवैराग्यः संवेगपरो भवति । कश्चिच्च किमपि भुक्त्वा अपरश्च सर्वं भुक्त्वा तथा भवति । कश्चित्तु तानास्वाद्य तद्रसासक्तिपरो भवति, चित्रत्वान्मोहनीयकर्मविलासानां । तत्र चेष्टतया भोज्यमाने भोजने अज्ञानात्तत्त्वानवबोधादासजन्तमासक्तिं कुर्वन्तं । क्षपकं निवर्तयेत् ततो विरमयेत्सूरिः । कैर्ज्ञानाख्यानैर्बोधप्रचोदकप्रसिद्धोपाख्यानैः ॥

अर्थ— मोक्षमार्गाचें अनुसरण करणाऱ्या निर्यापकाचार्यानें भक्षण करण्यास योग्य असे अनेकप्रकारचे भक्ष्यपदार्थ क्षपकांस दाखवून ते त्यांना भक्षण करावयास द्यावेत. आणि भक्ष्यपदार्थाविषयीं जर कोणी अज्ञानामुळे अत्यंत आसक्त झाला तर त्याला अनेक कथा सांगून त्यापासून निवृत्त करावें.

नवभिः श्लोकैराहारविशेषगृद्धिप्रतिषेधपुरःसरं तत्परिहारक्रममाह—

आतां; पुढील नऊ श्लोकांनीं कित्येकप्रकारचे भक्ष्य सोडून देण्याविषयीं सांगून ते टाकविण्याचा क्रम सांगतात.

भो निर्जिताक्ष विज्ञात- ।

परमार्थ महायशः ॥

किमद्य प्रतिभान्तीमे ।

पुद्गलाः स्वहितास्तव ॥ ४८ ॥

टीका— भो अहो । निर्जिताक्ष निःशेषवशीकृतदृष्टीक । भो विज्ञातपरमार्थ अनन्यसाधारणतया निश्चितनिश्चेतव्यवस्तुतत्त्व । भो महायशः सकलदिक्चक्रविसृत्वरकीर्ते आराधकराज । अद्य सम्प्रति । इमे भाजनशयनाद्युपकल्पिताः पुद्गला मूर्तेपदार्थाः ।

किं तव प्रतिमान्ति प्रतिभासन्ते । किंविशिष्टाः स्वहिता आत्मन  
उपकारकाः । किंशब्दः पञ्चे वितर्के आक्षेपे वा ॥

अर्थ— अरे ! इंद्रियांचा जय करणाऱ्या, परमार्थ  
जाणणाऱ्या व कीर्तिमान् अशा हे उपासका ; हे सर्व भक्ष्य-  
पदार्थरूपी पुद्गल, तुला आज आपलें कल्याण करणारे  
आहेत असे वाटतात काय ?

किं कोऽपि पुद्गलः सोऽस्ति ।

यो भुक्त्वा नोज्ञितस्त्वया ॥

न चैष मूर्तोऽमूर्तेस्ते ।

कथमप्युपयुज्यते ॥ ४९ ॥

टीका— किमस्ति । कोऽसौ सः कोऽपि कश्चित्पुद्गलो यो  
नोज्ञितो न त्यक्तस्त्वया । किं कृत्वा भुक्त्वा अनादिकाले  
इंद्रियप्रणालिकाभिरुपभुज्य । न च नैव । एष पुद्गलो मूर्तो  
रूपादिमानमूर्ते रूपादिरहितस्य ते तव कथमपि केनापि प्रकारे-  
णोपयुज्यते उपकरोति । गगनस्येव तवैतत्कृतोपकारागोचरत्वात् ॥

अर्थ— हे उपासका ! असा कोणता पुद्गल आहे, कीं  
जो अनादिकालापासून चालत आलेल्या ह्या संसारांत तूं  
उपभोग घेऊन टाकला नाहीस ! हा साकार असा पुद्गल,  
निराकार अशा तुझा कसा बरें उपयोग करील ?

केवलं करणैरेन- ।

मलं ह्यनुभवन्भवान् ॥

स्वभावमेवेष्टमिदं ।

भुञ्जेऽहमिति मन्यते ॥ ५० ॥

टीका— केवलं परं मन्यते प्रतिपद्यते । कोऽसौ भवान् । किं इष्टमभिरुचितमिदं पुरोवर्ति वस्त्वहं भुञ्जे अनुभवामीत्येतत् । किं कुर्वन्ननुभवन् भुञ्जानः । कं स्वभावमेव आत्मपरिणाममेव वस्तुतस्तस्यैवात्मना भोग्यत्वात् । किं कृत्वा अलं विषयीकृत्य । कमेनं पुद्गलं । कैः करणैः चक्षुरादीन्द्रियैः ॥

अर्थ— बाबारे! केवल इंद्रियांना पुरे होईपर्यंत पुद्गलाचा उपभोग घेणारा असा तूं “मी ह्या इष्टपदार्थाचा उपभोग करीत आहे” असें जें मानतोस, तो त्या पदार्थाचा उपभोग नसून आत्म्याच्या एका विशेष परिणामाचाच उपभोग आहे. तात्पर्य—आत्मा हा अन्य पदार्थाचा उपभोग करीत नसून, तो केवल स्वपरिणामाचाच उपभोग करीत असतो. असें वास्तविक असून तुला मात्र ‘मी अन्य वस्तूचा उपभोग करीत आहे’ असा भ्रम झाला आहे.

तदिदानीमिमां भ्रान्ति- ।

मभ्याजो न्मिषतीं तद्वदि ॥

स एष समयो यत्र ।

जाग्रति स्वहिते बुधाः ॥ ५१ ॥

टीका—तत्तस्मात्कारणात् । अभ्याज निवारय त्वं । कामिमां प्रतीयमानां भ्रान्तिं अभोग्ये पुद्गले भोग्यबुद्धि । किं कुर्वतीमुन्मिषतीमुदयोन्मुखीभवन्ती । क तद्वदि तद्वदे अन्तश्चेतसि । कदा इदानीमद्य । यतो वर्तते । कोऽसावेषोऽयं । स समयः कालः । यत्र किं यत्र यस्मिन्नाग्रति सावधाना भवन्ति । के बुधाः दृष्टतत्त्वाः । क स्वहिते ॥



अर्थ— ह्मणून आतां अंतःकरणांत वाढत असलेली ही भ्रांति तूं सोडून दे. कारण, हा तुझा अशा प्रकारचा काल आहे कीं, ज्या कालांत शहाणे लोक आपलें कल्याण करून घेण्याकरितां जागे असतात. ( झटत असतात. )

अन्योऽहं पुद्गलश्चान्य ।

इत्येकान्तेन चिन्तय ॥

येनापास्य परद्रव्य- ।

ग्रहवेशं स्वमाविशेः ॥ ५२ ॥

टीका—अहमसि । किंविशिष्टोऽन्यः पुद्गलद्विजः । पुद्गल-  
श्चास्ति । किंविशिष्टोऽन्यो मत्तो भिन्न इत्येतदेकान्तेन सर्वथा  
चिंतय भावय त्वं । येनात्मपुद्गलयोः पृथक्त्वचिन्तनेन परद्रव्य-  
ग्रहवेशमनात्मद्रव्यनिर्बन्धोपयोगमपास्य त्यक्त्वा । स्वमात्मद्रव्यं  
त्वमाविशेरुपयुज्जीथाः ॥

अर्थ— अरे आराधका ! तूं “ मी निराळा आहे, व  
पुद्गल निराळे आहेत ” असें निश्चयानें चिंतन कर. ज्या  
चिंतनाच्या योगानें, तूं, आत्म्याहून भिन्न अशा देहादि-  
द्रव्यांचा अभिमान सोडून स्वद्रव्य जो आत्मा, त्याचे  
ठिकाणीं प्रवेश करशील !

क्वाऽपि चेत्पुद्गले सक्तो ।

म्रियेथास्ततध्रुवं चरेः ॥

तं कृमीभूय सुस्वादु- ।

चिर्भटासक्तभिक्षुवत् ॥ ५३ ॥

टीका—कापि कचिद्भोजनाद्युपयोगिनि पुद्गले । सक्त आसक्तः सन् त्रियेथाः प्राणास्त्यजेस्त्वं चेत्ततो ध्रुवं निश्चितं चरेर्भक्षये-  
र्भक्षयिष्यसि त्वं । कं तं पुद्गलं । किं कृत्वा कृमीभूय तत्रैव  
क्षुद्रजन्तुर्भूत्वा त्वमासाद्य । किंवत् सुस्वादित्यादि सुस्वादूनि  
रसनेन्द्रियातिगृद्धिकारिणि चिर्भटे फलविशेषे आसक्तो भिक्षुः  
सन्त्यासोन्मुखः संयतो यथा ॥

अर्थ—आणि जर तूं एखाद्या पुद्गलाच्या ठिकाणी  
आसक्त होऊन मरशील; तर, गोढ अशा शेंदाळ्यांत  
अंतःकरण गुंतलें आहे अशा भिक्षूप्रमाणें त्या पुद्गलांत कृमी  
होऊन संचार करशील! ह्मणजे मरणकारी ज्या भक्ष्य  
पदार्थांत तुझे मन गुंतेल, त्यांत किडा होऊन तूं जन्माला  
येशील.

किं चाङ्गस्योपकार्यं न ।

न चैतत्प्रतीच्छति ॥

तच्छिन्धि तृष्णां भिन्धि स्वं ।

देहाद्रुन्धि दुराश्रवम् ॥ ५४ ॥

टीका—किं च अत्यधिकं चोच्यते त्वां प्रति । भवति । किं  
तदन्नं भोज्यद्रव्यं । किंविशिष्टमुपकारि उपकारकं । कस्याङ्गस्य  
शरीरस्य । मूर्तेन मूर्तस्यैवोपकार्यत्वदर्शनात् । न च नैव । एत-  
दङ्गं । तदन्नं प्रतीच्छति उपकारकत्वेन गृह्णाति । तत्तस्मा-  
च्छिन्धि नाशय त्वं । कां तृष्णां अन्ने वाञ्छानुबन्धं । तथा  
भिन्धि भेदेन भावय त्वं । कं स्वमात्मानं । कस्माद्देहात् । तथा  
रुन्धि प्रतिबधान त्वं । कं दुरासवं पापकर्माश्रवणकारणम् ॥

अर्थ—दुसरें असें कीं, हें अन्न जर देहावर उपकार करणारें आहे ह्मणावें, तर तो देह त्याची मुळीच इच्छा करीत नाही. ह्मणून तूं त्याविषयीं आशा सोड. आत्मा हा देहाहून भिन्न आहे असें समज. आणि पापकर्माच्या आस्त्रावाचा प्रतिबंध कर.

इत्थं पथ्यप्रथासारै- ।

वितृष्णीकृत्य तं क्रमात् ॥

त्याजयित्वाऽशनं सूरिः ।

स्निग्धपानं विवर्धयेत् ॥ ५५ ॥

टीका—विवर्धयेत्परिपूर्णं दद्यात् सूरिः । किं तत् स्निग्धपानं दुग्धादि । किं कृत्वा त्याजयित्वा परिहार्यं । किं तदशनं कवलाहारं । कस्मात्क्रमात् क्रमेण शनैः शनैः । किं कृत्वा वितृष्णीकृत्य अन्ने निवृत्तेच्छं कृत्वा । कं तं क्षपकं । पथ्यप्रथासारैर्हितप्रकाशधारासम्पातैः । कथमित्थमनेन प्रकारेण ॥

अर्थ—निर्यापकाचार्यानें ह्याप्रमाणें हित सुचविणाऱ्या अनेक बोधप्रद वाक्यांच्या वृष्टीनें त्या क्षपकाला क्रमानें निरिच्छ बनवून, त्याकडून भोजनत्याग करवून, दूध वगैरे स्निग्ध पदार्थांचें प्राशन करवावें.

पानं षोढा घनं लेपि ।

ससिक्थं सविपर्ययम् ॥

प्रयोज्य हापयित्वा तत् ।

खरपानं च पूरयेत् ॥ ५६ ॥

टीका—पूरयेद्विवर्षयेत्सूरिः । किं तत्स्वरपानं प्रथमं शुद्धका-  
ञ्जिकादिरूपं पश्चाच्च शुद्धपानीयरूपं । किं कृत्वा प्रयोज्य परि-  
चारकैर्दापयित्वा । हापयित्वा च त्याजयित्वा क्षपकेण । किं  
तत्पानं पेयद्रव्यं । कतिधा षोढा षट्प्रकारं । तदेवाह घनमि-  
त्यादिना घनं बहलं दध्यादि । सविपर्ययमितिवचनादच्छं  
तित्रिकादिफलरससौवीरकोष्णजलादि । लेपि यद्वस्ततलं लिम्पति  
तद्विपरीतमलेपि । ससिक्थं सिक्थसहितं पयादि तद्विपरीतमसिक्थं  
मण्णकादि ॥

अर्थ— पिण्याचे पदार्थ सहा प्रकारचे असतात, घन  
(घट्ट दही वगैरे) २ पातळ (कांजी) ३ लेप (जे हातास  
चिकटतात असे) ४ अलेपि (जे हाताला चिकटत नाहीत  
असे) ५ ससिक्थ (ज्यांत शितें आहेत असे कजेर)  
आणि ६ असिक्थ (ज्यांत शीत मुळींच नाही असे दद्या-  
वरचे पाणी) ह्या सहा प्रकारच्या पेयपदार्थांची क्रमानें  
योजना करून क्षपकाकडून क्रमानें एकेक पेयपदार्थ प्याव-  
याचें सोडवून स्वरपान (शुद्ध जलाचें पान) करवावें.

इत्थं च निर्यापकाचार्यः क्षपकं शिक्षयेदिति षड्भिः श्लोकैराह—

आणखीं निर्यापकाचार्यानें श्रावकास पुढील प्रमाणें  
शिकवावें असें सांगतात.

शिक्षयेच्चेति तं सेय- ।

मन्त्या सल्लेखनेर्यते ॥

अतीचारपिशाचेभ्यो ।

रक्षेनामतिदुर्लभाम् ॥ ५७ ॥

टीका— शिक्षयेच्च सूरिरनुशिष्यात्तं क्षपकं । इति वक्ष्यमाणेन प्रकारेण अयं पूर्वोक्तश्च । द्वौ चशब्दौ तुल्यकक्षतां द्योतयतः । खरपानं पूरयेच्च तमिति शिक्षयेच्चेति सम्बन्धः । तदेव शिक्षणमाह सेयमित्यादि । हे आर्य गुणैर्गुणवद्भिश्चाश्रीयमाणा सा परमागमे प्रसिद्धा इयं वर्तते । काऽसौ सल्लेखना । किंविशिष्टा अन्त्या मरणान्तिकी । कस्य ते तव । तद्वद्रक्ष पालय त्वमेनां । केभ्यः अतिचारपिशाचेभ्यः अतीचारा जीविताशंसादयः प्रागुक्तास्त एव पिशाचाश्छिद्रं प्राप्य प्रभविष्णुत्वात् । किंविशिष्टामेनामतिदुर्लभां आसंसारमप्राप्तपूर्वत्वादत्यन्तं प्राप्नुमशक्यां ॥

अर्थ— त्याला निर्यापकाचार्याने असे शिकवावे की, ही शेवटची सल्लेखना आहे, अत्यंतदुर्लभ अशा या सल्लेखनेचे अतीचाररूपी पिशाचांपासून तू रक्षण कर.

क्रमेणातिचारपञ्चकपरिहारं शिक्षयन्नाह—

आतां; क्रमाने पांच प्रकारच्या अतीचारांचा परिहार शिकविण्याविषयी सांगतात.

प्रतिपत्तौ सजन्नस्यां ।

मा शंस स्थास्नु जीवितम् ॥

भ्रान्त्या रम्यं बहिर्वस्तु ।

हास्यः को नाऽऽयुराशिषा ॥ ५८ ॥

टीका—मा शंस मा वाञ्छस्व त्वं । किं तज्जीवितं । किंविशिष्टं स्थास्नु स्थिरतरं । किं कुर्वन् सजन् आसक्तो भवन् । कस्यामस्यां दृश्यमानायां प्रतिपत्तौ आचार्यादिभिः क्रियमाणे परिचर्यादिविधौ, महद्भिकैः पुरुषैश्च गौरवादरादिके । अत्रोपपात्तिमाह—

यतो भवति । किं तद्वहिर्वस्तु बाह्यविषयजातं । किंविशिष्टं  
रम्यमात्मनः प्रीणनं । कया भ्रान्त्या भ्रमेण । कश्च हास्यो हस-  
नीयो लौकिकपरीक्षकाणां न भवति । कया आयुराशिषा जीवितं  
मे भूयादित्याशंसया । स एष जीविताशंसारूप्योऽतीचारः पुनरनू-  
द्योपपत्तिविशेषेण त्याज्यतयोपदिष्टः । एवमुत्तरेऽपि ॥

अर्थ— हे क्षपका ! लोकांनी केलेल्या तुझ्या सत्कारांत  
अंतःकरण गुंतवून 'आपलें जीवित चिरकाल टिकणारें  
व्हावें' अशी इच्छा तूं करूं नकोस. कारण, ह्या बाह्य वस्तु  
तुला भ्रांतीनें रमणीय दिसतात. तेव्हां ह्या बाह्यवस्तुस्वरूप  
असलेल्या देहाच्या जीविताची आशा करणारा कोण  
बरें थट्टेस पात्र झाला नाही? हा 'जीविताशंसा'  
नांवाचा अतीचार पूर्वी सांगितलेलाच पुनः सांगितला.  
व त्याचा त्याग करविण्याचा उपायही थोडक्यांत  
सांगितला.

परिहासभयादाशु- ।

मरणे मा मर्ति कृथाः ॥

दुःखं सोढा निहन्त्यहो ।

ब्रह्म हन्ति मुमूर्षुकः ॥ ५९ ॥

टीका— मा कृथाः मा कुरु त्वं । कां मर्ति इच्छां । क  
आशुमरणे शीघ्रं जीवितच्छेदे । कस्मात्परीषहभयात् दुःसहक्षुधा-  
दिवेदनाभीत्या । यतो निहन्ति निरुद्धासवं क्षपयति, विपाकान्त-  
त्वात्कर्मणां । कोऽसौ दुःखं बाधां सोढा साधुत्वेन संक्लेशपरि-  
णामलक्षणेन सहमानः । किं तदंहः पुरार्जितपापं । तथा हंति  
दिनस्ति । कोऽसौ मुमूर्षुकः कुत्सितविधिना मर्तुमिच्छन् । किं

तद्भ्रम ज्ञानं मोक्षं वा । आत्मघाततो दीर्घसंसारो भवतीत्यर्थः ॥

अर्थ— तसेंच हे क्षपका ! तहान, भूक वगैरे परीषदांच्या भीतीनें लवकर मरण्याविषयीं तूं इच्छा करूं नकोस. कारण, दुःखें सहन करणारा पुरुष आपल्या सर्वपातकांचा नाश करतो; आणि दुःखांच्या भीतीनें मरणारा मनुष्य मोक्षाचा व ज्ञानाचा नाश करितो. [ आत्मघात्यास पुष्कळ जन्म घ्यावे लागतात, असें तात्पर्य ] हा 'मरणाशंसा' नांवाचा दुसरा अतीचार होय.

सहपासुक्कीडितेन ।

स्वं सख्या माऽनुरञ्जय ॥

ईदृशैर्बहुशो भुक्तैः ।

मोहदुर्ललितैरलम् ॥ ६० ॥

टीका— माऽनुरञ्जय मा स्नेहय मा प्रीणय वा त्वं । कं स्वमात्मानं । केन सख्या मित्रेण । किंविशिष्टेन सहपांसुक्कीडितेन बालावस्थायां सह मिलित्वा पांसुना रजसा क्रीडितं क्रीडनं येन स तथोक्तः । अतो व्यावर्तनार्थमाह— अलं पर्याप्तं । तव परलोकोद्यतस्य । कैरीदृशैरेवंविधैर्मित्रानुरागस्मरणप्रायैः परिणामैः । किंविशिष्टैर्बहुशोऽनेकशो भुक्तैरनुभूतपूर्वैः । पुनः किंविशिष्टैर्मोहदुर्ललितैर्मोहनीयकर्मविपाकजन्यदुरध्यवसायैः ॥

अर्थ— ज्याच्या बरोबर आपण धुरळ्यांत खेळलों अशा मित्राच्या योगानें तूं आपल्या आत्म्याचा संतोष करूं नकोस. बाबा ! असले अनेकजन्मांत उपभोगलेले मूर्खपणाचे दुर्व्यापार आतां पुरे कर!!! [ मित्राचा मोह सोडून दे. ]

मा समन्वाहर प्रीति- ।

विशिष्टे कुत्रचित्स्मृतिम् ॥

वासितोऽक्षसुखैरेव ।

बम्भ्रमीति भवे भवी ॥ ६१ ॥

टीका— मा समन्वाहर माऽनुबन्धिनीं कुरु त्वमुत्पद्यमानामेष निवारयेत्यर्थः । कां स्मृतिं चेतोवृत्तिं । क कुत्रचित् चक्षुरादीनामन्यतमेनानुभूयमाने विषये पूर्वं प्रवृत्ते प्रीतिविशिष्टे प्रमोदातिशये, इत्थं मया रम्यकामिन्यादिकमीक्षितामित्थमालिङ्गितमित्यादिरूपेण मा स्मृतिसमन्वाहारं कुरुष्वेत्यर्थः । यतो बम्भ्रमीति कुटिलं पर्यटति कष्टं परिवर्तते । कोऽसौ भवी जीवः । क भवे आजीवज्जीविभावे । किंविशिष्टः सन् वासितो दृढाहितसंस्कारः । कैरक्षसुखैरिन्द्रियसुखैरेव नात्मज्ञानसंस्कारैः ॥

अर्थ— ज्याच्यावर तुझे फार प्रेम होतें अशा कोणत्याही वस्तूचें तूं स्मरण होऊं देऊं नकोस ! कारण, हा जीव, ज्याला इंद्रियांपासून होणाऱ्या सुखांचा पुष्कळ संस्कार झाला आहे असा होत्साताच, संसारांत फिरत असतो, ह्मणजे वारंवार जन्ममरणांचा अनुभव घेतो. हा 'सुखानुबंध' नांवाचा चवथा अतीचार होय.

मा कांक्षीर्भाविभोगादीन् ।

रोगादीनिव दुःखदान् ॥

वृणीते कालकूटं हि ।

कः प्रसाद्येष्टदेवताम् ॥ ६२ ॥



टीका— मा कांक्षीस्तपोमाहात्म्यादिना ममैते भूयासुरिति माऽभिलष त्वं । कान् भाविभोगादीन् भाविनो भोगानिष्टविषयान् । आदिशब्देन चाज्ञैश्वर्यादीन् । किंविशिष्टान् दुःखदान् दुरन्तदुःख-दायकान् । कानिव रोगादीनिव ज्वरादिव्याधीष्टवियोगप्रभृतीन् यथा । हि यस्मात् कः कश्चित् वृणीते प्रार्थयते । किं तत्कालकूटं सद्यःप्राणहरं विषं । किं कृत्वा प्रसाद्य वरदानोन्मुखीं कृत्वा । कामिष्टदेवतामभिमतार्थप्रसादनसमर्थां देवीं देवं वा ॥

अर्थ— आराधका ! रोगादिकांप्रमाणें अत्यंत क्लेश देणाऱ्या-पुढल्या जन्मांतील-विषयोपभोगांची तूं इच्छा करूं नको. बाबा ! आपल्या इष्टदेवतेला प्रसन्न करून घेऊन तिच्या जवळ कालकूटविष कोण बरें मागील ? हा 'निदान' नांवाचा पांचवा अतीचार होय.

क्षपकस्य चतुर्विधाहारसन्न्यासविधिं श्लोकद्वयेनाह—

आतां क्षपकानें चारी प्रकारचा आहार सोडण्याचा प्रकार पुढील दोन श्लोकांनीं सांगतात.

इति व्रतशिरोरत्नं ।

कृतसंस्कारमुद्धहन् ॥

खरपानक्रमत्यागात् ।

प्रायेऽयमुपवेक्ष्यति ॥ ६३ ॥

एवं निवेद्य संघाय ।

सूरिणा निपुणेक्षिणा ॥

सोऽनुज्ञातोऽखिलाहारं ।

यावज्जीवं त्यजेत् त्रिधा ॥ ६४ ॥ युग्मम् ॥

टीका — त्यजेत् कोऽसौ क्षपकः । कमखिलाहारं चतुर्विधमपि भोजनं । कथं त्रिधा मनोवाक्यायैः । कियत्कालं यावज्जीवं । किं कुर्वन् उद्वहन् उत्कृष्टं धारयन् । किं तद्वतशिरोरत्नं सल्लेखनां । तस्या एव सर्वव्रतानां साफल्यसंपादकत्वेनोपरिभ्राजमानत्वाच्चूडामणिरिवाभरणानां । किंविशिष्टं कृतसंस्कारं आहितातिशयं । कथमित्यनेन प्रतिपत्तौ सजन्नस्यामित्यादिग्रन्थोक्तप्रकारेण । किंविशिष्टः सन्निखिलाहारं स त्यजेत् अनुज्ञातोऽनुमतः । केन सूरिणा निर्यापकाचार्येण । किंविशिष्टेन निपुणेक्षिणा निपुणं सूक्ष्मं व्याधिदेशादितत्त्वभीक्षते पशत्यभीक्ष्णमिति निपुणेक्षी तेन, व्याधिदेशकालसत्त्वसात्म्यबलपरीपहक्षमत्वसंवेगवैराग्यादीनां सूक्ष्मेक्षिकया विचारकेणेत्यर्थः । किं कृत्वा निवेद्य ज्ञापयित्वा । कस्मै संघाय चातुर्वर्ण्यश्रमणगणाय । कथमेवं । अयं क्षपक उपवेक्ष्यति निश्चलं स्थास्यति दृढप्रतिज्ञो भविष्यतीत्यर्थः । क प्राये चतुर्विधाहारसंन्यासे । कस्मात्स्वरपानक्रमत्यागात् स्वरपानस्य शुद्धोदकमात्रोपयोगस्य क्रमेण शनैः शनैस्त्यागः प्रत्याख्यानं तस्मात् ॥ अत्रायं विधिरार्याद्वयेन — त्यक्षति सर्वाहारं । यावज्जीवं निरम्बरस्त्रिविधम् ॥ निर्यापकसूरिपरः । सङ्घाय निवेदयेदेवम् ॥ १ ॥ क्षपयति यः क्षपकोऽसौ । पिण्डं तस्येति संयमधनस्य ॥ दर्शयितव्यं नीत्वा । सङ्घावसथेषु सर्वेषु ॥ २ ॥

अर्थ — ह्याप्रमाणे पुष्कळ अभ्यासानें उत्कर्षास चढविलेल्या व सर्वव्रतांत श्रेष्ठ अशा सल्लेखनांस आचरणारा ( अभ्यासानें दृढ झालेल्या सल्लेखना धारण करणारा ) हा क्षपक, क्रमानें स्वरपानाचा त्याग चतुर्विध आहारांचा त्याग करणारा आहे; असें विचारसंपन्न असलेल्या निर्यापकाचार्यांकडून आपल्या संघाला कळवून, व त्या

निर्यापकाचार्याची आज्ञा घेऊन, क्षपकानें यावज्जीवपर्यंत मन, वाणी व शरीर ह्या तीहींच्या योगानें आहाराचा त्याग करावा.

एवमतिशयेन परिषहबाधाक्षमं प्रति चतुर्विधाहारप्रत्याख्यान-मुपदिश्येदानीमतथामृतस्य क्षपकस्य पानीयमात्रविकल्पनपूर्वकं त्रिविधप्रत्याख्यानमुपदिशंश्चतुर्विधप्रत्याख्यानावसरनिरूपणार्थमाह—

ह्याप्रमाणें क्षुधा वगैरे परीषह सहन करण्यास समर्थ असलेल्या श्रावकास चतुर्विध आहाराचा त्याग करण्याचा उपदेश करून; आतां, तसें सामर्थ्य नाहीं अशा श्रावकास केवळ जलपान करण्याविषयीं उपदेश करतात; व त्याचाही त्याग केव्हां करावा त्यासंबंधाचा योग्य काल सांगतात.

व्याध्याद्यपेक्षयाऽम्भो वा ।

समाध्यर्थं विकल्पयेत् ॥

भृशं शक्तिक्षये जह्या- ।

तदप्यासन्नमृत्युकः ॥ ६५ ॥

टीका—वा अथवा विकल्पयेत् गुरुनियोगेन पेयतया प्रति-जानीत क्षपकः । किं तदम्भः पानीयं । किमर्थं समाध्यर्थं कया व्याध्याद्यपेक्षया यदि पैत्तिको व्याधिर्वा ग्रीष्मादिः कालो वा मरुत्स्थलादिदेशो वा पैत्तिकी प्रकृतिर्वा अन्यदप्येवंविधं तृष्णापरि-षहोद्रेकासहनकारणं वा भवेत् तदा गुर्वनुज्ञया पानीयमुपयोक्ष्ये ऽहमिति प्रत्याख्यानं प्रतिपद्येतेत्यर्थः । भृशमत्यर्थं शक्तिक्षये बलनाशे पुनरासन्नमृत्युकः प्रत्यासन्नमरणः क्षपकस्तदप्यम्भोऽपि जह्यात् प्रत्याख्यायात् ॥

अर्थ— पित्तप्रकोप अथवा उष्णकाल किंवा निर्जलप्रदेश अगर पित्तप्रकृति असा मनुष्य ह्यापैकीं एखादें कारण जर असेल ; तर, स्वस्थता राहण्याकरितां क्षपकानें पाणी पिण्याची आज्ञा घेऊन तेवढी सबड ठेवावी. आणि पुढें अत्यंत शक्तिक्षय होऊन तो मरावयास टेकला असतां तें पाणी देखील त्यानें सोडावें.

तत्कालोचितं क्षपकोपकारि सङ्घस्यावश्यकरीयमाह—

त्या प्रसर्गी योग्य व मरूं लागलेल्या त्या क्षपकावर उपकार करणारें असें संघाचें अवश्य कर्तव्य सांगतात.

तदाऽखिलो वर्णिमुख- ।

ग्राहितक्षमणो गणः ॥

तस्याविघ्नसमाधान- ।

सिद्ध्यै तद्यात्तनूत्सृतिम् ॥ ६६ ॥

टीका—तदा तस्मिन्काले तद्यात्कुर्यात् । कोऽसावखिलः सर्वो गणः सङ्घः । कां तनूत्सृतिं कायोत्सर्गं । कस्यै अविघ्नसमाधानसिद्ध्यै । कस्य तस्य प्रत्याख्यातचतुर्विधभक्तस्य क्षपकस्य, क्षपकस्योपसर्गा मा भूवन् सिद्ध्यतु चाराधनेत्येवमर्थः । किंविशिष्टः सन् वर्णिमुखग्राहितक्षमणः वर्णिनो ब्रह्मचारिणो मुखेन ग्राहितो लापितो यथाकथञ्चित्कृतानपराधान् मम यूयं क्षमध्वमहं च भवत्कृताँस्तान् क्षम्ये इति क्षमणं यः स तथोक्तः । एतच्च एवं निवेद्य संघायेति प्रागुक्तमेव विशेष्य पुनरुक्तम् ॥

अर्थ— त्या वेळीं, त्या संपूर्ण संघानें आपल्यांतील ब्रह्मचारी श्रावकाकडून “ तूं जे आमचे अपराध केले

असतील त्यांची आर्ह्मीं तुला क्षमा केली आहे व आर्ह्मीं जे तुझे आपराध केले असतील त्यांची तूंही आर्ह्मांला क्षमा कर ! ” असे त्यास सांगवून त्याचा समाधि निर्विघ्नपणें सिद्ध व्हावा ह्मणून कायोत्सर्ग करावा.

एवमाराधनापताकाग्रहणोद्यतस्य क्षपकस्य निर्यापकाः किं कुर्यु-  
रित्याह—

ह्याप्रकारें समाधिमरणाविषयीं उद्युक्त झालेल्या क्षपकास निर्यापकाचार्यांनीं काय करावें तें सांगतात.

ततो निर्यापकः कर्णे ।

जपं प्रायोपवेशिनः ॥

दद्युः संसारभयदं ।

प्रीणयन्तो वचोऽमृतैः ॥ ६७ ॥

टीका—ततो यथोक्तकरणीयकारणानन्तरं । दद्युः सम्पाद-  
येयुः । के निर्यापकाः समाधिविधायिनो मुनयः । कं जपं ।  
किंविशिष्टं संसारभयदं संसारभयं संवेगमुपलक्षणान्निर्वेदं च ददानं ।  
क कर्णेश्रुतिमार्गे । कस्य प्रायोपवेशिनः संन्यासिनः । किं कुर्वन्तः  
प्रीणयन्तः सन्तर्पयन्तः । कैर्वचोऽमृतैः पीयूषसमैर्वाक्यैः ॥

अर्थ— मग आपल्या अमृताप्रमाणें मधुर अशा वाणीनें त्याचा संतोष करणाऱ्या निर्यापकाचार्यांनीं चतुर्विधाहाराचा ज्यानें त्याग केला आहे अशा श्रावकाच्या कानांत ज्याच्या योगानें संसाराचा खेद उत्पन्न होईल अशा गोष्टी सांगाव्या.

अथातो निर्यापकाचार्यकार्या क्षपकस्य महतीमनुशिष्टिमुत्तरत्र प्रबन्धेनोपदिशति—

आतां निर्यापकाचार्यांनीं श्रावकास करावयाचा मुख्य उपदेश पुढील ग्रंथानें सांगतात.

मिथ्यात्वं वम सम्यक्त्वं ।

भजोर्जय जिनादिषु ॥

भक्तिं भावनमस्कारे ।

रमस्व ज्ञानमाविश ॥ ६८ ॥

टीका—भो आराधकराज वम निःशेषय त्वं । किं तन्मिथ्यात्वं विपरीताभिनिवेशं । नथा भज भावय त्वं । किं तत्सम्यक्त्वं तत्त्वार्थश्रद्धानं । तथा ऊर्जय बलवतीं जीवन्तीं वा कुरु त्वं । कां भक्तिं केषु जिनादिषु अर्हदादिषु परमेष्ठिषु तच्चैत्येषु व्यवहारनिश्चयरत्नत्रये च । तथा रमस्व रतिं कुरु त्वं भावनमस्कारे अर्हदादिगुणानां सानुरागानुध्याने । तथा आविश उपयुंक्ष्व त्वं किं तत् ज्ञानं बाह्यमाध्यात्मिकं च तत्त्वबोधम् ॥

अर्थ—समाधिमरणाची इच्छा करणाऱ्या हे आराधका! तूं मिथ्यात्वाचा त्याग कर, सम्यक्त्व धारण कर, जिनादिकांचे ठाई भक्ति वाढीव, भावनमस्काराविषयीं प्रेम धारण कर आणि ज्ञानाची प्राप्ति करून घे.

महाव्रतानि रक्षोचैः ।

कषायान् जय यन्त्रय ॥

अक्षाणि पश्य चात्मान- ।

मात्मनाऽऽत्मनि मुक्तये ॥ ६९ ॥

टीका—तथा रक्ष पालय त्वं । कानि महाव्रतानि । तथा

जय निगृहाण त्वं । कान् कषायान् क्रोधादीन् । कथमुच्चैरत्यर्थं ,  
तज्जये सुतरां यत्नं कुरुष्वेत्यर्थः । तथा यन्त्रय निजनिजविषयेषु  
प्रवर्तमानानि त्वं निरुन्धि । कानि अक्षाणि स्पर्शनादीनि । तथा  
पश्य अवलोकय त्वं । कमात्मानं । केन आत्मना स्वयं । क  
आत्मनि स्वस्मिन् । कस्यै मुक्तये मोक्षाय न संसारमुखाय ॥

अर्थ— महाव्रतांचें अतिचार न होऊं देतां रक्षण कर !  
क्रोधादि कषायांना जिंक !! इंद्रियें आपल्या आधीन ठेव !!  
आणि मोक्षप्राप्तीकरितां आपल्यायोगानें स्वतःला तूं आप-  
ल्याच ठिकाणीं पहा !!!

मिथ्यात्वस्यापायहेतुत्वं श्लोकद्वयेन स्पष्टयति—

मिथ्यात्व हे नाशाला कारण आहे असें पुढील दोन  
श्लोकांनीं स्पष्ट सांगतात.

अधोमध्योर्ध्वलोकेषु ।

नाभून्नास्ति न भावि वा ॥

तदुःखं यन्न दीयेत ।

मिथ्यात्वेन महारिणा ॥ ७० ॥

टीका— तत्:दुखमधोलोके मेरोरधः सप्तसु भूमिषु, मध्यलोके  
जम्बूद्वीपादिस्वयम्भूरमणसमुद्रान्ते तिर्यग्लोके, ऊर्ध्वलोके मेरुचू-  
लिकान्ततः प्रभृति तनुवातवलयपर्यन्ते । नाभूत् न भूतं ।  
नास्ति न भवति । न भावि वा न वा भविष्यति । यन्न दीयेत  
न सम्पाद्येत जीवस्य । केन मिथ्यात्वेन । किंविशिष्टेन महारिणा  
परमशत्रुणा, तस्मिन् सत्येव बाह्याभ्यन्तरशत्रूणामपकारकत्वोपपत्तेः॥

अर्थ— त्या प्रकारचें दुःख मेरूच्या खालच्या सात  
लोकांत, जंबूद्वीप वगैरे मध्यलोकांत पूर्वी झालें नाहीं,

आतां ह्या वेळीं स्थितींत नाही व पुढेही न्हावयाचे नाही; कीं, जें दुःख महाशत्रु अशा मिथ्यात्वानें दिलें जाणार नाही.

सङ्घश्रीर्भावयन्भूयो ।

मिथ्यात्वं वन्दकगहितम् ॥

धनदत्तसभायां द्राक् ।

स्फुटिताक्षोऽभ्रमद्भवम् ॥ ७१ ॥

टीका— अभ्रमत् पर्यटति स्म । कोऽसौ सङ्घश्रीर्धनदत्तनृप-  
तिमन्त्री । कं भवं संसारं । दीर्घसंसारोऽभूदित्यर्थः । कथम्भूतो  
भूत्वा द्राक्स्फुटिताक्षः झटितिस्फुटितचक्षुः । कस्यां धनदत्त-  
सभायां धनदत्तस्य स्वस्वामिनः परिषदि । किं कुर्वन् भावयन्  
अध्यात्ममभ्यस्यन् । किं तन्मिथ्यात्वं । किंविशिष्टं भूयो वन्द-  
केन पुनरारोपितं । इयमन्याश्च सर्वाः कथाः कथाकोशादिशास्त्रेषु  
द्रष्टव्याः ग्रंथगौरवभयादिह नोक्ताः ॥

अर्थ— वंदक नांवाच्या आपल्या गुरूनें उपदेशिलेल्या  
मिथ्यात्वाचें पुनःपुनः चिंतन करणारा संघश्री नांवाचा  
धनदत्तराजाचा प्रधान त्याच्याच सभेंत एकाएकीं डोळे  
फुटून जन्ममरणरूपी संसारांत घिरळ्या घालूं आगळा.  
[ ही गोष्ट कथाकोशांत विस्तृत आहे ]

सम्यक्त्वस्योपकारकत्वं श्लोकद्वयेनाह —

आतां सम्यक्त्वाचा गुण पुढील दोन श्लोकांनीं  
सांगतात.

अधोमध्योर्ध्वलोकेषु ।

नाभून्नास्ति न भावि वा ॥



तत्सुखं यन्न दीयेत ।

सम्यक्त्वेन सुबन्धुना ॥ ७२ ॥

टीका— अस्यापि पूर्ववद्वाक्या सुबन्धुत्वं पुनः सम्यक्त्वस्य सर्वत्र सर्वदा सर्वेषामुपकारकत्वात्समस्तविनिपातप्रतिबन्धकत्वाच्च निश्चेयम् ॥

अर्थ— आपल्या बंधूप्रमाणें असलेल्या सम्यक्त्वानें जें दिलें जात नाहीं असलें सुख, मेरूच्या खालील सात भुवनें, मध्यलोक व वरील भुवनें ह्यांत पूर्वी उत्पन्न झालें नाहीं, सध्यां स्थितींत नाहीं व पुढेही उत्पन्न व्हावयाचें नाहीं.

प्रन्हासितकुटुम्बद्ध- ।

श्वभ्रायुः स्थितिरेकया ॥

दृग्विशुद्ध्याऽपि भविता ।

श्रेणिकः किलतीर्थकृत् ॥ ७३ ॥

टीका— किल एवं ह्यागमे श्रूयते श्रेणिको नाम मगधम-  
हामण्डलेश्वरो भविता भविष्यति । किंविशिष्टः तीर्थकृत् धर्मती-  
र्थकरः । कया दृग्विशुद्ध्या । किंविशिष्टया एकया असहायया  
विनयसम्पन्नतादितीर्थकरत्वकारणान्तररहितया । अपिर्विस्मये ।  
किंविशिष्टः सन् प्रेत्यादि श्वभ्रे सप्तमनरकभूमावायुषो भवधारण-  
कारणकर्मणः स्थितिः कालावधारणेन बन्धः श्वभ्रायुःस्थितिः  
कुदृशा तीव्रमिथ्यात्वपरिणामेन बद्धा आत्मसात्कृता श्वभ्रायुः-  
स्थितिः कुदृग्बद्धश्वभ्रायुःस्थितिः प्रन्हासिता त्रयस्त्रिंशत्सागरोपम-  
परिमाणादपकृष्य रत्नप्रभायां चतुरशीतिवर्षसहस्रपरिमाणा कृता  
कुदृग्बद्धा श्वभ्रायुःस्थितिर्यस्य । एकयाऽपि दृग्विशुद्ध्या स तथोक्तः ॥

अर्थ-- ज्याची कुदृष्टीने प्राप्त झालेल्या नरकांत रहा-  
ण्याच्या कालाची मर्यादा कमी झाली आहे असा श्रेणिक  
हा एका नुसत्या दर्शनशुद्धीनेही तीर्थंकर होणार आहे.  
( सातव्या नरकांतील उत्कृष्ट आयुष्य तेहेत्तीस सागरोपम  
काल असते. पण श्रेणिकाला दर्शनविशुद्धि असल्यामुळे  
त्याच्या कालाचा व्हास होऊन तो चवव्याऐशी हजार  
वर्षांचा झाला आहे. )

अर्हद्भक्तेर्माहात्म्यं द्वाभ्यामाह—

श्रीजिनाच्या भक्तीचें माहात्म्य पुढील दोन श्लोकांनीं  
सांगतात.

एकैवास्तु जिने भक्तिः । .

किमन्यैः स्वेष्टसाधनैः ॥

या दोग्धि कामानुच्छिद्य ।

सद्योऽपायानशेषतः ॥ ७४ ॥

टीका—भोः सुविहित साधो । अस्तु भवतु । काऽसौ भक्ति-  
र्भावविशुद्ध आन्तरोऽनुरागः । क जिने भगवदर्हदेवे । किंवि-  
शिष्टा एकैव असहायैव । किं कार्यं । कैः स्वेष्टसाधनैः स्वाभि-  
म-तार्थसिद्ध्युपायैः । किंविशिष्टैरन्यैर्जिनभक्तिव्यतिरिक्तैः । सर्वपुरुषा-  
र्थसाधनानां तथा विना तदाभासत्वनिश्चयात् । या किं या दोग्धि  
प्रपूरयति । कान् कामान् मनोरथान् । किं कृत्वा उच्छिद्य  
निरस्य । कानपायान् अभ्युदयनिःश्रेयसम्रंशिनोऽपायान् । कथ-  
मशेषतः सर्वतः सर्वान्वा । कथं सद्यः स्वाविर्भावनानन्तरमेव ॥

अर्थ— श्रीजिनाविषयीं एक भक्तीच असूं दे; इष्ट-  
प्राप्तीला दुसऱ्या साधनांचा कांहीच उपयोग नाही. कारण

जी भक्ति, तात्काल सर्व विघ्नांचा नाश करून आपले मनोरथ पूर्ण करिते.

वासुपूज्याय नम इ- ।

त्युक्त्वा तत्संसदं गतः ॥

द्विदेवारब्धविघ्नोऽभूत् ।

पद्मः शक्रार्चितो गणी ॥ ७५ ॥

टीका—अमृतसम्पन्नः । कोऽसौ पद्मः पद्मरथो नाम मिथि-  
काधिपतिः । किंविशिष्टो गणी गणधरदेवः । किंविशिष्टः सन्  
शक्रार्चितः इन्द्रकृतप्रातिहार्यः । पुनः किंविशिष्टः सन् द्विदेवार-  
ब्धविघ्नः द्वाभ्यां देवाभ्यां धन्वंतरिविश्वानुलोमचराभ्यामारब्धाः  
कर्तुमुपक्रान्ता विघ्नाः काककैकारककृष्णसर्पमार्गखण्डप्रभृतयोऽपश-  
कुनाः समवसरणगमनान्तराया यस्य स तथोक्तः । कथम्भूतो  
मृत्वा । गतः प्राप्तः । कां तत्संसदं वासुपूज्यसमवसरणं । किं  
कृत्वा उक्त्वा उच्चार्य ॥

अर्थ—श्रीवासुपूज्यदेवाला माझा नमस्कार असो असें  
उच्चारून त्याच्याच समवसरणांत गेलेला व त्या समवस-  
रणांत जाण्याच्या प्रसंगी धन्वंतरी व विश्वानुलोम ह्या दोन  
देवांनी ज्याला अनेक विघ्ने केलीं असा पद्मरथ नांवाचा  
राजा, इंद्रालाही पूज्य होऊन गणधर झाला.

एकोऽप्यर्हन्नमस्कार- ।

श्वेद्विशेन्मरणे मनः ॥

सम्पाद्याभ्युदयं मुक्ति- ।

श्रियमुत्कयति द्रुतम् ॥ ७६ ॥

टीका—चेद्यदि । विशेष भावरूपतया व्याप्नुयात् । को ऽसावेकोऽपि केवलोऽपि अर्हतो भगवतो नमस्कारः प्रणामः । किंतन्मनश्चित्तं । क मग्ने प्राणत्यागलक्षणे । तदा दुःखं क्षीयमु-  
त्कयत्युत्कंठयति । कां मुक्तिश्चियं मोक्षलक्ष्मी । अनन्तरमवेषु  
द्वित्रिभवेषु वा परमपदं सम्पादयतीत्यर्थः । किं कृत्वा सम्पाद्य  
सम्पूर्णं प्रापय्य । कमभ्युदयं महर्द्धिम् ॥

अर्थ—मरणकालीं श्रीजिनैद्राला एकच नमस्कार जर  
मनांत येईल तर तो मोठ्या संपत्तीला मिळवून देऊन  
मुक्तिलक्ष्मीसही त्वरेने उत्कंठित करील. ( मोक्षमार्गाला  
लावील. )

स णमो अरहंताण- ।

मित्युच्चारणतत्परः ॥

गोपः सुदर्शनीभूय ।

सुभगाब्दः शिवं गतः ॥ ७७ ॥

टीका—गतः । कोऽसौ आगमे प्रसिद्धः सुभगाब्दः सुभगो  
नाम गोपो गोपालः । किं तच्छिवं परममुक्तिं । किं कृत्वा  
सुदर्शनीभूय वृषभदासश्रेष्ठिपुत्रः सुदर्शनारूपः सुरूपः सुसम्यक्त्वश्च  
भूत्वा । किंविशिष्टः सन् णमो अरहंताणमित्येतस्यार्हन्नमस्कार-  
स्योच्चारणे संशङ्गे तत्परस्तन्निष्ठस्तदेकाग्रमना इत्यर्थः ॥

अर्थ—तो प्रसिद्ध असा सुभग ह्या नांवाचा गौळी  
“ णमो अरहंताण ” एवढ्या वाक्याचा उच्चारण करणारा  
असा होत्साता वृषभदास श्रेष्ठीचा सुदर्शन ह्या नांवाचा पुत्र  
होऊन परममुक्तीस प्राप्त झाला.

ज्ञानोपयोगमाहात्म्यं त्रिभिः श्लोकैराह—

स्वाध्यायादि यथाशक्ति ।

भक्तिपीतमनाश्चरन् ॥

तत्कालिकाद्भुतफला- ।

दुदर्के तर्कमस्यति ॥ ७८ ॥

टीका—अस्यति क्षिपति निवारयतीत्यर्थः । कोऽसौ पुरुषः । कं तर्के विकल्पं संशयरूपं विमर्शमित्यर्थः । कस्मिन्विषये उदर्के उत्तरफले स्वाध्यायाद्यनुष्ठानसाध्यमागमे यदद्भुतं फलमुक्तं तन्मे भविष्यति न वेति सन्देहं । कस्मात्तत्कालिकाद्भुतफलात् क्रियमाणस्वाध्यायाद्याचरणसमयभवासम्भाव्येष्टसाध्यात् दृष्टेनादृष्टस्यासम्भाव्यस्यापि निश्चेतुं शक्यत्वात् । किं कुर्वन् चरन् अनुतिष्ठन् । किं तत्स्वाध्यायादि स्वाध्यायं वन्दनां प्रतिक्रमणादिकमपि मुनीनां नित्यमाचरणं । कथं यथाशक्ति अनिगूहितबलवीर्यं यथा भवति । किंविशिष्टः सन् भक्तिपीतमनाः भक्त्या पीतं स्वान्तं पीतमनुरंजितं वा मनश्चित्तं यस्य स तथोक्तः ॥

अर्थ— ज्याचें अंतःकरण भक्तीने परिपूरित झालें आहे असा श्रावक जर स्वाध्याय, वंदना, प्रतिक्रमण वगैरे मुनिक्रिया करूं लागेल तर, त्याचवेळीं दृष्टी पडणाऱ्या अद्भुत फलामुळे पुढें उत्पन्न होणाऱ्या फलाविषयी त्याला अगदीं संशय रहाणार नाही.

शूले प्रोतो महामन्त्रं ।

धनदत्तार्पितं स्मरन् ॥

दृढशूर्पो मृतोऽभ्येत्य ।

सौधर्मात्तमुपाकरोत ॥ ७९ ॥

टीका—अतिनिर्भयमुपाकरोत् स्वस्वामिनृपतिकार्यमाणोपसर्ग-  
निराकरणपूर्वकसत्कारकरणेनोपाकृतवान् । कोऽसौ दृढशूर्पो नाम  
चोरः । कं तं धनदत्तश्रेष्ठिनं । किं कृत्वा अभ्येत्य आगत्य ।  
कस्मात्सौधमात् सौधर्मकरूपविमानात् । सौधर्मे महर्द्धिकदेवत्वं  
प्राप्त इत्यर्थादापन्नमत्र बोध्यं । कथम्भूतः सन् मृतः । किं  
कुर्वन् स्मरन् चिन्तयन् कं महामन्त्रं पञ्चनमस्कारं तदनुचिन्तन-  
स्योत्कृष्टस्वाध्यायत्वात् । किंविशिष्टं धनदत्तार्पितं धनदत्ताख्येन  
श्रेष्ठिना दौकितं । किंविशिष्टः स्थितः शूले प्रोतः शूलिकाया  
मारोपितः ॥

अर्थ—शूलावर चढाविलेला व धनदत्त श्रेष्ठीने दिलेल्या  
पंचनमस्कारात्मक महामंत्राचे स्मरण करणारा असा दृढशूर्प  
नांवाचा चोर मृत झाल्यावर देवत्वाला प्राप्त झालेला असा  
होत्साता सौधर्मविमानातून येऊन त्या धनदत्त श्रेष्ठीवर  
अनंत उपकार करिता झाला.

खण्डश्लोकैस्त्रिभिः कुर्वन् ।

स्वाध्यायादि स्वयंकृतैः ॥

मुनिनिन्दासमौग्ध्योऽपि ।

यमः सप्तर्द्धिभूरभूत् ॥ ८० ॥

टीका—अभूत् । कौऽसौ यमः यमो नाम राजा, राज्यं  
त्यक्त्वा प्रव्रजितः । किंविशिष्टः सप्तर्द्धिभूः । बुद्धि तवो  
वि य रिद्धी विडउणरिद्धी तद्देव ओसहिया । रसबलअरुखीणा  
वि य रिद्धीओ सत्तपणत्ता ॥ इत्यासां सप्तानामृद्धीनां भूः  
स्थानं सप्तर्द्धिप्राप्तोऽभूदित्यर्थः । किंविशिष्टोऽपि मुनिनिन्दासमौ-  
ग्ध्योऽपि मुनिनिन्दया प्राप्तमूढभावोऽपि । किं कुर्वन् स तथा

अमृत । कुर्वन् किं तत् स्वाध्यायादि । कैः खण्डश्लोकैः । किंविशिष्टैः  
 स्वयंकृतैः स्वयमात्मना निर्मितैः । कतिभिस्त्रिभिः तद्यथा—  
 कंहसि पुणुणं खेवसि रेगं दहा । जवं पत्थेसि स्वादिदुं ॥ १ ॥  
 अणत्थं किं फलो वहा तुष्ठी इत्थं बुधिया छिंदे । अंके च्छेद  
 इको णिवा ॥ २ ॥ अस्मा दोणं दि भयं दिहादोदिसराभयं  
 तुष्ठा ॥ ३ ॥

अर्थ—मुनींची निंदा करण्याने ज्याला मूढता प्राप्त  
 झाली आहे असा यम नांवाचा राजा, स्वतः केलेल्या  
 आध्यामुध्या तीन श्लोकांनी स्वाध्यायादि क्रिया करणारा  
 असल्यामुळे सात प्रकारच्या समृद्धीचे स्थान होता झाला.

अहिंसासत्ययोर्माहात्म्यं द्वाभ्यामाह—

अहिंसाप्रत्यपि दृढं ।

भजन्नोजायते रुजि ॥

यस्त्वध्यहिंसासर्वस्वे ।

स सर्वाः क्षिपते रुजः ॥८१॥

टीका—ओजायते ओजस्वीवाचरति दुःखेन नाभिमूयत  
 इत्यर्थः । कोऽसौ पुरुषः । कस्यां रुजि उपसर्गादिपीडायामुपस्थि-  
 तायां । किं कुर्वन् दृढं भजन् गाढं सेवमानः । किं तत् अहिंसा-  
 प्रत्यपि अहिंसायाः स्तोकमहिंसाप्रति । स्तोके प्रतिनेत्यनेनाव्ययी-  
 मावः ॥ स्तोकामप्यहिंसामित्यर्थः । यस्तु भवति । कथमधि  
 अधीश्वरः । क अहिंसासर्वस्वे अहिंसायाः सर्वस्वं साकल्यमहिं-  
 सासर्वस्वं तस्मिन् । ईश्वरेऽधीत्यनेन सप्तमी । सकलाहिंसाया  
 अधीश्वरो भवतीत्यर्थः । सः क्षिपते निराकरोति । काः सर्वाः  
 समस्ताः रुजो दुःखानि ॥

अर्थ— स्वल्प अशा अहिंसेला निश्चयानें सेवन करणारा मनुष्य दुःखाच्या प्रसंगी गंभीरपणास पावतो ( दुःख सहज सहन करतो ) आणि ज्यानें सर्व अहिंसा निश्चयानें धारण केली असेल तो सर्वदुःखांस दूर फेंकितो.

यमपालो न्हदेऽहिस- ।

जेकाहं पूजितोऽप्सुरैः ॥

धर्मस्तत्रैव मेण्डूघ्नः ।

शिशुमारैस्तु भक्षितः ॥ ८२ ॥

टीका— पूजितः कोऽसौ यमपालः वाराणस्यां मातङ्गः । कैः अप्सुरैः जलदेवताभिः । क न्हदे शिशुमारन्हदे । किं कुर्वन् एकाहमेकदिनमहिसन् चतुर्दशीदिने हिंसामकुर्वन्नित्यर्थः । धर्मस्तु श्रेष्ठिपुत्रो भक्षितः । कैः शिशुमारैः । क तत्रैव तस्मिन्नेव न्हदे । किंविशिष्टः सन्? मेण्डूघ्नः कृतराजमेण्डूकवधः ॥

अर्थ— शिशुमार नांवाच्या डोहांत एक दिवस हिंसा न केल्यानें यमपाल नांवाच्या मांगाचा जलदेवतांनीं फार सत्कार केला, आणि त्याच ठिकाणीं बोकड मारणाऱ्या धर्म नांवाच्या श्रेष्ठिपुत्रास शिरस नांवाच्या पाण्यांतील जंतूंनीं खाऊन टाकिलें.

असत्यकृतापायं द्वाभ्यामाह—

आतां; पुढील दोन श्लोकांनीं असत्यापासून होणारा अपाय सांगतात.

मा गां कामदुघां मिथ्या- ।

वादव्याघ्रोन्मुखी कृथाः ॥



अल्पोऽपि हि मृषावादः

श्वभ्रदुःखाय कल्पते ॥ ८३ ॥

टीका—हे क्षपक मा कृथाः मा कुरु त्वं । कां गां वाचं । पक्षे अनङ्वाही । किंविशिष्टां कामदुघां कामं प्रार्थ्यमानमर्थं दोषि क्षरत्याविर्भावयतीत्येवम्भूतां सत्यवाचं कामधेनुं चेत्यर्थः । किंविशिष्टां मा कृथाः मिथ्यावादव्याघ्रोन्मुखी मिथ्यावादोऽसत्यजल्पः स एव व्याघ्रः कामधेनोरिव सत्यवाचः संहरणशीलत्वात् मिथ्यावादव्याघ्रस्य उन्मुखी संमुखी मिथ्यावादं कर्तुमुद्युक्तां व्याघ्रं च प्रतिवर्तमानां । हि यस्मादल्पोऽपि स्तोकोऽपि किं पुनर्भूयान् । मृषावादो वितथव्याहारः श्वभ्रदुःखाय कल्पते सम्पद्यते, नरकदुःखं सम्पादयतीत्यर्थः ॥

अर्थ—आपले सर्व मनोरथ पूर्ण करणाऱ्या अशा वाणी रूपी कामधेनूम असत्यभाषणोच्चाररूपी व्याघ्राच्या समोर नेऊं नकोस झणजे तिला असत्यभाषण करण्यास तयार करूं नकोस ! कारण, स्वल्प असेंही मिथ्याभाषण नरकाचे दुःख संपादन करिते.

अजैर्यष्टव्यमित्यत्र ।

धान्यैस्त्रैवार्षिकैरिति ॥

व्याख्यां छागैरिति परा- ।

वर्त्यागान्नरकं वसुः ॥ ८४ ॥

टीका—अगात् गतः कोऽसौ वसुर्नाम राजा । किं तन्नरकं । किं कृत्वा परावर्त्य अन्यथा कृत्वा । कां धान्यैस्त्रैवार्षिकैरिति व्याख्यां । कथं परावर्त्य छागैरिति । क अजैर्यष्टव्यमित्यत्र परमागमे

वाक्ये । अयमर्थः न जायंत इत्यजा वर्षत्रयवृत्तयो ब्रीहयस्तैर्य-  
ष्टव्यं शान्तिकपौष्टिकार्था क्रिया कार्येति क्षीरकदंबाचार्यैरिदं  
व्याख्यानं परावर्त्य अजैरजात्मजैर्यष्टव्यं हव्यकव्यार्थो विधिर्विधा-  
तव्य इत्यन्यथा कृत्वा पर्वतनारदविसंवादे वसुराजः श्वभ्रमगम-  
दित्यर्थः ॥ अजैर्होतव्यमिति कचित्पाठः ॥

अर्थ— “अजैर्यष्टव्यं (अजांच्या योगानें यज्ञ करावा)”  
ह्या वाक्यांतील ‘अज’ शब्दाचा ‘तीन वर्षांचें जुनें  
धान्य’ हा अर्थ फिरवून ‘अज’ ह्यणजे ‘मेंढा’ असा  
अर्थ करणारा वसु नांवाचा राजा मरणानंतर नरक-  
गतीस पावला.

स्तेयानुभावं द्वाभ्यामाह—

आतां ; चोरीचें फळ पुढील दोन श्लोकांनीं सांगतात.

आस्तां स्तेयमभिध्याऽपि ।

विध्याप्याऽग्निरिव त्वया ॥

हरन् परस्वं तदसून् ।

जिहीर्षन् स्वं हिनस्ति हि ॥ ८५ ॥

टीका—भोः सनाधिमरणार्थिन् । आस्तां तिष्ठतु किं तत्कथ-  
नेनेत्यर्थः । किं तत् स्तेयं परधनापहरणं । विध्याप्या रामयि-  
तव्या तया । काऽसावभिध्याऽपि परधनेच्छाऽपि । क इवाग्निरिव  
बह्निर्यथा तापहेतुत्वात् । हि यस्मात् हिनस्ति हन्ति । कोऽसौ  
पुरुषः । कं स्वमात्मानं । किं चिकीर्षन् जिहीर्षन् हर्तुमिच्छन् ।  
कान् तदसून् परप्राणान् । किं कुर्वन् हरन् अदत्तं गृण्हन्  
किं तत् परस्वं परद्रव्यं । अयमत्राभिप्रायः परधनं मुष्णतः पर-  
प्राणोपघातेच्छा अवश्यं भाविनी, परजिघांसा च आत्मनो हिंसा

परमार्थतस्तस्या एव हिंसात्वात् । भावहिंसायामेव हि सत्यां द्रव्य-  
हिंसा दुरन्तसंसारदुःखलक्षणं स्वफलं प्रयच्छतीति ॥

अर्थ— हे समाधिमरणाची इच्छा करणाऱ्या क्षपका !  
चोरी तर राहूं देच ! पण तिची नुसती इच्छा जरी झाली ,  
तरी तीदेखील अग्नीप्रमाणें त्रास देणारी असल्यानें , ती तूं  
समूळ नाहीशी करून टाक ! कारण , परद्रव्याचें हरण  
करणारा मनुष्य , तें परद्रव्य आपल्याला मिळावें ह्मणून  
दुसऱ्याचे प्राण देखील घेण्याची इच्छा करितो . आणि  
त्यामुळे तो आत्मघात करणारा होतो . ह्याचें तात्पर्य  
असें कीं , दुसऱ्याचें द्रव्य चोरावयाच्या वेळीं तें मिळ-  
ण्याकरितां त्याचा प्राण घेण्याची इच्छा होते . ही जी  
दुसऱ्याचा प्राण घेण्याची इच्छा तिलाच भावहिंसा असें  
ह्मणतात . केवळ द्रव्यहिंसा जरी झाली , तथापि  
त्यापासून मोठेंसे पाप होत नाही . जसें सहज धक्का लागून  
एखादा प्राणी मरणें ; हें देखील वस्तुतः जरी वाईटच  
आहे तथापि ह्या जन्ममरणरूपी संसाराच्या चक्रांत अवश्य  
पडलें पाहिजे असल्या तऱ्हेचें पाप नाही . कारण , त्या  
हिंसेविषयी इच्छा नसून ती सहज झालेली असते . परंतु  
भावहिंसा नुसती सुद्धा असणें बरें नाही . कारण ,  
भावहिंसा उत्पन्न झाल्यावर द्रव्यहिंसा जरी घडली नाही  
तथापि तिच्या योगानें ह्या दुःखयुक्त असलेल्या संसारांत  
प्राण्याला अवश्य फिरावें लागतें .

रात्रौ मुषित्वा कौशाम्बी ।

दिवा पञ्चतपश्चरन् ॥

शिक्यस्थस्तापसोऽधोऽगात् ।

तलारकृतदुर्मृतिः ॥ ८६ ॥

टीका—अधोऽगान्नरकं गतः । कोऽसौ तापसो भौतिकः । किंविशिष्टः सन् तलारकृतदुर्मृतिः तलवरेण प्रवर्तितप्रकृष्टरौद्रध्या-  
नाविष्टमरणः । किं कुर्वन् शिक्यस्थः परभूमिं न स्पृशामीति  
लम्बमाने शिक्ये स्थितः । पञ्चतपश्चरन् पञ्चाग्निसाधनं कुर्वन् ।  
क दिवा दिने । किं कृत्वा मुषित्वा मुषितधनां कृत्वा । कां  
कौशाम्बी कौशाम्बीसञ्ज्ञनगरीं तन्नगरीवास्तव्यलोकं । क रात्रौ ॥

अर्थ—रात्रीं कौशांवीनगरींतील लोकांना लुटून दिवसा  
पंचाग्निसाधन करणारा शिक्यांत बसलेला एक तपस्वी,  
तलारानें हाल हाल करून मारल्यामुळें रौद्रध्यानाच्या  
योगानें आपल्या दुष्कृत्यानेंच नरकांत पडला.

ब्रह्मचर्यदार्ढ्यविधापनार्थमाह—

ब्रह्मचर्यं दृढ होण्याकरितां सांगतात.

पूर्वेऽपि बहवो यत्र ।

स्वलित्वा नोद्वताः पुनः ॥

तत्परं ब्रह्म चरितुं ।

ब्रह्मचर्यं परं चरेत् ॥ ८७ ॥

टीका—बहवः प्रभूताः पूर्वे रुद्रादयः किं पुनरद्यतना मुनय  
इत्यपिशब्दार्थः । यत्र यस्मिन् ब्रह्मचर्याख्ये व्रते, स्वलित्वा  
अतिचारं प्राप्य, न पुनरुद्वता न तत्रात्मानमुपस्थापितवन्तोऽनाचारं  
चरितवन्त इत्यर्थः । तद्ब्रह्मचर्यं चतुर्थव्रतं परमुत्कृष्टं मनागप्य-  
तीचाररहितं कृत्वा चर धारय त्वं । किं कर्तुं चरितुमनुभवितुं ।

किं तत्परमुत्कृष्टं निर्विकल्पं प्रत्यग्ज्योतिराख्यं, ब्रह्म ज्ञानं,  
शुद्धस्वात्मानं स्वात्मना संवेदयितुमित्यर्थः ॥

अर्थ—पूर्वीचे मोठमोठे मुनीही ज्या ब्रह्मचर्यापासून  
भ्रष्ट होऊन पुनः ते पाळण्यास समर्थ झाले नाहीत ते  
सर्वव्रतांत श्रेष्ठ असं ब्रह्मचर्यव्रत केवलज्ञानाची प्राप्ती  
होण्याकरितां श्रावकानें अवश्य पाळावें.

नैर्ग्रन्थव्रतं द्रढयितुमाह—

निर्ग्रन्थव्रताची दृढता होण्याकरितां सांगतात.

मिथ्येष्टस्य स्मरन् श्मश्रु-

नवनीतस्य दुर्मृतेः ॥

मोपेक्षिष्ठाः कचिद्वन्थे ।

मनो मूर्च्छन्मनागपि ॥ ८८ ॥

टीका—भोः सुविहितसाधो मा उपेक्षिष्ठाः माऽवधीरय त्वं ।  
किं तन्मनः । किं कुर्वत् मूर्च्छत् मुह्यत् ममेदमिति संकल्पं  
गच्छत् । क कस्यचिच्छ्रेष्ठिपुत्रस्य । किंविशिष्टस्य मिथ्येष्टस्य  
वितथमनोरथस्य । पुनः किंविशिष्टस्य दुर्मृतेः रौद्रध्यानमृतस्य ॥

अर्थ—मिथ्यावस्तूवर प्रेम करणाऱ्या श्मश्रुनवनीत  
नांवाच्या मनुष्याच्या भयंकर मरणाचें स्मरण करून,  
कोणत्याही परिग्रहाविषयी मनाला स्वल्प अभिलाष जरी  
उत्पन्न झाला, तथापि त्याची उपेक्षा करूं नये.

निश्चयनयेन नैर्ग्रन्थप्रतिपत्त्यर्थमाह—

बाह्यो ग्रन्थोऽङ्गमक्षाणा-

मान्तरो विषयैषिता ॥

निर्मोहस्तत्र निर्ग्रन्थः ।

पान्थः शिवपुरेऽर्थतः ॥ ८९ ॥

टीका—भवति । कोऽसौ बाह्यो बहिरङ्गो, ग्रन्थः परिग्रहः । किमङ्गं शरीरं । तथा आंतरोऽन्तरङ्गः सङ्गो भवति । किं अक्षाणां स्पर्शनादीनां विषयैषिता स्पर्शादिविषयेष्वभिलाषः । तत्र द्वयोरपि ग्रन्थयोर्निर्मोहो निर्मूर्च्छः साधुरर्थतः परमार्थेन निर्ग्रन्थो निष्परिग्रहो भवति । तथा शिवपुरे निर्वाणनगरे पान्थो नित्यं प्रस्थायी स्यात् निर्ग्रन्थस्यैव मोक्षमार्गेऽविच्छिन्नं प्रस्थातुं समर्थत्वात् ॥

अर्थ—शरीर हैं बाह्यपरिग्रह होय, आणि इंद्रियांनां होणारी जी विषयांची इच्छा तो अंतरंगपरिग्रह होय; ह्या दोन्ही परिग्रहांविषयीं जो निर्मोह असतो तो निर्ग्रन्थ, आणि तोच खरोखर मुक्तिपुरीचा वाटसरू होय !

कषायेन्द्रियकृतापायाननुस्मारयन्नाह—

क्रोधादि कषाय आणि इंद्रिये ह्यांच्यापामून होणाऱ्या दुःखांचें स्मरण करून देतात.

कषायेन्द्रियतन्त्राणां ।

तत्तादृग्दुःखभागिताम् ॥

परामृशन्मास्म भवः ।

शंसितव्रत तद्वशः ॥ ९० ॥

टीका—भोः शंसितव्रत शंसितानि महद्भिरपि स्तुतानि व्रतानि यस्य स शंसितव्रतं, मा स्म भवः मा मूत्स्वं । किं विशिष्टस्तद्वशः कषायेन्द्रियपरतन्त्रः । किं कुर्वन् परामृशन् चिन्तयन् । कां

तच्छाह्मदुःस्वभागीतां सा षष्ठाध्याये निर्दिष्टा तादृगनन्यसाधारणी  
दुःस्वभागीता क्लेशानुभूतिस्तां । केषां कषायेन्द्रियेषु आयत्तानां  
तदभिभूतानामित्यर्थः ॥

अर्थ— महात्म्यांनीं देखील ज्याच्या व्रताची स्तुति  
केली आहे अशा हे श्रावका ! क्रोधादि कषाय आणि  
इंद्रिये ह्यांच्या ताब्यांत असलेल्या लोकांचे अवर्णनीय  
दुःख भोगणे पाहून तूं त्यांच्या ताब्यांत जाऊं नकोस.

एवं व्यवहाराराधनानिष्ठतां विधाप्य निश्चयाराधनामुपदिशति—  
ह्याप्रमाणे व्यवहाराराधना सांगून आतां निश्चयाराध-  
नेचा उपदेश करितात.

श्रुतस्कन्धस्य वाक्यं वा ।

पदं वाऽक्षरमेव वा ॥

यत्किञ्चिद्रोचते तत्रा- ।

लम्ब्य चित्तलयं नय ॥ ९१ ॥

टीका—अहो व्यवहाराराधनापरिणत आराधकराज । यत्कि-  
चिद्यत्किमपि रोचते तुभ्यं रुचिमुत्पादयति च । किं तद्वाक्यं  
वा वाक्यमाध्यात्मिकं वा, णमो अरहंताणमित्यादिकं पदं वा,  
अहमित्यादिकमक्षरमेव वा अ सि आ उ सा इत्यादीनामेकतमं ।  
कस्य सम्बन्धि श्रुतस्कन्धस्य श्रुतस्याङ्गप्रविष्टस्य आचाराङ्गादि-  
द्वादशविकल्पस्य अङ्गवाक्यस्य च सामायिकादिभेदस्य प्रकीर्णका-  
ख्यस्य स्कन्धः सङ्घातस्तस्य मध्ये यत्किञ्चिद्वाक्यादिकमिदानीं  
क्षीणशक्तेस्तवानुरागं जनयति । तत्र इष्टे वाक्यादीनामन्यतमे  
आलम्ब्य आसज्य चिरत्र भवतः प्रमाणं श्रुतस्कन्धवाक्यादीनां

त्रयाणामपि भक्त्या भाव्यमानानां परमार्थाराधनासाधनसामर्थ्य-  
निर्णयात् । अक्षरमेवेत्यत्र एव शङ्खश्च स्वयोग्यव्यवस्थापकः ॥

अर्थ— (त्याला उपदेश करितात.) बा आराधका !  
द्वादशांग जिनशास्त्रापैकीं कोणतेंही एक वाक्य अथवा  
“ ॐ णमो अरहंताणं ” इत्यादि पस्तीस अक्षरांचें पद  
ह्मणजे णमोकार महामंत्र किंवा सोळा, सहा, पांच,  
चार, दोन एक ह्यांपैकीं कितीही अक्षरांचें एक पद ह्मणजे  
मंत्र अथवा ‘ ॐ ’ हा एकाक्षरी मंत्र, ह्यापैकीं जें तुला प्रिय  
वाटेल त्या ठिकाणीं तूं आपलें अंतःकरण एकाग्र कर.

शुद्धं श्रुतेन स्वात्मानं ।

गृहीत्वाऽर्यं स्वसंविदा ॥

भावयँस्तल्लयापास्त- ।

चिन्तो मृत्यैहि निर्वृतिम् ॥ ९२ ॥

टीका—हे आर्य आराधनातत्पर । एहि गच्छ त्वं । कां  
निर्वृतिं मुक्तिं । किं कृत्वा मृत्वा प्राणान् विसृज्य । कथम्भूतो  
भूत्वा तल्लयापास्तचिन्तः तत्र शुद्धस्वात्मनि लयः श्लेषस्तल्लयस्तन्म-  
यीभावस्तेन अपास्ता निराकृता चिन्ता संकल्पश्चित्तां वा मनो यस्य  
स तथोक्तः । किं कुर्वन् भावयन् कं शुद्धं रागद्वेषमोहरहितं  
स्वात्मानं निजचिद्रूपं । कया स्वसंविदा स्वसंवेदनेन । किं कृत्वा  
गृहीत्वा निश्चित्य । केन श्रुतेन ‘ एगो मे संसदो आदा ’ इत्यादि-  
श्रुतज्ञानेन । मृत्यैहीत्यत्र ओमाङ्गोरित्यनेन परस्वरूपं । उक्तं च  
क्षेत्रपात्रे द्वे ज्ञातव्ये । आराधनोपयुक्तः सन् सम्यक्कालं विधाय च ।  
उत्कर्षाग्निभवान् गत्वा प्रयाति परिनिर्वृतिम् ॥ १ ॥



अर्थ— हे उपासका ! स्वसंवेदनानें आपल्या चित्स्वरूप असलेल्या आत्म्याचा निश्चय करून श्रुतज्ञानानें तो राग-द्वेषादिकांनीं रहित आहे, अशी भावना करणारा व त्या आत्म्याचे ठिकाणीं जें तादात्म्य त्याच्या योगानें ज्याच्या सर्व वृत्ति नष्ट झाल्या आहेत असा होत्साता, ह्या देहाचा संबंध टाकून (मरून) मुक्तीला प्राप्त हो !

उक्तमेवार्थं परमार्थसंन्यासोपदेशद्वारेण समर्थयते—

वरील श्लोकांत सांगितलेला विषय वास्तव संन्यासाच्या उपदेशाच्या द्वारानें पुनः सांगतात.

संन्यासो निश्चयेनोक्तः ।

स हि निश्चयवादिभिः ॥

यः स्वस्वभावे विन्यासो ।

निर्विकल्पस्य योगिनः ॥ ९३ ॥

टीका—हि यस्मान्निश्चयवादिभिर्व्यवहारनयसापेक्षानिश्चयनय-प्रयोगचतुरैः सूरिभिर्निश्चयेन परमार्थेन स संन्यास उक्तः मुमुक्षु-णामग्रे प्ररूपितः । यः किं यो विन्यासः विधि पूर्वकमात्मनः स्थापनां स्वस्वभावे शुद्धचिदानन्दमये स्वात्मनि । कस्य योगिनः समा-धिमतः । किंविशिष्टस्य निर्विकल्पस्य अन्तर्जल्पसंपृक्तोत्प्रेक्षाजालनिष्क्रान्तस्य ॥

अर्थ—ज्याच्या अंतःकरणवृत्ति निरुद्ध झाल्या आहेत अशा व समार्धीन युक्त असलेल्या जीवाची जी शुद्धचिदानंदमय अशा स्वरूपाचे ठिकाणीं स्थापना (एकीभाव) तेच खरा संन्यास असें निश्चयनयानें बोलणाऱ्या पंडितांनीं सांगितले आहे.

परीषदादिना विक्षिप्यमाणचित्तस्य क्षपकस्य निर्यापकाचार्यः  
किं कुर्यादित्याह—

परीषदादिकांच्या योगानें ज्याचें अंतःकरण व्यग्र झालें  
आहे अशा क्षपकास निर्यापकाचार्यानें काय करावें तें  
सांगतात.

परीषहोऽथवा कश्चि- ।

दुपसर्गो यदा मनः ॥

क्षपकस्य क्षिपेद्ज्ञान- ।

सारैः प्रत्याहरेत्तदा ॥ ९४ ॥

टीका— यदा यस्मिन्काले क्षिपेद्यत्र तत्र भ्रमयेत् । कोऽसौ  
कश्चित् कोऽपि क्षुधादीनामन्यतमः परिषहोऽथवा कश्चिदचेतनकृता-  
दीनामन्यतम उपसर्गो वा । किं तन्मनः । कस्य आराधकस्य । तदा  
प्रत्याहरेत् व्यावर्तयेत् शुद्धस्वात्मोन्मुखं तत्कुर्यादाचार्यः । कैः  
ज्ञानसारैः श्रुतज्ञानरहस्योपदेशैः ॥

अर्थ— ज्यावेळीं एखादा उपसर्ग किंवा एखादा परी-  
षह क्षपकाच्या अंतःकरणास व्यग्र करील, त्यावेळीं,  
निर्यापकाचार्यानें श्रुतज्ञानांतील रहस्यांच्या उपदेशानें तें  
परतवावें.

ज्ञानसारैरित्येतत् प्रपंचयितुमुत्तरप्रबन्धमाह—

श्रुतज्ञानाच्या रहस्यांचा उपदेश पुढील श्लोकांनीं विस्ता-  
रानें सांगतात.

दुःखाग्निकीलैराभीलै- ।

नैरकादिगतिष्वहो ॥

तप्तस्त्वमङ्गसंयोगात् ।

ज्ञानामृतसरोऽविशन् ॥ ९५ ॥

टीका—अहो भावकप्रवेक तप्तः सन्तप्तस्त्वं । कैर्दुःखाग्नि-  
कीलैः शरीरमानसाशान्तदहनज्वालाभिः । किंविशिष्टैः आभीलैः  
कष्टैः प्रतिकर्तुमशक्यैरित्यर्थः । कासु नरकादिगतिषु नारकतिर्यङ्-  
मनुष्यदेवभवग्रहणेषु । कस्मादंगसंयोगात् शरीरसंश्लेषात्, शरीर-  
मात्मबुद्ध्याध्यवस्यन्नित्यर्थः । किं कुर्वन् अविशन् अप्रविशन् अन-  
वगाहमानः । किं तत् ज्ञानामृतसरः अन्यच्छरीरमन्योऽहमित्यादि-  
भेदोपलम्भपीयूषतडागम् ॥

अर्थ— हे भावका ! शरीराच्या संबंधामुळे नरकादि  
गतींच्या ठिकाणीं भयंकर अशा दुःखाग्नीच्या ज्वालांनीं  
तूं फार तापलेला आहेस ! कारण, तूं ज्ञानरूपी अमृताच्या  
सरोवरांत प्रवेश केला नव्हतास !

इदानीमुपलब्धात्म-

देहभेदाय साधुभिः ॥

सदाऽनुगृह्यमाणाय ।

दुःखं ते प्रभवेत्कथम् ॥ ९६ ॥

टीका—इदानीं सम्प्रति । कथं प्रभवेत् । किं तत् दुःखं ।  
कस्मै ते तुभ्यं । केनाऽपि प्रकारेण त्वामभिभूयितुं परिषदादिदुःखं  
न शक्नुयादित्यर्थः । किंविशिष्टाय ते उपलब्धात्मदेहभेदाय  
निश्चितस्वात्मशरीरव्यतिरेकाय । पुनः किंविशिष्टाय अनुगृह्यमा-  
णाय उपक्रियमाणाय । कैः साधुभिः संयतैः । कथं सदा नित्यम् ॥

अर्थ— देह व आत्मा ह्यांतील भेद ज्याला बरोबर

दिसला आहे व सत्पुरुष सर्वदा ज्यावर कृपा करीत आहेत अशा तुला, ह्या समयीं त्रास देण्यास दुःख कसें बरे समर्थ होईल ?

दुःखं सङ्कल्पयन्ते ते ।

समारोप्य वपुर्जडाः ॥

स्वतो वपुः पृथक्कृत्य ।

भेदज्ञाः सुखमासते ॥ ९७ ॥

टीका—संकल्पयन्ति भेदमिति व्यवस्यन्ति । के ते जडाः बहिरात्मानः । किं तत् दुःखं अहं दुःखवानस्मीति प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः । किं कृत्वा समारोप्य सन्मुखं योजयित्वा । किं तद्वपुः शरीरं । कस्वे आत्मनि स्वदेहं स्वात्मतया निश्चित्येत्यर्थः । भेदज्ञा आत्मशरीरविवेकविदः । पुनरासते तिष्ठन्ति । कथं सुखं स्वात्मदर्शनोत्थमानन्दमनुभवन्तीत्यर्थः । किं कृत्वा पृथक्कृत्य भेदेनाध्यवसाय्य । किं तद्वपुः । कस्मात्स्वतः शरीरमात्मनो भिन्नं निश्चित्य । तद्भेदभावना यथा— न मे मृत्युः कुतो भीतिर्न मे व्याधिः कुतो व्यथा । नाहं बालो न वृद्धोऽहं न युवैतानि पुद्गले ॥ जीवोऽन्यः पुद्गलान्य इत्यादि ॥

अर्थ— मूर्ख लोक आत्म्याच्या ठिकाणीं देहाचा आरोप करून (देह हाच आत्मा अशी भावना करून) दुःखाची कल्पना करितात. ह्मणजे मी दुःखी आहे असें मानितात. परंतु ज्यांना देह आणि आत्मा ह्यांतील भेद समजला आहे असे संयमी मुनि आपल्यापासून देह निराळा करून सुखानें रहातात.

परायत्तेन दुःखानि ।

बाढं सोढानि संसृतौ ॥

त्वयाऽद्य स्ववशः किञ्चित् ।

सहेच्छन्निर्जरां पराम् ॥ ९८ ॥

टीका—त्वया समाधिसाधनोद्यतेन भवता बाढमत्यर्थं सोढानि अनुभूतानि । कानि दुःखानि क संसृतौ अनादिसंसारे । किंवि-  
शिष्टेन सता परायत्तेन परवशेन । अद्य सन्प्रति प्रत्यासन्नमृत्युस-  
मये सह साम्यभावनयाऽनुभव । कानि दुःखानि कथं किञ्चित्  
स्तोकं अल्पकालं । किंविशिष्टः सन् स्ववशः स्वाधीनः । कुर्वन्नि-  
च्छन् वाञ्छन् निर्जरामशुभकर्मक्षयं । किंविशिष्टां यपरां उत्कृष्टामन्त्या  
वा अलब्धपूर्वां संवरसहभाविनीम् ॥

अर्थ—उपासका ! कर्माच्या ताब्यांत असलेला तूं ह्या  
संसारांत पुष्कळ दुःखें सोशिलीस ; तथापि आज स्वतंत्र  
होऊन अशुभ कर्माचा अगदीं नाश व्हावा अशी इच्छा  
करणारा तूं थोडेसें दुःख सोस !

यावद्गृहीतसंन्यासः ।

स्वं ध्यायन् संस्तरे वसेः ॥

तावन्निहन्याः कर्माणि ।

प्रचुराणि क्षणे क्षणे ॥ ९९ ॥

टीका—यावत् यावन्तं कालं, गृहीतसंन्यासः प्रतिपन्नभक्तप्र-  
त्यारूयानस्त्वं स्वमात्मानं ध्यायन्नेकाग्रतया चिन्तयन् संस्तरे प्रस्तरे  
वसेस्तिष्ठेस्तावत् तावन्तं कालं क्षणे क्षणे प्रचुराणि कर्माणि  
निहन्या नियतमवश्यं क्षपयेः ॥

अर्थ— जोंपर्यंत संन्यास करून आत्मचित्त करीत संस्तरावर रहाशील, तोंपर्यंत प्रत्येक क्षणीं पुष्कळ अशु-  
भकर्मांचा नाश करशील !

पुरुप्रायान् बुभुक्षादि- ।

परीषहजये स्मर ॥

घोरोपसर्गसहने ।

शिवभूतिपुरःसरान् ॥ १०० ॥

टीका—किं च बुभुक्षादिपरीषहजये कर्तव्ये स्मर चिन्तय त्वं ।  
कान् पुरुप्रायान् वृषभदेवादीन् । तथा घोरोपसर्गसहने कर्तव्ये  
शिवभूतिप्रभृतीन् स्मर ॥

अर्थ— क्षुधा, तृषा वगैरं परीषदांना ज्यावेळीं जिंका-  
वयाचें असेल त्यावेळीं श्रीवृषभदेवादिकांचें स्मरण कर;  
आणि ज्यावेळीं भयंकर उपसर्ग सहन करावयाचे अस-  
तील त्यावेळीं शिवभूति वगैरेंचें स्मरण कर.

तृणपूलबृहत्पुञ्जे ।

संक्षोभ्योपरिपातिते ॥

वायुभिः शिवभूतिः स्वं ।

ध्यात्वाऽभूदाशु केवली ॥ १०१ ॥

टीका— अमृतसम्पन्नः । कोऽसौ शिवभूतिः शिवभूतिसंज्ञो  
मुनिः । किंविशिष्टः केवली केवलज्ञानी । कथमाशु सद्यः । किं  
कृत्वा ध्यात्वा प्रणिधाय । कं स्वमात्मानं । क सति तृणपूलबृह-  
त्पुञ्जे लोके गंजी इति प्रसिद्धे । किंविशिष्टे पातिते । कैर्वायुभिः ।

क उपरि उपरिष्ठात् । किं कृत्वा संक्षोभ्य समन्तादितस्ततः  
क्षोभयित्वा संचाल्य । अचेतनकृतोपसर्गसहने दृष्टान्तः ॥

अर्थ—गवताची मोठी गंजी वायूने चोहीकडून हलवून  
अंगावर पाडिली असतां शिवभूति आत्मार्चितन करून  
त्याचवेळीं केवली मुनि झाला. [हे अचेतनाने केलेल्या  
उपसर्गाचे सहन केल्याबद्दलचे उदाहरण दिले.]

न्यस्य भूषाधियाऽङ्गेषु ।

सन्तप्ता लोहशृङ्खलाः ॥

द्विट्पक्ष्यैः कीलितपदाः ।

सिद्धा ध्यानेन पाण्डवाः ॥ १०२ ॥

टीका— सिद्धाः परममुक्तिं गताः । के ते पाण्डवाः साक्षा-  
द्युधिष्ठिरभीमसेनार्जुनाख्यः सिद्धाः । नकुलसहदेवौ त्वसाक्षात्  
सर्वार्थसिद्ध्यादिजन्मना व्यवधानात् । केन ध्यानेन शुद्धस्वात्मप्र-  
संख्यानानेन । किंविशिष्टाः संतः कीलितपदाः लोहकीलकैर्भूम्या सह  
यंत्रितपदाः । कैः द्विट्पक्ष्यैः द्विषां कौरवाणां पक्षे भवैः तद्भा-  
गिनेयादिभिः । किं कृत्वा न्यस्य निक्षिप्य । काः लोहशृङ्खलाः ।  
किंविशिष्टाः तप्ताः ज्वलज्वालीकृताः । केषु अङ्गेषु पाण्डवानां  
कण्ठादिप्रदेशेषु । कया भूषाधिया भूषणकल्पनया । युष्मान्  
हेमामरणानीमानि परिदापयाम इति कथयित्वेत्यर्थः । मनुष्य-  
कृतोपसर्गसहनोपाख्यानमिदम् ॥

अर्थ— शत्रूकडील लोकांनी 'हे अलंकार आहेत' असे  
सांगून अंगांत तापलेल्या लोखंडाच्या सांखळ्या अडक-  
वून भूमीबरोबर ज्यांची पावलें मोळे मारून खिळलीं  
आहेत असे पांडव, आत्मध्यानाने दुःखापासून मुक्त झाले.

[हैं मनुष्यांनीं केलेल्या उपसर्गांचें सहन केल्याबद्दलचें उदाहरण दिलें.]

शिरीषसुकुमाराङ्गः ।

खाद्यमानोऽतिनिर्दयम् ॥

सृगाल्या सुकुमारोऽसून् ।

विससर्ज न सत्पथम् ॥ १०३ ॥

टीका— विससर्ज त्यक्तवान् । कोऽसौ सुकुमारः सुकुमार-  
स्वामी । कान् असून् प्राणान् न पुनः सत्पथं शुद्धस्वात्मध्यानरूपं  
सिद्ध्युपायं विससर्ज । किं क्रियमाणः खाद्यमानः भक्ष्यमाणः ।  
कया सृगाल्या जम्बुकल्लिया । कथमिति निर्दयं प्रकामनिष्कृपं ।  
किंविशिष्टः सन् शिरीषसुकुमाराङ्गः शिरीषकुमुमसमानकोमलकायः  
तिर्यक्कृतोपसर्गसहनोदाहरणमिदम् ॥

अर्थ— शिरसाच्या फुलाप्रमाणें ज्याचे अवयव अत्यंत  
कोमल आहेत असा असून कोलिहणीनें निर्दयपणानें  
चावला असलेला अशा सुकुमारस्वामीनें प्राण देखील  
सोडिले; परंतु, सन्मार्ग सोडिला नाही. [हैं पशूंनीं  
केलेल्या उपसर्गांचें सहन केल्याबद्दलचें उदाहरण आहे.]

तीव्रदुःखैरतिक्रुद्ध- ।

भूतारब्धैरितिस्ततः ॥

भग्नेषु मुनिषु प्राणा- ।

नौज्झद्विद्युच्चरः स्वयुक् ॥ १०४ ॥

टीका— औज्झत्त्यजति म । कोऽसौ विद्युच्चरः । कान्  
प्राणान् । किंविशिष्टः सन् स्वयुक् आत्मानं समादधानः । केषु  
सत्सु मुनिषु तपोधनेषु । किंविशिष्टेषु भग्नेषु प्रपलायितेषु । क



इतस्ततः यत्र तत्र । कैः तीव्रदुःखैः नितान्तासद्यबाधाभिः ।  
किंविशिष्टैरतिकुद्धभूतारब्धैः अत्यन्तकुपिताधमव्यन्तरोपक्रान्तैः ।  
सुरकृतोपसर्गसहने निदर्शनमिदम् ॥

अर्थ— अतिशय रागावलेल्या नीचव्यंतरांना दिलेल्या  
भयंकर दुःखांच्या योगाने सर्व मुनि वाटेल तिकडे पळून  
गेले असतां विद्युच्चर हा स्वस्वरूपी लीन होऊन प्राण  
सोडिता झाला (समार्धाने मेला.) देवांनीं केलेल्या उप-  
सर्गाचें सहन केल्याबद्दलचें हें उदाहरण आहे.

अचेन्नृतिर्यग्देवोप- ।

सृष्टासंक्लिष्टमानसाः ॥

सुसत्त्वा बहवोऽन्येऽपि ।

किल स्वार्थमसाधयन् ॥ १०५ ॥

टीका— किल आगमे ह्येवं श्रूयते । सुसत्त्वा महासात्त्विका  
अन्येऽपि शिवभूत्यादिभ्योऽपरेऽपि, बहवो भूयांसः, स्वार्थं  
पुरुषार्थं प्रकरणान्मोक्षलक्षणमसाधयन् निष्पादितवन्तः । कथम्भूता  
भूत्वा अचेदित्यादि अचेतोऽचेतनाः पृथिव्यादयः, नरो मनुष्याः  
तिर्यञ्चो तैर्यग्योना देवाः सुराः अचेतश्च नरश्च तिर्यञ्चश्च देवाश्च  
अचेन्नृतिर्यग्देवास्तैरुपसृष्टाः कृतोपसर्गास्ते च ते असंक्लिष्टमानसाश्च  
रागद्वेषमोहानाविष्टचेतसः शुद्धस्वात्मध्यानपरिणताः अचेन्नृतिर्यग्दे-  
वोपसृष्टासंक्लिष्टमानसाः ॥

अर्थ— अचेतन पदार्थ, मनुष्ये, पशु आणि देव ह्यांनीं  
ज्यांना उपसर्ग दिले आहेत असे आणि त्यामुळे ज्यांच्या  
अंतःकरणास मुळीच क्लेश झाले नाहीत असे धैर्यशाली  
अनेक पुरुष, स्वार्थ साधिते झाले. ह्मणजे मुक्त झाले.  
अशा कथा शास्त्रांत पुष्कळ सांगितल्या आहेत.

तत्त्वमप्यङ्ग सङ्गत्य ।

निःसङ्गेन निजात्मना ॥

त्यजाङ्गमन्यथा भूरि- ।

भवक्लेशैर्ग्लपिष्यसे ॥ १०६ ॥

टीका— अंग अहो महात्मन् । यत् एवं महानुभावैर्मुमुक्षु-  
भिर्भगवच्छिवभूतिप्रभृतिभिः अत्यन्तविनिपातोपनिपातेऽपि स्वार्थः  
साधितस्तत्तस्मात्त्वमपि भवानपि त्यज मुञ्च । किं तदङ्गं देहं ।  
किं कृत्वा सङ्गत्य संयुज्य । केन सह निजात्मना आत्मीयेन तेन  
वा चिद्रूपेण । किंविशिष्टेन निःसङ्गेन कर्मविविक्तेन । अन्यथा  
अन्येन संक्लेशावेशप्रकारेण अङ्गत्यागे ग्लपिष्यसे विक्लवीकरिष्यसे  
त्वं । कैः कृतृभिर्भूरिभवक्लेशैः प्रचुरसंसारदुःखैः । उक्तंच— विराढे  
मरणे देव दुर्गतिर्दूरचोदिता । अनन्तश्चापि संसारः पुनरप्याग-  
मिष्यति ॥ १ ॥

अर्थ— ह्यणून हे उपासका ! तूं देखील निःसंग अशा  
आत्मस्वरूपाशीं ऐक्य पावून हा देह सोड ! नाहीपेक्षां तूं  
अनेक संसारदुःखांच्या योगानें अगदीं थकून जाशील !!!

श्रद्धा स्वात्मैव शुद्धः प्रमदवपुरुषादेय  
इत्याञ्जसी दृक् । तस्यैव स्वानुभूत्या  
पृथगनुभवनं विग्रहादेश्च संवित् ॥ तत्रैवात्य-  
न्ततृप्त्या मनसि । लयमितेऽवस्थितिः स्वस्य  
चर्या । स्वात्मानं भेदरत्नत्रयपरपरमं तन्मयं  
विद्धि शुद्धम् ॥ १०७ ॥

टीका— किं च उपदिश्यते सद्गुरुभिरसौ । इक् दृष्टिः । किंविशिष्टा आंजसी पारमार्थिकी । किं श्रद्धा अभिनिवेशः । कथं भवति कोऽसौ स्वात्मैव न परात्मा । किंविशिष्टः शुद्धो द्रव्यभावकर्मरहितः । पुनः किंविशिष्टः प्रमदवपुरानन्दरूपः । किंविशिष्टो भवत्युपादेयो मुमुक्षूणामुपेयः । इत्येवंरूपा श्रद्धैव निश्चयसम्यक्त्वमाख्यायते । तथा संविदांजसी निश्चयज्ञानं सद्गुरुभिरुपदिश्यते । किमनुभवनमनुभूतिः । कस्य तस्यैव शुद्धप्रमदवपुस्त्वेनोपादीयमानस्य स्वात्मन एव । कथं पृथक् भेदेन । कस्माद्विग्रहादेः कायवाङ्मनस्त्रयात् । कया स्वानुभूत्या स्वसंवित्या । तथा सद्गुरुभिराञ्जसी चर्या निश्चयचारित्रं चोपदिश्यते । किमवस्थितिरवस्थानं । कस्य स्वस्यात्मनः । क तत्रैव तथाप्रतीयमानेऽनुभूयमाने स्वात्मन्येव । क सति मनस्यन्तःकरणे किंविशिष्टे इते गते प्राप्ते । कं लयं तन्मयीभावं । क तत्रैव । कया अत्यन्ततृप्त्या अतिमात्रवैतृण्येन । उक्तं च— दर्शनमात्म-विनिश्चितिरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः ॥ स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यो भवति बन्धः ॥१॥ तन्मयं तेन निश्चयरत्नत्रयेण निर्वृतं तदात्माकं स्वात्मानं, परमं शुद्धं परमप्रकर्षशुद्धिप्राप्तं । हे भेद-रत्नत्रयपर व्यवहाररत्नत्रयप्रधान आराधकोत्तम विद्धि जानीहि संवेदय त्वं ॥

अर्थ— आपला शुद्ध आत्मा हाच आनंदमय आणि मुक्ति होण्याची इच्छा करणाऱ्यांनी संपाद्य असा आहे अशा प्रकारची जी श्रद्धा (निश्चयाची भक्ति) तेच सम्यग्दर्शन होय. आणि त्या आत्म्यालाच स्वानुभवाने देहादिकांहून भिन्नपणाने जाणजे हेच सम्यग्ज्ञान होय. तसेच त्या आत्म्याच्या ठिकाणी अत्यंत वैराग्याने अंतःकरण

एकीभावाला पावलें असतां जी स्थिति तेंच सम्यक्चारित्रि होय. ह्मणून हे व्यवहाररत्नत्रयास मुख्य मानणाऱ्या आराधका ! तूं आपल्या आत्म्यास वर दाखविलेल्या स्वरूपाचा ह्मणून शुद्ध व उत्कृष्ट असा समज !!!

मुहुरिच्छामणुशोऽपि ।

प्रणिहत्य श्रुतपरां श्रुतद्रव्ये ॥

स्वात्मनि यदि निर्विघ्नं ।

प्रतपसि तदसि ध्रुवं तपसि ॥ १०८ ॥

टीका— तथा यदि चेत् प्रतपसि दीप्यसे त्वं । क स्वात्मनि कथं निर्विघ्नं निष्प्रत्यूहं । किं कृत्वा प्रणिहत्य प्रकर्षेण नियतं हत्वा । कां इच्छां कांक्षां । क परद्रव्ये पुद्गलादौ । किंविशिष्टा-मणुशोऽपि स्वल्पामपि । किंविशिष्टः सन् मुहुरसकृत् श्रुतपरः श्रुतज्ञानभावनापरिणतो भवन्नित्यर्थः । तदा ध्रुवं निश्चितं तपसि अव्याहतं स्फुरसि त्वं । क तपसि तपःसञ्ज्ञे साक्षान्मोक्षोपाये । आभ्यां निश्चयाराधनाचातुर्विध्यमुपदिष्टं प्रतिपत्तव्यं ॥

अर्थ— ह्मणून हे आराधका ! तूं श्रुतज्ञानावर निष्ठा ठेऊन आत्म्याहून निराळ्या अशा पुद्गलाविषयीं वरचेवर थोडी इच्छा कमी करून स्वरूपाच्या ठिकाणीं जर चमकूं लागशील (स्वरूपाचें तादात्म्य पावशील) तर, तपश्चर्या-रूपी मोक्षसाधनांत तूं गढलेला आहेस असा होशील.

इदानीं व्यवहारेतराराधनासाध्यमानपरमानन्दलाभाविष्करणलक्षणे-नाशीर्वाददानेन क्षपकं निर्यापकाचार्यः प्रोक्षासयन्नाह—

आतां क्षपकास उत्साहित करणारा निर्यापकाचार्याचा आशीर्वाद सांगतात.

नैराश्यारब्धनैःसंग्य- ।

सिद्धसाम्यपरिग्रहः ॥

निरुपाधिसमाधिस्थः ।

पिबानन्दसुधारसम् ॥ १०९ ॥

टीका—भोः सुविहित शिरोरत्न । पिब उपयुंक्ष त्वं । कमानन्दसुधारसं प्रमोदपीयूषनिर्यासं । किंविशिष्टः सन् निरुपाधिसमाधिस्थः निरुपाधिनिर्विशेषो ध्यातृध्यानध्येयविकल्पशून्यः समधिर्योगो निरुपाधिसमाधिस्तत्र स्थितः । कथम्भूतो भूत्वा नैराश्येत्यादि नैराश्येन जीवितधनाद्याकांक्षानिग्रहेणारब्धमुपक्रान्तं नैस्संग्यं बहिरङ्गान्तरङ्गपरिग्रहनिष्क्रान्तत्वं तेन सिद्धो निष्पन्नः साम्यपरिग्रहः परमसामायिकस्वीकारो यस्य स तथोक्तः ॥

अर्थ— हे श्रावका ! निरिच्छतेनें उत्पन्न झालेल्या निःसंगपणामुळे ज्याचा समतेचा स्वीकार फलित झाला आहे असा तूं, निर्विकल्पसमार्थीत असलेला असा होत्साता आनंदरूपी अमृताच्या रसाचें पान कर !

साम्प्रतमध्यायार्थमशेषमुपसंगृह्णन्नाराधकस्याराधनासहितमरण-फलविशेषमुपदिशति

आतां शा अध्यायांतील विषयांचा संक्षेपानें संग्रह करून आराधकाला आराधनायुक्त मरण आलें असतां विशेषफल काय मिळतें तें सांगतात.

संलिख्येति वपुः कषायवदलङ्कर्मणिनिर्यापक- । न्यस्तात्मा श्रमणस्तदेव कलयंष्ट्रिगं तदीयं परः ॥ सद्रत्नत्रयभावनापरिणतः

प्राणान् शिवाशाधर- । स्त्यक्त्वा पञ्चनम-  
स्क्रियास्मृति शिवी स्यादष्टजन्मान्तरे ॥११०॥

टीका—शिवीस्यादशिवः शिवः सम्पद्यते परममुक्तो भवेदित्यर्थः । कोऽसौ शिवाशाधरः मोक्षायाभिलाषभृन्मुमुक्षुरित्यर्थः । किं कृत्वा त्यक्त्वा । कान् प्राणान् । किंविशिष्टः सन् सदित्यादि सत्या यथागुणस्थानं सम्भवन्त्या रत्नत्रयभावनया निश्चयरत्नत्रयाभ्यासेन परिणतो योगी चरमसमयवर्ती समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाति-शुक्लध्यानारूढः । किं कुर्वन् कलयन् धारयन् । किं तल्लिङ्गं जिनरूपतां । किं तदेव पूर्वगृहीतमौत्सर्गिकमेव । किमाख्योऽसौ श्रवणः श्रवण इति व्यपदेशभाक् कथंभूतो भूत्वा अलंकर्मीणानिर्यापकन्यस्तात्मा कर्मणे प्रकृतत्वात्संसारार्णवनिस्तारणलक्षणाय अलं समर्थोऽलंकर्मीणः निर्यापको व्यवहारेण सुस्थिताचार्यो निश्चयेन तु शुद्धस्वात्मानुभूतिपरिणामोन्मुख आत्मैव तस्यैव दुःखादुःखहेतोर्वा आत्मनो निष्कासकत्वोपपत्तेः । यदाह— स्वस्मिन्सदभिलाषित्वादभीष्टज्ञापकत्वतः । स्वयं हितप्रयोक्तृत्वादात्मैव गुरुरात्मनः ॥ १ ॥ अलंकर्मीणश्चासौ निर्यापकश्च अलंकर्मीणनिर्यापकस्तत्र न्यस्तो निक्षिप्तः समर्पित आत्मा येन स तथोक्तः । किं कृत्वा संलिख्य सम्यक्कृशीकृत्य किं तद्वपुः शरीरं किंत् कषायवत् कषायान् शरीरं च बाह्याभ्यन्तरतपोभिस्तनुकृत्य कथमित्येवमुक्तप्रकारेण तदुत्कृष्टाराधनापक्षे व्याख्यातं ॥ मध्यमाराधनापक्षे संप्रति व्याख्यायते— श्रमणोऽनगरः शिवाशाधरो मुमुक्षुः सन् तदेव लिङ्गमाचेलक्यादिचतुर्विकल्पं कलयन् सत्यां समीचीनायां संवरसहभाविपापकर्मनिर्जरासमर्थायां रत्नत्रयभावनायां सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रयाभ्यासे परिणत उपयुक्तः सन् प्राणांस्त्यक्त्वा शिवीस्यात् शिवमत्रैवादिपदप्राप्तिलक्षणोऽभ्युदयः । शिवमस्यास्तीति शिवो अर्थ आदेरित्यनेन

मत्त्वर्थीयो अः प्रत्ययः । शेषं पूर्ववद्व्याख्येयं ॥ ऐदंयुगीनापेक्षया  
जघन्याराधनापक्षे तदेवेत्थं व्याख्येयं— श्रमणः प्राग्व्याख्यातार्थ-  
विशेषणविशिष्टः पंचनमस्क्रियायां पंचनमस्कारे स्मृतिः चिंता  
उच्चारणं यत्र तत्पंचनमस्क्रियास्मृति यथा भवत्येवं प्राणाँस्त्यक्त्वा  
शिवी स्यात् क अष्टजन्मांतरे अष्टानां भवानां मध्ये उत्कृष्टमध्यम-  
जघन्याराधनानुभवादत्र विभागः कर्तव्यः । तथा ह्यागमः । कालाहं  
अहिऊण च्छित्चूणं अठुकम्मसंखलयम् ॥ केवल्लणाणपहाणा केई  
सिज्झंति तंमि भवे ॥ १ ॥ आराहिऊण केई चउव्विहाराहणा यि  
जं सारं । उव्वरियसेसपुणो सव्वट्ठणिवासिणो होंति ॥ २ ॥  
जेसि होज्ज जहंणा चउव्विहाराहणा हु भवियाणं । सत्तठ्ठभवे गंतुं  
ते चिय पावंति णिव्वाणं ॥ ३ ॥ अपि च— येऽपि जघन्या तेजो-  
लेश्यामाराधनामुपनयंति । तेऽपि च सौधर्मादिषु भवंति देवाः  
सुकल्पस्थाः ॥ १ ॥ अथवा— ध्यानाभ्यासप्रकर्षेण त्रुध्यन्मोहस्य  
योगिनः । चरमांगस्य मुक्तिः स्यात्तदैवान्यस्य च क्रमात् ॥ १ ॥  
तथाद्यचरमांगस्य ध्यानमभ्यस्यतः सदा । निर्जरा संवरश्च स्यात्स-  
कलाशुभकर्मणां ॥ २ ॥ आस्रवंति च पुण्यानि प्रचुराणि प्रतिक्षणं ।  
यैर्महद्भिर्भवत्येष त्रिदशः कल्पवासिषु ॥ ३ ॥ तत्र सर्वेन्द्रियाह्लादि  
मनसः प्रीणनं परं । सुखामृतं पिबन्नास्ते सुचिरं सुरसेवितः ॥ ४ ॥  
ततोऽवतीर्य मर्त्येऽपि चक्रवर्त्यादिसंपदः । चिरं भुक्त्वा स्वयं  
मुक्त्वा दीक्षां दैगंबरीं श्रितः ॥ ५ ॥ वज्रकायः स हि ध्यात्वा शुक्ल  
ध्यानं चतुर्विधं । विधूयाष्ट च कर्माणि श्रयते मोक्षसंपदम् ॥ ६ ॥  
तदेतच्छ्रमणधर्मधारिणः प्रति फलमुपादिष्टं तदितरान् प्रति पुनरिद-  
मुपादिश्यते । तदीयं पर इत्यस्य व्याख्यानेन— परः श्रावकोऽन्यो  
वा सदृष्टिस्तदीयं श्रमणसंबंधि लिंगं कलयन् पंचनमस्क्रियास्मृतिः  
प्राणाँस्त्यक्त्वा शिवीस्यादिति संबंधः । शेषं पूर्ववत् यथास्वं

विकल्प्य व्याख्येयं ॥ यत् स्वामी- स्वरपानहापनामपि कृत्वा  
कृत्वोपवासमपि शक्त्या । पंचनमस्कारमनास्तनुं त्यजेत्सर्वयत्नेन ॥  
इति भद्रम् ॥ ७ ॥

अर्थ— ह्याप्रमाणें क्रोधादिकषयाप्रमाणेंच आपलें शरीर  
कृश करून, संसारांतून नेण्यास समर्थ अशा निर्यापका-  
चार्याच्या स्वाधीन वागणारा व पूर्वीचेंच लिंग (दिगंबरता)  
धारण करणारा व उत्कृष्ट अशा रत्नत्रयाच्या अभ्यासानें  
शेवटच्या मर्यादेला प्राप्त झालेला (शुद्धध्यानांत गढलेला)  
असा व मुक्त होण्याची इच्छा धारण करणारा असा  
श्रमण, प्राणांचा त्याग करून पंचनमस्कारांचें स्मरण  
करीत आठ जन्मांच्या आंत परममुक्तीला पावतो. हा अर्थ  
उत्कृष्टश्रावकपक्षीं झाला. मध्यमश्रावकपक्षीं ह्या श्लोकां-  
तीळ 'सद्रत्नत्रयभावनापरिणतः शिवी स्यात्' ह्या पदांचा  
अर्थ 'चांगलें ह्मणजे संवरांशीं सहवर्तमान असलेल्या  
पापकर्मांच्या निर्जरेविषयीं समर्थ असें जें रत्नत्रय त्याच्या  
अभ्यासांत गढून गेलेला असा होत्साता इंद्रादिपदांची  
प्राप्तिरूपी जो अभ्युदय त्यानें युक्त होतो' असा करावा.  
बाकीच्या पदांचा अर्थ दोनीकडे सारखा आहे. आणि  
जघन्याराधनापक्षीं वरील दोनी पदांचा अर्थ वर दाख-  
विल्याप्रमाणेंच करावा. बाकीच्या सर्वपदांचा अर्थ पूर्वीं  
सांगितल्याप्रमाणेंच समजावा.

इत्याशाधरविरचितायां स्वोपह्वधर्मांमृतसागारधर्मटीकायां

भव्यकुमुदचान्द्रिकासञ्ज्ञायामादितः सप्तदशः

प्रक्रमाष्टाष्टमोऽध्यायः

अध्याय आठवा समाप्त.



॥ ग्रन्थकर्तुः प्रशस्तिः ॥



आतां आशाधरपंडितांचें माहात्म्यवर्णन करितात.  
श्रीमानस्ति सपादलक्षविषयः शाकंभरीभूषण- ।  
स्तत्र श्रीरतिधाम मण्डलकरं नामास्ति दुर्गं महत् ॥  
श्रीरत्न्यामुदपादि तत्र विमलव्याघ्रेरवालान्वया- ।  
च्छ्रीसल्लक्षणतो जिनेन्द्रसमयश्रद्धालुराशाधरः ॥ १ ॥

श्रीमान् त्रिवर्गसंपत्तियुक्तः । शाकंभरी लवणाकरविशेषः ।  
श्रीरतिधाम लक्ष्मीक्रीडागृहं श्रीरत्न्यां रत्नीति कविमातुः संज्ञा  
उदपादि उत्पन्नः ॥

अर्थ— क्षत्रिय, ब्राह्मण आणि वैश्य ह्या तिन्ही वर्णांचे  
लोक ज्यांत विपुल आहेत असा व 'शाकंभरी' नांवाचा  
जो समुद्रकिनारा त्यास शोभा आणणारा असा 'सपाद-  
लक्ष' नांवाचा देश आहे. त्या देशांत लक्ष्मीचें क्रीडा-  
मंदिरच कीं काय ! अशा 'मंडलकर, नांवाच्या किल्ल्यांत  
निर्दोष असा 'व्याघ्रेरवाल' नांवाच्या वंशांत श्री-  
जिनेन्द्राच्या सिद्धांताविषयीं श्रद्धालु असा 'आशाधर'  
पंडित, श्रीरत्नी देवीच्या ठिकाणीं उत्पन्न झाला.

सरस्वत्यामिवात्मानं ।

सरस्वत्यामजीजनत् ॥

यः पुत्रं छाड्दहलं गुण्यं ।

रञ्जितार्जुनभूपतिम् ॥ २ ॥

सरस्वत्यां वाग्देवतायां । सरस्वत्यां सरस्वतीसंज्ञायां स्वभार्यायां ।  
गुण्यं गुणातिशययुक्तं । अर्जुनभूपतिं अर्जुनदेवो नाम मालवाधिपतिं ॥

अर्थ— जो आशाधर पंडित, ज्याप्रमाणें वाग्देवता जी सरस्वती तिच्या ठिकाणीं आपल्यास उत्पन्न करिता झाला ( हा फारच विद्वान् असल्यानें सरस्वतीचा मानसपुत्रच आहे कीं काय ! असें लोकांस वाठत होतें. ) त्याप्रमाणें गुणवान् व मालवदेशाचा स्वामी जो अर्जुनभूपति त्याचा ज्यानें संतोष केला आहे अशा ' छाहडल ' नांवाच्या पुत्रास ' सरस्वती ' नांवाच्या आपल्या पत्नीचे ठिकाणीं उत्पन्न करिता झाला.

व्याघोरवालवरवंशसरोजहंसः ।

काव्यामृतौघरसपानमुत्तुतगात्रः ॥

सल्लक्षणस्य तनयो नयविश्वचक्षु- ।

राशाधरो विजयतां कलिकालिदासः ॥ ३ ॥

इत्युदयसेनमुनिना ।

कविसुहृदा योऽभिनन्दितः प्रीत्या ॥

प्रज्ञापुञ्जोऽसीति च ।

योऽभिमतो मदनकीर्तियतिपतिना ॥ ४ ॥

( युग्यम् )

अर्थ— “ व्याघ्रेरवाल नांवाच्या उत्तमवंशरूपी कमला-  
बरील राजहंसच कीं काय ! असा आणि ज्याचे सर्व  
अवयव काव्यरूपी अमृतप्रवाहाच्या रसपानानें तुष्ट झाले

आहेत असा सल्लक्षण नांवाच्या श्रावकाचा पुत्र आणि व्यवहारादिनय हेंच ज्याचें नेत्र ( सर्वप्रकारच्या ज्ञानाचें साधन ) आहे असा व ह्या कालांतील कालिदासच कीं काय ! असा श्री आशाधर, उत्कर्ष पावो ” असें सर्व कवीवर प्रेम करणाऱ्या उदयसेनमुनीनें प्रेमानें त्याचें वर्णन केलें ; व मदनकीर्ति नांवाच्या यतिपतीनें ‘ तूं बुद्धीचा पुंज आहेस ’ असें ह्मणून ज्याचा सत्कार केला असा हा आशाधर पंडित होता.

म्लेच्छेशेन सपादलक्षविषये व्यासे सुवृत्त-  
क्षति-। त्रासाद्विन्ध्यनरेन्द्रदोःपरिमलस्फूर्जत्रि-  
वर्गोऽञ्जसि ॥ प्राप्तो मालवमण्डले बहुपरी-  
वारः पुरीमावसन् । यो धारामपठज्जिनप्रमि-  
तिवाक्शास्त्रे महावीरतः ॥ ५ ॥

म्लेच्छेशेन साहिवंदीणतुरुष्कराजेन । सुवृत्तक्षतिः सदाचारनाशः ।  
दोःपरिमलः परिमलो लक्षणावृत्त्या बलं बाहुबलातिशय इत्यर्थः ।  
ओजः उत्साहोऽन्तःसारो वा । जिनप्रमितिवाक्शास्त्रे जैनैन्द्र-  
प्रमाणशास्त्रं जैनैद्रव्याकरणं च । महावीरतः वादिराजपण्डितश्री-  
मद्धरसेनशिष्यात्पण्डितमहावीरात् ॥

अर्थ—तो सपादलक्ष ( सवालाख ) नांवाचा देश यव-  
नराजानें आपल्या ताब्यांत घेतला असतां सदाचाराला  
अडचणी येऊं लागल्यामुळें झालेल्या त्रासानें, विंध्यापर्व-  
तावरील भूपतीच्या बाहुबलानें ज्यांतील क्षत्रिय, ब्राह्मण  
व वैश्य ह्या त्रिवर्गाचा उत्साह स्फुरण पावत आहे अशा  
मालवदेशांत येऊन पुष्कळ परिवारांसह धारा नांवाच्या

नगरींत जो रहाता झाला ; आणि कविराज जो श्रीहरसेन  
त्याचा शिष्य जो पंडितमहावीर त्याच्या जबळ जैनेद्रव्या-  
करण पठता झाला.

आशधारत्वं मयि विद्धि सिद्धं ।

निसर्गसौन्दर्यमजर्यमार्य ॥

सरस्वतीपुत्रतया यदेत- ।

दर्थे परं वाच्यमयः प्रपञ्चः ॥ ६ ॥

अजर्य मैत्री सरस्वतीपुत्रतया निसर्गसौंदर्य प्रकृत्या सहोदरत्वं ॥

अर्थ—हे आर्या; तूं ज्याप्रमाणें सरस्वती देवीचा मानस-  
पुत्र आहेस त्याप्रमाणें मीहि सरस्वतीचा ( आईचें नांव )  
पुत्र असल्यानें हा आशाधरपणा माझ्या ठिकाणीं सिद्ध  
असून तो स्वभावासिद्ध अशा बंधूप्रमाणें आहे. इतकेंच  
नव्हे तर, माझ्या ठिकाणीं असलेल्या आशाधरपणांत  
केव्हांहि न्यूनता आणतां येणार नाहीं; असा तो आहे.  
पण त्याच्या अर्थीत मात्र मोठाच फरक आहे. आणि तो  
अगदीं निंद्य आहे. तो असा—तूं आशाधर आहेस ह्मणजे  
आशेला ताब्यांत ठेवणारा आहेस आणि तो आशाधर  
ह्मणजे लोभी आहे.

इत्युपश्लोकितो विद्ध- ।

द्विल्हणेन कवीशिना ॥

श्रीविन्ध्यभूपतिमहा- ।

सन्धिविग्रहिकेण यः ॥ ७ ॥

इति उपश्लोकितः श्लोकेनोपस्तुतः । श्रीविंध्यभूपतिः विजयवर्मा  
नाम मगधाधिपतिः ॥

अर्थ—ज्ञापमाणें सर्व कवींमध्ये श्रेष्ठ व विंध्यपर्वताचा  
राजा जो विजयवर्मा त्याचा शत्रूंशीं तह करणें किंवा युद्ध  
करणें ज्ञाविषयींचा उत्कृष्ट मसलतगार ( महामात्य ) अशा  
पंडित श्रीबिल्हणानें ज्याची स्तुति केली आहे असा

श्रीमदर्जुनभूपाल- ।

राज्ये श्रावकसंकुले ॥

जिनधर्मोदयार्थं यो ।

नलकच्छपुरेऽवसत् ॥ ८ ॥

अर्थ—जो महापंडित, जिनधर्मावर श्रद्धा ठेवणाऱ्या  
अशा श्रावकांनीं गजबजळेल्या अशा श्रीमान् अर्जुनभूप-  
तीच्या राज्यांत जिनधर्माचा उत्कर्ष करण्याकारितां नलक-  
च्छपुरांत रहाता झाला.

यो द्राग्व्याकरणाब्धिपारमनयच्छुश्रुषमाणान्न  
कान् । सत्तर्के परमास्त्रमाप्य न यतः प्रत्यर्थिनः  
केऽक्षिपन् ॥ चेरुः केऽस्खलितं न येन  
जिनवाग्दीपं पथि ग्राहिताः । पीत्वा काव्य-  
सुधां यतश्च रसिकेष्वायुःप्रतिष्ठां न के ॥ ९ ॥

कान् पंडितदेवचंद्रादीन् प्रत्यर्थिनः प्रतिवादिनः के वार्दीद्रवि-  
शाळकीर्त्यादयः अक्षिपन् जयंति स्म । चेरुः प्रवृत्ताः के भट्टारक-  
देवविनयभद्रादयः । अस्खलितं निरतिचारं । जिनवाक् अर्हत्प्रवचनं ।

पथि मोक्षमार्गे ग्राहिताः स्वीकारिताः । रसिकेषु सद्यदयविदग्धेषु  
मध्ये । आपुः प्राप्ताः । के बालसरस्वतीमहाकविमदनादयः ॥

अर्थ—जो पंडित, आपली सेवा करणाऱ्या कोणत्या  
शिष्यांना व्याकरणशास्त्ररूपी समुद्राच्या परतीरास अल्प-  
कालांत नेता झाला नाही! ज्याच्यापासून तर्कशास्त्रांत  
उत्कृष्टज्ञानरूपी शास्त्र मिळवून कोणी बरे दुसऱ्या वादी  
लोकांचा तिरस्कार केला नाही! ज्या पंडिताने श्रीजिनां-  
ची वाणीरूपी दिवटी ज्यांच्या हातांत दिली आहे ( जैन-  
सिध्दांतांचे ज्ञान ज्यांना करून दिले आहे ) असे कोणते  
श्रावक, न अडखळतां मोक्षमार्गांत संचार करते झाले  
नाहींत? आणि ज्याच्यापासून काव्यामृत प्राशन करून  
रसिकांपैकी कोण बरे आपल्या आयुष्याला महत्त्व संपादन  
करतां झाला नाही?

स्याद्वादविद्याविशदप्रसादः ।

प्रमेयरत्नाकरनामधेयः ॥

तर्कप्रबन्धो निरवद्यविद्या- ।

पीयूषपूरो वहति स्म यस्मात् ॥ १० ॥

अर्थ—स्याद्वादाचे क्षणजे अनेकांतवादाचे ज्ञान भरलेले  
असल्यामुळे ज्याचा प्रसाद गुण स्पष्ट भासत आहे असा  
प्रमेयरत्नाकर नांवाचा तर्कग्रंथ निर्दोष अशा विद्यारूपी  
अमृताचा पूरच की काय असा होत्साता— ज्याच्यापासून  
निर्माण झाला.

सिध्दङ्गं भरतेश्वराभ्युदयसत्काव्यं निबन्धोज्वलं ।

यस्त्रैविद्यकवीन्द्रमोहनमयं स्वश्रेयसेऽरीरचत् ॥  
 योऽर्हद्वाक्यरसं निबन्धरुचिरं शास्त्रं च धर्मामृतं ।  
 निर्माय न्यदधान्मुमुक्षुविदुषामानन्दसान्द्रे हृदि११

सिद्ध्यं कं सिद्धिः सिद्धिशब्दोऽकश्चिन्हं सर्गप्रातवृत्तेषु यस्य  
 तत् । निबन्धोज्ज्वलं स्वयंकृतनिबन्धनेन स्फुटप्रतिभासं । अरीरचत्  
 रचयति स्म । अर्हद्वाक्यरसं जिनागमनिर्यासभूतं निबन्धरुचिरं ।  
 स्वयंकृतज्ञानदीपिकाख्यपंजिकया रमणीयं धर्मामृतं धर्मामृताख्यं  
 न्यदधात् स्थापयति स्म ॥

अर्थ— जो महाकवि ज्याच्या प्रत्येक सर्गाच्या शेवटीं  
 असलेल्या पद्यांत ' सिद्धि ' असा शब्द आहे असें व  
 विद्वान् आणि श्रेष्ठ कवि ज्ञाना मोह करणारें असें व स्वतः  
 केलेल्या टीकेमुळे स्पष्ट समजण्यासारखें भरताभ्युदय  
 नांवाचें उत्तम काव्य स्वतःच्या कल्याणाकरितां रचता  
 झाला आणि भगवान् अरहंताच्या वाक्यांतील प्रेम ज्यांत  
 भरलेलें आहे व जें स्वतःच केलेल्या टीकेमुळे मनोरम झालें  
 आहे असें धर्मामृत नांवाचें शास्त्र रचून मोक्षेच्छु अशा  
 विद्वानांच्या आनंदपूर्ण अशा हृदयांत ठेविता झाला.  
 तात्पर्य— मुमुक्षु जीव ज्याचा निरंतर अभ्यास करतात  
 असें हें धर्मामृत नांवाचें शास्त्र ज्यानें रचलें.

आयुर्वेदविदामिष्टां ।

व्यक्तं वाग्भटसंहिताम् ॥

अष्टाङ्गहृदयोद्योतं ।

निबन्धमसृजच्च यः ॥ १२ ॥

व्यक्तुं प्रकटीकर्तुं । वाग्भटसंहितां अष्टांगहृदयनाम्नी ॥

अर्थ— आयुर्वेद जाणणान्या पंडितांना ( वैद्यांना ) अत्यंतप्रिय अशी जी वाग्भटसंहिता ( सुप्रसिद्ध वाग्भट नांवाचा ग्रंथ ) त्यावर विद्यार्थ्यांना स्पष्ट समजण्याकरितां अष्टांगहृदयोद्योत नांवाच्या टीकेची जो रचना करता झाला.

यो मूलाराधनेष्टोप- ।

देशादिषु निबन्धनम् ॥

व्यधत्तामरकोशे च ।

क्रियाकलापमुज्जगौ ॥ १३ ॥

आदिः आराधनासारभूपालचतुर्विंशतिस्तवनाद्यर्थः । उज्जगौ उत्कृष्टं कृतवान् ॥

अर्थ— आणि जो मूलाराधना, इष्टोपदेश वगैरे विषयांवर ग्रंथरचना करता झाला; आणि अमरकोशावर क्रियाकलाप नांवाची टीका ज्याने केली.

रौद्रटस्य व्यधात्काव्या- ।

लङ्कारस्य निबन्धनम् ॥

सहस्रनामस्तवनं ।

सनिबन्धं च योऽर्हताम् ॥ १४ ॥

रौद्रटस्य रुद्रटाचार्यकृतस्य । अर्हतां अनंतजिनानां ॥

अर्थ— रुद्रटाने केलेल्या काव्यालंकार नामक ग्रंथावर ज्याने टीका केली; आणि जो भगवान् अरहंतांचे सहस्रनाम स्तोत्र व्याख्येसह करता झाला.



सनिबन्धं यश्च जिन- ।

यज्ञकल्पमरीरचत् ॥

त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्रं यो ।

निबन्धालकृतं व्यधात् ॥ १५ ॥

सनिबन्धं स्वयंकृतेन जिनयज्ञकल्पदीपकारटोन निबन्धेन सहितं जिनयज्ञकल्पं जिनयज्ञकल्पाख्यं जिनप्रतिष्ठाशास्त्रं अरीरचत् निर्मितवान् । त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्रं आर्षमहापुराणशास्त्रोद्धतत्रिषष्टि-शलाकापुरुषवृत्तगोचरं त्रिषष्टिस्मृतिसंज्ञं संक्षिप्तशास्त्रं । निबन्धाल-कृतं स्वयंकृतनिबन्धेन भूषितं ॥

अर्थ—जो जिनयज्ञकल्प नांवाचा ग्रंथ जिनयज्ञकल्प-दीपिका नामक टीकेसह रचिता झाला. तसेंच ज्याने त्रिषष्टिस्मृति नांवाचा त्रेसष्ट शलाकापुरुषांचा इतिहासग्रंथ सटीक तयार केला.

अर्हन्महाभिषेकार्चा- ।

विधिं मोहतमोरविम् ॥

चक्रे नित्यमहोद्योतं ।

स्नानशास्त्रं जिनेशिनाम् ॥ १६ ॥

नित्यमहोद्योतं नित्यमहोद्योताख्यं ॥

अर्थ—ज्याने मोहरूपी अंधकाराचा नाश करणारा सूर्यच कीं काय ! असा अर्हन्महाभिषेकपूजाविधि नांवाचा ग्रंथ केला. आणि नित्यमहोद्योत, जिनाभिषेकविधि हे ग्रंथहि रचले.

रत्नत्रयविधानस्य ।

पूजामाहात्म्यवर्णनम् ॥

रत्नत्रयविधानाख्यं ।

शास्त्रं वितनुते स्म यः ॥ १७ ॥

अर्थ—रत्नत्रयविधान नांवाचें रत्नत्रयविधानाच्या पूजेचें माहात्म्य ज्यांत वर्णन केलें आहे अशा प्रकारचा ग्रंथ जो कवि रचिता झाला.

सोऽहमाशाधरो रम्या- ।

मेतां टीकां व्यरीरचम् ॥

धर्मामृतोक्तसागार- ।

धर्माष्टाध्यायगोचराम् ॥ १८ ॥

धर्मामृतोक्ताः स्वकृतधर्मामृताख्यशास्त्रे निगदिताः ॥

अर्थ—आप्रमाणें वर ज्याचें स्वरूप कथन केलें आहे असा तो मी आशाधर, स्वतः केलेल्या धर्मामृत नामक ग्रंथांतील सागरांच्या धर्माचें निरूपण करण्याकरितां केलेल्या आठ अध्यायांवर ही रमणीय टीका करता झाला.

प्रमारवंशवार्धीन्दु- ।

देवपालनृपात्मजे ॥

श्रीमञ्जैतुगिदेवेऽसि- ।

स्थेम्नाऽवन्तीमवत्यलम् ॥ १९ ॥

असिस्थेम्ना सङ्गजकेन जवति रक्षति सति ॥

नलकच्छपुरे श्रीम- ।

न्नेमिचैत्यालयेऽसिधत् ॥

टीकेयं भव्यकुमुद- ।

चन्द्रिकेत्युदिता बुधैः ॥ २० ॥

असिधत् सिद्धा ॥

अर्थ— प्रमारवंश- ( परमार अथवा पोवार यांचा वंश )  
स्वरूप जो समुद्र, त्यांतील चंद्रच कीं काय असा जो देव-  
पालभूपति, त्याचा पुत्र श्रीजैतुगिदेव हा आपल्या तरवा-  
रीच्या स्थिर अशा धारेनें अवंतीनगरीचें ( उज्जयनीचें )  
उत्कृष्ट रक्षण करीत असतां नलकच्छपुरांतील श्रीनेमिना-  
थाच्या मंदिरांत विद्वान् लोक जिला भव्यकुमुदचंद्रिका असें  
स्मरणतात अशी ही टीका समाप्त झाली.

षण्णवद्वयेकसंख्यान- ।

विक्रमाङ्कसमात्ये ॥

सप्तम्यामसिते पौषे ।

सिद्धेयं नन्दताच्चिरम् ॥ २१ ॥

समाः सवत्सराः १२९६ वर्षे पौषे सप्तमीदिने शुक्रदिने इत्यर्थः ॥

अर्थ— ही टीका विक्रमसंवत्सर १२९६ ह्या वर्षांतील  
पौषकृष्णपक्षांतोळ सप्तमीच्या दिवशीं सगाप्त झाली. ही  
चिरकाल सुखी राहो. स्मरणजे लोकांना चिरकालपर्यंत  
अत्यंत प्रिय होवो.

श्रीमान् श्रेष्ठिसमुद्धरस्य तनयः श्रीपौरपाटा-

न्वय- । व्योमेन्दुः सुकृतेन नन्दतु महीचन्द्रो  
यदभ्यर्थनात् ॥ चक्रे श्रावकधर्मदीपकमिमं  
ग्रन्थं बुधाशाधरो । ग्रन्थस्यास्य च लेखतोऽपि  
विदधे येनादिमः पुस्तकः ॥ २२ ॥

अलमतिप्रसङ्गेन ॥

अर्थ— ज्याच्या प्रार्थनेमुळे श्रीआशाधरपंडित श्रावक-  
धर्माचा प्रकाशक असा हा ग्रंथ रचिता झाला आणि ज्याने  
लिहून ह्या ग्रंथाचे पहिले पुस्तक तयार केले, तो श्रीपौर-  
पाट नांवाचा वंशरूपी आकाशांतील चंद्रच कीं काय ! असा  
श्रीसमुद्धरश्रेष्ठीचा पुत्र महीचंद्र श्रेष्ठी पुण्याच्या योगाने  
चिरकाल आनंदित राहो !

यावत्तिष्ठति शासनं जिनपतेरिच्छन्दानमन्तस्तमो ।  
यावच्चार्कनिशाकरौ प्रकुरुतः पुसां दशामुत्सवम् ॥  
तावत्तिष्ठतु धर्मसूरिभिरियं व्याख्यायमानाऽनिशं ।  
भव्यानां पुरतोऽत्र देशविरताचारप्रचारोद्भुरा ॥२३॥

अर्थ— अंतःकरणांतील अज्ञानाचा नाश करणारे असे  
श्रीजिनेंद्राचे शासन ( शास्त्र ) जोंपर्यंत ह्या भूमीवर राहिल,  
सूर्यचंद्र जोंपर्यंत सर्व लोकांच्या नेत्रांना आनंद देत  
रहातील, तोंपर्यंत ही धर्मसूरींनीं व्याख्यान केलेली व  
देशविरत श्रावकांना स्वतःच्या आचाराविषयी प्रेरणा कर-  
ण्यास समर्थ अशी श्रीआशाधर पंडिताची प्रशस्ति ह्या  
जगांत भव्यजीवांच्या अग्रभागीं निरंतर राहो !

## ग्रंथसंख्या.

अनुष्टुप्छन्दसां पञ्च- ।

शताग्राणि सतां मता ॥

सहस्राण्यस्य चत्वारि ।

ग्रन्थस्य प्रमितिः किल ॥ २४ ॥

अङ्काग्रतो ग्रन्थप्रमाणं ४,५०० शुभं भवतु लेखकपाठकयोः ॥

ग्रंथाची संख्या अनुष्टुप् छंदाचे चार हजार पांचशेहे  
४५०० आहे.

शुभं भवतु मुद्रकपाठकयोः ॥



